

आचार्य उदयन मीमांसक

(संस्थापक एवं अध्यक्ष : निगम-नीडम्)

जन्मस्थान	:	भार्गवपुरम् (हुस्नाबाद), करिनगर, तेलंगाणा
जन्म	:	16-07-1970
माता	:	श्रीमती स्वराज्यलक्ष्मी जी
पिता	:	श्री लक्ष्मीनारायण जी
प्रेरक	:	श्री आचार्य वेदव्रत मीमांसक जी (स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती)
शास्त्रीयाध्ययन	:	श्री आचार्य स्वदेश जी (मथुरा) से व्याकरण का शुभारम्भ। श्री आचार्य वेदपाल सुनीथ जी (तिलोरा, अजमेर) से काशिका पर्यन्त अध्ययन। श्री आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि जी (पाणिनि महाविद्यालय, रेवली, सोनीपत) से शिक्षा, व्याकरण आदि सभी वेदाङ्गों एवं वेदोपाङ्गों (दर्शनों) के साथ सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अध्ययन। श्री आचार्य वासुदेव रामचन्द्र पराञ्जपे जी (मैसूर) से शाबर भाष्यसहित पूर्वमीमांसा दर्शन, श्री पण्डितरत्न म.म.के.एस्. वरदाचार्य जी (मैसूर) से नव्यन्याय (तर्कसंग्रह, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) का अध्ययन किया।
अध्यापन	:	तेलंगाणा में निगम-नीडम् (साङ्गोपाङ्गवेदमहाविद्यालय) की स्थापना कर सन् 2004 से सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अध्यापन कार्य कर रहे हैं।
लेखनकार्य	:	शिक्षा-शास्त्रम्, पाणिनीय-शिक्षा, निरुक्तनिर्वचनानि, यास्कीयनिर्वचनानि (मूल), नैरुक्तमन्त्रसंहिता (मूल), शास्त्रतत्त्वार्थमीमांसा (प्रथम भाग), हितोपदेशः, गोदानविधिः, वैदिक पर्वपद्धति-नववर्षेष्टि, नया वर्ष कब? एवं अनेकों शोधलेख। इसी प्रकार तेलुगुभाषा में भी अभी तक सात पुस्तकें प्रकाशित हैं और अन्य प्रकाशनाधीन हैं।
दूरभाष	:	6281250379

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८, शक्ति नगर,

दिल्ली - ११०००७ (भारत)

दूरभाष : ४७०१५१६८



ISBN 81-7110-795-8

मूल्य : ₹ 600.00

निरुक्त-निर्वचनानि

व्याख्याता सम्पादकश्च

आचार्य उदयनो मीमांसकः



ओ३म्

निरुक्त-निर्वचनानि



व्याख्याता सम्पादकश्च

आचार्य उदयनो मीमांसकः

ग्रन्थ की विशेषता-

१. निरुक्त के निर्वचनों का सरलतया बोध।
२. निर्वचनों की सरल व्याख्या एवं व्युत्पत्तियों का ज्ञान।
३. यास्कीय निर्वचन एवं अर्थों के साथ स्कन्द, सायण, दयानन्द आदि के निर्वचन एवं अर्थ भी प्रस्तुत किये गये हैं।
४. यास्कीय निर्वचनों के सम्पूर्ण सिद्धान्तों का विवेचनात्मक और स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।
५. प्रत्येक निर्वचनसिद्धान्त के उदाहरणों को सम्पूर्ण निरुक्त से संग्रह कर दिखाया गया है।
६. निर्वचनगत 'वा' आदि शब्दों का वास्तविक और शास्त्रीय अर्थ का प्रतिपादन युक्तियों, प्रमाणों तथा उदाहरणों के साथ किया गया है।
७. वैदिक शब्दों का सरलतया अर्थबोध।
८. यास्कीय और पाणिनीय धातुओं का तुलनात्मक अध्ययन।
९. प्रत्यक्ष, परोक्ष एवं अतिपरोक्ष वृत्तियों का सोदाहरण विस्तृत व्याख्यान।
१०. वेदार्थ के लिए उपयोगी भाषाविज्ञान के शाश्वतनियमों का विवेचन।

ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म्

ओ३म्

निरुक्त-ग्रन्थमाला – ४

निरुक्त-निर्वचनानि

व्याख्याता सम्पादकश्च

आचार्य उदयनो मीमांसकः

संस्थापकः, अध्यक्षः, प्राचार्यः

निगमनीडम् - वेदगुरुकुलम्

Email: nigamaneedam@gmail.com

प्रथम संस्करण
२०२२

प्रकाशक

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८, शक्तिनगर

दिल्ली – ११०००७

मूल्य



निरुक्त-निर्वचनानि
प्रथम संस्करण – सन् २०२२

ISBN :
प्रतियाँ :1000

मूल्य –

प्रकाशक : –

परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८, शक्तिनगर, दिल्ली – ११०००७
दूरभाष : २३८४५४५६, ४७०१५१६८
ईमेल : order@parimalpublication.com

प्राप्ति स्थान :– **१. निगम-नीडम् (वेदगुरुकुलम्),**
महर्षि दयानन्द मार्ग, पिडिचेड,गज्वेल,
सिद्धिपेट - 502278 (तेलंगाणा) 6281250379
Email : nigamaneedam@gmail.com

अक्षर-संयोजक :–
ब्रह्मचारी वेदमित्र, ब्रह्मचारी धर्मेन्द्र
निगमनीडम्-वेदगुरुकुलम्, पिडिचेड, गज्वेल, सिद्धिपेट

मुद्रक :–

ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म् ओ३म्

AUM

A Serise of Nirukta-4

NIRUKTA - NIRVACHANANI

Commentator, Editor
Acharya Udayana Meemansak
Founder, President, Pracharya
Nigama Needam - Vedagurukulam
Email: nigamaneedam@gmail.com

Publisher & Distributor

PARIMAL PUBLICATIONS
27/28, Shakti nagar
Delhi - 110007

First edition
2022

Price

[redacted] [redacted]

Nirukta-Nirvachanani
First edition - 2022

ISBN :

Copies -1000

Rs -

Publisher :

PARIMAL PUBLICATIONS
27/28, Shakti nagar
Delhi - 110007
Phone : 23845456, 47015168
Email : order@parimalpublication.com

Also can be had From—

1. Nigama needam - Vedagurukulam
Pidiched, Gajwel, Siddhipet- Dist:
502278 (Telangana) 6281250379
Email: nigamaneedam@gmail.com

Printed at—

भगवान् उवाच—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपां पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥

(ऋ०८.१००.११)

(देवीं वाचम्) दिव्य ज्ञान-विज्ञानों, अर्थों को प्रकाशित करने वाली वेदवाणी को (देवा अजनयन्त) तेजस्वी विद्वान् अपनी गुहारूपी बुद्धि में प्रादुर्भूत करते हैं। (ताम्) उस प्रादुर्भूत वेदज्ञान को (विश्वरूपाः पशवः) जड़-चेतनरूपी सम्पूर्ण विश्व के विविध ज्ञान अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ज्ञानों के द्रष्टा पुरुष (वदन्ति) सभी जिज्ञासुओं को उपदेश करते हैं या करना चाहिए। (सा धेनुः वाक्) कामधेनुरूपी वह वेदवाणी (नः मन्द्रा) हमें सुख, आनन्द आदियों को देनेवाली है और (इषम् ऊर्जं दुहाना) अन्न, बल, तेज, ओज आदियों को प्रदान करती हुई या अन्न आदियों के समान ज्ञानरस, ज्ञानबल, ब्रह्मतेज आदियों को देती हुई एवं (सुष्टुता) सभी जनों से सम्यक्तया स्तुत, प्रशंसित होती हुई (अस्मान् उपैतु) हमें समीपता से या निर्विघ्नता से, शीघ्रता से प्राप्त हो।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

(ऋ०१०.१२५.५)

(अहमेव इदं स्वयं वदामि) मैं परमेश्वर [वेदवाणी] यह स्वयं उपदेश करता हूँ— जिस-जिसने वेदवाणी का (देवेभिः उत मानुषेभिः) दिव्यभावनाओं से और मननपूर्वक या दिव्य ज्ञान के द्रष्टाओं और मननशील, तर्कशील विद्वानों से (जुष्टम्) प्रीतिपूर्वक सेवन किया है, उन्हें मैं परमेश्वर यथायोग्य (यं कामये) जिसको मैं चाहता हूँ (तम् तम्) उस-उस ज्ञानी को, वेदवेत्ता को फलस्वरूप (उग्रं कृणोमि) तेजस्वी बनाता हूँ और जिसको मैं चाहता हूँ (तं ब्रह्माणम्) उसको मैं ब्रह्मा अर्थात् चतुर्वेदविद् बनाता हूँ और जिसको मैं चाहता हूँ (तम् ऋषिम्) उसे तत्त्वद्रष्टा बनाता हूँ और जिसको मैं चाहता हूँ (तं सुमेधाम्) उसको उत्तम बुद्धि से युक्त करता हूँ।

विषयसूची

संक्षेपाक्षर-विवरण

अ०	अध्यायः
अ० उ०	अमरकोष-उद्घाटनम्
अमर०	अमरकोषः
अष्टा०	अष्टाध्यायी
आत्मा०	आत्मानन्दः
आर्याभि०	आर्याभिविनयः
उ०ग०वि०	उणादिगणविवृतिः
उणा०	उणादिकोषः
ऋ०	ऋग्वेदः
ऋ०भा०भू०	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऋ०भू०	ऋग्वेदभाष्यभूमिका
ऐ०आ०	ऐतरेयारण्यकम्
ऐ०उप०	ऐतरेयोपनिषद्
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मणम्
क०क०सं०	कपिष्ठलकठसंहिता
काठ०सं०	काठकसंहिता
काव्या०	काव्यादर्शः
का०श०ब्रा०	काण्वशतपथब्राह्मणम्
काश०धातु०	काशकृत्स्नधातुपाठः
केनोप०	केनोपनिषद्
कौ०ब्रा०	कौषीतकिब्राह्मणम्
क्षीर०	क्षीरतरङ्गिणी
ग० सू०	गणसूत्रम्
गो० ब्रा०	गोपथब्राह्मणम्
गौ०ध०सू०	गौतमधर्मसूत्रम्
जै० ब्रा०	जैमिनीयब्राह्मणम्
त० वा०	तन्त्रवार्तिकम्
तां० ब्रा०	ताण्ड्यब्राह्मणम्
तु०	तुलना
तै०आ०	तैत्तिरीयारण्यकम्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तै०सं०	तैत्तिरीयसंहिता
द०उणा०	दशपादी उणादिकोषः
दया०	दयानन्दः
दे०अ०ब्रा०	देवताध्यायब्राह्मणम्
देव०	देवराजयज्वा
दै०ब्रा०	दैवतब्राह्मणम्
द्र०	द्रष्टव्यम्
नि०	निर्वचनम्
निघं०	निघण्टुः
नि०नि०	निघण्टुनिर्वचनम्
निरु०	निरुक्तम्
निरु०श्लोक०	निरुक्तश्लोकवार्तिकम्
नि० स०	निरुक्तसमुच्चयः
नि० सं०	निर्वचनसंख्या
नि०सि०	निर्वचन-सिद्धान्त
न्याय०	न्यायदर्शनम्
पद०	पदमञ्जरी
पं० वि०	पञ्चमहायज्ञविधिः
पस्प०	पस्पशाह्निकम्
पाठा०	पाठान्तर
पा०धातु०	पाणिनीयधातुपाठः
बृ०उप०	बृहदारण्यकोपनिषत्
बृ०दे०	बृहद्देवता
भा०सू०	भाषिकसूत्रम्
म०भा०	महाभाष्यम्
मही०	महीधरः
मी०द०	मीमांसादर्शनम्

मी॰न्याय॰	मीमांसान्यायप्रकाशः	वै॰प॰कोषः	वैदिकपदानुक्रमकोषः
मी॰शा॰भा॰	मीमांसाशाबरभाष्यम्	वै॰स्वरमी॰	वैदिकस्वरमीमांसा
मै॰सं॰	मैत्रायणी संहिता	शत॰/श॰ब्रा॰	शतपथब्राह्मणम्
यजु॰	यजुर्वेदः	शाण्डि॰उप॰	शाण्डिल्योपनिषत्
यु॰मी॰	युधिष्ठिर मीमांसक	शास्त्र॰	शास्त्रदीपिका
वर॰	वररुचिः	श्वेता॰	श्वेताश्वतरोपनिषत्
वा॰	वार्त्तिकम्	स॰कं॰	सरस्वतीकण्ठाभरणम्
वा॰प॰	वाक्यपदीयम्	सा॰	सायणः
वा॰ पु॰	वायुपुराणम्	सु॰	सुश्रुतसंहिता
वा॰भा॰	वात्स्यायनभाष्यम्	सूत्र॰	सूत्रस्थानम्
वें॰	वेंकटः	स्क॰म॰	स्कन्दमहेश्वरौ
वेदान्त॰	वेदान्तदर्शनम्	हेम॰	हेमचन्द्रसूरिः
वे॰भा॰न॰	वेदभाष्य के नमूने अंक		

धातुनिर्देश के पश्चात् कोष्ठक में प्रदत्त दो संख्याएँ क्रमशः गण तथा तद्गणस्थ धातुसूत्र की है, जिसमें वह धातु पठित है।

गणसंख्या का विवरण इसप्रकार है—

१. भ्वादिगणः
२. अदादिगणः
३. जुहोत्यादिगणः
४. दिवादिगणः
५. स्वादिगणः
६. तुदादिगणः
७. रुधादिगणः
८. तनादिगणः
९. क्र्यादिगणः
१०. चुरादिगणः
११. कण्ड्वादिगणः

वेदार्थकुञ्जिका : निर्वचनसिद्धान्त (भूमिका)

मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए और अपवर्ग (मोक्ष) को साधने के लिए सर्गादि में आद्य ऋषियों के माध्यम से मानवजाति को वेद का ज्ञान मिला। ज्ञान अर्थमूलक होता है। उस अर्थ (ज्ञान) को प्राप्त (बोध) करने व कराने का साधन शब्द (वर्णात्मक ध्वनि) होता है। शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य होता है। उस शब्द-अर्थ-सम्बन्ध को जानना ही ज्ञान कहाता है। शब्दार्थसम्बन्ध के साथ आद्य ऋषियों के पवित्र अन्तःकरण में वेद प्रादुर्भूत हुए हैं। तत्पश्चात् वे आद्य ऋषि श्रुति (पठन-पाठन) की परम्परा से अन्यों को वेदों का ज्ञान प्रदान किया। यहाँ ध्यातव्य है कि वेदत्व (ज्ञान) शब्द और अर्थ इन दोनों में विद्यमान होता है।[1] पुनरपि अर्थनिष्ठ वेदत्व (ज्ञान) मुख्य है, क्योंकि अर्थ प्रधान होता और शब्द गौण होता है।[2] यतोहि शब्द अर्थबोध में साधन है। साधन (शब्द) की अपेक्षा साध्य (अर्थ, ज्ञान) मुख्य होता है। इसलिए सभी मनुष्यों को अपने कल्याण के लिए वेदार्थ को जानने का पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिए। शास्त्रमर्मज्ञ आचार्य कहते भी हैं—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
(निरु॰ १.१८)

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद् वहन्ति॥
(सु॰ सूत्र॰ ४.४)

स्थाणु अर्थात् दीवार में लगा हुआ शंकु (खूँटी, कील आदि) जिसप्रकार केवल भार का वाहक है, पर भार के मूल्य, गुण-धर्म आदियों का ज्ञाता नहीं है, अथवा स्थाणु अर्थात् वृक्ष[3] जिसप्रकार पत्र, पुष्प, फल आदियों से भारभूतमात्र होता है अथवा गर्दभ चन्दन का भारवाहीमात्र होता है, परन्तु उनके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के उपभोगरूपी सुखों से युक्त नहीं होता, उसीप्रकार वेद को पढ़ (कण्ठस्थ) कर जो

१. वेदत्वं शब्दतदर्थोभयवृत्ति (उद्योतः, म॰ भा॰, पस्प॰, आगमः खल्वपि)।
२. प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते (बृ॰दे॰ २.९९)। अर्थो हि प्रधानः, तद्गुणः शब्दः (दुर्गः, निरु॰१.१)। अर्थो हि प्रधानं, तद्गुणभूतः शब्दः (दुर्गः, निरु॰ २.१)। शब्दार्थयोरेकात्मत्वेप्यर्थांशस्यैव प्राधान्यमुपयोगवशाद् (पुण्यराजः, वा॰प॰ २.१२८)।
३. स्थाणुम् = वृक्षम् (सायणः, ऋ॰१०.४०.१३)।

अर्थ को नहीं जानता है, वह भी मस्तिष्क में शब्दों (मन्त्रों) का भारवाहीमात्र होता है, न कि उसके अर्थादि प्रयोजनों से युक्त होता है। हाँ जो वेदमन्त्रों के अर्थ को जानकर, तदनुकूल आचार-व्यवहार करता हुआ अपने अन्तरात्मा को पापरूपी मलिनता से रहित, शुद्ध-पवित्र करता है, वह इहलौकिक सम्पूर्ण सुखों को प्राप्त करता है और त्रिविध दुःखों से रहित होकर मोक्षपद को भी प्राप्त कर लेता है।

वेदाविर्भाव के काल से ही वेदार्थ को जानने की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी। पदपाठ, शाखाएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थ इसी प्रक्रिया की परम्परा से प्रणीत हुए हैं। पुनः कालान्तर में वेदाङ्ग आदि रचित हुए हैं। हम शब्द के विषय को त्रिधा विभक्त कर सकते हैं— १. शब्द का उच्चारण, २. शब्द का स्वरूप और ३. शब्द का अर्थ। शब्द के इन तीन विषयों के बोध के लिए ही क्रमशः तीन वेदाङ्गों का प्रणयन हुआ है— १. शिक्षाशास्त्र, २. व्याकरणशास्त्र, ३. निरुक्तशास्त्र (निघण्टु और निरुक्त)। ये तीनों ही वेदाङ्ग वेदार्थ को जानने के लिए प्रथमतया जानने योग्य हैं। इनमें से हम यहाँ केवल निरुक्त के विषय में ही चर्चा करेंगे।

निरुक्त एवं निर्वचन शब्दों का व्युत्पत्तिलभ्यार्थ —

निर्-उपसर्गपूर्वक वच परिभाषणे (२.५६) या ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (२.३७) धातु से क्तप्रत्यय होने पर 'निरुक्त' शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ 'निर्' उपसर्ग का अर्थ है— सम्पूर्णतया[1], विस्पष्टतया[2], उत्कृष्टतया[3], विशेषतया। वच्‌धातु का अर्थ है कहना। क्तप्रत्यय का अर्थ है— भाव या अधिकरण।[4] अब निरुक्त शब्द का सम्पूर्ण अर्थ यह निकलता है कि 'जिसमें शब्दार्थ स्पष्टतया, सम्पूर्णतया कहा जाता है', वह वचन या शास्त्र। अनेकों आचार्यों ने भी निरुक्त शब्द का निर्वचन इसप्रकार दिखाया है —

१. नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुं निगमान्वितम्।
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम् ॥

---

१. तदेनं निरुच्यमानं प्रकाशं गमयति (काठ०सं०९.१६)। पूर्णतयोच्यमानमित्यर्थः।
२. तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्ति (श०ब्रा०४.१.३.१६)। एनं प्राप्य दुरात्मानं क्षयं क्षत्रं गमिष्यति। तदिदं वचनं तेषां निरुक्तं वै जनार्दन ॥(म०भा०, शल्य०२४.४४) [निरुक्तम्= स्पष्टतयोक्तम्]।
३. स्वर्ग्यो धर्मो ह्येषां निरुच्यते (म०भा०, शान्ति० ८.३२) [निरुच्यते = उत्कृष्टत्वेनोच्यते]।
४. नपुंसके भावे क्तः (अष्टा०३.३.११४), क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः (अष्टा०३.४.७६)।

स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते ॥

(नाट्यशास्त्रम्, ६.१२-१३)

२. अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् [=**निघण्टुः**] **तथैकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र निःशेषेणोच्यन्ते तन्निरुक्तम्** (सायणः, ऋ० भू० पृ० ५५-५६)।

३. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

(काशिका— ६.३.१०९)।

४. तान्यवयवप्रत्यवयवविभागपूर्वकं वर्णस्वरमात्रादिभेदेनार्थ-निर्वचनाय निर्वचनीयानि इत्येतत्सर्वप्रदर्शनपरं निरुक्तशास्त्रम्।

(प्रपञ्चहृदयम्, पृ०२०)।

५. निर्वचने पदानामवयवार्थाः सम्भाविता निश्शेषेण निश्चयेनोच्यन्ते यत्राधारे [**तन्निरुक्तम्**] **(वाचस्पत्यम्)।**

६. निरुक्तं पदभञ्जनम् (अभिधानचिन्तामणि— २.१६८)।

७. निरुक्तं वेदार्थाधिगमोपायः (तन्त्रवार्त्तिकम् १.२.४.४)।

इत्यादि वचनों का तात्पर्य यही है कि सन्दिग्धार्थक या अनवगतार्थक पद का शब्दशास्त्र (व्याकरण) के नियमों के अनुकूल प्रकृति-प्रत्ययादि का विभाग करते हुए, ऊह करते हुए प्रकरणानुकूल सम्पूर्ण या सभी अर्थों का सम्यक्तया प्रदर्शित करने वाले शास्त्र का नाम **'निरुक्त'** है। महर्षि यास्क भी कहते हैं कि— **''अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते''** (निरु० १.१५)।[1]

'पदविभागपूर्वक प्रकरणानुकूल अर्थ को प्रकट करना' रूपी जो अर्थ निरुक्तशब्द से ज्ञात होता है, वही अर्थ 'निर्वचन' शब्द की व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है। तद्यथा—

१. अपिहितस्यार्थस्य परोक्षवृत्तावतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम् (दुर्गः, निरु० २.१)।

२. निर्विविच्य निर्धार्य वचनं कथनं निर्वचनम् (दुर्गः, निरु० १.१९)।

---

१. न च निरुक्तादृतेऽन्यदङ्गमन्यद् वा बाह्यं शास्त्रं शब्दकल्पद्रुममस्ति तात्पर्येण यदशेषान् शब्दान् निर्ब्रूयात् (शब्दकल्पद्रुम, निरुक्तशब्द)।

३. निर्वचनं प्रकृतिप्रत्ययविभागेन व्युत्पादनम् (सायणः, दे०अ०ब्रा०३.१)।

४. निर्वचने पदानामवयवार्थाः सम्भाविता निःशेषेण निश्चयेनोच्यन्ते (वाचस्पत्यम्)।

५. निर्वचनं नामार्थस्यान्वाख्यानम् (अनन्तभट्टः, भा०सू०३.६)।

निर्वचन के सिद्धान्त – वेदमन्त्रों के अर्थ को जानने में जिन पदों के अर्थज्ञान में विशेष ध्यान रखना चाहिए या जिन पदों का अर्थ स्पष्ट नहीं है, दुर्ज्ञेय हैं, उन पदों का संग्रह आचार्य यास्क ने निरुक्त के पूर्वभाग 'निघण्टु' में किया है। इन संगृहीत पदों का ही व्याख्यान आचार्य स्वयं निरुक्त के उत्तरभाग में किया है।[1] व्याख्यानभाग में व्याख्येय पदों का निर्वचन और उदाहरण के रूप में वेदमन्त्रों को प्रस्तुत किया है। इस व्याख्यान से पूर्व आचार्य ने निर्वचन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थापित किये हैं। वे इसप्रकार हैं – १. पदविभागसिद्धान्त, २. आख्यातजसिद्धान्त।

१. पदविभागसिद्धान्त –

मन्त्रों में यदि कोई समस्तपद और तद्धितान्तपद आ जाये तो उसे पहले विग्रह के द्वारा भिन्न-भिन्न पदों में विभक्त करें– **''अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वंम् अपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्''** (निरु०२.२)।

तद्धितान्त और समस्तपदों का एक भाग में या एकाधिक भागों में विभाजित करके क्रमशः पूर्ववर्ती भाग का निर्वचन पहले और परवर्ती भाग का निर्वचन बाद में करना चाहिए। विभक्त पदों का निर्वचन करने से पूर्व उनके स्वरूप को पहचानना चाहिए। इसके लिए आचार्य ने पदों के विभाग या पदों के प्रकार को बताया है– **''तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति''** (निरु०१.१)। नाम, आख्यात (तिङन्त)[2], उपसर्ग एवं निपातों को जानकर इनमें व्याख्येय पदों के प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभागपूर्वक निर्वचन करते हुए

१. अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र ['निघण्टुः' इत्याख्ये व्याख्यातव्ये ग्रन्थपूर्वभागे] उक्तं तन्निरुक्तम्, तथैकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र [व्याख्यानात्मके ग्रन्थोत्तर-भागे] निःशेषेणोच्यन्ते तन्निरुक्तम् (सायणः, ऋ०भू०)।

२. आचार्य यास्क आख्यातपद से प्रायः तिङन्त का ग्रहण करते हैं, न कि केवल धातु का। जैसे – पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीति (निरु०१.१), ''वने न वायो न्यधायि चाकन्'' (ऋ०१०.२९.१)... उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यद्० (निरु०६.२८), प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य (निरु०७.१)।

प्रकरणानुकूल अर्थों को प्रकट करें। प्रकरण या प्रसंग के विरुद्ध यथेष्ट धात्वादि की कल्पना करके निर्वचन (अर्थों का प्रकटीकरण) कभी नहीं करना चाहिए – **''नैकपदानि निर्ब्रूयात्''** (निरु०२.३)। पदों के अन्वाख्यान में इन विषयों का विशेषतया ध्यान रखना चाहिए।

२. आख्यातजसिद्धान्त –

पदों के व्याख्यान में आचार्य यास्क आदि का यह विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि – सभी नैरुक्त आचार्य एवं वैयाकरणों में शाकटायन का मत है कि सभी नाम (प्रातिपदिक) आख्यातज (धातुज) हैं – **''नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च''** (निरु०१.१२)।[1] सभी नामों को धातु से व्युत्पन्न मानते हुए अर्थबोध के हेतु आचार्य निर्वचनों को प्रस्तुत करते हैं। निर्वचनों को प्रदर्शित करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को स्थापित करते हैं –

२.१ प्रत्यक्षवृत्ति –

तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन [2]विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात् (निरु०२.१)।

जिन पदों में उदात्तादि स्वर एवं प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम आदि व्याकरण के प्रक्रियारूपी संस्कार पदार्थ के अनुकूल (समर्थ) हों और अर्थानुकूल धातु तथा उसके अनुबन्धादि गुण या गुण-वृद्धि आदि विकार व्याकरण से युक्त हों तो उन पदों का निर्वचन व्याकरणप्रक्रिया से ही करें। वहाँ निरुक्त की प्रक्रिया अर्थात् नये ऊहादि की आवश्यकता नहीं है। व्याकरणप्रक्रिया के अनुकूल निर्वचनों को समर्थवृत्ति या प्रत्यक्षवृत्ति कहते हैं, जिसमें प्रकृति, प्रत्ययादि अर्थानुकुल स्पष्ट प्रतीत होते हैं। इसे अन्वितार्थवृत्ति, अवगतसंस्कार, विद्यमानक्रिय (प्रत्यक्षक्रिय), शब्दनिर्वचन आदि भी कहते हैं।[3] इस प्रक्रिया को आज हम 'अष्टाध्यायीप्रक्रिया' कह सकते हैं।

१. नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।। (म०भा०३.१.१)।

२. 'गुणेनान्वितौ' इत्यपि पाठः।

३. इह त्रिविधा व्यवस्था नाम्नाम्। तद्यथा– प्रत्यक्षक्रियाणि, प्रकल्प्यक्रियाणि, अविद्यमान-क्रियाणीति। तत्र प्रत्यक्षक्रियाणि, तद्यथा– कारको हारक इति। प्रकल्प्यक्रियाणि, तद्यथा– गौरश्च इति। अविद्यमानक्रियाणि, तद्यथा– डित्थो डवित्थोऽरविन्दोऽर्वाङ् चन्द्र इति (दुर्गः, निरु०१.१२)।

२.२ परोक्षवृत्ति—

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन (निरु० २.१)।

किसी पद का अर्थ स्वर एवं संस्कार से अन्वित न हों अर्थात् शब्द का अर्थ और शब्दगत धात्वादि का अर्थ भिन्न-भिन्न हों तथा गुणवृद्धिलोपागमादि विकार धातु के अनुकूल न हों, तब प्रवृत्तिसामान्य से अर्थात् शब्दप्रवृत्तिनिमित्त के सादृश्य को देखकर अर्थानुकूल धात्वादि प्रकृतियों से एवं कृत्तद्धितसमासों के सादृश्य से निर्वचन करना चाहिए। क्योंकि अर्थ नित्य (=प्रधान) है और शब्द गौण है।[1] प्रधानाप्रधानों में प्रधान बलवान् होता है। अतः प्रधानभूत अर्थ को ही लेकर तदनुकूल धातु से ही निर्वचन करना चाहिए। गौणभूत शब्द में यथादृष्ट रूप (धातु, प्रत्ययादि) की उपेक्षा करनी चाहिए।[2] प्रकरणानुकूल अर्थ के विपरीत उस शब्दरूप के अनुकूल धातु से (रूपसामान्य से) निर्वचन कदापि नहीं करना चाहिए। इस सिद्धान्त में निरुक्त की प्रक्रिया के अनुसार निर्वचन करें और शब्दव्युत्पत्ति के लिए अपनी प्रतिभा से व्याकरण की प्रक्रिया का ऊह करें। इसमें विशेषतया ध्यातव्य है कि— शब्द का अभिधेयार्थ और निर्वचन से लभ्य अर्थ समान रहना चाहिए। इस सिद्धान्त से किये हुए निर्वचनों को असमर्थवृत्ति[3], परोक्षवृत्ति, अनन्वितार्थवृत्ति, दुरवगतसंस्कार, प्रकल्प्यक्रिय, अर्थनिर्वचन आदि कहा जाता है। इस प्रक्रिया को हम उणादिप्रक्रिया कह सकते हैं।[4]

---

१. अर्थो हि प्रधानं तद्गुणभूतः शब्दः। तस्मादर्थसामान्यं बलीयः शब्दसामान्यात् (दुर्गः, निरु०२.१)। रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः (गो०ब्रा०१.१.२६)।

२. 'श्वघ्नी' शब्द का अर्थ स्वरूपतः 'कुत्ते को मारने वाला' यह अर्थ स्पष्ट दीखता है। पर यथार्थतः इसका अर्थ 'कितव' (जुआरी) है। जुआरी धनादि अपनी सम्पत्ति का नाश करता है। अतः इस अर्थ के अनुकूल आचार्य यास्क ने कहा है कि 'जो अपने धनादि का नाश करता है, वह 'श्वघ्नी' कहलाता है ''श्वघ्नी कितवो भवति— स्वं हन्ति'' (निरु०५.२२)। यहाँ स्पष्ट ज्ञात होता है 'श्व' शब्द को 'स्व' समझते हुए शब्द के स्वरूप की उपेक्षा की गयी है और अभीष्ट अर्थ के अनुकूल निर्वचन किया गया है।

३. यहाँ 'असमर्थ' का अर्थ 'व्याकरण की प्रक्रिया अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने में असमर्थ' है।

४. प्रायेण चोणादिषु परोक्षवृत्तयः शब्दाश्चिन्त्यन्ते (दुर्गः, निरु०१.१)। बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्। कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु॥
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कुर्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥ (म०भा०३.३.१)।

ब्राह्मणग्रन्थों में इस परोक्षवृत्ति का उल्लेख स्पष्टतया दीखता है। तद्यथा— **''ते देवा अब्रुवन्— मेदं प्रजापते रेतो दुषद् इति, यद् अब्रुवन्— मेदं प्रजापते रेतो दुषद् इति तन्मादुषम् अभवत्। तन्मादुषस्य मादुषत्वम्। मादुषं ह वै नामैतद्, यन्मानुषं तन्मादुषं सन् मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः। ''** (ऐ०ब्रा०३.३३)[1] देवों ने जो यह कहा है कि प्रजापति का यह रेत (वीर्य, सन्तान) दूषित न हो, दूषित न हो। उसी से उस सन्तान का नाम 'मादुष' हो गया है। दूषित न होना ही मादुषपन है। इसी मादुष नाम को ही दकार के स्थान पर नकारादेशरूपी विकार करके परोक्षवृत्ति से 'मानुष' कहने लगे। परोक्षप्रियता के कारण मानुष नाम ही विद्वानों के द्वारा प्रसिद्ध किया गया है।[2] परन्तु इसमें 'दूषित न हो' यह अर्थ सर्वथा ही तिरोहित हो गया है। इसलिए इस शब्द के प्रयोग को **'अतिपरोक्षवृत्ति'** कहते हैं। 'मादुष' शब्द में अर्थानुकूल व्युत्पत्ति पूरा प्रत्यक्ष तो नहीं है, परन्तु कुछ सादृश्यता है। इसमें मूलरूप का अनुमान या ऊह कर सकते हैं। इसलिए इसप्रकार के प्रयोग को **'परोक्षवृत्ति'** कहते हैं। 'मा दुषद्' में तो अर्थानुकूल शब्दप्रयोग होने से और व्याकरणप्रक्रिया का पूरा प्रत्यक्ष होने से **'प्रत्यक्षवृत्ति'** कहते हैं। यास्क के निर्वचनों में भी यही शैली दृग्गोचर होती है कि अतिपरोक्षभूत शब्द का निर्वचन पहले परोक्षवृत्ति में दिखा कर पुनः प्रत्यक्षवृत्ति में दिखाते हैं। प्रत्यक्षवृत्ति से शब्द की व्युत्पत्ति पूर्ण स्पष्ट हो जाती है। इसप्रकार अतिपरोक्ष या परोक्ष में प्रवृत्त शब्दों का निर्वचन प्रत्यक्षवृत्ति में करके अभीष्ट (प्राकरणिक या प्रासंगिक) अर्थ को जानना चाहिए। परोक्षवृत्ति के कुछ उदाहरण निरुक्त से यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

परोक्षवृत्ति		**प्रत्यक्षवृत्ति**
निघण्टुः (१.१)	....	निगन्तुः
कर्णः (१.९)	....	(नि) कृत्तः
सुविते (४.१७)	....	सु इते
कितवः (५.२२)	....	किं तव
दूळ्यः (५.२३)	....	दुर्धियः

---

१. यद्य [आपः] वृत्वा अतिष्ठन् तद् वरणोऽभवत्, तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः (गो०ब्रा०१.१.७)। स उ एव मखः, स विष्णुः। तत इन्द्रो मखवान् अभवत्। मखवान् ह वै तं मघवान् इत्याचक्षते परोक्षम्, परोक्षकामा हि देवाः (शत०ब्रा०१४.१.१.१३)।

२. जैसे आजकल 'देवदत्त' को प्यार से 'देव', 'देवा' या 'दत्त', 'दत्तू' आदि कहते हैं।

अस्कृधोयुः (६.३)	....	अकृध्वायुः
ऋदूदरः (६.४)	....	मृदूदरः
शशमानः (६.८)	....	शंसमानः
कियेधाः (६.२०)	....	कियद्धाः
इरिणम् (९.८)	....	निर्ऋणम्
उलूखलम् (९.२०)	....	उरुकरम्
कण्टकः (९.३२)	....	कन्तपः
इन्द्रः (१०.८)	....	इन्धः / इदन्द्रः

२.३ अतिपरोक्षवृत्ति –

अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्, न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत, विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति (निरु० २.१)। निरुच्यमान शब्द के रूप (ध्वनि) का किसी भी धातु (प्रकृति) के साथ किसी भी प्रकार का कोई सादृश्य न हो तो शब्द के स्वर या व्यञ्जन की सादृश्यता को लेकर अभीष्ट अर्थ के अनुकूल[1] धातु से निर्वचन करना चाहिए। ऐसे शब्दों के विषय में व्याकरण "**पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्**" (अष्टा० ६.३.१०८) से साधु मानकर मौन हो जाता है। ऐसे ही नैरुक्तों को यथोपदिष्टतया साधु मानते हुए मौन होकर निर्वचन का त्याग नहीं करना चाहिए। अर्थात् निर्वचन अवश्य करें। भले ही इसमें व्याकरण के प्रक्रियारूप संस्कारों की उपेक्षा करनी पड़े तो निःसंकोच करें। क्योंकि व्याकरण अपनी मर्यादाओं में बंधा हुआ है। व्याकरण एक शब्द की व्युत्पत्ति एक प्रकार से करके चरितार्थ हो जाता है। शब्द निष्पन्न होते ही व्याकरण का कार्य समाप्त हो जाता है।[2] पर निरुक्त सिद्ध शब्द के जितने अभीष्ट अर्थ होते हैं, उतने ही निर्वचन (व्युत्पत्तियाँ)

१. अर्थनित्यः परीक्षेत (निरु०२.१)।

२. तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानं अर्थनिर्वचनम्। व्याकरणं लक्षणप्रधानम् [=शब्दप्रधानम्] (दुर्गः, निरु०१.१५)। यास्क के अनेक व्युत्पत्तियों (निर्वचनों) में से किसी एक व्युत्पत्ति को पाणिनि ने अपने तन्त्र में स्वीकार किया है। जैसे – हिरण्य (२.१०) का अन्तिम निर्वचन उणादि में स्वीकृत है। पन्थाः (२.२८) का आद्य निर्वचन उणादि में अंगीकृत है। समुद्र (२.१०) के पांच निर्वचनों में से तीसरे निर्वचन को उणादि में अपनाया गया है। इसी प्रकार इन उदाहरणों में भी जानें – १. अहिः (२.१७)। २. रात्रिः (२.१८)। ३. असुराः (३.८)। ४. देवरः (३.१५)। ५. व्याघ्रः (३.१८)। ६. दूरम् (३.१९)। ७.नक्षत्राणि (३.२०)। ८. ऊर्दरम् (३.२०)। ९. चक्षुः (४.३)। १०. अद्रिः (४.४; ९.९)। ११. अतिथिः (४.५)। १२. सक्तुः (४.१०)। १३. लक्ष्मीः (४.१०)। १४. दारु (४.१५)। १५. शुन्ध्युः (४.१६)। १६. ऊर्णा (५.२१)। १७. चरुः (६.११)। १८. मण्डूकाः (९.५)। १९. रुद्रः (१०.५)। २०. इन्द्रः (१०.८)। २१. गर्भः (१०.२३)। २२. इन्दुः (१०.४१) आदि।

करता है।[1] इसप्रकार की व्युत्पत्तियों में व्याकरण की प्रवृत्तियाँ सन्दिग्ध (मुग्ध) हो जाती हैं। अनवगत संस्कारवाले शब्दों में तो व्याकरण सर्वथा सन्दिग्धग्रस्त (विमुग्ध, अवरुद्ध) हो जाता है। जहाँ व्याकरण की गति अवरुद्ध हो जाती है, वहाँ निरुक्त की गति आरम्भ होती है और शब्द की यात्रा को पूर्ण करती है। इसीलिए कहा गया है – "**तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च**" (निरु० १.१५)।[2]

इस तीसरे सिद्धान्त को अतिपरोक्षवृत्ति, अनवगतसंस्कार, अविद्यमानक्रिय आदि कहते हैं।[3] इसे हम व्याकरण की भाषा में पृषोदरादिप्रक्रिया कह सकते हैं।[4] अतिपरोक्षभूत शब्दों में व्याकरण सर्वथा ही प्रवृत्त नहीं होता है, ऐसा नहीं है। पाणिनि या उनसे पूर्व के आचार्यों के द्वारा जब व्याकरण की प्रक्रिया बनायी जा रही थी, तब सग्धिः, जग्धः, घासः, जघास, जक्षतुः आदि शब्दों में अद्-धातु की कल्पना कैसे की होगी? इन शब्दों का अद्-धातु के साथ क्या सादृश्य है? कोई ध्वनि (रूप) का सादृश्य तो इनमें है ही नहीं। केवल अर्थ के सादृश्य (निरुक्त की शैली) को लेकर ही उनमें अद्धातु की कल्पना कर व्याकरण की प्रक्रिया बनायी गयी है। अद्धातु की दृष्टि में जक्षतुः आदि शब्द अतिपरोक्ष ही हैं। व्याकरण की प्रक्रिया बनने के

१. तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि, यथार्थं निर्वक्तव्यानि (निरु०२.७)।

२. निरुक्तं तु व्याकरणस्यैव कार्त्स्न्यम् (पद०, पृ०२)।

३. प्रत्यक्षवृत्ति आदि संज्ञाओं को स्पष्टतया जानने हेतु, स्मरण की सरलता के लिए उनमें विद्यमान भेद को तुलनात्मक दृष्टि से जानने के हेतु उन्हें इस तालिका में प्रस्तुत करते हैं–

प्रत्यक्षवृत्ति	परोक्षवृत्ति	अतिपरोक्षवृत्ति
समर्थवृत्ति	अस्पष्टवृत्ति	असमर्थवृत्ति
अन्वितार्थवृत्ति	दुरन्वितार्थवृत्ति	अनन्वितार्थवृत्ति
अवगतसंस्कार	दुरवगतसंस्कार	अनवगतसंस्कार
प्रत्यक्षक्रिय (विद्यमानक्रिय)	प्रकल्प्यक्रिय	अविद्यमानक्रिय
शब्दनिर्वचन	अर्थनिर्वचन	अर्थनिर्वचन, पर्यायनिर्वचन
अष्टाध्यायीप्रक्रिया	उणादिप्रक्रिया	पृषोदरादिप्रक्रिया, निरुक्तप्रक्रिया
यौगिक	योगरूढ	रूढ

[रूढ जैसे प्रतीत होने वाले वैदिक शब्दों को निरुक्त यौगिक ही मानता है।]

४. अपरिसमाप्ता ह्युणादय इति लक्षणविदः प्रतिजानते। सर्वथापि लक्षणासम्भवे पृषोदरादि-पाठसिद्धिरेव द्रष्टव्या। तत्र हि यथाध्ययनमेव शब्दाः साधीयांसो भवन्त्यभिव्याहारानभि-घातायेति हि लक्षणविदो मन्यन्ते (दुर्गः, निरु०१.१)।

पश्चात् आज हमें इनकी व्यत्पत्तियों में कोई सन्देह उत्पन्न नहीं होता है, कोई अपलापपन या पागलपन दिखाई नहीं देता।[1] इसीप्रकार जहि में √हन्, एधि में √अस्, हितः, हित्वा में √धा, ईप्सति, ईप्सितः में √आप्लृ, इष्टः में √यज् आदि की कल्पना में समझ लेना चाहिए। पर इसप्रकार की प्रक्रियाकल्पना आचार्यों ने उन शब्दों में की है, जो लोक में अत्यधिक प्रचलित रहें हैं, जिनकी व्युत्पत्ति को प्रदर्शित करना अनिवार्य था। अतिपरोक्षभूत वैदिक या आर्ष शब्दों की सिद्धि के लिए पृषोदरादि से साधु या सिद्ध माना गया है। पाणिनि को इसप्रकार इसलिए करना पड़ा, क्योंकि ग्रन्थ को गौरव दोष से मुक्त करना था और शास्त्र को लघुतम[2] रख कर व्याकरण से उन्मुखी लोगों को प्रवृत्त (उत्साहित) करना अभिप्रेत था। पाणिनीय व्याकरण का गम्भीरतया अध्ययन करने के पश्चात् अवशिष्ट (अनवगतसंस्कारवाले) वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति यास्क की प्रक्रिया से जानने में, ऊह करने में व्यक्ति स्वयं समर्थ हो जाता है। उसके लिए पुनः प्रक्रिया को बनाने का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अस्तु, प्रकृतमनुसरामः।

निरुक्त के अतिपरोक्षभूत कुछ उदाहरणों को यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

अतिपरोक्ष	**परोक्ष**	**प्रत्यक्ष**
१. नरकम् (१.११)	न्यरकम्	नीचैर्गमनम् (=नीचैररणम्)
२. कच्छः (४.१८)	खच्छः	खच्छदः
३. कुल्माषाः (१.४)	कुल्माषदाः	कुलसदाः (कुलेषु सीदन्ति)
४. वयाः (१.४)	वयनाः	वातायनाः
५. शाखाः (१.४)	शखाः	शकाः (√शक्)
६. पुरुषः (२.३)	पुरिषः	पुरिषादः
पुरुषः (२.३)	पुरिषयः	पुरिशयः
७. दुहिता (३.४)	दुर्हिता	दूरे हिता[3]

१. तथाकथित आधुनिक भाषाविज्ञानी यास्क की बड़े ही कठोर शब्दों में आलोचना करते हैं। अपनी कल्पित मान्यताओं पर यास्क के निर्वचनों को परखते हैं। उसमें खरे उतरे तो ठीक, नहीं तो अमुक-अमुक निर्वचन में यास्क का पागलपन है, बेहूदा पागलपन है आदि शब्दों से आलोचना करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि वे अपने उस कार्य को बड़ा ही शोधपूर्ण एवं वैज्ञानिक मानते हैं। वे वेद और आर्षग्रन्थों को समझने का प्रयास ही नहीं करते हैं।

२. कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः? किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् (म॰भा॰, पस्प॰, पृ॰५५)। सामान्येनोपदेशश्च शास्त्रे लघ्वर्थमाश्रितः (वा॰प॰२.१७६)।

३. आगे '४.७ वर्णसादृश्य से निर्वचन' (पृ॰४७) के अन्तर्गत 'वणिक्' शब्द के व्याख्यान में भी अतिपरोक्ष आदि तीनों वृत्तियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

परोक्षवृत्ति तथा अतिपरोक्षवृत्तियों में शब्दों की व्युत्पत्ति व्याकरण की प्रक्रियाओं से कैसे-कैसे की जाती रही है, इसे स्वयं आचार्य यास्क कुछ उदाहरणों से दिखाते हुए निर्वचनों के अन्य सिद्धान्तों को भी आगे प्रस्तुत करते हैं—

२.४ विभक्ति का विपरिणाम —

यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् (निरु॰२.१)— किसी पद की विभक्ति प्राकरणिक अर्थ के अनुकूल न हो तो अभीष्ट अर्थ के अनुकूल विभक्ति का विपरिणाम करें।[1] स्वामी ब्रह्ममुनि जी यहाँ विभक्ति से पदविभाग अर्थ का ग्रहण करते हैं— **यथार्थं यथाशयं यथाभिप्रायं विभक्तीः पदविभक्तीः पदविभागान् सन्नमयेत् सङ्कल्पयेत्** (निरुक्तसम्मर्शः २.१, पृ.६६)। अर्थात् शब्दों में यह प्रकृति भाग है, यह प्रत्ययभाग है इत्यादि अर्थ के अनुसार जानना चाहिए।

२.५ धातु के आद्य वर्ण का अवशिष्ट रहना —

प्रत्तम्, अवत्तम् इति धात्वादी एव शिष्येते (निरु॰२.१)— प्रत्तम् एवं अवत्तम् शब्दों में धातु का आदि वर्ण ही बचा रहता है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि— इनका आद्य भाग 'प्र' एवं 'अव' ये दोनों उपसर्ग हैं और अन्त्य भाग 'तम्' विभक्ति सहित 'क्त' प्रत्यय है, इतना तो स्पष्ट ज्ञात होता है। मध्यस्थ 'त्' वर्ण निश्चितरूप से धातु का अवयव है। व्याकरण की कल्पना के आद्यकाल में इन शब्दों के इस त्-वर्ण के सादृश्य को लेकर आचार्यों ने अर्थानुकूल 'डुदाञ् दाने' (३.९) और 'दो

१. व्यत्ययो बहुलम् (अष्टा॰३.१.८५)। सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (अष्टा॰७.१.३९)। न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथार्थं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथार्थं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम् (म॰भा॰पस्प॰)। याज्ञिकाः पठन्ति— ''प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः'' इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् (म॰भा॰पस्प॰)।

विभक्तिविपरिणाम का कथन एक उपलक्षणमात्र है। इसीप्रकार वेदों में लिंग, पुरुष, वचन, काल आदि का व्यत्यय ऊहनीय हैं। इसप्रकार के कार्यों को व्याकरण में ''व्यत्ययो बहुलम्'' (अष्टा॰३.१.८५) सूत्र से निर्वाह कर लिया जाता है —

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां, सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन।। (म॰भा॰ ३.१.८५)।
लिङ्गं धातुं विभक्तिञ्च सन्नमेत्तत्र तत्र च (बृ॰दे॰२.१०१)।

२. प्र + √दा + क्त > प्र+दत्+ त— अच उपसर्गात्तः (अष्टा॰७.४.४७) > प्र + त्+त— झरो झरि सवर्णे, खरि च (अष्टा॰८.४.६५,५५) > प्रत्तम्। अव+√दो+क्त > अव+दा+त— आदेच उपदेशेऽशिति (अष्टा॰६.१.४५) > अवत्त (शेषं पूर्ववत्)।

अवखण्डने' (४.३९) धातुओं का ग्रहण कर प्रत्तम्, अवत्तम् शब्दों को व्युत्पन्न कर लिया है। वैसे ही निरुक्त में भी अनवगतसंस्कारवाले शब्दों में वर्णसादृश्य से अर्थानुकूल धातु का ग्रहण करके निर्वचन करना चाहिए।[1] पर वह धातु प्रासंगिक अर्थ के विपरीत नहीं होना चाहिए। तद्यथा— यहाँ त्-वर्ण से अभीष्टार्थ के विपरीत तादि या दादि किसी भी अन्य धातु का ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसीप्रकार अग्रिम सिद्धान्तों में भी जानना चाहिए।

१. 'प्रत्तम्, अवत्तम्' के समान निरुक्त के इन शब्दों में भी धातु का आद्य वर्ण मात्र अवशिष्ट रहता है— १. आचार्यः (१.४)। २. ह्यः (१.६)। ३. अन्यः (१.६)। ४. अध्वर्युः (१.८)। ५. रूपम् (२.३; ३.१३)। ६. अंशुः (२.५)। ७. अपत्यम् (३.१)। ८. जामि (३.६)। ९. असुराः (३.८)। १०. अङ्गुलयः (३.८)। ११. अन्नम् (३.९)। १२. धनम् (३.९)। १३. अन्तिकम् (३.९)। १४. सङ्ग्रामः (३.९)। १५. त्रयः (३.१०)। १६.चत्वारः (३.१०)। १७. कुत्सः (३.११)। १८. खम् (३.१३)। १९. रूपम् (३.१३)। २०. विधवा (३.१५)। २१. श्वा (३.१८)। २२. सिंहः (३.१८)। २३. व्याघ्रः (३.१८)। २४. यज्ञः (३.१९)। २५. कूपः (३.१९)। २६. पुराणम् (३.१९)। २७. नवम् (३.१९)। २८. त्वः (३.२०)। २९. ग्नाः (३.२१; १०.४७)। ३०. त्रितः (४.६)। ३१. भद्रम् (४.१०)। ३२. तुग्वन् (४.१५)। ३३. तायुः (४.२४)। ३४. नीचैः (४.२४)। ३५. उच्चैः (४.२४)। ३६. अजाः (४.२५)। ३७. वंशः (५.५)। ३८. अध्रिगुः (५.११)। ३९. निचुम्पुणः (५.१७)। ४०. स्वम् (५.२२)। ४१. नौः (५.२३)। ४२. काकुदम् (५.२६)। ४३. वीरिटम् (५.२७)। ४४. नियुतः (५.२८)। ४५. आशाः (६.१)। ४६. वाणी (६.२)। ४७. अग्रम् (६.३)। ४८. सललूकम् (६.३)। ४९. निशृम्भाः (६.३)। ५०. उपसि (६.६)। ५१. स्यालः (६.९)। ५२. स्यम् (६.९)। ५३. अघम् (६.११)। ५४. चरुः (६.११)। ५५. क्रिमिः (६.१२)। ५६. पुरन्धिः (६.१३)। ५७. जवारु (६.१७)। ५८. कुलिशः (६.१७)। ५९. शकटम् (६.२२)। ६०. कुरुङ्गः (६.२२)। ६१. कुलम् (६.२२)। ६२. अमत्रः (६.२३)। ६३. बकुरः (६.२५)। ६४. वृकः (६.२६)। ६५. बुन्दः (६.३२)। ६६. ऋदूपे (६.३३)। ६७. वृन्दम् (६.३४)। ६८. किः (६.३५)। ६९. अग्निः (७.१४)। ७०. महिषाः (७.२६)। ७१. द्रविणसः (८.२)। ७२. आविः (८.१५)। ७३. आविष्ट्यः (८.१५)। ७४. स्वाहा (८.२०)। ७५. शकुनिः (९.३)। ७६. मङ्गलम् (९.४)। ७७. मण्डः (९.५)। ७८. अद्रिः (९.९)। ७९. रथः (९.११)। ८०. इषुधिः (९.१३)। ८१. सङ्काः (९.१४)। ८२. ज्या (९.१७)। ८३. कशा (९.१९)। ८४. आजिः (९.२३)। ८५. त्रितः (९.२५)। ८६. अरण्यम् (९.२९)। ८७. मुसलम् (९.३५)। ८८. सीरः (९.४०)। ८९. कवन्धम् (१०.४)। ९०. इन्द्रः (१०.८)। ९१. उत्सः (१०.९) ९२. पर्जन्यः (१०.१०)। ९३. बृहस्पतिः (१०.११)। ९४. ब्रह्मणस्पतिः (१०.१२)। ९५. पतयः (१०.१६)। ९६. कः (१०.२२)। ९७. जरायुः (१०.३९)। ९८. चन्द्रमाः (११.५)। ९९. कलशः (११.१२)। १००. नवग्वाः (११.१९)। १०१. आगः (११.२४)। १०२. किल्विषम् (११.२४)। १०३. स्वसा (११.३२)। १०४. सुरणानि (११.५०)। १०५. अरुषीः (१२.७)। १०६. भुरण्युः (१२.१२)। १०७. विषम् (१२.२६) इत्यादि।

२.६ आद्य वर्ण का लोप—

अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेष्वादिलोपो भवति— स्तः, सन्तीति (निरु०२.१)। इसके अतिरिक्त गुणवृद्धि के निषेध (क्ङिति) स्थलों पर अस् धातु के आद्य वर्ण का लोप हो जाता है। जैसे— स्तः, सन्ति आदि। व्याकरण में भी 'स्' वर्ण के सादृश्य से अस्-धातु की कल्पना की गयी है। इसी प्रकार वैदिक शब्द में भी लुप्त आद्य वर्ण को प्रकरणशः पहचान कर व्युत्पत्ति करें और अर्थ को जानें।[1]

२.७ अन्त्य वर्ण का लोप —

अथाप्यन्तलोपो भवति — गत्वा, गतमिति (निरु०२.१)। कुछ स्थानों पर गुणवृद्धि के निषेध (क्ङिति) स्थलों में धातु के अन्त्य वर्ण का लोप हो जाता है। जैसे कि — गत्वा, गतम्।[2] व्याकरणशास्त्र के इस नियम के आधार पर निरुक्तशास्त्र में भी अन्त्य वर्णों का लोप हो जाता है, ऐसा जानें। यहाँ आचार्य का अभिप्राय 'अन्त्य वर्णमात्र का लोप' को जानना चाहिए, न कि अनुनासिक वर्णमात्र। अन्त्य वर्ण का लोप होने के पश्चात् अवशिष्ट वर्णों अर्थात् विद्यमान वर्णों के सादृश्य से अभीष्ट अर्थानुकूल धातुओं का ऊह करके निर्वचन करना चाहिए।[3]

१. रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति (म०भा०, पस्प०)। निरुक्त के व्याख्यात शब्दों में जिन धात्वादि के आद्य वर्ण व भाग का लोप हो जाता है, उन्हें यहाँ दिखाते हैं — १. चक्षि > अक्षि (१.९)। २. दृषिः > ऋषिः (२.११)। ३. पृश्निः (२.१४)। ४. मुहुर्तः (२.२५)। ५. स्खलः > खलः (३.१०)। ६. पर्शुः (४.६)। ७. पृष्ठम् (४.३)। ८. ऋधक् (४.२५)। ९. वराहः (५.४)। १०. वपुष्करः > पुष्करः (५.१४)। ११. ऊर्णा (५.२१)। १२. मृदूदरः > ऋदूदरः (६.४)। १३. शूर्पम् (६.९)। १४. असूर्ते (६.१५)। १५. सूर्ते (६.१५)। १६. वायुः > आयुः (९.३)। १७. मुद्गलः (९.२४)। १८. इन्द्रः (१०.८)। [नि०९]। १९. विष्णुः (१२.१८) इत्यादि।

२. अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (अष्टा० ६.४.३७)।

३. अन्त्य वर्ण या भाग के लोप के लिए निरुक्त के इन उदाहरणों को देखें— १. कक्षः (२.२)। २. चर्म (२.५)। ३. गौः (२.५; २.१४)। ४. अपत्यम् (३.१)। ५. श्मश्रुः (३.५)। ६. द्यौ (३.१०)। ७. काकः (३.१८)। ८. स्त्रियः (३.२१)। ९. रक्षः (४.१८)। १०. अन्धः। ११. ऊर्मिः (५.२३)। १२. कुरुः (६.२२)। १३. मत्स्याः (६.२७)। १४. तुविक्षम् (६.३३)। १५. मातरिश्वा (७.२६)। १६. सखायः (७.३०)। १७. अतूर्तः (९.१०)। १८. धनुः (९.१६)। १९. परुष्णी (९.२६)। २०. इन्द्रः (१०.८)। [नि०१०, १३] २१. शेवः (१०.१७)। २२. शिवम् (१०.१७)। २३. मित्रः (१०.२१)। २४. चन्द्रः (११.५)। २५. पृथुष्टुके (११.३२)। २६. विषम् (१२.२६) इत्यादि। सिद्धान्त २.५ के उदाहरणों में भी अन्त्य भाग का लोप होकर आदि वर्ण मात्र शेष रहता है। अतः उन्हें भी यहाँ उदाहरण के रूप में समझ सकते हैं। डित्-प्रत्ययान्त के सभी शब्द भी यहाँ के उदाहरण बनते हैं।

२.८ उपधालोप—

अथाप्युपधालोपो भवति— जग्मतुः, जग्मुरिति (निरु०२.१)। इसके अतिरिक्त किन्हीं शब्दों में गुणवृद्धि के निषेध (क्ङिति) के स्थलों में उपधालोप हो जाता है। जैसे— जग्मतुः, जग्मुः।[1] इनमें ग् और म् इन दो वर्णों के सादृश्य से और अर्थ के अनुरूप गम् धातु का ग्रहण किया गया है। इस प्रक्रिया को वैदिक शब्दों में भी जान लेना चाहिए।[2]

२.९ उपधाविकार—

अथाप्युपधाविकारो भवति— राजा, दण्डीति (निरु०२.१)। कभी-कभी कुछ शब्दों की उपधा में दीर्घादि विकार होते हैं। जैसे- राजा, दण्डी। यहाँ दोनों में ही उपधादीर्घ हुआ है।[3] इसीप्रकार वैदिकशब्दों में या निरुक्त की व्युत्पत्तिप्रक्रिया में बहुल करके उपधा में दीर्घ, ह्रस्व, इत्व, उत्व आदि अनेकों विकार होते हैं।[4]

२.१० वर्णलोप —

अथापि वर्णलोपो भवति— तत्त्वा यामीति (निरु०२.१)। और कहीं-कहीं वर्ण का लोप हो जाता है। तद्यथा— यामि।[5] यहाँ याचामि [√याच् +आ+मि] के चकार का लोप होकर 'यामि' निष्पन्न हुआ है। यह वैदिक प्रयोग है।[6] आचार्य

---

१. √गम् + अतुस् / उस् (लिटि) — गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि (अष्टा०६.४.९८)।
२. उपधालोप के उदाहरण — १. वृक्षः(२.६)। २. अभीक्ष्णम् (२.२५)। ३. दश(३.१०)। ४. वज्रः(३.११)। ५. दभ्रम् (३.२०)। ६. द्वारः(८.९)। ७. सप्तिः(९.३)। ८. कशा (९.१९) [नि०२]। ९. बधिरः(१०.४१)। १०. अघ्न्या (११.४३) आदि।
३. सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ, सौ च (अष्टा०६.४.८,१३)।
४. उपधाविकार के उदाहरण — १. धूः(३.९) [धार् > धुर्]। २. बिलम् (२.१७)। ३. कुत्सः (३.११) [कृत् +स > कुत्सः]। ४. गृहाः(३.१३)। ५. मेनाः(३.२१)। ६. शेपः(३.२१)। ७. मेहना (४.४)। ८. वासराणि (४.७)। ९. सप्त (४.२६)। १०. आङ्गूषः (५.११)। ११. शिमी (५.१२)। १२. निचुम्पुणः (५.१७)। १३. पृथक् (५.२५)। १४. कूलम् (६.१)। १५. ओजः (६.८)। १६. भूमिः(६.२०)। १७. तुरीपम् (६.२१)। १८. विकटः (६.३०)। १९. आदुरिः (६.३१)। २०. त्वष्टा (८.१३) [नि०२]। २१. मण्डूकाः(९.५)। २२. विभीदकः(९.८)। २३. स्वर्कः(११.१४)। २४. केशी (१२.२५) आदि।
५. निघण्टु (३.१९) में याञ्चाकर्मवाले शब्द प्रायः वर्णलोप किये हुए शब्द ही पठित हैं। यथा— वीमहे > ईमहे। याचामि > यामि। मनामहे > मन्महे आदि।
६. वर्णलोप के अन्य वैदिक प्रयोग इसप्रकार हैं— १. शाखाः(१.४)। २. नाकः(२.१४) [नायकः > नाकः]। ३. स्तेनः(३.१९)। ४. मांसम् (४.३)। ५. मेहना (४.४)। ६. तितउ (४.९)। ७. कायमानः(४.१४)। ८. शीरम् (४.१४)। ९. ऋधक् (४.२५)। १०. नराः

स्वयं अन्यत्र वर्णलोप के उदाहरण को शब्दशः प्रस्तुत करते हैं — **''अपि वा, असुरत्वम् आदिलुप्तम्''** (१०.३४)। अर्थात् वसुरत्व के आदि वर्ण वकार का लोप होकर 'असुरत्व' शब्द सिद्ध होता है।

२.११.१ द्विवर्णलोप—

अथापि द्विवर्णलोपः — तृच इति (निरु० २.१)। और कहीं तो दो वर्णों का लोप होता है। जैसे— तिसृणाम् ऋचां समाहारः तृचः [त्रि (त् र् इ) +ऋचः > त् + ऋचः > तृचः]। व्याकरण की प्रक्रिया में तो **''ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्छन्दसि''** (वा० ६.१.३७) इस वार्त्तिक से 'त्रि' को सम्प्रसारण (पूर्वरूप) और 'ऋचः' के आद्य अक्षर 'ऋ' इस एक वर्ण का लोप हो जाता है [त्रि (त् र् इ) + ऋचः > तृ इ + चः > तृ + चः > तृचः]। यहाँ इवर्ण को पूर्वरूप हुआ है, पुनरपि अदर्शन सामान्य से इसे भी लोप मान सकते हैं। इससे प्रक्रिया सम्बन्धी कोई दोष नहीं आता है। इसप्रकार व्याकरण की प्रक्रिया में भी दो वर्णों का लोप सिद्ध होता है।

पुत्रशब्द के व्याख्यान में स्कन्दस्वामी, महेश्वर कहते हैं कि— **''पुत्रः पुरु त्रायत इत्यविभक्तिको निर्देशः। पुरुणो दृष्टादानुश्रविकात् (=लौकिकात् पारलौकिकात्) च दुःखात् त्रायत इति पुरुत्रः सन् द्विवर्णलोपेन पुत्रः''** (स्क०म०, निरु० २.११)। यास्क की निर्वचनप्रक्रिया में भी द्विवर्ण लोप देखा जाता है। यथा — **''भवद् रमयतीति वा भद्रम्''** (निरु० ४.१०) इस निर्वचन में 'भवद्' उपपद के 'व्-अ' वर्णों का लोप हो जाता है [भवद् + √रम् + ड > भद् + र् + अ > भद्र]।[1]

(५.१)। ११. उर्वशी (५.१३)। १२. कितवः(५.२२)। १३. अंसत्रम् (५.२५)। १४. आशुशुक्षणिः (६.१)। [नि०२]। १५. ऋदूदरः(६.४)। १६. कपनाः(६.४)। १७. अप्वा (६.१२) [अप > अप्]। १८. यादृश्मिन् (६.१५)। १९. शुरुधः(६.१६)। २०. प्रतद्वसू (६.२१)। २१. मत्स्याः (६.२७)। २२. गरुत्मान् (७.१८)। २३. मिथुनौ (७.२९)। २४. सुष्वयन्ती (८.११)। २५. त्वष्टा (८.१३) [नि०३]। २६. आयुः(९.३)। [वायुः > आयुः]। २७. ऋभुः(११.१५,द्र० ९.३)। २८. शकुनिः(९.३)। २९. मङ्गलम् (९.४)। ३०. मूजवान् (९.८)। ३१. ओषधयः (९.२७)। ३२. उत्सः(१०.९) [नि०३]। ३३. पर्जन्यः(१०.१०)। ३४. स्तूपः(१०.३३)। ३५. कविः(१२.१३) इत्यादिः।
१. द्विवर्णलोप के अन्य उदाहरण इसप्रकार हैं— १. अरणः(३.२)। २. ऊर्ज् (३.८)। ३. सत्यम् (३.१३)। ४. पुराणम् (३.१९)। ५. अर्भकम् (३.२०)। ६. जहा (४.१)। ७. कन्या (४.१५)। ८. हरिः(४.१९)। ९. विश्पतिः(४.२६)। १०. सप्तपुत्रम् (४.२६)। ११.हेमन्तः (४.२७)। १२.चनः(६.१६)। १३. उष्णीषम् (७.१२) १४. अग्निः(७.१४) १५. मूर्धा (७.२७)। १६. तनूनपात् [नपात्](८.५)। १७. मङ्गलम् (९.४)। १८. इरिणम् (९.८)।

२.११.२ अनेक वर्णों का लोप–

द्विवर्णलोप का कथन अनेक वर्णों के लोप का उपलक्षण जानना चाहिए। क्योंकि अनेकों शब्दों में दो से अधिक वर्णों का भी लोप हो जाता है। जैसे कि– **''भाजनवद् वा भद्रम्''** (निरु० ४.१०)। इस निर्वचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमें 'अ-न्-अ' इन तीन वर्णों का लोप हो जाता है। व्युत्पत्ति इसप्रकार है– 'भाजन + र (मत्वर्थे) > भाज् + र > भज् + र > भद् + र > भद्र'।[1]

२.१२ आद्य वर्ण (भाग) का व्यत्यय–

अथाप्यादिविपर्ययो[2] भवति– ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाट्य इति (निरु० २.१)। कई बार तो शब्दों के आद्य वर्ण के स्थान पर वर्णव्यत्यय हो जाता है। तद्यथा- ज्योतिः आदि। ज्योतिशब्द में 'द्युत दीप्तौ' (१.४९३) धातु से औणादिक इसिन् प्रत्यय[3] होकर आद्य वर्ण 'द्' को 'ज्' हो जाता है। हन् धातु से अप्-प्रत्यय और हकार को घकार होकर[4] 'घन' शब्द सिद्ध होता है। 'भिदिर् विदारणे' (७.२) धातु से उप्रत्यय[5] और आद्य वर्ण भकार को बकार होकर 'बिन्दुः' शब्द निष्पन्न होता है।[6] 'भट भृतौ' (१.२००) या 'भट परिभाषणे' (१.५२९) धातु से ण्यत् प्रत्यय एवं आद्य वर्ण भकार को वकार होकर 'वाट्य' शब्द उपपन्न होता है। नैरुक्त प्रक्रिया में भी अनेकों शब्दों में आद्य वर्ण के स्थान पर वर्णव्यत्यय देखा जाता है।[7]

---

१९. दुन्दुभिः (९.१२)। २०. बृहस्पतिः (१०.११)। २१. तार्क्ष्यः (१०.२७)। २२. परुच्छेपः (१०.४२)। २३. मृत्युः (११.६)। २४. मत्सखा (१३.४) इत्यादि।

१. अनेकवर्णलोप के अन्य उदाहरण– १. उत्तरः (२.११)। २. त्वादातम् (४.४)। ३. तितउ (४.९) [नि०३]। ४. अन्धः (५.१)। ५. व्राः (५.३)। ६. हरयाणः (५.१५)। ७. क्रव्यम् (६.११)। ८. अमवान् (६.१२)। ९. अमतिः (६.१२)। १०. ततनुष्टिः (६.१९)। ११. विवस्वान् (७.२६)। १२. नराशंसः (८.६)। १३. त्वष्टा (८.१३)। १४. ऊर्ध्वः (८.१५)। १५. मङ्गलम् (९.४)। १६. बालः (९.१०)। १७. पृथुष्टुके (११.३२)। १८. पांसुरे (१२.१९) आदि। सिद्धान्त – २.५ के कुछ उदाहरण और वक्ष्यमाण सिद्धान्त ४.६ एवं ४.७ के सभी उदाहरण भी यहाँ गृहीत होंगे। उपस्थितपाः सन् अनेकवर्णलोपादिना स्तिपाः, अग्निरुच्यते। (देव०, नि०नि० ४.३.७८)।

२. 'आदिव्यापत्तिः' इति स्कन्दमहेश्वरपाठः।

३. द्युतेरिसिन्नादेश्च जः (उणा० २.११२)।

४. मूर्तौ घनः (अष्टा० ३.३.७७)।

५. शॄस्वृस्निहित्रप्यसि० (उणा० १.१०) इति बाहुलकाद् भिदेरपि उप्रत्ययः।

६. बिन्दत्यवयवीभवतीति बिन्दुः परिमाणं जलादिकणो वा (दया०, उणा० १.१०)। [बिदि अवयवे (१.५२) + उ > बिन्दुः]।

७. आदिव्यत्यय के नैरुक्त उदाहरण– १. कम्बोजाः (२.२)। २. स्वर् (२.१४)। ३. पिजवनः (२.२४)। ४. एवैः (२.२५)। ५. उर्वीः (२.२६)। ६. अङ्गुलयः (३.८) [नि०३,४]। ७.

२.१३ आद्यन्तविपर्यय –

पूर्वपरभाव अर्थात् यथाक्रम के विपरीतत्व (क्रम के भंग) को ही आद्यन्तविपर्यय कहते हैं। यह विपर्यय (क्रमपरिवर्तन) रूपी कार्य वर्ण, वर्णसमुदाय एवं शब्दों में भी देखा जाता है। आद्यन्तविपर्यय करने पर भी कभी-कभी अर्थ में परिवर्तन नहीं भी होता है। जैसे– √तप ऐश्वर्ये (४.४८), √पत ऐश्वर्ये[1] (क्षीर० ४.४८, पाठा०) अस्तु।

अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति– स्तोकाः, रज्जुः, सिकताः, तर्क्विति (निरु० २.१)। कुछ शब्दों में तो आदि (पूर्व) वर्ण अन्त (बाद) में जाता है तथा अन्तिम (बाद का) वर्ण आदि (पूर्व) में आता है। यथा– स्तोकाः, रज्जुः, सिकताः, तर्कु आदि। श्च्युतिर् क्षरणे (१.३४) धातु से घञ् प्रत्यय और आद्यन्तवर्णविपर्यय होकर 'स्तोकाः' शब्द निष्पन्न होता है [√श्च्युत् + अ > स्कुत् (यलोपकुत्वौ) + अ > स्तुक् + अ > स्तोक]। सृज विसर्गे (४.६७) धातु से उप्रत्यय[2] और आद्यन्तविपर्यय होकर रज्जुशब्द व्युत्पन्न होता है [√सृज् + उ > सर्ज् + उ > रस्ज् + उ > रज्जु]। कस गतौ (१.५९९) धातु से क्त[3] प्रत्यय एवं वर्णों का आद्यन्तपरिवर्तन होकर 'सिकता' शब्द सिद्ध होता है [√कस् + इट् + क्त > कसित > सिकता]। कृती छेदने (६.१४४) धातु से उप्रत्यय[4] और वर्णविपर्यय होकर 'तर्कु' शब्द निष्पन्न होता है [√कृत् + उ > कर्त् + उ > तर्क् + उ > तर्कु]।

आचार्य स्वयं इसप्रकार के आद्यन्तविपर्यय का उल्लेख शब्दशः करते हुए अनेकों शब्दों का निर्वचन करते हैं। इसके लिए इनके निर्वचनों को देखें– १.नभः

अभीशवः (३.९)। ८. बलम् (३.९)। ९. प्रपित्वे (३.२०)। १०. इषिरेण (४.७)। ११. इष्मिणः (४.१६)। १२. भरः (४.२४)। १३. दूतः (५.१)। १४. शर्याः (५.४)। १५. आङ्गूषः (५.११)। १६. तृपलप्रभर्मा (५.१२)। १७. ऋजीषी (५.१२)। १८. द्रप्सः (५.१४)। १९. स्वम् (५.२२)। २०. काकुदम् (५.२६)। २१. आशा (६.१)। २२. कूलम् (६.१)। २३. निशृम्भाः (६.३)। २४. जरूथम् (६.१७)। २५. बुन्दः (६.३९)। २६. गायत्री (७.१२)। [नि०३]। २७. द्वारः (८.९)। २८. इरिणम् (९.८)। २९. बालः (९.१०)। ३०. कशा (९.१९)। [नि०४]। ३१. उलूखलम् (९.२०)। [नि०३]। ३२. मित्रः (१०.२१)। [नि०२]। ३३. कुहूः (११.३२)। ३४. गौरी, गौरः (११.३९)। ३५. पांसवः (१२.१९)।

१. पत्यते ऐश्वर्यकर्मा (निघं० २.२१.२)।

२. सृजेरसुम्च [सलोपः] (उणा० १.१५)। उणादिप्रक्रिया में तो धातु के सकार का लोप और 'असुम्' आगम होकर रज्जुशब्द सिद्ध होता है [√सृज्+उ > ऋ अस् ज्+उ > रस्ज्+उ > रज्जु]।

३. अञ्जिघृसिभ्यः क्तः (उणा० ३.८९) इति बाहुलकात् कसेरपि क्तः।

४. कृतेराद्यन्तविपर्ययश्च (उणा० १.१६)। कृन्तति छिनत्ति वस्त्रादिकमनेन स तर्कुः कर्तनी वा (दया०, तत्रैव)। पाणिनि ने यहाँ यास्क के आद्यन्तविपर्यय को माना है, परन्तु इसके पूर्वतन सूत्र में 'रज्जु' शब्द के लिए आद्यन्तविपर्यय को नहीं माना है।

(२.१४)। २. सिंहः (३.१८)। ३. अर्धम् (३.२०)। ४. सक्तुः (४.१०)। ५. अंहतिः, अंहस्, अंहुः (४.२५)। ६. तलम् (५.२६)। ७. कूलम् (६.१)। ८. गायत्री (७.१२)। ९. रथः। १०. पर्जन्यः (१०.१०)। ११. मधु (१०.३१)। १२. चारुः (११.५)। इनके अतिरिक्त अनेकों शब्दों में आचार्य को आद्यन्तविपर्यय अभीष्ट है, यह उनके निर्वचनों से स्पष्ट हो जाता है।[1]

२.१४ अन्त्य वर्ण का व्यत्यय –

अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति (निरु॰२.१)। ओघः, मेघः, नाधः, गाधः, वधूः, मध्विति (निरु॰२.२)। कहीं-कहीं पर अन्तिम वर्ण के स्थान पर भी वर्णव्यत्यय होता है। तद्यथा– ओघः, मेघः आदि। 'वह प्रापणे' (१.७३०) और 'मिह सेचने' (१.७१८) धातुओं से घञ् प्रत्यय और अन्त्य हकार को घकार[2] होकर ओघः, मेघः शब्द सिद्ध होते हैं। 'ओघः' में सम्प्रसारण एवं गुण छान्दस कार्य हैं। 'णह बन्धने' (४.५५), 'गाहू विलोडने' (१.४३२) धातुओं के हकार को धकार होकर क्रमशः नाधः[3], गाधः शब्द सिद्ध होते हैं। 'वह प्रापणे' (१.७३०) धातु से ऊप्रत्यय[4] और 'मदी हर्षे' (४.९८) या 'मद तृप्तियोगे' (१०.१७४) धातु से उप्रत्यय[5] होकर एवं अन्त्य वर्णों को धकार होकर क्रमशः 'वधूः', 'मधु' शब्द उपपन्न होते हैं।[6]

---

१. आद्यन्तविपर्यय के अभीष्ट स्थल– १. शाखाः (१.४)। २. पर्व (१.२०)। ३. पयस् (२.५)। ४. अंशुः (२.५)। ५. शृङ्गम् (२.७)। ६. हिरण्यम् (२.१०)। ७. नभः (२.१४)। ८. दिशः (२.१५)। ९. ऊर्ज् (३.८)। १०. असौ (३.१६)। ११. यज्ञः (३.१९)। १२. प्रपित्वे (३.२०)। १३. अर्भकम् (३.२०)। १४. अपीच्यम् (४.२५)। १५. अन्धः (५.१)। १६. श्वात्रम् (५.३)। १७. अंसत्रम् (५.२५)। १८. शकटम् (६.२२)। १९. बकुरः (६.२५)। २०. अंहुरः (६.२७)। २१. क्रिविर्दती (६.३०)। २२. साम (७.१२)। २३. तनूनपात् (८.५)। २४. दुन्दुभिः (९.१२)। २५. उलूखलम् (९.२०)। २६. नृम्णम् (११.९)। २७. मरुत् (११.१३)। २८. गौरी, गौरः (११.३९) इत्यादि।

२. पाणिनीय व्याकरण की प्रक्रिया में तो 'न्यङ्क्वादीनां च' (अष्टा॰७.३.५३) सूत्र से कुत्व होता है।

३. नहो धः (अष्टा॰८.२.३४) यह धत्व निपातन से घञ् परे होने पर भी हुआ है।

४. वहेर्धश्च (उणा॰१.८३)।

५. फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च (उणा॰१.१८)। मनेर्धश्छन्दसि (उणा॰२.११८) [√मन ज्ञाने (४.६५)+उ / उसि > मधुः]।

६. नैरुक्त शब्दों में अन्त्य वर्ण के स्थान पर होने वाले व्यत्यय के उदाहरण – १. दण्डः (२.२)। २. नभः (२.१४)। ३. उषाः (२.१८)। ४. मुहुर्तः (२.२५)। [तु > त]। ५. अङ्गुलयः (३.८) [नि॰ ५,६,७]। ६. चत्वारः (३.१०)। ७. अष्टौ (३.१०)। ८. दश (३.१०)। ९. अम्बु (३.१०)। १०. सुपर्णाः (३.१२)। ११. आत्मा (३.१५)। १२. सतः (३.२०)। १३. भद्रम् (४.१०)। १४. लक्ष्मी (४.१०)। १५. कन्या (४.१५)। १६. असश्चन्ती (५.२)।

२.१५ वर्णागम –

अथापि वर्णोपजनः – आस्थत्, द्वारः, भरूजेति (निरु॰२.२)। इनके अतिरिक्त किन्हीं शब्दों में तो वर्ण का आगम होता है। यथा– आस्थत्, द्वारः, भरूजा आदि।[1] आस्थत् में 'असु क्षेपणे' (४.९९) धातु के लुङ् लकार में 'अस्यति-वक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (अष्टा॰ ३.१.५२) से अङ् प्रत्यय होकर 'अस्यतेस्थुक्' (अष्टा॰ ७.४.१७) से थुक् आगम हुआ है। वृञ् वरणे (५.८) या वृञ् आवरणे (१०.२३७) धातु से घञ् प्रत्यय होने पर 'वारः' सिद्ध होता है। पुनः धात्वादि में दकार (दुट्) आगम होकर 'द्वारः' शब्द सिद्ध होता है। 'भ्रस्ज पाके' (६.४) धातु से अङ् प्रत्यय (गुरोश्च हलः– अष्टा॰ ३.३.१०३) होकर 'भ्रस्जा' बनता है। इसमें भकार के बाद 'अ' का और रेफ के बाद 'ऊ' का आगम होकर एवं सकार का लोप होकर 'भरूजा' शब्द उपपन्न होता है।

संख्या २.५ से २.१५ तक के इन ग्यारह निर्वचनसिद्धान्तों को किसी आचार्य ने निम्न श्लोक में समायोजित किया है–

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

(दुर्ग—१.१, काशिका— ६.३.१०९ में उद्धृत)

इन पांच सिद्धान्तों के अन्तर्गत उपरोक्त यास्क के सभी सिद्धान्त आ जाते हैं। अभी तक वर्णित निर्वचन (शब्दव्युत्पत्ति) के सिद्धान्त वैयाकरण आचार्यों के द्वारा स्वीकृत हैं। प्रायः प्रत्यक्षवृत्ति से शब्द के स्वरूपमात्र को सिद्ध करने वाले व्याकरणशास्त्र में ही अर्थवश लोप, आगम, विकार आदियों को स्वीकारा गया है। पुनः अर्थशः निर्वचन (शब्दव्युत्पत्ति) करने वाले निरुक्तशास्त्र में तो इन लोपागमादियों की और

---

१७. शर्याः (५.४)। १८. वना (५.१६)। १९. शम्बः (५.२४)। २०. अश्मचक्रम् (५.२६)। २१. कोशः (५.२६)। २२. रोदसी (६.१)। २३. कृधु (६.३)। २४. पाजः (६.१२)। २५. अप्रतिष्कुतः (६.१६)। २६. चाकन् (६.२८)। २७. रण्यौ (६.३३)। २८. पङ्क्तिः (७.१२)। २९. विराट् (७.१३)। ३०. आविः (८.१५)। ३१. सप्तिः (९.३)। ३२. मण्डूकाः (९.५)। ३३. बालः (९.१०)। ३४. वृषभः (९.२२)। ३५. यमुना (९.२६)। ३६. तोकम् (१०.७)। ३७. मरुत् (११.१३)। ३८. उषस् (१२.५)। ३९. शल्मलिः (१२.८)। ४०. कविः (१२.१३)। ४१. विष्णुः (१२.१८) इत्यादि।

१. वर्णागमः के अन्य उदाहरण– १. दिशः (२.१५)। २. कपिञ्जलः (३.१८)। ३. रास्पिनः (६.२१)। ४. प्रतद्वसू (६.२१)। ५. शिरिम्बिठः (६.३०)। ६. प्रमगन्दः (६.३२)। ७. बुन्दः (६.३२)। ८. कुब्जः (७.१२)। ९. द्वारः (८.९)। १०. नक्ता (८.१०)। ११. शकुनिः (९.३)। १२. दुन्दुभिः (९.१२)। [नि॰२]। १३. वायुः (१०.१)। १४. रुद्रः (१०.५)। १५. सूर्यः (१२.१४)।

अधिक आवश्यकता होती है। अतः व्याकरणनिकाय में स्वीकृत लोपादि सिद्धान्तों से निर्वचन करना कोई अनुचित व अशास्त्रीय नहीं है– **"एवं व्याकरणेऽपि लक्षणप्रधाने सत्यर्थवशेन लोपागमौ विपरिणामश्च शब्दानां दृष्टः किमुत निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव।"** तस्मात् साधूक्तम्– **"अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर-वर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। (न संस्कारमाद्रियेत, विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।) विभक्तीरपि यथार्थं सन्नमयेत्"(निरु०२.१) इति** (दुर्ग:, निरु०२.२)।

जिसप्रकार 'ईप्सितः' में पकार वर्ण की सादृश्यता से अर्थानुकूल 'आप्लृ' धातु की कल्पना की गयी है और उसकी व्युत्पत्ति की प्रक्रिया का ऊह भी किया गया है। इसीप्रकार अनवगतसंस्कार वाले वैदिक शब्दों में भी वर्णादि की सादृश्यता से अर्थानुकूल धातु की कल्पना करें। इतना ही नहीं वर्णादि का सादृश्य न होने पर भी प्रसंगानुकूल धातु की कल्पना करके निर्वचन अवश्य करें। परन्तु इसप्रकार के निर्वचनों की प्रक्रिया में अत्यन्त सीमित मर्यादाओं में आबद्ध व्याकरण के सूत्रों व नियमों का आग्रह नहीं करना चाहिए।[१] क्योंकि अर्थ नित्य है।[२] शब्दनिष्पत्ति की प्रक्रिया कल्पित होने से अनित्य है।[३] अनित्य व कल्पित प्रक्रिया से नित्य अर्थ का शासन पूर्णतया नहीं कर सकते, सम्भव भी नहीं है। हाँ, व्याकरण से यथासम्भव अधिकतम अर्थों (शब्दों) को समझने या हृदयंगम करने की कुशलता प्रदान किया

---

१. अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्, न संस्कारमाद्रियेत (निरु०२.१)।

२. अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन (निरु०२.१)।

३. नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः(म०भा०, अइउण्)। सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥ (म०भा०१.१.२०)।

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥(वा०प०१.७२)।
उपायाः शिक्षमाणानां बालानामपलापनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥(वा०प०२.२३८)।
भिन्नाविजियजी धातू नियतौ विषयान्तरे।
कैश्चित् कथश्चिदुद्दिष्टौ चित्रं हि प्रतिपादनम्॥(वा०प०२.१७८)।
अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम्।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव तु तादृशः॥(वा०प०२.१८०)।

अट्, आट् आगमों की व्यवस्था के लिए व्याकरणशास्त्र में उपसर्ग और धातु में भेद की कल्पना की गयी है। यथार्थतः उपसर्ग सहित की भी धातु संज्ञा है।

जा सकता है।[१] उसी कुशलता से अनवगत संस्कारवाले वैदिक शब्दों का निर्वचन (व्युत्पत्ति) प्रकरण अर्थात् अर्थ के अनुकूल करना चाहिए। शब्दस्वरूप की सादृश्यता को देख कर प्रकरणानुगत अर्थ के विपरीतार्थक धात्वादि से निर्वचन कभी भी नहीं करना चाहिए।[२] इसी तात्पर्य को प्रकट करने हेतु आचार्य यास्क ने अभी तक वर्णित ग्यारह सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। पुनरपि शास्त्र के तात्पर्य (आत्मा) को समझने में सर्वथा असमर्थ, शब्दस्वरूपमात्र में पारंगत तथाकथित विद्वान् ध्वनिसादृश्यता को लेकर यास्क के आर्थिक निर्वचनों की कठोर शब्दों में आलोचना करते हैं। इससे उनका अज्ञान ही प्रकट होता है, न कि विद्वत्ता की गम्भीरता। अस्तु, प्रकरणमनुसरामः।

२.१६ सम्प्रसारणासम्प्रसारणप्रकृतिक प्रयोग–

तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति (निरु०२.२)।

(कुछ शब्दों में यह भी स्वभाव देखा जाता है कि–) जहाँ स्वर वर्णों के

---

१. किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् (म०भा०,पस्प०)

२. रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः(गो०ब्रा०१.१.२६)। अर्थप्राधान्येनानादृत्य स्वरसंस्कारौ परीक्षेत। ततस्तदभिधानं बुद्ध्वा केनचिदर्थवृत्तिसामान्येन क्रियागुणसामान्येनेत्यर्थः। कतमस्य धातोरर्थसामान्यमत्रास्तीति ततस्तर्कयित्वा सामान्यं तेन निर्ब्रूयात्। अर्थो हि प्रधानं तद्गुणभूतः शब्दः। तस्मादर्थसामान्यं बलीयः शब्दसामान्यात् [=धातुसामान्यात्] (दुर्ग:,निरु०२.१)। अर्थो हि प्रधानम्, तद्गुणः शब्दः(दुर्ग:,निरु०१.१)।

प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते।
तस्मान्नानान्वयोपायैः शब्दानर्थवशं नयेत्॥(बृ०दे०२.९९)।
वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।
रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते॥(वा०प०१.१२६)
शब्दसाधुत्वे हि प्रयोगपरवशा[=अर्थवशा] वयं न स्वयमीश्महे
(शास्त्रदीपिका, पृ०१२२)।
नहि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते॥(वा०प०१.२४ की वृत्ति में उद्धृत)
अर्थात् पदं साभिधेयं पदाद् वाक्यार्थनिर्णयः।(बृ०दे०२.११७)

निरुक्त में अर्थ के साथ शब्द के स्वरूप पर भी ध्यान रखा जाता है और कभी-कभी व्याकरण की प्रक्रिया में शब्दस्वरूप की उपेक्षा भी देखी जाती है। यथा– 'ऋजुः' (६.२१) की व्युत्पत्ति आचार्य यास्क 'ऋञ्जति'(ऋजि) धातु से करते हैं, जबकि आचार्य पाणिनि इसे उणादि(१.२७) में अर्ज् धातु से कुप्रत्यय कर धातु के स्थान पर 'ऋज्' आदेश करके सिद्ध करते हैं।

अनन्तर अर्थात् अव्यवहित पूर्व या पश्चात् अन्तस्थ (य,र,ल,व) वर्ण धातु में विद्यमान हों, उस धातु से उत्पद्यमान शब्द दो प्रकार की अवस्था (स्थिति) को प्राप्त होते हैं, ऐसा आचार्य लोग कहते हैं [व्याकरण की शैली में तात्पर्य यह है कि यजादि धातुओं से उत्पन्न होने वाले शब्द कित्,गित् आदि प्रत्ययों की स्थिति में सम्प्रसारणरूप और कितादि से भिन्न प्रत्ययों की स्थिति में असम्प्रसारणरूप निष्पन्न होते हैं]। इन उभयविध रूपों में से किसी एक परिस्थिति में शब्दरूप सिद्ध (प्रयुक्त) हो गया हो, परन्तु निर्वचन के सिद्ध (अर्थबोध) न होने पर अन्यरूप से निर्वचन (अर्थीकरण) अवश्य करना चाहिए। अर्थात् सम्प्रसारणरूप में असम्प्रसारणभूत प्रकृति से और असम्प्रसारणरूप में सम्प्रसारणभूत प्रकृति से भी निर्वचन कर सकते हैं। उन उभयविध धातुओं में भी कुछ धातु सम्प्रसारणरूप से अल्प ही प्रयुक्त होते हैं।

यथार्थतः सम्प्रसारणासम्प्रसारणरूपक धातु समानार्थक होते हुए भी भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र धातु ही हैं। भर्तृहरि ने कहा भी है—

भिन्नाविजियजी धातू नियतौ विषयान्तरे।
कैश्चित् कथञ्चिदुद्दिष्टौ चित्रं हि प्रतिपादनम् ॥ (वा०प० २.१७८)

इज् और यज् ये दोनों भिन्न-भिन्न धातु हैं, जो कि कितादि प्रत्ययों के विषय में इज् धातु तथा कितादि से भिन्न प्रत्ययों के विषय में यज् धातु प्रयुक्त होता है। इसप्रकार ये नियत विषयवाले हैं। परन्तु कुछ आचार्य केवल यज् धातु को स्वीकारते हुए किदादि प्रत्ययों में सम्प्रसारण कर इष्टः, इष्टवान्, इष्ट्वा आदि शब्दों को सिद्ध करते हैं। कुछ आचार्य तो केवल इज् धातु को मानते हुए किदादिभिन्न प्रत्ययों में धात्वादि में इवर्ण को यादेश करके यष्टुम्, यष्टव्यम्, यष्टा आदि शब्दों को बनाते हैं।[1] यह सब प्रतिपादन वैयाकरण आचार्यों का विचित्र ऊह मात्र है। इसलिए वैदिक शब्दों के व्युत्पादक शास्त्र निरुक्त तक पहुँचकर इस कल्पित प्रक्रिया का आग्रह नहीं करना चाहिए।

---

१. इसीप्रकार का प्रक्रियाभेद हमें अन्यत्र भी प्राप्त होते हैं। यथा— आचार्य पाणिनि 'चक्षिङ्' धातु के स्थान पर 'ख्याञ्' आदेश करते हैं — ''चक्षिङः ख्याञ्'' (अष्टा० २.४.५४)। परन्तु आचार्य यास्क 'चक्षुः' (निरु०४.३) के निर्वचन में 'ख्याञ्' धातु के स्थान पर 'चक्षिङ्' आदेश करते हुए दीखते हैं। यहाँ भी 'चक्षिङ्' और 'ख्याञ्' धातु स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न धातु हैं। पुनरपि सरलता के लिए किसी एक को धातु के रूप में मानते हुए प्रक्रिया बनायी जाती है। पाणिनीय तन्त्र में 'ऋ' को गुण होकर 'अर्' हो जाता है, पर यास्क के तन्त्र में 'अर्' को 'ऋ' भी हो जाता है। यद्यथा— ''ऋजीषम् अपार्जितं भवति'' (निरु०५.१२)। यहाँ अर्ज् से 'ऋजीष' शब्द के बनाने का संकेत स्पष्ट है अर्थात् 'अर्' को 'ऋ' हो रहा है [√अर्ज अर्जने+ इषन् > ऋज् + ईष > ऋजीष]। यथार्थतः √अर्ज् और √ऋज् को समानार्थक स्वतन्त्र धातु ही जानना चाहिए। केवल व्युत्पत्ति की प्रक्रिया में भिन्नता है। इसीप्रकार ऋदूपे (निरु० ६.३३), ऋग्मियम् (निरु०७.२६) के निर्वचनों में भी देख सकते हैं। व्याकरण की प्रक्रिया में ''प्रियस्थिरस्फिरोरु०'' (अष्टा० ६.४.१५७) सूत्र से दीर्घ को द्राघि आदेश होकर 'द्राघीयान्' आदि तद्धितान्त शब्द बनते हैं। परन्तु नैरुक्तप्रक्रिया में 'द्राघृ' धातु को 'दीर्घ' आदेश होकर 'दीर्घम्' (निरु०२.१६) कृदन्त शब्द सिद्ध होता है।

सम्प्रसारणरूपक धातु का प्रयोग अल्प होने से और उसके तिङन्त का प्रयोग न होने से तद्रूपक धातु से निष्पन्न शब्द का निर्वचन यास्क तत्समानार्थक असम्प्रसारणरूपक धातु के तिङन्त से दिखाते हैं। तद्यथा— 'अनूपाः' के निर्वचन को देख सकते हैं। **''अनूपा अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा०''** (निरु० २.२२)। अनुपूर्वक उप्धातु से निष्पन्न 'अनूप' का निर्वचन 'वप्' धातु से किया गया है। इसीप्रकार 'ऊर्क्' (३.८) का निर्वचन √व्रश्च् से, ऋतु +√इज् से निष्पन्न 'ऋत्विक्' (३.१९) का निर्वचन √यज् से और √सिम् से व्युत्पन्न 'सीमिका' (३.२०) का निर्वचन √स्यम् से किया है।

२.१७ भाषिक धातुओं से वैदिक कृत्प्रत्यय—

अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते — दमूनाः, क्षेत्रसाधा इति (निरु० २.२)। वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति में यह भी एक ध्यातव्य तथ्य है कि— कभी-कभी लौकिक भाषा में प्रचलित धातुओं से छान्दस कृत्-प्रत्यय[1] होते हैं। जैसे कि— दमूनाः, क्षेत्रसाधाः आदि। 'दमु उपशमे' (४.९३) धातु के दाम्यति, दान्तः, दमः, दमनम् आदि तिङन्त एवं कृदन्त शब्द लोक में प्रयुक्त होते हैं। इस भाषिक दम्-धातु से 'ऊनसि'[2] यह वैदिक कृत्प्रत्यय होकर 'दमूनाः' शब्द उपपन्न होता है। 'साध संसिद्धौ' (५.१७) धातु से असुन्प्रत्यय[3] होकर 'साधाः' शब्द सिद्ध होता है, पुनः क्षेत्रस्य साधाः 'क्षेत्रसाधाः' बनता है।

लौकिकभाषा में कुछ धातुओं के तिङन्तरूप अधिक प्रयुक्त होते हैं तो वैदिकभाषा में उनके कृदन्तरूप अधिक प्रयुक्त होते हैं। लोक में कुछ धातुओं के

---

१. धातु से कृत्प्रत्यय होने से निष्पन्न शब्द 'नाम' (कृदन्त) होता है। कृत्प्रत्यय नाम का उत्पादक होने से आचार्य यास्क अनेकों स्थानों पर उसे 'नामकरण' कहते हैं— नाम क्रियते निष्पद्यतेऽनेनेति नामकरणः कृत्प्रत्ययः। कृत्प्रत्यय के लिए नामकरणशब्द के प्रयुक्त स्थल निरुक्त में — १.१७; २.२,५; ७.२९; १०.१७।

२. दमेरूनसि (द०उणा०९.९५)। दमूनसम्=दमनीयम् उपार्ज्यम्। ''दमेरूनसिः'' इति ऊनसि-प्रत्ययः (सायणः, ऋ०१.१४१.११)। पञ्चपाद्युणादौ तु ''दमेरुनसिः'' (४.२३६) इत्यत्र उनसिप्रत्ययो विहितः। तेन 'दमुनाः' इति सिद्ध्यति।

३. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा०४.१९०)।

कृदन्तरूप अधिक प्रयुक्त होते हैं तो वेद में उनके तिङन्तरूप अधिक प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए आचार्य यास्क यहाँ लौकिक धातुओं से वैदिक प्रत्ययों का एवं वैदिक धातुओं से लौकिक प्रत्ययों का विधान कर रहें हैं। भाषिक धातुओं से विहित वैदिक-कृत्प्रत्ययों को जानने के लिए इन उदाहरणों को देखें– दक्षिणः (हस्तः) इसमें √दाशृ दाने (१.६२२) धातु से 'सिनन्' यह वैदिक कृत्प्रत्यय हुआ है। इसीप्रकार स्नात्वा (१.९), मुक्षीजा (५.१९), स्यम् (६.९)आदियों को जानें। इस ग्रन्थ के व्याख्यान में अनेकों नये प्रत्ययों की कल्पना की गयी है। इन प्रत्ययों का संकलन परिशिष्ट ७.६ में किया गया है। उन नये प्रत्ययों से सिद्ध शब्द भी यहाँ के उदाहरण बनते हैं।

२.१८ वैदिक धातुओं से लौकिक कृत्प्रत्यय –

अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः– उष्णम्, घृतम् (निरु०२.२)। उसके अतिरिक्त निर्वचनों में कहीं पर वैदिक धातुओं से लौकिक कृत्प्रत्ययों को देखकर निर्वचन (व्युत्पत्ति) कहा जाता है। तद्यथा– 'उष दाहे' (१.४६४) धातु से नक्प्रत्यय[1] होकर उष्णशब्द सिद्ध होता है। 'घृ क्षरणदीप्त्योः' (३.१४)[2] से क्तप्रत्यय[3] होकर घृतशब्द उपपन्न होता है। घृधातु को पाणिनि ने भी छान्दस माना है। उष्धातु को यहाँ यास्क वैदिक मान रहें हैं। सम्भव है यास्क तक यह धातु लोक में प्रचलित न होकर वेद में ही प्रयुक्त रहा हो और पाणिनि के समय तक लोक में भी इसका प्रयोग होने लगा हो।

उष्णम्, घृतम् के अतिरिक्त वैदिक धातुओं से उत्पन्न लौकिक कृदन्त शब्दों को जानने के लिए इन शब्दों के निर्वचनों एवं व्युत्पत्तियों को देखें– १. मघम् (१.७)। २. व्रन्दी (५.१५)। ३. तलम् (५.२६)। ४. लता(५.२६)। ५. तालु (५.२६)। ६. ओजः (६.८)। ७. अजीगः (६.८)। ८. कृप् [कृपा] (६.८)। ९. क्रिमिः (६.१२)। १०. आणिः (६.३२)। ११. ककुप् (७.१२)। १२.कुब्जः (७.१२)। १३. अनुष्टुप् (७.१२)। १४. त्रिष्टुप् (७.१२)। १५. दुन्दुभिः (९.१२) [नि०३]। १६. तविषी (९.२५)। १७. शुनः (९.४०)। १८. जरा (१०.८)। १९. गर्भः (१०.२३)। २०. शिशुः (१०.३९)। २१. अथर्वाणः (११.१८)। २२. किंशुकम् (१२.८)। २३. नितोशः [नैतोशम्] (१३.५)।

---

१. इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उणा०३.२)।
२. अथागणान्ताः परस्मैभाषाश्छान्दसाश्चैकादश (पा०धातु०,जु०१४ से पूर्व)।
३. अञ्चिघृसिभ्यः क्तः (उणा०३.८९)।

२.१९ धातु और धातुज शब्दों का प्रयोगविषय–

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यन्ते...विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु (निरु०२.२)।[1] कुछ देशों में धातुओं के तिङन्तरूप प्रयुक्त होते हैं और धातुज (विकृत) कृदन्त शब्द अन्य देशों में प्रयुक्त होते हैं। जैसे कि– शवधातु कम्बोज देश में गत्यर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु आर्यों के देश (प्रदेश) में उस धातु से निष्पन्न कृदन्त 'शव' (मृतदेह) शब्द प्रयुक्त होता है। इसीप्रकार काटने अर्थ में दाप् [लवने] (२.५२) धातु का तिङन्तरूप प्राच्यदेशों में प्रयुक्त होता है, इसका विकृत (धातुज कृदन्त) शब्द 'दात्रम्' उदीच्य देश में प्रयुक्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि विभिन्न देशों व प्रदेशों की भाषाओं का परिज्ञान भी वेदार्थ में उपयोगी होता है। आचार्य ने कहा भी है कि– **"पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति"** (निरु०१.१६)।

एवमेकपदानि निर्ब्रूयात् (निरु० २.२)– अभी तक वर्णित सिद्धान्तों के आधार पर एकपद अर्थात् तद्धितान्त एवं समस्तपदों से भिन्न आख्यातज पदों का निर्वचन करना चाहिए।

३. तद्धितान्त और समस्तपदों का निर्वचन–

अभी तक धातुज कृदन्त पदों के निर्वचनसिद्धान्तों का वर्णन हुआ है। अब कृदन्तों से उत्पन्न तद्धितान्त पद एवं समस्तपदों की निर्वचनशैली को प्रस्तुत करते हैं–

अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु वानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात् (निरु० २.२)। तद्धितान्त[2] तथा समासयुक्त पदों के पर्वों (सन्धियों) पर विग्रह के द्वारा विच्छेद करके यथाक्रम निर्वचन दिखाना चाहिए। तद्धितान्तों में एकाधिक तद्धितप्रत्ययों[3] के दिखाई देने पर अन्तिम प्रत्यय से प्रकृति-प्रत्यय का

---

१. एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ये ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा– शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु। गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थः प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। (म०भा०, पस्प०)।
२. व्युत्पत्ति करने से पूर्व आचार्य की शैली के अनुसार कृदन्त और तद्धितान्त पद को पहचानना चाहिए। अन्यथा व्याख्याकार कभी-कभी कृदन्त को भी तद्धितान्त मानकर व्युत्पत्ति दिखाने की भूल करते हैं। उदाहरण के लिए 'श्वेत्या' (२.२०) आदि को देखें।
३. तद्धितान्त से तद्धित प्रत्यय के उदाहरण– १. आर्जीकीया (९.२६)। २. असुरत्वम् (१०.३४) आदि।

विभाग करते हुए[1] क्रमशः प्रत्येक पद का निर्वचन करना चाहिए। जैसे तद्धित का उदाहरण— **"दण्ड्यः पुरुषः— दण्डमर्हतीति[2] वा दण्डेन सम्पद्यत[3] इति वा। दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः... दमनादित्यौपमन्यवः"** (निरु० २.२)।[4]

समस्तपदों में दो या दो से अधिक पदों के होने पर उन्हें विग्रह के द्वारा यथाक्रम व यथायोग्य विभाग करते हुए निर्वचन करना चाहिए। उसके पश्चात् विभक्त पदों का निर्वचन करें। तद्यथा— **"राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। राजा राजतेः। पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा" (निरु० २.३)। "कल्याणवर्णरूपः कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः" (निरु०२.३)।**[5] कभी-कभी समस्तपद से भी तद्धित प्रत्यय विहित होते

१. व्याकरण की प्रक्रिया में प्रकृति और प्रत्यय के योग से शब्द निष्पन्न होता है। पुनः उससे अन्य प्रत्यय होकर शब्दान्तर की निष्पत्ति होती है। पर निरुक्त की प्रक्रिया में सिद्धपद को विभक्त करते हुए मूल प्रकृति की ओर जाना होता है। यही व्याकरण एवं निरुक्त की प्रक्रियाओं का मौलिक भेद है।
२. दण्डादिभ्यो यत्, छन्दसि च (अष्टा०५.१.६६,६७)।
३. 'सम्पद्यते' इत्यस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययश्छान्दसः। अथवा 'कर्मवेषाद् यत्' (अष्टा०५.१.१००) इति सम्पादिन्यर्थे विहितो यत्प्रत्यय इह छान्दसत्वेन दण्डादपि भवति।
४. तद्धितान्त (धातुजजात) के अन्य उदाहरण— १. सीमतः (१.७)। २. अध्वर्युः (१.८) [नि०४]। ३.पर्वतः (१.२०)। ४. कक्ष्या (२.२)। ५. परुषे (२.६)। ६. समुद्रः (२.१०) [नि०४]। ७. उत्तरः (२.११)। ८. प्रथमः (२.२२)। ९. अवारम् (२.२४)। १०. वाजी (२.२८)। ११. मनुष्यः (३.७)। १२.असुरः (३.८) [नि०३]। १३. कक्ष्याः (३.३९)। १४. विंशतिः (३.१०)। १५. शतम् (३.१०)। १६. सहस्रम् (३.१०)। १७. धीरः (३.१२; ४.१०)। १८. सत्यम् (३.१३)। १९. मेधावी (३.१९)। २०. वैतसः (३.२१)। २१. पाश्या (४.२)। २२. पार्श्वम् (४.३)। २३. मरुत्वान् (४.८)। २४. तितउ (४.९)। २५. भद्रम् (४.१०;११.१९)। २६. दिव्याः (४.१३)। २७. शंयुः (४.२१)। २८. मन्दी (४.२४)। २९. वर्षाः (४.२७)। ३०. हेमन्तः (४.२७)। ३१. द्विता (५.३)। ३२. व्राः (५.३)। ३३. शर्याः (५.४)। ३४. अथर्युम् (५.१०)। ३५. ऋजीषी (५.१२)। ३६. अप्सरा (५.१३)। ३७. निष्षपी (५.१६)। ३८. कपूयम् (५.२४)। ३९. कक्षीवान् (६.१०)। ४०. औशिजः (६.१०)। ४१. अमवान् (६.१२)। ४२. अग्रिया (६.१६)। ४३. अंहुरः (६.२७)। ४४. दैवतम् (७.१)। ४५. त्रिता (७.१२)। ४६. गरुत्मान् (७.१८)। ४७. आदितेयम् (७.२९)। ४८. धिष्ण्यः (८.३)। ४९. वरीयः (८.९)। ५०. व्यचस्वतीः (८.१०)। ५१. ऊरु (८.१०)। ५२. भारती (८.१३)। ५३. मङ्गलम् (९.४)। ५४. अङ्गलम् (९.४)। ५५. मौजवतः (९.८)। ५६. मूजवान् (९.८)। ५७. उलूखलम् (९.२०)। ५८. मुद्गलः (९.२४)। ५९. भार्म्यश्वः (९.२४)। ६०. सरस्वती (९.२६)। ६१. परुष्णी (९.२६)। ६२. बभ्रूणाम् (९.२८)। ६३. कृष्टयः (१०.२२)। ६४. अश्विनौ (१२.१)। ६५. शल्मलिः (१२.८)। ६६. केशी (१२.२७)। ६७. ज्मयाः (१२.४३)। ६८. नैतोशम् (१३.५)। ६९. अक्षरम् (१३.१२) आदि।
५. समास के नैरुक्त उदाहरण— १. सुवीराः (१.७)। २. अध्वरः (१.८)। ३. आदद्मासः (१.९)। ४. सुवासाः (१.१९)। ५. गिरिष्ठाः (१.२०)। ६. विश्वकद्रः (२.३)। ७. हिरण्यम्

हैं। ऐसी स्थिति में तद्धितार्थ के द्वारा पहले निर्वचन दिखा कर पुनः समास का विग्रह करें। तत्पश्चात् विगृहीत पदों का निर्वचन करें। यथा— "आर्ष्टिषेणः" (२.११) के निर्वचन में आचार्य दिखाते हैं— **"आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः, इषितसेनस्येति वा। सेना सेश्वरा, समानगतिर्वा। पुत्रः पुरु त्रायते, निपरणाद्वा, पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा"** (निरु० २.११)। यहाँ 'ऋष्टिषेण' समस्तपद स्पष्टार्थक होने से सम्भवतः आचार्य ने इसके विग्रहार्थ को त्याग दिया है।[1] विना विग्रह के ही तद्धितार्थ के पश्चात् विगृहीतपदों में से अपेक्षित पदों के निर्वचनों को दिखाया है।

वैदिक कृत्प्रत्ययों के समान प्रातिपदिकों से वैदिक तद्धित प्रत्यय भी होते हैं। उदाहरण के लिए इन शब्दों के व्याख्यानभाग को देखें— १. अध्वर्युः (१.८)

(२.१०) [नि० ३,४]। ८. अन्तरिक्षम् (२.१०) [नि० १,३]। ९. सेना (२.११)। १०. शन्तनुः (२.१२)। ११. पुरोहितः (२.१२)। १२. देवश्रुत् (२.१२)। १३. विश्वामित्रः (२.२४)। १४. पैजवनः (२.२४)। १५. मुहुर्तः (२.२५)। १६. मनीषा (२.२५)। १७. सुखम् (३.१३; ९.२)। १८. रुक्मवक्षसः (३.१५)। १९. पुराणम् (३.१९)। २०. स्वस्ति (३.२१)। २१. मर्यादा (४.२)। २२. दमूना (४.४)। २३. ईर्मान्तासः (४.१३)। २४. सिलिकमध्यमासः (४.१३)। २५. अकूपारः (४.१८)। २६. सुतुकः (४.१८)। २७. अप्रायुवः (४.१९)। २८. अदितिः (४.२२-२३)। २९. विश्पतिः (४.२६; ५.२८;१२.२९)। ३०. सप्तपुत्रम् (४.२६)। ३१. अजरम् (४.२७)। ३२. दूढ्यम् (५.२)। ३३. पापः (५.२)। ३४. अध्रिगुः (५.११)। ३५. आपान्तमन्युः (५.१२)। ३६. द्रप्सः (५.१४)। ३७. निष्षपी (५.१६)। ३८. तूर्णाशम् (५.१६)। ३९. जोषवाकम् (५.२१)। ४०. अश्मचक्रम् (५.२६)। ४१. वीरिटम् (५.२७,२८)। ४२. अस्कृधोयुः (६.३)। ४३. बृबदुक्थः (६.४)। ४४. ऋदूदरः (६.४)। ४५. पुलुकामः (६.४)। ४६. अभ्यर्धयज्वा (६.६)। ४७. विजामाता (६.९)। ४८. स्यालः (६.९)। ४९. अमतिः (६.१२)। ५०. इलीबिशः (६.१९)। ५१. ऋचीषमः (६.२३)। ५२. असामि (६.२३)। ५३. बेकनाटाः (६.२६)। ५४. अनवब्रवः (६.२९)। ५५. शिरिम्बिठः (६.३०)। ५६. क्रिविर्दती (६.३०)। ५७. दनः (६.३१)। ५८. ऋबीसम् (६.३५)। ५९. जमदग्नयः (७.२४)। ६०. मिथुनौ (७.२९)। ६१. तनूनपात् (८.५)। ६२. उषासानक्ता (८.१०)। ६३. गृत्समदः (९.५)। ६४. मण्डूकाः (९.५)। ६५. इरिणम् (९.८)। ६६. रथः (९.११)। ६७. पुमान् (९.१५)। ६८. उलूखलम् (९.२०)। ६९. प्रधनः (९.२३)। ७०. द्रुघनः (९.२३)। ७१. भृम्यश्वः (९.२४)। ७२. मरुद्वृधाः (९.२६)। ७३. कवन्धम् (१०.४)। ७४. पर्जन्यः (१०.१०)। ७५. बृहस्पतिः (१०.११)। ७६. ब्रह्मणस्पतिः (१०.१२)। ७७. क्षेत्रपतिः (१०.१४)। ७८. वास्तोष्पतिः (१०.१६)। ७९. अपान्नपात् (१०.१८)। ८०. हिरण्यस्तूपः (१०.३३)। ८१. प्रजापतिः (१०.४२)। ८२. अहिर्बुध्न्यः (१०.४४)। ८३. सूरचक्षसः (११.१६)। ८४. गम्भीरवेपसः (११.१७)। ८५. अथर्वाणः (११.१८)। ८६. सप्तहोता (११.२३)। ८७. सिनीवाली (११.३१)। ८८. पृथुष्टुके (११.३२)। ८९. देवगोपाः (११.४६)। ९०. शल्मलिः (१२.८)। ९१. एकपात् (१२.२९)। ९२. देवपत्न्यः (१२.४४)। ९३. मत्सखा (१३.४)। ९४. जेमना (१३.५)। ९५. अक्षरम् (१३.१२)। ९६. ओहब्रह्माणः (१३.१३) इत्यादि।

१. ग्रन्थ के व्याख्यान में हमने विग्रह को भी दिखा दिया है। अतः पाठक वहीं देखें।

[नि०४]। २. उरणः (५.२१)। ३. वैश्वानरः (७.२१)। ४. ऋग्मियम् (७.२६) आदि। तद्धितसम्बन्धी और एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि – **"अथापि...ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति"** (निरु० २.५)। कभी-कभी विहित तद्धितप्रत्यय का अदर्शन होकर प्रातिपदिकमात्र का प्रयोग होता है। परन्तु वहाँ तद्धित का अर्थ अभीष्ट होता है। जैसे– **"स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः"** (मी०द० ४.१.४५)। इस सूत्र में 'जुहू' शब्द से 'जौहवम् आज्यम्' अर्थ लिया जाता है। क्योंकि इसमें भवार्थक तद्धित अण्-प्रत्यय का लोप हुआ। पर उसका अर्थ विद्यमान है। परिणामतः सूत्र का अर्थ निकलता है– अनुयाज के लिए 'जुहूस्थ आज्य का प्रतिषेध होने से उपभृत्स्थ आज्य प्राप्त होता है, उसी का यह अनुवाद कथन है।' यहाँ अकृत्स्न (तद्धितरहित) जुहू शब्द पठित होने पर भी कृत्स्नवद् अर्थात् तद्धितान्त के समान अर्थ गृहीत होता है। मन्त्रों में इसप्रकार के आर्ष (वैदिक) प्रयोग होते हैं। इसके लिए आचार्य यास्क उदाहरण के लिए अकृत्स्न (अतद्धितान्त) गोशब्द को लेकर उसके कृत्स्नवद् (तद्धितान्त के) अनेक अर्थ दूध[1], चर्म, ज्या आदि ग्रहण करते हैं। यहाँ के निरुक्त (२.५-६) का पूरा सन्दर्भ विशेषतया द्रष्टव्य है। निर्वचनसिद्धान्तमात्र को स्थापित करना इस लेख का उद्देश्य है। अतः विस्तरभिया हम उसके व्याख्यान को यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहें हैं।

एवं तद्धितसमासान्निर्ब्रूयात्। नैकपदानि निर्ब्रूयात् (निरु० २.३)। उक्त प्रकार से तद्धितान्त एवं समस्त पदों का निर्वचन करें। इनका निर्वचन प्रसंग या तदनुकूल अर्थ को जाने विना कदापि न करें।

यास्काचार्य के द्वारा प्रतिपादित निर्वचनों के इन सिद्धान्तों को ही आचार्य शौनक ने संक्षेपरूप से 'बृहद्देवता' ग्रन्थ में इसप्रकार श्लोकबद्ध किया है–

१. यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयः स्यात् तावद्भिर्गुणविग्रहः॥ (२.१०२)
२. धातूपसर्गावयवगुणशब्दं द्विधातुजम् ।
बह्वेकधातुजं वापि पदं निर्वाच्यलक्षणम् ॥ (२.१०३)
३. धातुजं धातुजाज्जातं समस्तार्थजमेव वा।
वाक्यजं व्यतिकीर्णञ्च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम् ॥ (२.१०४)

१. **मन्त्रों के इस प्रतिपादनशैली (वैदिकभाषा) को एवं यास्क के द्वारा प्रतिपादित इस ताद्धित सिद्धान्त की अज्ञानता के कारण कुछ लोग बड़ा ही अनर्थ मचाते हैं। "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" (ऋ०९.४६.४) का अर्थ 'गोदुग्ध के साथ सोमरस को पकाओ' न लेकर 'गो (मांस) के साथ सोम को पकाओ' अर्थ लेते हैं। जो कि सर्वथा अशास्त्रीय एवं अमान्य है।**

४. विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते।
प्रविभज्यैव निर्ब्रूयात् दण्डार्हो दण्ड्य इत्यपि ॥ (२.१०६)
५. शब्दरूपं पदार्थश्च व्युत्पत्तिः प्रकृतिर्गुणः।
सर्वमेतदनेकार्थं दशानवगमे गुणाः ॥ (२.१०८)
६. सामान्यवाचिनः शब्दाः विशेषे स्थापिताः क्वचित् ।
पलायने यथा वृत्तिः को नु मर्या इतीषते॥ (२.१०९)
७. विशेषवाचिनस्त्वन्ये सामान्ये स्थापिताः क्वचित् ।
हिमेनाग्निमिति मन्त्रे हिमशब्दो निदर्शनम् ॥ (२.११०)
८. वर्णस्य वर्णयोर्लोपो बहूनां व्यञ्जनस्य च (२.११६)
९. इति नानान्वयोपायैर्नैरुक्ते ये यतेत सः।
जिज्ञासुर्ब्रह्मणो रूपमपि दुष्कृत् परं व्रजेत्॥ (२.११९)

१. लौकिक भाषा की दृष्टि से रूढिरूप में प्रतीत होने वाले वैदिक शब्दों में जितने धातुओं के लिङ्ग प्रतीत होते हैं, उतने धातुओं से गुणों का विग्रह करना चाहिए एवं प्रसंगानुकूल अर्थ को कहना चाहिए।

२. दो धातुओं से, अनेक धातुओं से या एक धातु से व्युत्पन्न पद ऐसी ध्वनि (शब्द) से युक्त होता है, जिसमें धातु, उपसर्ग, अवयव एवं गुण विद्यमान होते हैं।

३. निर्वाच्य पद पांच प्रकार के होते हैं अर्थात् पदों का निर्वचन पांच प्रकार से कर सकते हैं। तद्यथा– १. धातु से व्युत्पन्न (कृदन्त) पद, २. धातुज (कृदन्त) से व्युत्पन्न (तद्धितान्त) पद, ३. समस्तार्थ (समासान्तप्रत्यय) से व्युत्पन्न पद, ४. वाक्य (अनेक शब्दों के योग) से व्युत्पन्न पद, ५. वर्णों को आगे-पीछे करने (वर्णविपर्यय) से व्युत्पन्न पद।

४. समस्तपद एवं तद्धितान्त पदों का निर्वचन विग्रहपूर्वक ही करना चाहिए। जैसे– दण्ड्य का निर्वचन दण्डार्ह (दण्ड के योग्य)।

५. शब्द के रूप, पद के अर्थ, व्युत्पत्ति, प्रकृति, गुण इन सब के अनेक आशय होते हैं। अनवगमन अर्थात् मिथ्याग्रहण (और यथार्थग्रहण) की दशा में व्याख्या या निर्वचन के दस गुण होते हैं।

६. कभी-कभी सामान्य अर्थवाले शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे– 'ईषति गतिकर्मा' (निघं० २.१४.७०)। यह गतिसामान्य अर्थ वाला तिङन्त शब्द "को नु मर्याः" (ऋ० ८.४५.३७) मन्त्र में 'पलायन' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र के व्याख्यान में यास्क ने 'पलायते' ही किया है (निरु०४.२)। ऋ० ५.८.२ मन्त्र के

व्याख्यान में भी यास्क ने 'ईषते' का अर्थ "पलायते" ही किया है (निरु० १०.११)।

७. कभी-कभी विशेषार्थक शब्द सामान्य अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। तद्यथा– **"हिमेनाग्निम्"** (ऋ० १.११६.८) मन्त्रस्थ 'हिम' का अर्थ 'ग्रीष्मान्त में (वर्षा का शीतल) जल' है [**हिमेन= उदकेन ग्रीष्मान्ते**– यास्कः, निरु० ६.३६]।

८. कहीं-कहीं एक वर्ण, दो वर्ण, बहुत वर्ण और एक व्यञ्जन का लोप भी होता है।

९. इसप्रकार अर्थात् अभी तक प्रतिपादित निर्वचनों के सिद्धान्तों (और वैदिक भाषा के तत्त्वों) को विशेष ज्ञान के उपायों से जानकर निरुक्त विद्या में जो पूर्ण पुरुषार्थ करेगा, ऐसा जिज्ञासु वेद के परम दुर्ज्ञेय स्वरूप को, आत्मा-परमात्मा तत्त्वों को एक दिन प्राप्त कर लेता है और सकल व सम्पूर्ण भद्र (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है– **"योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा"** (निरु० १.१८)।[1]

४. यास्काभिमत निर्वचनसिद्धान्त–

आचार्य यास्क के द्वारा प्रतिपादित निर्वचनसिद्धान्तों के अतिरिक्त और भी कुछ सिद्धान्त व व्युत्पत्ति के प्रकार हैं, जिन्हें आचार्य ने यहाँ शब्दशः प्रतिपादन तो नहीं किया। परन्तु निरुक्त की व्युत्पत्तिप्रक्रिया में आचार्य को अभीष्ट हैं। उनमें से कुछ प्रकारों वा शैलियों को आगे संक्षेप से प्रस्तुत करते हैं। पूर्व में उद्धृत बृहद्देवता (२.१०३) के श्लोक में आचार्य शौनक ने कहा है कि– कुछ शब्द एक धातु से, दो धातुओं से और बहुत धातुओं से उत्पन्न होते हैं। पहले इन्हीं को देखते हैं–

४.१ एकधातुज शब्द –

एक धातु से उत्पन्न होने वाले कृदन्त शब्दों को सभी भलीभांति जानते हैं। अतः इसका सोदाहरण विवरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना ध्यातव्य है कि कुछ कृदन्त शब्द उपसर्ग सहित एवं उपपद सहित धातुओं से उत्पन्न होते हैं, तो कुछ उनके विना भी केवल धातु से ही उत्पन्न होते हैं। सोपसर्ग एवं सोपपद धातुज शब्दों के व्याख्यान में आचार्य कभी उनका उपयोग करते हैं, कभी नहीं भी करते अर्थात् उनका लोप कर देते हैं। कभी-कभी उनके स्थान पर उपसर्गान्तर व उपपदान्तर का प्रयोग करते हुए अभीष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं। कभी-कभी तो

१. तु० नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् (तै०ब्रा०३.१२.९.७)।

निरुपसर्ग धातुओं के अर्थ को उपसर्गमात्र का संयोजन कर व्यक्त कर देते हैं। इसप्रकार की विधाओं को विभागशः देखते हैं–

४.१.१ उपसर्ग का लोप –

कुछ निर्वचनों में आचार्य सोपसर्ग धातु का प्रयोग करते हैं, परन्तु निर्वचन से उत्पन्न शब्द में वह उपसर्ग नहीं रहता। ऐसे सन्दर्भों में उपसर्गों का लोप जानें या व्युत्पत्ति में सोपसर्गधात्वर्थ में निरुपसर्ग धातु का प्रयोग जानें। उदाहरण के लिए इन शब्दों के व्याख्यान भाग को देखें– १. श्नः (१.६)। २. अन्यः (१.६)। ३. सीमा (१.७)। ४. विष्टप् (२.१४)। ५. दिशः (२.१५)। ६. अहः (२.२०)। ७. रम्भः (३.२१)। ८. वासराणि (४.७) [नि०२]। ९. असश्चन्ती (५.२) [नि०२]। १०. उर्वशी (५.१३)। ११. तूतुम् आकृषे (५.२५)। १२. पुरुहूतम् (६.२) इत्यादि।

४.१.२ उपसर्गान्तर से निर्वचन –

कभी-कभी आचार्य निर्वाच्य शब्द में विद्यमान उपसर्ग से भिन्न उपसर्ग से निर्वचन करते हैं। जैसे कि– 'निघण्टु' (१.१) शब्द में 'नि' उपसर्ग स्पष्ट है, परन्तु निर्वचन 'सम् + आङ् ' उपसर्गों से दिखाते हैं। सम्+आङ् से निर्वचन दिखाने पर भी व्युत्पत्ति तो 'नि' उपसर्ग से ही करनी होगी। अथवा 'नि' को आदेश मानना होगा। इसीप्रकार समुद्रः (२.१०), आशाः (६.१) आदि में जानें।

४.१.३ उपसर्ग के स्थान पर आदेश–

कुछ शब्दों में उपसर्ग के स्थान पर आदेश होते हैं। जैसे **"ऊर्दरम् उद्दीर्णं भवति"** (३.२०)। इस निर्वचन में आचार्य ने 'उद् +√दॄ' का निर्देश किया है। 'उद्' के स्थान पर 'ऊर्' आदेश होकर 'ऊर्दरम्' शब्द उपपन्न हो जाता है [उद् + √दॄ + अच् > ऊर् + दर् + अ]।

४.१.४ उपपद का लोप–

कई शब्दों की व्युत्पत्ति में आचार्य सम्पूर्ण उपपद के लोप को स्वीकारते हुए दीखते हैं। यथा– **"वितस्ता"** (९.२६) का निर्वचन आचार्य करते हैं – **"अविदग्धा"**। अर्थात् 'नञ् + वि + √दह् + क्त' की स्थिति में 'नञ्' का लोप और धातु को 'तस्' आदेश होकर [वि + तस् + त] 'वितस्ता' शब्द सिद्ध हुआ है।

४.१.५ उपपद के स्थान पर आदेश–

कहीं-कहीं सम्पूर्ण उपपद के स्थान पर आदेश हो जाता है। तद्यथा– **''मेधा मतौ धीयते''** (३.१९)। निर्वचन से स्पष्ट है 'मति' के स्थान पर 'मे' आदेश होकर 'मेधा' शब्द व्युत्पन्न हुआ है [मति + √धा + क + टाप् > मे + ध् + अ + आ > मेधा]। इसीप्रकार इन शब्दों में भी जानना चाहिए– १. कियेधाः (६.२०) [नि०२]। २. बुन्दः (६.३२) [नि० २,३]। ३. वृन्दम् (६.३४) [नि०२,३]। ४. ऋभुक्षा (९.३)। ५. उलूखलम् (९.२०) [नि०२,३]। ६. मुद्‌गलः (९.२४) [नि०३,४]। ७. रुद्रः (१०.५)। ८. इन्द्रः (१०.८) [नि० ९,१०]। ९. मित्रः (१०.२१)। १०. तार्क्ष्यः (१०.२७)। ११. चन्द्रः (११.५)। १२. मरुत् (११.१३)। १३. स्नुषा (१२.९)। १४. पांसवः (१२.१९)। १५. दध्यङ् (१२.३३) आदि।

४.१.६ दो उपपदों से निर्वचन –

किन्हीं शब्दों में दो उपपद और एक धातु से व्युत्पत्ति देखी जाती है। यथा– अन्तरिक्षम् (२.१०) में 'अन्तरा + इमे + √क्षि' इन सबका संयोग है। अन्य उदाहरण– १. नभः (२.१४)। २.आशुशुक्षणिः (६.१)। ३. मातरिश्वा (७.२६) [नि० २]। ४. नराशंसः (८.६)। ५. शुतुद्री (९.२६) [नि०२]। ६. स्वसा (११.३२) आदि ।

४.१.७ धातु के पश्चात् उपपद का प्रयोग–

किन्हीं निर्वचनों में उपपद का प्रयोग धातु के पश्चात् भी दीखता है। जैसे– **''अतिथिः अभ्येति तिथिषु परकुलानीति''** (४.५)। इस निर्वचन से यह व्युत्पत्ति स्पष्ट दीखती है कि– अभि + √इण् + तिथि > अ + तिथि > अतिथि। इसमें 'अभि' का अवर्ण गृहीत होकर और धातु का लोप होकर अतिथिशब्द सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार १. हिरण्यम् (२.१०) [नि०२]। २. अश्वः (२.२७), ३. यज्ञः (३.१९) [नि० ४] आदि में भी जानें।

४.१.८ समानार्थक उपपदान्तर से निर्वचन–

किसी-किसी शब्द का निर्वचन उस शब्दगत उपपद से भिन्न, परन्तु समानार्थक अन्य उपपद से किया जाता है। आचार्य अर्थ की स्पष्टता के लिए ऐसा करते हैं। परन्तु व्युत्पत्ति तो निर्वाच्य शब्द में विद्यमान उपपद से ही करनी चाहिए, न कि निर्वचनगत उपपद से। तद्यथा– **'पुरुहुतम्'** का निर्वचन आचार्य करते हैं–

''बहुभिराहुतम्'। यहाँ 'पुरु' के समानार्थक 'बहु' शब्द से निर्वचन किया गया है, पर व्युत्पत्ति तो 'पुरु' से ही करनी होगी। इसी प्रकार अग्रोल्लिखित शब्दों को भी जानें– १. दधिक्राः (२.२७) [दधि=दधत्]। २. भद्रम् (४.१०) [भानाम्=भूतानाम्]। ३. मातरिश्वा (७.२६) [नि०२]। ४. शुतुद्री (९.२६) [नि० २; शु=आशु] इत्यादि।

४.१.९ धातु का लोप–

किन्हीं शब्दों में तो धातु का ही अदर्शन होता है। शब्द में धातु के विद्यमान न होने पर भी अर्थादि से धातु की कल्पना की जाती है। अभी-अभी पीछे हमने 'अतिथि' की व्युत्पत्ति को देखा है। उसमें √इण् का लोप हो गया है। उसे यहाँ का भी उदाहरण समझें। इसके अतिरिक्ति अन्य उदाहरण इसप्रकार हैं– १. अंशुः (२.५)। २. उत्तरः (२.११) [इसमें क्तप्रत्यय के साथ हन् धातु का लोप हुआ है]। ३. सानु (२.२४)। ४. उदकम् (२.२४) [देव० मते]। ५. नव (३.१०)। ६. श्वा (३.१८)। ७. व्याघ्रः (३.१८)। ८. अभीके (३.२०)। ९. अमत्रम् (५.१)। १०. अप्वा (६.१२)। ११. मातरिश्वा (७.२६) [नि० २] आदि।

४.१.१० धातु के स्थान पर आदेश–

कुछ शब्दों में धातु का रूप हटकर उसके स्थान पर नये किसी अन्य रूप का आदेश हो जाता है। पुनरपि पारोवर्यविद् आचार्य धातु का ऊह कर निर्वचन कर देते हैं। यथा– **''बुध्नमन्तरिक्षम्–बद्धा अस्मिन् धृता आप इति वा''** (१०.४४)। इस निर्वचन से यह व्युत्पत्ति स्पष्ट है कि– √बन्ध् + नक् > बुध् (आदेश) + न > बुध्न। यहाँ धातु के स्थान पर 'बुध्' आदेश आचार्य पाणिनि को भी अभीष्ट है– **''बन्धेर्ब्रधिबुधी च''** (उणा०३.५)।[1]

---

१. **धात्वादेश के अन्य नैरुक्त उदाहरण इसप्रकार हैं– १. बिल्मम् (१.२०)। २. आदित्यः (२.१३)। ३. ग्रीवा (२.२८)। ४. इनः (३.११)। ५. निर्णीतम् (३.१९)। ६. चित्रम् (४.४)। ७. दुरोणः (४.५)। ८. जठरम् (४.७)। ९. पिता (४.२१)। १०. तायुः (४.२४)। ११. अपीच्यम् (४.२५) [नि० ३]। १२. भ्राता (४.२६)। १३. ग्रीष्मः (४.२७)। १४. हेमन्तः (४.२७)। १५. हिमम् (४.२७)। १६. दूतः (५.१)। १७. पड्‌भिः (५.३)। १८. शिमी (५.१२)। १९. पुष्करम् (५.१४)। २०. गध्यम् (५.१५)। २१. निचुम्पुणः (५.१७)। २२. मुक्षीजा (५.१९) [नि०२,३]। २३. बुसम् (५.१९)। २४. वृकी (५.२१)। २५. मूलम् (६.३)। २६. जूर्णिः (६.४)। २७. आशीः (६.८)। २८. तृष्वी (६.१२)। २९. अप्रतिष्कुतः (६.१६)। ३०. सुशिप्रम् (६.१७)। ३१. विष्पितः (६.२०)। ३२. अभिधेतन (६.२७)। ३३. सदान्वे (६.३०)। ३४. क्रिविर्दती (६.३०)। ३५. वृन्दम् (६.३४)। ३६. उल्बम् (६.३५)। ३७.**

४.१.११ समानार्थक धात्वन्तर से निर्वचन–

आचार्य यास्क कभी-कभी निर्वाच्य शब्द में विद्यमान धातु से भिन्न तत्समानार्थक धातु से निर्वचन लिखते हैं। यथा– **"अध्वर्युः अध्वरस्य नेता"** (१.८)। यहाँ अध्वरस्य 'याता' के स्थान पर 'नेता' का प्रयोग किया है, अर्थ की स्पष्टता के लिए। अतः इसकी व्युत्पत्ति √णीञ् प्रापणे (१.६४२) से न करके √या प्रापणे (२.४२) से करनी चाहिए [अध्वर + √या + कु > अध्वरयु > अध्वर्यु]। इसीप्रकार धात्वन्तर के प्रयुक्त स्थल इसप्रकार हैं– १. अपीच्यम् (४.२५) [नि० २]। २. दूतः (५.१)। ३. सिन्धुः (५.२६)। ४. आणिः (६.३२)। ५. त्रितः (९.२५) [√तन् =√स्था]। ६. वितस्ता (९.२६)[√तस् =√दह्]। ७. शुनः (९.४०) [√नव् = √इण्]। ८. पदवीः (१४.१३) [√विद् = √वी] आदि।

४.१.१२ धातु का द्वित्व (अभ्यास)–

धातु का द्वित्व दो परिस्थितियों का द्योतक होता है– १. सार्थक द्वित्व, २. अनर्थक (स्वार्थक) द्वित्व। सन्, यङ्, लिट् आदि प्रत्ययों के कारण जो द्वित्व होता है, वह किसी विशेष इच्छादि अर्थों का वाचक होता है, इसे सार्थक द्वित्व कहते हैं। विकरण प्रत्यय के श्लु होने पर जो द्वित्व होता है, वहाँ कोई विशेष अर्थ प्रकट नहीं होता है, धातु का ही अर्थ (स्वार्थ) रहता है, इसप्रकार के द्वित्वों को अनर्थक द्वित्व कहते हैं। आचार्य यास्क भी इन द्विविध द्वित्वों को मानते हैं और शब्दशः उल्लेख भी करते हैं। अनर्थक (स्वार्थक) अभ्यास का उल्लेख 'कक्षः' (२.२) और 'विश्चकद्रः' (२.३) शब्दों के व्याख्यान में किया है। अग्रिम शब्दों के व्याख्यान में केवल अभ्यस्तः आदि का निर्देश किया है– १. रराणः (२.१२)। २. एरिरे (४.२३)। ३. ररिवान् (४.२५)। ४. बब्धाम् (५.१५)। ५. सललूकम् (६.३)। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ शब्दों के व्याख्यान में आचार्य ने अभ्यस्तादि शब्दों का निर्देश तो नहीं किया, पर उनमें भी धातु का द्वित्व अभीष्ट है। वे शब्द इसप्रकार हैं– १. तित्तिरिः (३.१८)। २. वावशानाः (५.१; १४.१५)। ३. पापः (५.२)। ४. दीधितयः (५.१०)। ५.

गायत्री (७.१२) [नि०२]। ३८. जगती (७.१३)। ३९. विराट् (७.१३) [नि०३]। ४०. देवः (७.१५) [नि०२]। ४१. ईळः (८.७)। ४२. स्योनम् (८.९)। ४३. सुष्वयन्ती (८.११)। ४४. मङ्गलम् (९.४) [नि०५]। ४५. मण्डूकाः (९.५)। ४६. ग्रावाणः (९.८)। ४७. वितस्ताः (९.२६)। ४८. सिन्धुः (९.२६)। ४९. कण्टकः (९.३२)। ५०. विषिता (९.३९)। ५१. आर्त्नी (९.३९)। ५२. तार्क्ष्यः (१०.२७)। ५३. स्तूपः (१०.३३)। ५४. शिशुः (१०.३९)। ५५. मृत्युः (११.७)। ५६. गौरी, गौरः (११.३९)। ५७. किंशुकम् (१२.८)। ५८. ऊर्ध्वबुध्नः (१२.३८)। ५९. पदवीः (१४.१३) इत्यादिः।

आशुशुक्षणिः (६.१) [नि०४]। ६. दुन्दुभिः (९.१२)। ७. जघनम् (९.२०)। ८. जगुरिः (११.२५) इत्यादि।

कभी-कभी तो केवल उपसर्ग को भी द्वित्व होता है। **"सुष्वयन्ती"** शब्द की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य लिखते हैं– **"अय पय गतौ (१.३२०), शतर्युपसर्गस्य सोर्द्विवचनं छान्दसम्। सुष्ठु अयन्त्यौ गच्छन्त्यौ"** (सायणः, ऋ० १०.११०.६)।

४.२ द्विधातुज शब्द –

शब्द की व्युत्पत्ति एक धातु से होती है, यह तो सर्वविदित है। परन्तु एकाधिक धातुओं से भी शब्द सिद्ध होते हैं, यह भी ब्राह्मणादि आर्षवाङ्मय में स्वीकृत सिद्धान्त है। प्रथम द्विधातुज शब्दों को देखते हैं। **"मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति"** (निरु० ३.७) की व्याख्या में स्कन्दमहेश्वर लिखते हैं– **"मत्वेत्यादि मतेः सिवेश्च द्विधातुजत्वं प्रदर्शयति** (यास्कः)"। **"हिरण्यम्"** के व्याख्यान में देवराज यज्वा लिखते हैं– "**द्विधातुजं रूपम्– हिनोतेः रमतेश्च धातुद्वयात् समुदितात् कन्यन् प्रत्ययो बाहुलकाद् रूपसिद्धिः** (निघं०१.२.५)"। **"बृबूकम्"** (उदकनाम) की व्याख्या में भी यज्वा लिखते हैं – **"ब्रवीतेः शब्दार्थात् (२.३७), भ्रंशतेर्वाधः– पतनार्थात् (१.५०६) उभाभ्यां समुदिताभ्याम् 'उलूकादयश्च' (उणा. ४.४२) इति ऊकप्रत्यये निपातनाद् रूपसिद्धिः"** (निघं० १.१२.१९)। **"यह्व्यः (=नद्यः) द्विधातुजं वा इदं नाम– यातेर्ह्वेञः** (देव० १.१३.२)। मीमांसाभाष्य में शबरस्वामी लिखते हैं– **"यश्छिन्नगमनोऽश्वः स छागः। छिदेर्गमेश्च छागशब्दः प्रसिद्धः"** (मी० शा० भा० ६.८.३८-३९) [√छिद् +√गम् > छागः]। इसीप्रकार के ये अग्रिम शब्द भी द्विधातुज हैं– १. अंशुः (२.५)। २. इनः (३.११)। ३. महान् (३.१३)। ४. कपिञ्जलः (३.१८) [नि० ४]। ५. वंशः (५.५)। ६. काकुदम् (५.२६)। ७. शूर्पम् (६.९)। ८. लिबुजा (६.२८)। ९. मगन्दः (६.३२)। १०. माङ्गदः (६.३२)। ११. गायत्री (७.१२)। १२. रथः (९.११)। १३. रुद्रः (१०.५)। १४. इन्द्रः (१०.८) [नि० १२,१३,१४]। १५. अंशः (१२.३६)।

४.३ बहुधातुजशब्द –

कुछ शब्द दो से अधिक (तीन) धातुओं के योग से निष्पन्न होते हैं। हृदयशब्द की व्युत्पत्ति √हृञ् हरणे, √दा दाने और √इण् गतौ धातुओं से होती है, यह प्रसिद्ध है। इसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में इसप्रकार हुआ है– **"तदेतत्**

त्र्यक्षरं हृदयमिति। 'हृ' इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै०। 'द' इत्येकमक्षरम् ददत्यस्मै०। 'यम्' इत्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद'' (शत०१४.८.४.१; बृ०उप० ५.३.१)। इससे हृदयशब्द का त्रिधातुजत्व स्पष्ट है। निरुक्त में भी अग्निशब्द के व्याख्यान में शाकपूणि के पक्ष को रखते हुए यास्क लिखते हैं कि– **''त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः– इताद् अक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारम् अनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः''** (निरु० ७.१४)। इससे स्पष्ट है कि– √इण् +√अञ्जू +√नी अथवा √इण् +√दह् +√नी धातुओं के योग से अग्नि शब्द उपपन्न होता है।[1] वाक्यार्थ को ग्रन्थ के व्याख्यान भाग में देखें।

४.४ नामधातुजशब्द –

पाणिनीयतन्त्र में 'सुप आत्मनः क्यच्' (अष्टा०३.२.८) से लेकर 'सत्यापपाश०' (अष्टा०३.१.२५) से विहित 'णिच्' तक के प्रत्ययान्तों की धातुसंज्ञा होती है (अष्टा० ३.१.३२)। इन्हें नामधातु कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ वार्त्तिक आदियों से भी नामधातु निर्मित होते हैं। इन नामधातुओं से कृत्-प्रत्यय होकर पुनः नये शब्द बनते हैं। यह प्रक्रिया निरुक्तशास्त्र में भी स्वीकृत है। इसके लिए इन शब्दों के व्याख्यानभाग को देखें – १. आचार्यः (१.४)। २. अध्वर्युः (१.८) [नि०३.]। ३. मनुष्याः (३.७) [नि०२]। ४. जज्झतीः (६.१६)। ५. रथः (९.११) [नि०२]। ६. उदन्युः (११.१५) इत्यादिः।

४.५ वाक्यज शब्द –

अनेक शब्दों या उनके अवयवों के संयोग से एक नया शब्द उत्पन्न होता है, इसे वाक्यज शब्द कहते हैं। इसका उल्लेख बृहद्देवता के २.१०४ श्लोक में हुआ है। इसके लिए प्रसिद्ध उदाहरण है– 'इति+ह+आस= इतिहासः।' निरुक्त में भी इसप्रकार के वाक्यज शब्द उपलब्ध होते हैं। यथा– १. मेहना (४.४) [मे+इह+न]। २. त्वादातम् (४.४)। ३. वराहः (५.४)। ४. किमीदिने (६.११)। ५. कीकटाः (६.३२) इत्यादि।

४.६ शब्दैकदेश का ग्रहण –

कुछ शब्दों के एकदेश अर्थात् अवयवों का ग्रहण कर उनके संयोग से एक

१. भर्ग इति भासयतीमाल्ँलोकानिति रञ्जयतीमानि भूतानि गच्छत इति, गच्छत्यस्मिन्नागच्छत्यस्मा इमाः प्रजाः, तस्माद् भारगत्वाद् भर्गः (मैत्रायण्युप०५.७) [भा+रम्+गम् > भ+र्+ग > भर्ग]।

स्वतन्त्र शब्द बनता है।[1] जैसे– **''अद्य अस्मिन् द्यवि''** (१.६)। 'अस्मिन्' का 'अ' एवं 'द्यवि' का 'द्य' इन दोनों को मिलाकर एक स्वतन्त्र तथा उसके समानार्थक 'अद्य' शब्द बना है [अस्मिन् + द्यवि > अद्य]। इसी को हम 'अस्मिन् द्यवि' का संक्षिप्तरूप ही 'अद्य' शब्द है, ऐसा कह सकते हैं। इसीप्रकार **''वृतक्षय''** का ही संक्षिप्तरूप **'वृक्ष'** है (द्र०निरु०१२.२९) [वृत=वृ। क्षय=क्ष। वृ + क्ष > वृक्ष]। यहाँ का प्रतिपादन व्याकरण की शैली में किया गया है। यथार्थतः निरुक्त में तो 'अद्य' के अवर्ण से 'अस्मिन्' का ग्रहण करना चाहिए और 'द्य' से 'द्यवि' का। अन्य उदाहरण इसप्रकार हैं– १. यज्ञः (३.१९) [नि०३,४,५]। २. पापः (५.२)। ३. वृकः (५.२०,२१)। ४. इभेन (६.१२)। ५. बेकनाटाः (६.२६)। ६. दनः (६.३१)। ७. समना (७.१७)। ८. बालः (९.१०)।

शब्दैकदेश का ग्रहण पूर्वोत्तरपदों (दोनों पदों) से ही न होकर कभी-कभी किसी एक पद से भी होता है, शेष धातु एवं प्रत्यय ही रहते हैं। इसके लिए इन उदाहरणों को देखें– १. कम्बोजाः(२.२)। २. कक्षः (२.२)। ३. वृक्षः (२.६)। ४. हिरण्यम् (२.१०)। ५. समुद्रः (२.१०)। ६. अन्तरिक्षम् (२.१०)। ७. वणिक् (२.१७)। ८. अश्वः (२.२७)। ९. वृषलः (३.१६)। १०. अर्भकम् (३.२०)। ११. यकृत् (४.३)। १२. जठरम् (४.७)। १३. तुग्वन् (४.१५)। १४. रक्षः (४.१८)। १५. स्वसराणि (५.४)। १६. अर्कः(५.४)। १७. सप्रथाः (६.७)। १८. शकटम् (६.२२)। १९. जगती (७.१३)। २०. नराशंसः (८.६)। २१. वितरम् (८.९)। २२. त्वष्टा (८.१३)। २३. पुमान् (९.१५)। २४. प्रधनः (९.२३)। २५. द्रुघणः (९.२३)। २६. सप्रथाः (९.३२)। २७. मुसलम् (९.३५)। २८. इन्द्रः (१०.८)। २९. मित्रः (१०.२१)। ३०. चन्द्रमाः (११.५)। ३१. मरुत् (११.१३)। ३२. स्वधितिः (१४.१३)।

४.७ वर्णसादृश्य से निर्वचन–

अतिपरोक्षवृत्ति से सम्बन्धित यास्क के सिद्धान्त को पहले स्थापित किया गया था कि– **''अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्''** (निरु० २.१)। अविज्ञात संस्कार वाले किसी शब्द का किन-किन अर्थों में प्रयोग होता है, पहले इसे जानकर उसके अवयवभूत वर्णों के सादृश्य से उन अर्थों के अनुकूल शब्द या धातुओं का ऊह करके निर्वचन करना चाहिए। यही उस शब्द का उचित

१. तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि ''स ति यम्'' इति। तद्यत् ''सत्'' तदमृतम्। अथ यत् ''ति'' तन्मर्त्यम्। अथ यत् ''यम्'' तेनोभे यच्छति (छां०उप०८.३.५)। [सत्+मर्त्य+यम् > स+त्+यम् > सत्यम्]।

अन्वाख्यान है। जैसे 'दमूना' के दकार के सादृश्य से 'दम (=दया,गृह), दान और दया' शब्दों का ऊह करके आचार्य ने निर्वचन किया है— **''दमूना दममना वा, दानमना वा, दान्तमना वा। अपि वा दम इति गृहनाम, तन्मनाः स्यात्''** (निरु० ४.४)। ''वणिक्' शब्द व्यापारी अर्थ को प्रकट करने में अतिपरोक्षवृत्ति वाला है, क्योंकि तदनुकूल वर्ण इसमें नहीं है। अत एव वकार में 'प' वर्ण का ऊह करके[1] पहले इसे 'पणिक्' समझा गया है। यह शब्द परोक्षवृत्तिक है, क्योंकि इसमें अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने वा निर्वचन करने हेतु सादृश्य (अर्थानुकूल) पवर्ण मिल गया है। इससे पूर्व यह सादृश्य (सामान्यता) नहीं था। पुनः पवर्ण से पण्य अर्थ व शब्द का ग्रहण कर यास्क ने निर्वचन किया— **''वणिक् पण्यं नेनेक्ति''** (निरु० २.१७) [पण्य + √णिजिर् शौचपोषणयोः (३.११) + क्विप् > पणिक् > वणिक्]। जो बेचने योग्य वस्तु को अधिकाधिक मूल्य प्राप्त करने के लिए शुद्ध रखता है, व्यवस्थित रखता है, वह व्यापारी 'वणिक्' कहलाता है। ''पण्यं नेनेक्ति'' यह वचन अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है, शब्दव्युत्पत्तिशास्त्र के अनुकूल वर्ण (प्रकृति, प्रत्यय आदि) प्रत्यक्ष हैं, अतः इसे प्रत्यक्षवृत्ति कहते हैं।[2] 'अवसम्' (यात्रा में खाने योग्य पदार्थ) का निर्वचन करते हुए यास्क लिखते हैं— **''अवसं पथ्यदनम्-अवतेर्गत्यर्थस्यासो नामकरणः। स्यतिरुपसृष्टो विमोचने [इति वा]''** (निरु० १.१७)। यहाँ आचार्य ने स्वयं प्रकृति-प्रत्ययों का निर्देश किया है। प्रथम निर्वचन के अनुसार व्युत्पत्ति— '√अव्+ असच्=अवस' है और दूसरे निर्वचन के अनुसार तो— 'अव (उपसर्ग)+ √षो (+क)= अवस' है। अर्थ को देखते हुए दूसरे निर्वचन में 'स' वर्ण के सदृश्य से 'षो विमोचने' धातु की कल्पना की और 'अव' को उपसर्ग माना है। इसप्रकार अर्थभेद से व्युत्पत्तिभेद और व्युत्पत्तिभेद से शब्दभेद हो जाता है।[3]

१. यही कल्पना आचार्य पाणिनि को भी अभीष्ट है— ''पाणेरिज्यादेश्च वः''(उणा०२.७१)।

२. वर्णसादृश्य से कृत निर्वचनों के अन्य कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं— १. अन्यः(१.६)। २. नरकम्(१.११)। ३. सेना(२.११)। ४. पुत्रः(२.११) [पु=पुरु,√पृ, पुत्, त्र=√त्रैङ्, क्त्र-प्रत्यय]। ५. सानु(२.२४)। ६. अङ्गुलयः(३.८)। ७. महान्(३.१३)। ८. यम्(३.१३)। ९. कपिञ्जलः(३.१८)। १०. निधा(४.२)। ११. लक्ष्मीः(४.१०)[ल्=√लभ्, √लक्ष्, √लप्, √लाछि, √लष्, √लग्, √लस्जी]। १२. कन्या(४.१५)। १३. उच्चैः(४.२४)। १४. नीचैः(४.२५)। १५. इलीबिशः(६.१९)। १६. बकुरः(६.२५,२६)। १७. बतः (६.२७-२८)। १८. अग्निः(७.१४)। १९. ऊर्ध्वः(८.१५)। २०. रथः(९.११)। २१.ज्या (९.१७)। २२. आजिः(९.२३)। २३. इन्द्रः(१०.८)। २४. अघ्न्या(११.४३)।

निर्वचनसिद्धान्त २.५ में दिखाये गये उदाहरण भी यहाँ के उदाहरण बनते हैं। क्योंकि वहाँ भी एक वर्ण के सादृश्य से ही धातु की कल्पना की जाती है।

३. अर्थात् यहाँ एक 'अवस्' शब्द के दो निर्वचन नहीं हैं अपितु भिन्न-भिन्न अर्थवाले दो स्वतन्त्र अवसशब्दों के एक-एक निर्वचन है। इसे विस्तार से आगे लिखेंगे।

इसीलिए आचार्य कहते हैं कि — **''अर्थनित्यः परीक्षेत''** (निरु० २.१)। अर्थ प्रधान है, उसीको देखते हुए निर्वचन करना चाहिए। शब्दव्युत्पत्ति की प्रक्रियाएँ (संस्कार) अनित्य हैं। अतः वे उपेक्षणीय हैं। अर्थों के अनुकूल वर्णसादृश्य से भी व्युत्पत्तियों को करना चाहिए।

४.८ समानार्थक शब्द (शब्दान्तर) से निर्वचन—

इससे पूर्व 'समानार्थक धात्वन्तर से निर्वचन' (नि०सि० १.११), 'समानार्थक उपपदान्तर से निर्वचन' (नि०सि० १.८), 'उपसर्गान्तर से निर्वचन' (नि० सि० १.२) का वर्णन कर चुके हैं। इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। निर्वचन में शब्दान्तर का प्रयोग होने पर भी निर्वाच्य शब्द के वर्णानुकूल एवं तद्गत शब्द से ही व्युत्पत्ति करनी चाहिए।[1] जैसे — **''पारावतघ्नीम्''** का निर्वचन **'पारावारघातिनीम्'** (२.२४) किया गया है। निर्वचन में 'अवत' का पर्यायवाची 'अवार' शब्द का प्रयोग है, पुनरपि व्युत्पत्ति 'अवत' से ही करनी चाहिए। इसीप्रकार 'दधिक्राः' (२.२७) के निर्वचन में 'दधि' के समानार्थक 'दधत्' शब्द का प्रयोग है।[2]

४.९ शब्दानुकरणपरक निर्वचन—

कुछ शब्दों को पशु, पक्षी, नदी आदियों की अव्यक्त-ध्वनियों का अनुकरणात्मक मानते हुए निर्वचन किये जाते हैं। तद्यथा— १. काकः (३.१८)। २. कितवः (५.२२)। ३. जज्झतीः (६.१६)। ४. दुन्दुभिः (९.१२)। ५. चिश्चा (९.१४)। ६. कृकवाकुः (१२.१३) आदि।

१. इस सिद्धान्त की अज्ञानता के कारण कुछ लोग इसप्रकार के निर्वचनों पर आक्षेप उठाते हैं। जैसे— महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में 'परमात्मा' का निर्वचन किया है कि— ''परश्चासौ आत्मा च...परमात्मा''(समु०१)। यहाँ आक्षेप करते हैं कि— 'पर+आत्मा' के योग से 'परात्मा' शब्द सिद्ध होता है, न कि 'परमात्मा'। अतः यह निर्वचन अशुद्ध है। परन्तु वे लोग यह नहीं जानते हैं कि पर एवं परम ये दोनों शब्द सूक्ष्म, श्रेष्ठ आदि अर्थों में समानार्थक हैं। अतः 'परः' से विग्रह या निर्वचन करके 'परम' शब्द से व्युत्पत्ति कर सकते हैं। जैसे यास्कादि आचार्य करते हैं। अतः स्वामी जी का निर्वचन पूर्णशुद्ध एवं निरुक्तशास्त्र से सम्मत है।

२. अन्य उदाहरण — १. परुषे(२.६)। २. हिरण्यम्(२.१०)। ३. प्रकेतः(२.१९)। ४. विश्वामित्रः(२.२४)। ५. शंयुः(४.२१)। ६. विश्पतिः(४.२६; ५.२८)। ७. शिपिविष्टः (५.८)। ८. आघृणिः(५.९)। ९. पृथुज्रयाः(५.९)। १०. केपयः(५.२४)। ११. तूतुम् आकृषे(५.२५)। १२. कत्पयम्(६.३)। १३. श्रुष्टिः(६.१२)। १४. कवासखः(६.१९)। १५. ऋचीषमः(६.२३)। १६. विश्वकर्मा(१०.२५)। १७. देवगोपा(११.४६)। १८.मत्सखा (१३.४)।

४.१० शब्दनिर्वचन –

कभी-कभी निरुक्त शब्द से ही अनिरुक्त शब्द का व्याख्यान हो जाता है। जैसे – **''पाथोऽन्तरिक्षम्, पथा व्याख्यातम्''** (६.७)। आचार्य ने यहाँ 'पाथः' शब्द की प्रकृति का निर्देश नहीं किया अर्थात् कोई निर्वचन नहीं किया। परन्तु 'पथिन्' (पन्थाः) के समान ही 'पाथः' को समझने का निर्देश किया है। पन्थाः का निर्वचन करते हैं – **''पन्थाः पततेर्वा, पद्यतेर्वा, पन्थतेर्वा''**(निरु०२.२८)। अर्थात् 'पन्थाः' शब्द √पत्लृ, √पद और √पथि धातुओं से निष्पन्न होता है। इन्हीं धातुओं से 'पाथः' शब्द भी निष्पन्न होगा, ऐसा समझना चाहिए। यही शैली निरुक्त में अनेकत्र दिखाई देती है। यथा – १. योक्त्राणि(३.९)। २. भद्रम्(४.१०)। ३. अमीवा (६.१२)। ४. सुशिप्रम् (६.१७)। ५. बिठम् (६.३०)।६. वृन्दम् (६.३४)। ७. वृन्दारकः (६.३४)। ८. अपान्नपात् (१०.१८)। ९. तार्क्ष्यः (१०.२७)। १०. किल्बिषम् (११.२४)। ११. अंशः (१२.३६) आदि।

कभी-कभी एक शब्द अन्य शब्द का प्रकृति बन जाता है, अन्य कोई प्रत्ययादि नहीं होते। उसी के वर्ण आद्यन्तविपर्यय होकर अन्य शब्द को उत्पन्न करता है। यथा – अजिन = अ-ज्-इ-न > इ-अ-ज्-न > य्-अ-ज्-न > यज्-न > यज्ञ। इसका अर्थ अजिन (कृष्णाजिन, कृष्णमृग का चर्म) ही है। तद्वान् (अजिनवान्) को यज्ञ कहते हैं – यज्ञ (अजिन)+अच् (मत्वर्थे) = यज्ञः (निरु०३.१९)।

४.११ उपमानोपमेयसम्बन्ध से निर्वचन –

''स्नेहानुप्रदानसामान्याद् रात्रिरप्यूध उच्यते'' (निरु० ६.१९)। जिसप्रकार थन स्निग्ध दूध प्रदान करता है, उसीप्रकार ओसरूपी (शीतरूपी) स्निग्ध का प्रदान करने से रात्रि का भी नाम 'ऊधः' है। अब इसका निर्वचन **'ऊधः इव ऊधः'** होगा। इसी को **''तत्सादृश्यात् ताच्छब्द्यम्''** कहते हैं – **''भवति हि सादृश्यादतस्मिन्नपि तद्व्यपदेशः। यथा – अग्निर्माणवकः''**(न्यासः, ऐ औ च्)। **''सादृश्याच्च परशब्दः परत्र प्रवर्तते''** (मी०शा०भा० ८.२.१)।[1] निरुक्त में भी सादृश्यता के कारण अतद् का तद्वाचकत्व अनेकत्र स्वीकृत सिद्धान्त है।[2]

१. सादृश्य से अर्थ का कथन स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में बहुत्र दिखाई देता है।
२. तद्यथा – १. अद्भुतम् (१.६)। २. गिरिः (१.२०)। ३. पर्वः (१.२०)। ४. कक्षः (४.४)। ५. गौः (२.५-६)। ६. विः (२.६)। ७. पादः (२.७)। ८. योनिः (२.८)। ९. व्रतम् (२.१३)। १०. स्वः (२.१४)। ११. अहिः (२.१७)। १२. रुशद्वत्सा (२.२०)। १३. अनूपाः

४.१२ तद्योग से निर्वचन –

प्रत्येक भाषा का एक शाश्वत नियम है – **'तद्योगात् ताच्छब्द्यम्'**। इसके लिए न्यायदर्शनकार कहते हैं कि – **''सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारण-सामीप्ययोगसाधनाऽऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्न-पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः''** (न्याय०२.२.६३)। योग से, सम्बन्ध से भी अतद् में तद् का व्यवहार होता है। जैसे – **''कृष्णेन रागेण युक्तः शाटकः कृष्ण इत्यभिधीयते''**(वा०भा०तत्रैव)। कृष्ण रंग से रंगा हुआ शाटक कृष्ण नाम से कहलाता है। पूर्वमीमांसा का सूत्र है – **''तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्०''** (मी०द०२.३.२३)। अग्नि के संयोग से याग भी अग्निसंज्ञक होता है। अर्थात् अग्नि शब्द याग का भी वाचक है। इसीप्रकार 'तद्योगात् ताच्छब्द्यम्' नियम निरुक्त में भी देखा जाता है। तद्यथा – **(दक्षिणा) दिग् हस्तप्रकृतिः (१.७)**। दक्षिण दिशा का नाम 'दक्षिण' कैसे हुआ? कहते हैं कि यह दिशा पूर्वाभिमुखी व्यक्ति के दक्षिण (दाहिने) हाथ की ओर होने से, दक्षिणहस्त से संयुक्त (सम्बद्ध) होने के कारण 'दक्षिणदिशा' कहलाती है। दाहिने हाथ को 'दक्षिणः' क्यों कहते हैं? क्योंकि यह हाथ कर्मों में उत्साह से प्रवृत्त होता है और दान करता है इसलिए दाहिने हाथ का नाम 'दक्षिणः हस्तः' है – **'दक्षिणो हस्तः – दक्षतेरुत्साहकर्मणः। दाशतेर्वा स्यात् दानकर्मणः'** (१.७)। यह अर्थ दिग्वाची 'दक्षिणा' शब्द में नहीं है, पुनरपि दक्षिणहस्त से संयुक्त होने से दिशाविशेष का नाम 'दक्षिणा' है।

४.१३ सम्पूर्ण आदेश का रूप –

कभी-कभी प्रकृति और प्रत्यय दोनों के स्थान पर या केवल प्रकृति के स्थान पर एक नया रूप (शब्द) आदिष्ट होता है। जैसे – काणुका (५.११)। कान्तक, क्रान्तक, कृतक और कणेघात के स्थानों पर 'काणुका' आदेश हो जाता है। इसीप्रकार ये शब्द भी आदिष्टरूप ही हैं – १. कुटस्य (५.२४)। २. अनवायम् (६.११)। ३. किमीदिने (६.११)। ४. नासत्यौ (६.१३)। ५. ऊधस् (६.१९)। ६. अमत्रः (६.२३)।

(२.२२)। १४. अर्बुदः(३.१०)। १५. खलः (३.१०)। १६. आत्मा (३.१५)। १७. मधुः (४.८)। १८. शिरः (४.१३)। १९. वक्षः (४.१६)। २०. कच्छः (४.१८)। २१. हरिः (४.१९)। २२. वराहः (५.४)। २३. पुष्करम् (५.१४)। २४. कृत्तिः (५.२२)। २५. कोशः (५.२६)। २६. शुचिः (६.१)। २७. सूपः (६.१७)। २८. स्कन्धः (६.१७)। २९. लाङ्लम् (६.२६)। ३०. उष्णिक् (७.१२)। ३१. ककुप् (७.१२)। ३२. मिथुनौ (७.२९)। ३३. इषिका (९.८)। ३४. बुध्नम् (१०.४४)। ३५. अनः (११.४७)। ३६. अधोरामः (१२.१३)। ३७. पांसुरे (१२.१९) आदि।

७. करूळती (६.३०)। ८. कीकटाः (६.३२)। ९. पण्डकः (६.३२) [नि० २]। १०. ककुप् (७.१२)। ११. नपात् (८.५)।

४.१४ वर्णव्यत्यय –

आद्य एवं अन्त्य वर्णों के व्यत्यय का उल्लेख आचार्य ने स्वयं किया है (द्र०, नि०सि० २.१२, २.१४)। उनसे भिन्न व्यत्ययों का परिगणन यहाँ कर लेना चाहिए।[1] धातु में प्रायः दो ही वर्ण होते हैं। अतः आचार्य ने धातु को लक्षित करके आद्यन्तों का वर्णन किया है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु व्यत्यय तो उपपद, उपसर्ग, प्रातिपदिक आदि में भी होता है।

४.१५ विकरणव्यत्यय –

विकरण प्रत्ययों में भी व्यत्यय अर्थात् प्रत्ययान्तर देखा जाता है। जैसे कि निरुक्त एवं पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार धातुरूप नीचे प्रस्तुत हैं। जिससे विकरण प्रत्यय का व्यत्यय स्पष्ट हो जायेगा।

यास्कमत	पाणिनिमत
१. दघ्यतेः (१.९) [दिवादिरूप]	दघ्नोति (√दघ–स्वा०२८)
२. शम्नातेः (१.१०; २.७; २.१६; ३.५) [क्र्यादिरूप]	शाम्यति (√शमु–दिवा०९१)
३. कृष्यतेः (२.२०) [दिवादिरूप]	कर्षति, कृषति (√कृष्– भ्वा०७१६; तुदा० ६)।

४. रम्णाति संयमनकर्मा (१०.९) [क्र्यादिरूप] रमते (√रम् – भ्वा० ५९२)। इसीप्रकार के विकरणव्यत्ययों के लिए परिशिष्ट– ७.४ को देखें। "व्यतिगमनं व्यत्ययो व्यतिहारः। विषयान्तरे विधानम्, क्वचिद् द्विविकरणता, क्वचित् त्रिविकरणता च ... द्विविकरणता – इन्द्रो वस्तेन नेषतु, नयत्विति प्राप्ते। त्रिविकरणता – इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम् (ऋ० ७.४८.२), तीर्यास्म इति प्राप्ते (काशिका – ३.१.८७)। अपि च द्र० यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च (मुण्डको० १.१.७) [ग्रह्+श्ना+श+ते]।"

[1] आद्यन्त से भिन्न व्यत्यय के उदाहरण इसप्रकार हैं – १. वणिक् (२.१७)। २. प्रथमः (२.२२)। ३. बहुः (३.१३)। ४. ववक्षिथ (३.१३)। ५. असौ (३.१६)। ६. अर्भकम् (३.२०)। ७. अर्धम् (३.२०)। ८. दमूनाः (४.४)। ९. वासरः (४.७) [निर्व०३]। १०. श्मशा (५.१२)। ११. बृबदुक्थः (६.४)। १२. क्षोणस्य (६.६)। १३. श्रायन्तः (६.८)। १४. मूराः (६.८)। १५. उराणः (६.१७)। १६. इलीबिशः (६.१९)। १७. शकटम् (६.२२)। १८. कुरुङ्गः (६.२२)। १९. कुलम् (६.२२)। २०. गल्दया (६.२४)। २१. बकुरः (६.२५)। २२. बेकनाटाः (६.२६)। २३. व्रततिः (६.२८)। २४. ऋदूवृधाः (६.३३)। २५. ऋबीसम् (६.३५)। २६. ककुप् (७.१२)। २७. गरुत्मान् (७.१८)। २८. ऊर्ध्वः (८.१५)। २९. ऋभवः (११.१५, द्र० ९.३)। ३०. शकुनिः (९.३)। ३१. उलूखलम् (९.२०)। ३२. परुच्छेपः (१०.४२)। ३३. भुरण्युः (१२.२२)। ३४. ओहब्रह्माणः (१३.१३) इत्यादि।

४.१६ शब्द के मध्य में नञ् का प्रयोग –

"बालः....बलो वा प्रतिषेधव्यवहितः" (निरु० ९.१०)। प्रतिषेध (नञ्) के अकार को बलशब्द के व्यवहित (मध्य) में रखने से भी बालशब्द सिद्ध होता है। अर्थात् जिसमें बल नहीं है, वह अबल ही 'बालः' कहाता है [नञ् + बल > अ + बल > ब-अ-ल > बाल]।

४.१७ उपसर्ग से तद्धित प्रत्यय[1] –

इसके लिए इन शब्दों के व्याख्यान भाग को देखें – १. प्रथमः (२.२२)। २. अणु (६.२२)। ३. सम्प्रति (६.२२)। ४. परावतः (७.२६)। ५. वितरम् (८.९) इत्यादि।

४.१८ अनुबन्धों का लोपाभाव – १. आङ्गूषः (५.११)। २. अङ्कुशः (५.२८) इनके व्याख्यान भाग को देखें।

४.१९ समानार्थक दो शब्दों का एक साथ प्रयोग –

१. आशु-शु-क्षणिः (६.१)। इसमें 'अशु' और 'शु' दोनों ही शब्द शीघ्रार्थक हैं।

निर्वचन -सिद्धान्तों को और अधिक विभक्त व प्रकट कर सकते हैं। विस्तरभिया इसे हम यहीं समाप्त करते हुए अग्रसर होते हैं।

५. अनेकार्थक शब्दों के अनेक निर्वचन (अर्थभेद से अन्वाख्यान का भेद) –

शब्दार्थ को जानने के लिए कोष प्रथमस्तर के साधन हैं, व्याकरण द्वितीयस्तर का साधन है और निरुक्त (निर्वचन) तृतीयस्तर का साधन है। परन्तु निर्वचन के लिए अर्थज्ञान होना चाहिए। अर्थज्ञान के लिए कोष एवं व्याकरण के अतिरिक्त और भी

[1] उपसर्गों से तद्धित प्रत्यय पाणिनीय प्रक्रिया में भी होते हैं। तद्यथा– उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (अष्टा० ५.१.११७) आदि।

अन्य साधन हैं। जिनके लिए परिशिष्ट (७.७) में संलग्न ''वेदार्थ और भाषाविज्ञान के शाश्वत नियम'' शीर्षक लेख को अवश्य पढ़े। अर्थबोध में उपर्युक्त सभी साधनों को सम्यक्तया जानकर प्रसंग के अनुकूल वाक्यार्थ को जानें। तत्पश्चात् तदनुकूल एक-एक शब्द का निर्वचन करना चाहिए।[1] व्याकरण के समान एक शब्द का एक ही निर्वचन (व्युत्पत्ति) करने से निरुक्त में गतार्थता नहीं होती है। क्योंकि नैरुक्त आचार्यों का एक महत्त्वपूर्ण तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है कि 'शब्द के जितने अर्थ होते हैं, उतने निर्वचन करने चाहिए।' यथा—

तानि [पदानि] चेत् समानकर्माणि [=समानार्थकानि] समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि (निरु॰ २.७)।

त एते वक्तुरभिप्रायवशादर्थान्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुःपरिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहत्येवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति। तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्नधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति (दुर्गः, निरु॰ २.८)।

वेद के मन्त्रों में आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, अधियज्ञ आदि महान् गूढ़ अर्थ निहित होते हैं। अतः मन्त्रों के अर्थ की इयत्ता नहीं कर सकते कि बस यही इन मन्त्रों का अर्थ है। जिसप्रकार अश्वारोही व्यक्ति की कुशलता से अश्व (घोडा) कुशल और कुशलतर गति करता है, उसीप्रकार वक्ता (वेदार्थावबोधक विद्वान्) के वैशिष्ट्य (कुशलता, वेदाङ्गादि शास्त्रों में अप्रतिहतगति) से वेदार्थ में भी उतना ही वैशिष्ट्य (वेदार्थ की यथार्थता, स्पष्टता, गूढार्थ की अवगति आदि) हृदयगत होते हैं।

अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु।
बहूनां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते॥ (वा॰प॰२.१७०)

अनेक अर्थों के कारण शब्दव्युत्पत्ति की व्याकरणप्रक्रिया में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पनारूपी अन्वाख्यान भी उस-उस अर्थ के अनुकूल भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। तद्यथा—

कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम् ॥ (वा॰प॰ २.१७४)

१. नैकपदानि निब्रूर्यात् (निरु॰२.३)।

कुछ आचार्य गोशब्द की व्युत्पत्ति को अर्थविशेषों में गृ सेचने (१.६७१), गृज शब्दार्थः (१.१५२), गम्लृ गतौ (१.७०९), गुङ् अव्यक्ते शब्दे शब्दे वा (१.६८०,६८२), गद व्यक्तायां वाचि (१.४२) इन धातुओं से दिखाते हैं।

आचार्य यास्क ने भी अर्थभेद से अन्वाख्यान के भेद का प्रतिपादन किया है। तद्यथा— **''कुचर इति चरति कर्म कुत्सितम्। अथ चेद् देवताभिधानम्-क्वायं न चरतीति [अन्वाख्यानम्, निर्वचनम्]''** (निरु॰ १.२०)।

६. 'वा' शब्द समुच्चयार्थक है —

इन सभी वचनों से निरुक्त का सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि यदि शब्द के अर्थ अनेक हैं, तो निर्वचन भी अनेक होते हैं। परन्तु एक शब्द के अनेक निर्वचन करने पर पण्डितम्मन्य विद्वान् यास्कादि निर्वचनकारों पर आक्षेप करते हैं कि 'शब्द का नियत अर्थ क्या है? इसे वे आचार्य निश्चितरूप से नहीं जानते थे। इसलिए वा, अपि वा, अथवा आदि कहते हुए वे अनेक निर्वचन करते हैं।' इसप्रकार के आक्षेप से ही स्पष्ट है कि वे आक्षेप्ता स्वयं ही शब्दशास्त्र एवं निर्वचनविद्या को समझने में पूर्णतया असमर्थ रहें हैं। ऐसे असमर्थ व्यक्तियों को निरुक्तादि शास्त्रों को पढ़ाना ही नहीं चाहिए था। असमर्थों को पढ़ाने का दुष्परिणाम यही होता है कि वे स्वयं भ्रान्त होते हैं और अन्यों को सबको और अधिक भ्रान्त करते हैं[1], शास्त्रों के प्रति ग्लानि उत्पन्न करते हैं। यही तो वैदेशिकों की कुटिलनीति का लक्ष्य है, अस्तु।

'वा' यह अव्ययपद सन्देह या विकल्प अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं है। समुच्चय आदि अर्थों में भी प्रयुक्त होता है—

अथापि समुच्चयार्थे भवति— **''वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा॰''** (तै॰सं॰ १.७.७.२) इति [निरु॰ १.४-५]। **वाशब्दः समुच्चये** (स्कन्दः, ऋ॰ १.२३.१७;

१. ''नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे वा [निर्ब्रूयात्]। नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात् — यो वालं विज्ञातुं स्यात् मेधाविने तपस्विने वा'' (निरु॰ २.३)। जिसने व्याकरण को नहीं पढ़ा या पढ़कर व्याकरण के स्वरूप को व उद्देश्य को नहीं समझा, जिज्ञासाभाव से, शिष्यभाव से किसी पारम्परिक वैदिक विद्वान् के पास नहीं बैठा (पढ़ा) और निर्वचन के स्वरूप, उद्देश्य, शैली, विद्या को नहीं जानता है, उसे (कदापि) निरुक्त का ज्ञान नहीं देना चाहिए। अन्यथा वह अज्ञानी (असमर्थ, अनधिकारी) पढ़कर भी अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करके भी उसमें दोष ही निकालता है। अतः जिज्ञासाभाव से उपस्थित शिष्य को ही निर्वचन (निरुक्तशास्त्र) का ज्ञान देना चाहिए, जो इसे सम्पूर्णतया हृदयंगम करने में समर्थ हो, केवल शब्दपारायणरत न हों, शब्दव्युत्पत्ति में, ऊह करने में अप्रतिहत गति से युक्त बुद्धि वाला हो और मन्त्रार्थ को समझने के लिए, कठोर तप करने के लिए उत्साहित रहता हो, उसे ही पढ़ाना चाहिए।

सायणः, ऋ० १.८६.२,३,८)। **वाशब्दः समुच्चयार्थे** (उवटः, ऋ० १०.१०.१४; दया०, ऋ० १.८३.६)। **वाशब्दश्चार्थे** (स्कन्दः, ऋ० ६.४६.७, ६.५२.१३; उवटः, ऋ० १०.७४.१, सायणः, ऋ० २.२.१०, ५.३४.५ आदि; दया०, ऋ० १.६.१०)। **समुच्चयार्थीयो वाशब्दः** (वेंकटः, ऋ०५.३.१२ आदि)।

वा स्याद् विकल्पोपमयोर्वितर्के पादपूरणे॥
समुच्चये च विस्रम्भे नानार्थातीतअयोरपि।

(मेदिनीकोशः, अव्ययवर्गः-७४, ७५)

वा विकल्पोपमयोः॥ समुच्चये च० (वैजयन्तीकोशः, ८.७.६,७)

निर्वचनों में 'वा' शब्द (अव्यय) का प्रयोग सन्देहार्थ में अर्थात् इस शब्द का निर्वचन यह है अथवा यह है, ऐसे अर्थ को प्रकट करने के लिए नहीं होता है, अपितु समुच्चयार्थ में होता है। समुच्चय का अर्थ संग्रह, एकत्रीकरण होता है। संग्रह अनेकों का होता है, न कि एक का। तो प्रकृत प्रसंग में **अनेक निर्वचनों से निष्पन्न शब्द एक नहीं होता है, अपितु अनेक होते हैं।** उन अनेक शब्दों का अनेक निर्वचनों से संग्रह करना ही यहाँ समुच्चय है। उदाहरण के लिए 'अध्वर्यु' शब्द के निर्वचनों को देखते हैं— **''अध्वर्युर् अध्वरयुः— अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयत इति वा, अपि वाऽधीयाने युरुपबन्धः''** (निरु०१.८)। इन चार निर्वचनों से निष्पन्न अध्वर्यु शब्द एक नहीं अपितु चार हैं। प्रत्येक अध्वर्यु शब्द का निर्वचन भिन्न-भिन्न है। विभिन्न शब्दों या निर्वचनों का समुच्चय ही हो सकता है। यहाँ एक अध्वर्युशब्द के अनेक निर्वचन हैं ही नहीं, पुनः 'वा' का अर्थ सन्देह कैसे? कदापि सम्भव नहीं है और न ही यास्क निर्वचन करने में सन्दिग्ध हैं। सन्दिग्ध तो पण्डितम्मानी ही हैं। इसका कुछ विस्तार से विवेचन करते हैं, जिससे आभासित एकत्व का भ्रम नष्ट होकर अनेकत्व का ज्ञान (प्रबोध) हो जाय।

७. अनेक निर्वचनों से उत्पन्न सरूप शब्द अनेक ही होते हैं —

वेदशब्द की तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी विभक्तियों के द्विवचन रूप क्रमशः 'वेदाभ्याम्, वेदाभ्याम्, वेदाभ्याम्' होते हैं। ये तीनों ही रूप वर्णानुक्रम से सर्वथा एक समान होने पर भी इन्हें कोई भी धीमान् एक शब्द नहीं मानता और न ही एक शब्द के अनेक अर्थ मानता है। आबालवृद्ध सभी संस्कृतज्ञ यही मानते हैं कि ये सभी रूप परस्पर निरपेक्ष पृथक्-पृथक् हैं, एक शब्द नहीं है, अपितु तीन शब्द हैं। इनके पृथक्त्व का कारण प्रत्यय का अर्थभेद ही है। आचार्य पाणिनि ने भी तीन अर्थों में तीन प्रत्ययों (भ्याम्) का अलग-अलग विधान किया है, न कि तीन अर्थों में एक प्रत्यय का विधान

किया है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इनमें प्रकृति एवं प्रत्यय दोनों ही सर्वथा सरूप हैं, पुनरपि केवल प्रत्यय के अर्थभेद से ही ये सभी शब्द परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। ये वैसे ही भिन्न-भिन्न हैं, जैसे कि प्रकृति या प्रत्यय के भेद से शब्द भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अन्य उदाहरण को भी देखें— **''अश्वपत्यादिभ्यश्च''** (अष्टा० ४.१.८४) सूत्र से अश्वपति आदि प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अण् प्रत्यय विहित है। सभी अर्थों में 'आश्वपत' ही बनाता है। जैसे— अश्वपतेरपत्यम्[१], समूहः[२], निवासः[३] (ग्रामः), इदम्[४] आश्वपतम्। अश्वपतिना प्रोक्तम्[५] आश्वपतम्। अश्वपतौ भवो[६] जातो[७] वा आश्वपतम्। इन सभी अर्थों में उत्पन्न आश्वपतशब्द एक नहीं है और न ही एक शब्द के अनेक व्युत्पत्तियाँ (निर्वचन) ही हैं। ये सभी शब्द वर्णानुक्रम से समान होने पर भी और इनकी प्रकृति एवं प्रत्ययों का स्वरूप समान होने पर भी केवल प्रत्ययार्थ के भिन्न-भिन्न होने से सभी शब्द परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्र शब्द हैं। अतः 'आश्वपत' शब्द के निर्वचन भी यथाशक्य अनेक होंगे ही। अनेक निर्वचनों का समुच्चय ही सम्भव है। इसीप्रकार अदितेरपत्यम् आदित्यः।[८] आदित्यस्यापत्यम् आदित्यः।[८] ये दोनों आदित्य शब्द स्वरूपतः समान हैं और प्रत्यय एवं प्रत्ययार्थ समान हैं, पर प्रकृति भिन्न-भिन्न हैं। अतः ये दोनों आदित्य शब्द भी सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। इन्हें एक मानना तथा एक शब्द के दो अर्थ कहना बालकपन ही होगा। प्रत्यय के भेद से भी शब्दान्तर की सिद्धि होती ही है।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के वचनों को हम पूर्व में उद्धृत कर चुके हैं— **''अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते०,'' ''कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं०''** वहाँ भी स्पष्ट हो चुका है कि गोशब्द √गृ, √गृज, √गम्, √गुङ् और √गद् धातुओं से निष्पन्न होता है। यहाँ भी प्रकृतियों के भिन्न-भिन्न होने से इन धातुओं से निष्पन्न गोशब्द भी सरूप होते हुए भी भिन्न-भिन्न हैं और इनके निर्वचन भी भिन्न-भिन्न ही होंगे। एक शब्द के अनेक निर्वचन मानना या कहना यथार्थता नहीं है, अज्ञान है, असत्य है। ऐसी स्थिति में गो आदि शब्दों के पृथक्-पृथक् निर्वचन करने में ही बुद्धिमत्ता है, भाषाविज्ञान है। विभिन्न सरूप शब्दों के विभिन्न निर्वचनों का समुच्चय ही तो हो

१. तस्यापत्यम् (अष्टा०४.१.९२)।
२. तस्य समूहः (अष्टा०४.२.३६)।
३. तस्य निवासः (अष्टा०४.२.६८)।
४. तस्येदम् (अष्टा०४.३.१२०)।
५. तेन प्रोक्तम् (अष्टा०४.३.१०१)।
६. तत्र भवः (अष्टा०४.३.५३)।
७. तत्र जातः (अष्टा०४.३.२५)।
८. दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः (अष्टा०४.१.८५)।

सकता है, न कि सम्भावना या सन्देहास्पदपन। इस भाषाविज्ञान को न जानने वाले लोग जो यास्क के निर्वचनों को सन्दिग्ध कहते हैं, उनका वह कथन (आक्षेप) अत्यन्त हास्यास्पद एवं मूढ़तायुक्त है। अर्थभेद से अन्वाख्यान (व्युत्पत्ति या निर्वचन) का भेद होता है, इसे और भी अधिक पुष्ट करने के लिए भर्तृहरि ने अन्य उदाहरण भी दिये हैं —

वैरवासिष्ठगिरिशास्तथैकागारिकादयः।
कैश्चित्कथञ्चिदाख्याता निमित्तावधिसङ्करैः।। (व०प०२.१७१)

वीरकर्म वैरम्, वीरेषु भवं वैरम्। वसिष्ठेन दृष्टं प्रोक्तं वा वासिष्ठम्, वसिष्ठशब्दोऽस्मिन् वर्तत इति वासिष्ठम्। गिरौ शेते इति गिरिशः[1], गिरौ शिरो यस्येति वा, गिरिं श्यतीति वा गिरिशः। एकागारं सोढा, एकमसहायमगारं प्रयोजनमस्येति ऐकागारिकः[2] इत्यादि शब्दों के अन्वाख्यान के निमित्तभूत अर्थ नियत न होने से अन्वाख्यान (निर्वचन) भी नियत नहीं होंगे। आचार्य भर्तृहरि आगे जाकर सुदृढ़ सिद्धान्त की घोषणा स्पष्ट शब्दों में करते हैं —

अर्थान्तरे च यद् वृत्तं तत् प्रकृत्यन्तरं विदुः। (वा०प०२.१७७)

तुल्यरूप वाले शब्द जो अर्थान्तर में प्रवृत्त (प्रयुक्त) होते हैं, उन्हें शब्दान्तर ही जानें। इसी शब्दान्तरत्व को वैयाकरणभूषणसारकार कौण्डभट्ट एक भिन्न उदाहरण के साथ प्रतिपादित करते हैं —

सत्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था नपुंसकत्वम्, आधिक्यं पुंस्त्वम्, अपचयः स्त्रीत्वम्, तत्तच्छब्दनिष्ठं तत्तच्छब्दवाच्यञ्च। तमेव विरुद्धधर्ममादाय तटादिशब्दा भिद्यन्ते। केषाञ्चिदनेकलिङ्गत्वव्यवहारस्तु समानानुपूर्वीकत्वेन शब्दानाम् अभेदारोपात् (वै०भू०सा०, नामार्थनिर्णयः, कारिका-२५)। जाति, व्यक्ति और लिङ्ग नाम (प्रातिपदिक) के अर्थ होते हैं। लिङ्ग अर्थात् त्रिविध लिङ्ग नाम का अर्थ होता है। सत्व, रज एवं तम गुणों की समानावस्था वाले पदार्थ का वाचक नपुंसकलिङ्ग होता है। विषमावस्था में किन्हीं दो गुणों का आधिक्य एवं एक गुण का न्यूनत्व जिसमें हों, वह पुंलिङ्ग तथा दो गुणों का न्यूनत्व एवं एक गुण का आधिक्य जिसमें हों वह स्त्रीलिङ्ग होता है। यह लिङ्ग जाति, गुण, क्रिया आदि के भेद से भिन्न हुए उस-उस शब्द में रहता है और उस-उस शब्द का वाच्य भी होता है। यहाँ एक आशङ्का उत्पन्न होती है कि — ये सत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्मवाले गुण द्विलिङ्गी और त्रिलिङ्गी शब्दों में एकसाथ कैसे रहते हैं? भूषणकार उत्तर दे रहें हैं कि — ये सत्वादि

---

१. गिरौ डश्छन्दसि (वा०३.२.१५)।
२. ऐकागारिकट् चौरे (अष्टा०५.१.११२)।

विरुद्धधर्म किसी एक शब्द में नहीं रह सकते। तो तटः, तटी, तटम् आदि त्रिलिङ्गी शब्दों की उपपत्ति कैसे होगी? कहते हैं कि — विरुद्ध धर्मवाले होने से तटः, तटी, तटम् ये परस्पर भिन्न-भिन्न शब्द हैं अर्थात् एक शब्द त्रिलिङ्गी नहीं है। **एक शब्द में एक ही लिङ्ग रह सकता है।** हाँ, कुछ (अज्ञानी व अल्पज्ञ) लोग वर्णों की समानता के कारण तटः आदि तीन शब्दों में एकत्व का आरोप कर अर्थात् भ्रान्ति से एक शब्द समझकर तटशब्द अनेकलिङ्ग वाला है, ऐसा कहते हैं। पर यह एकत्व का आभास कुछ (अज्ञानी) लोगों को ही होता है, न कि सबको।

अभी तक हमने व्याकरण के उदाहरणों एवं प्रामाणिक आचार्यों के वचनों से जाना है कि **प्रकृति-प्रत्ययों में से किसी एक या दोनों के भिन्न होने पर और उनमें से किसी एक या दोनों के अर्थ भिन्न होने पर समानरूपवाले शब्द भी शब्दान्तर होते हैं।** इस विवेचन के आरम्भ में उदाहरण के रूप में 'अध्वर्यु' शब्द का निर्वचन प्रस्तुत किया गया था। उसके चार निर्वचन इसप्रकार हैं— **१. अध्वरं युनक्तीति अध्वर्युः** (अध्वर+√युजिर्+डु)। **२. अध्वरस्य नेता [=याता] इति अध्वर्युः** [अध्वर + √या + कु]। **३. अध्वरं कामयत इति वा अध्वर्युः** [अध्वर+क्यच् +उ]। **४. अध्वरमधीते वेद इति वा अध्वर्युः** [अध्वर + यु] (द्र०निरु०१.८)। इन निर्वचनों से हस्तामलकवत् स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि— प्रत्येक निर्वचन (व्युत्पत्ति) में धातु, प्रत्यय और इनके अर्थ में भिन्नता है। इतनी भिन्नता होने पर इन निर्वचनों से निष्पन्न चार अध्वर्युशब्द एक कैसे हो सकते हैं? इसीप्रकार आचार्यशब्द की व्युत्पत्तियों को भी देखते हैं— आचार + णिच् + यत् = आचार्य। आङ् +√चर्+ण्यत् = आचार्य। आङ् +√चिञ् + डार्यत् = आचार्य (द्र० निरु० १.४)। यहाँ भी प्रकृति, प्रत्यय आदि भिन्न-भिन्न हैं और सभी आचार्यशब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थ) भी भिन्न-भिन्न हैं। पुनः ये सभी शब्द एक कैसे हो सकते हैं? कदापि नहीं। आप्लृधातु के लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन का रूप **'आपः'** बनता है। इसीप्रकार टुओश्विधातु के लुङ् म० पु० एक० का रूप **'अश्वः'**, √णु स्तुतौ के लोट् उ० पु० एक० का रूप **'नवानि'**, √असु क्षेपणे के लोट् म० पु० एक० का रूप **'अस्य'** बनता है। आपः, अश्वः आदि सुबन्त के भी रूप हैं। इन तिङन्त एवं सुबन्तों का वर्णानुक्रम समान होने मात्र से क्या कोई बुद्धिमान् इन्हें एक ही शब्द मानने का दुस्साहस कर सकता है? कभी भी नहीं। इसीप्रकार तिङन्त एवं कृदन्त में समान दिखने वाला शब्द निरुक्त में भी मिलता है। निरु० ५.३ में व्याख्यात ''अक्षाः'' (=व्याप्त हुआ, निवास किया, चला गया) शब्द √अशूङ्, √क्षि, √क्षर् धातुओं का लुङ् लकार सम्बन्धी छान्दसरूप हैं। निरु० ९.७ में व्याख्यात ''अक्षाः'' (=पासें)

शब्द कृदन्त है। 'अक्षाः' शब्द के उक्त विभिन्न अर्थों में निर्वचन भी विभिन्न ही होंगे, न कि एक। अनेक निर्वचनों का समुच्चय ही मानना पड़ता है। सफेद गुण का वाचक 'श्वेतः' शब्द, तद्गुणवान् अश्वादि का वाचक 'श्वेतः' शब्द और 'श्वा+इतः' का संयोगज 'श्वेतः' शब्द ये तीनों ही वर्णानुपूर्वी से समान होने पर भी एक शब्द नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं। इनका निर्वचन (व्युत्पादन) भी भिन्न-भिन्न करना ही समुचित है। एकत्र इन सभी अर्थों को दिखाने के लिए तीन निर्वचन करने होंगे और उन निर्वचनों का समुच्चय ही होगा।

जब सरूप शब्दों का एकत्व ही सिद्ध नहीं है, तब एक शब्द के अनेक निर्वचन कहना क्या बुद्धिहीनता का द्योतक नहीं है? वर्णानुक्रम की समानता को देखकर एक शब्द समझना बालकपन नहीं तो और क्या है? यथार्थतः एक शब्द के अनेक अर्थ होते ही नहीं, प्रत्येक अर्थ के लिए एक-एक शब्द नियत होता है।[1] वैसे ही किसी भी शब्द के पर्यायवाची शब्द भी नहीं होते हैं, क्योंकि प्रत्येक शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त पृथक्-पृथक् होता है। एक शब्द के अनेक अर्थ और एक अर्थ के अनेक शब्द (पर्यायवाचीशब्द) होते हैं, ऐसा कहना एक अत्यन्त स्थूल या सामान्य कथन है। यह कोई शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है। यास्कादि आचार्य भी इसी सामान्यता से कई बार कथन करते हैं। तद्यथा— **"एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम्। अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः"** (निरु० ४.१)। **"बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति। तद्यथा— इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः। कन्दुः, कोठः, कुसूलः इति। एकश्च शब्दो बह्वर्थः। तद्यथा— अक्षाः, पादाः, माषा इति"** (म० भा० १.३.१)। अस्तु।

अनेक शब्दों या अनेक निर्वचनों का एकत्र समुच्चय ही हो सकता है। इस समुच्चयत्व को न समझने के कारण अल्पज्ञ विद्वान् यास्क पर अनेक अनर्गल आक्षेप करते हैं। जैसे पागलव्यक्ति सबको पागल ही समझता है, वैसे ही कुछ आधुनिक लोग अनभिज्ञता या व्यर्थ के अभिमान के कारण आप्तपुरुष एवं प्रामाणिक आचार्य यास्क पर अपलाप करते हैं। शास्त्र का विषय इनकी बुद्धि में प्रवेश कर लिया तो ठीक, नहीं तो शास्त्र का गूढ विज्ञान भी इनके लिए प्रलाप दीखता है। शास्त्र में प्रवेश करने के लिए प्राथमिक योग्यता (व्याकरण का ज्ञान) प्राप्त होते ही आधे अधूरे भाषाज्ञान से प्रामाणिक ग्रन्थ को परखने लगते हैं और अनेकों दोष निकालते हैं। अपने अज्ञानमय कार्य को शोधकार्य मानते हैं। इससे बढ़कर अपलापपन का और क्या

१. प्रत्यर्थं शब्दा अभिनिविशन्ते...एतस्मात् कारणात् नैकेन शब्देनानेकस्याभिधानं प्राप्नोति (म०भा०१.२.६४)।

उदाहरण हो सकता है। अस्तु। अभी तक हमने सप्रमाण जान लिया है कि निरुक्त के निर्वचनों में प्रयुक्त 'वा', 'अपि वा', 'अथवा' आदि शब्द विभिन्न सरूप शब्दों की व्युत्पत्तियों के समुच्चय के लिए ही प्रयुक्त हैं।

३. प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता—

१. निरुक्त निर्वचनों के माध्यम से वैदिक शब्दों के अर्थों का बोध कराने के लिए प्रणीत ग्रन्थ है। यह एक प्रामाणिक वेदाङ्ग है। निर्वचन करने के लिए यास्क ने कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। परन्तु कुछ व्याख्याता निर्वचनों की उपेक्षा करके केवल सिद्धान्तभाग अर्थात् अध्याय १,२ एवं ७ की व्याख्या करते हैं। जिन निर्वचनों के बोध केलिए सिद्धान्त बनाये गये हैं, उन्हें ही छोड़ देते हैं। सम्पूर्ण निरुक्त की व्याख्या करने पर भी निर्वचनों के प्रति उपेक्षाभाव देखा जाता है। जबकि इन निर्वचनों में ही बहुत कुछ भाषाविज्ञान, व्याकरणविज्ञान, व्याकरण की पूर्णता, वेदार्थ को समझने की ऊहाशक्ति का स्रोत आदि विद्यमान हैं। अतः इस ग्रन्थ में निरुक्त के समस्त निर्वचनों की व्याख्या की गयी है। यद्यपि इन निर्वचनों के सम्बन्धी अनेकों विवेच्य विषय हैं, जिन्हें हम अपने निरुक्तभाष्य में प्रकट करेंगे। ग्रन्थ की मर्यादा को देखते हुए यहाँ विशेष विवेचन नहीं किया गया है।

२. निरुक्त के पठन-पाठन के समय प्रवाह के कारण अनेकों निर्वचन गृहीत नहीं होते हैं। अतः इस ग्रन्थ में सभी निर्वचनों को पृथक् करके व्याख्या की गयी है। जिससे निर्वचनों के बोध में सरलता हो।

३. निर्वचनों का मूलभाग व्याख्यानभाग से पृथक् रखा गया है, जिससे कण्ठस्थीकरण में सुविधा हो। इस ग्रन्थ में १,२०९ निर्वचनों का व्याख्यान किया गया है।

४. प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय आदि का विभाग और व्युत्पत्ति का प्रकार दिखाया गया है।

५. निघण्टु में पठित शब्दों का व्याख्यान जानने के लिए मूल में निर्वाच्य शब्दों को '*' इस चिह्न से चिह्नित किया गया है। ५५८ नैघुण्टुक पद यास्क के द्वारा व्याख्यात हैं। साथ में व्याख्या या टिप्पणियों में यह भी दिखाया गया है कि वह शब्द निघण्टु में किस-किस अर्थ में पठित है।

६. यास्क के द्वारा वैदिक शब्दों के जो निर्वचन और अर्थ दिखाये गये हैं, वे ही अन्तिम व्याख्यान नहीं हैं। यतोहि आचार्य ने प्रायः आधिदैविक और आधिभौतिक परक ही व्याख्यान किये हैं। अतः उससे भिन्न आध्यात्मिक परक आदि

भी निर्वचन या अर्थ हो सकते हैं। इसके लिए स्कन्द, सायण, दयानन्द आदि वेदभाष्यकारों के निर्वचनों और अर्थों को भी टिप्पणियों में दिखाया गया है। यास्क द्वारा अन्यत्र कृत भिन्नार्थों को भी दिखाया गया है। जिससे यह ज्ञात हो सके कि प्रकरणवश विभिन्न निर्वचन या अर्थ किये जा सकते हैं। तद्यथा– ऋषिः (२.११), मरुत्वान् (४.८), पियारुम् (४.२५), सरमा (११.२४), विषम् (१२.२६) आदियों को देखें।

७. एकाधिक स्थलों पर आये हुए निर्वचनों के स्थलों को भी दिखाया गया है।

८. विधवा (३.१५), उर्वशी (५.१३) आदि कुछ शब्दों की व्याख्या लोग प्रायः विकृत मनोभाव से करते हैं। परन्तु इस व्याख्या में ऐसे शब्दों की व्याख्या यथोचित की गयी है।

९. अनेकों महत्वपूर्ण विषय टिप्पणियों में प्रस्तुत किये गये हैं।

१०. इस ग्रन्थ में व्याख्यात नैर्वचनिक शब्दों को अर्थ के साथ परिशिष्ट (७.१) में दिया गया है। यह केवल निर्वचनों की सूची नहीं है, अपितु विषयप्रवेशिका और वेदार्थप्रवेशिका है। यदि इन शब्दों के अर्थों को स्मृतिपथ पर सम्यक्तया स्थापित करें तो वेदार्थ में गति बढेगी। इस सूची में '*' इस चिह्न से निघण्टु में पठित शब्दों को दिखाया गया है।

११. मन्त्रों के व्याख्यान में यास्क ने कुछ ही शब्दों का निर्वचन किया है, शेष मन्त्रस्थ शब्दों का अर्थमात्र लिख दिया है। पर यास्क के अर्थीकरण से भी निर्वचनों का द्योतन होता है। ऐसे वैदिक शब्दों को यास्कीय अर्थों के साथ सूचीबद्ध कर परिशिष्ट (७.२) में जोड़ा गया है। जिनके अर्थों से निर्वचन का संकेत मिलता है, उन शब्दों को '*' इस चिह्न से चिह्नित किया गया है। इसी परिशिष्ट में तिङन्त पदों को एक विशेष चिह्न (✓) से चिह्नित किया गया है, जिससे तिङन्तपदों (धातुओं) का यास्ककृत अर्थ व धातुओं की अनेकार्थता का ज्ञान हो सके।

१२. निघण्टु एवं पाणिनीय धातुपाठ में अपठित नैरुक्त धातुओं को भी परिशिष्ट (७.३) में संगृहीत किया गया है।

१३. यास्क के द्वारा प्रदर्शित धातु, धातुओं के कार्य (आत्मनेपद, विकरण आदि गणकार्य[1]) और धात्वर्थों को पाणिनीय धातुपाठ से तुलना करने के लिए यास्कीय एवं पाणिनीय धातुओं का संग्रह कर परिशिष्ट (७.४) में संयुक्त किया गया है। साथ में उसमें यह भी संकेतित किया गया है कि दोनों आचार्यों के धात्वर्थों में

१. गणकार्य की भिन्नता को पहले 'विकरणव्यत्यय' (४.१५) शीर्षक प्रविभाग में दिखाया गया है।

कितनी समानता है और कितनी असमानता है।

१४. शब्दव्युत्पत्ति की विविधता को भी टिप्पणियों में दिखाया गया है। इन विविधताओं को संगृहीत कर परिशिष्ट (७.५) में दिया गया है, जिससे तुलनात्मक अध्ययन करने वालों को सुविधा हो।

१५. आवश्यक होने पर उणादि प्रक्रिया[1] से नये प्रत्ययों का ऊह कर व्युत्पत्तियाँ दिखायी गयी हैं। इन नये प्रत्ययों को भी सूचीबद्ध कर परिशिष्ट (७.६) में संलग्न किया गया है।

१६. अर्थबोध के लिए कोष, व्याकरण, निरुक्त आदि ग्रन्थों के समान लोक में स्वीकृत कुछ सिद्धान्त (न्याय) भी परम उपयोगी हैं। जिनके ज्ञान के विना अर्थ अनर्थ हो जाता है। अतः उनको जानना अनिवार्य है। इसलिए एतद्विषयक लेख (वेदार्थ और भाषाविज्ञान के शाश्वत नियम) को भी परिशिष्ट (७.७) में संलग्न किया गया है।

१७. भूमिका में आचार्य यास्क द्वारा प्रतिपादित और उन्हें अभीष्ट निर्वचन-सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर उनकी विस्तृत व्याख्या की गयी है। प्रत्येक सिद्धान्त के उदाहरणों का भी संग्रह कर दिखाया गया है।

१८. भूमिका में प्रत्यक्षवृत्ति आदि त्रिविध वृत्तियों के स्वरूप, अर्थ आदियों का स्पष्टतया व्याख्यान कर प्रत्येक वृत्ति के अनेकों उदाहरण दिये गये हैं।

१९. निर्वचनों में प्रयुक्त 'वा' आदि शब्द सन्दिग्धार्थक नहीं हैं, अपितु समुच्चयार्थक हैं, इसे प्रबल प्रमाणों के साथ भूमिका में प्रतिपादन किया गया है।

२०. एक शब्द के अनेक अर्थ और अनेक निर्वचन कदापि नहीं हो सकते, अपितु प्रत्येक अर्थ के लिए तद्वाचक शब्द एवं उसका निर्वचन एक ही होता है। शब्द (सरूप शब्दों) के जितने अर्थ होते हैं, उतने ही निर्वचन होंगे और उन निर्वचनों से सिद्ध सभी सरूप शब्द परस्पर निरपेक्ष भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र शब्द हैं। वर्णानुक्रम के समान होने के कारण अनेक शब्दों को एक शब्द समझा जाता है। इस सिद्धान्त को इदंप्रथमतया सप्रमाण एवं विस्तृत प्रतिपादन किया गया है।

४. कृतज्ञता का ज्ञापन – जिस परमात्मा की असीम अनुकम्पा से मेरा यह जीवन अनुप्राणित होकर वैदिक पथ पर अग्रसर हो रहा है, उस परमपिता को अनन्तानन्त नमोवाक श्रद्धा के साथ समर्पित करना अपना सर्वप्रथम कर्तव्य समझता हूँ। जिनके अतुल्य प्रेम, वात्सल्य आदि से इस जीवनयात्रा को वैदिक परम्परा

१. बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः ....प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ।। (म०भा०३.३.१)।

के लिए समर्पित कर पाया हूँ, ऐसे माता-पिता (श्रीमती स्वराज्यलक्ष्मी जी, स्व०श्रीमान् लक्ष्मीनारायण जी) को हृदय की गहराईयों से कोटिशः कृतज्ञता का ज्ञापन करना मेरा परम कर्तव्य है। वैदिक वाङ्मय के अगाध वैदुष्य से सम्पन्न समादरणीय पूज्य गुरुवर (स्व०) आचार्य श्री विजयपाल विद्यावारिधि जी को कुछ सीमित शब्दों में कृतज्ञता को प्रकट करना तो कथमपि उचित न होगा। आपके ही असीम अनुग्रह से मुझ जैसे अकिञ्चन को मात्र ५से ६वर्ष के अन्तेवासित्व से शिक्षा, व्याकरण से लेकर सभी वेदाङ्ग, दर्शन आदि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के ज्ञान का स्रोत प्राप्त हुआ है। जिसमें मैं अहर्निश आप्लावित होता हुआ महदानन्द को प्राप्त करता रहता हूँ। आज मुझमें जो कुछ भी ज्ञानादि का सामर्थ्य है, वह सब कुछ आप की ही कृपा है, प्रसाद है। इसी वैदिक परम्परा को आगे बढाते हुए मैं अपने सम्पूर्ण जीवन को सर्वात्मना समर्पित करने को ही उनके प्रति यथार्थ कृतज्ञता समझता हूँ। इसीप्रकार मैं अपने सभी समादरणीय गुरुजनों, आचार्यों, प्रेरकों को भी अन्तरात्मा की गहराईयों से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस ग्रन्थ के लेखन में प्रमाणभूत आचार्य मुनिवर यास्क से लेकर निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग, स्कन्दमहेश्वर एवं अर्वाचीन संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याकार सभी वैदिक विद्वानों को श्रद्धा के साथ अनेकानेक कृतज्ञभावों को अभिव्यक्त करना मेरा अनिवार्य कर्तव्य है। जिनके ग्रन्थों की सहायता से यह ग्रन्थ प्रणीत हुआ है।

इस ग्रन्थ का लेखन कार्य मार्च– २०१६ को आरम्भ हो गया था। परन्तु अनेकानेक अपरिहार्य विघ्न-बाधाओं के कारण मध्य-मध्य में लेखन का कार्य अवरुद्ध होता रहा है। गुरुकुल में पठन-पाठन, प्रबन्धन, आर्थिक व्यवस्था आदि का करना, शोधलेखों का लिखना, अस्वस्थता आदि के कारण लेखन की गति मन्द-मन्द चलती रही। जब नये छात्रावास का निर्माणकार्य आरम्भ हुआ तो लगभग एक वर्ष तक लेखनकार्य पूरा ही अवरुद्ध हो गया था। परमदयालु ईश्वर की कृपा से इन सभी विघ्नों को पार कर इस ग्रन्थ को समाप्त करते हुए तथा पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए आज वर्णनातीत आनन्द की अनुभूति हो रही है। सम्पूर्ण निरुक्त की शोधपूर्ण व्याख्या को भी प्रस्तुत करने हेतु तीव्र प्रयत्न चल रहा है।

इस ग्रन्थ-लेखन के समापन वेला में मैं अपने पूर्व अन्तेवासी, सभी वेदाङ्ग एवं दर्शनशास्त्रों का अध्ययन किये हुए सुयोग्य स्नातकों के सहयोग को विस्मृत नहीं कर सकता। आचार्य वेदमित्र, आ० धर्मेन्द्र, आ० उषर्बुध, आ० सत्यश्रवा, आ० विश्वश्रवा और ब्र०अजय ये सभी अपने अध्ययनकाल में पठन-पाठन के साथ मेरे हस्तलिखित रफ़ प्रतियों को समझते हुए टंकणकार्य (टाईपिंग) और संशोधन (प्रूफरीडिंग) कार्य

को पूर्ण मनोयोग के साथ किया है। यदि इनका सहयोग प्राप्त न होता तो इसके प्रकाशन में और अधिक समय लग सकता था तथा मुझे भी अधिक परिश्रम करना पड़ता। ये सभी स्नातक अपनी जीवनयात्रा में सफल होते हुए, वैदिक परम्परा एवं धर्म के रक्षक बनें। ईश्वर इन्हें सर्वविध कल्याण, सुख, समृद्धि एवं सत्प्रेरणा प्रदान करते रहें। यही इनके लिए मेरे आशीर्भाव हैं।

परिमल पब्लिकेशन्स के कुशल सञ्चालक श्रीमान् परिमल जोशी जी ने इस ग्रन्थ को उत्साह से अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक प्रकाशित किया है। अतः वे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों को गुणवत्ता के साथ प्रकाशित कर उन्हें पूरे भारतवर्ष के जिज्ञासु पाठकों तक पहुँचाने रूपी अत्यन्त परिश्रमसाध्य एवं महनीय कार्य को भी परिमल जी बड़े ही सरलतया तथा स्वाभाविकतया करते हैं। आपके इस कार्यशैली को देखकर आश्चर्य के साथ अत्यन्त प्रसन्नता होती है। ईश्वर आपको इसीप्रकार उन्नत शिखर तक पहुँचने का पूर्ण सामर्थ्य और उत्साह प्रदान करें। यही ईश्वर से हमारी प्रार्थना है।

५. निवेदन— इस ग्रन्थ के लेखन में एवं मुद्रण में पूरा ध्यान रखा गया है कि यह संस्करण शुद्ध एवं अधिकतम उपयोगी हो। पुनरपि मानवीय भूल-चूक से यदि कुछ अशुद्धियाँ शेष रह गयी हों या कोई विषय विचारणीय, परिवर्तनीय और संवर्धनीय हों तो, विद्वद्वृन्द तथा निरुक्त के अध्येता-अध्यापक से विनम्र निवेदन है कि वे उन अशुद्धि आदियों की ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट करने का कष्ट करें। उन पर विचार अवश्य किया जायेगा और समुचित प्रतीत होने पर अग्रिम संस्करण में आभार के साथ संशोधन किया जायेगा।

वेदानुयायी

आचार्य उदयन मीमांसक

आश्विन, शुक्ल, विजयदशमी—२०७८

(१५.१०.२०२१)



निरुक्ताध्ययनस्य प्रयोजनानि

१. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।(निरु०१.१५)
२. [निरुक्ततः] अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च। (निरु०१.१५)
३. अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते।(निरु०१.१७)
४. अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम्। (निरु०१.१७)
५. बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः।(निरु०१.२०)

॥ ओ३म् ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः पादः [खण्डम् – १]

१. निघण्टवः निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति– छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः, ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः। अपि वाऽऽहननादेव स्युः, समाहता भवन्ति। यद्वा समाहृता भवन्ति। (१.१)

द्वितीयः पादः [खण्डम् – १]

२. निपाताः (निपाताः) उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। (१.४)

१. 'गौः' से 'देवपत्न्यः' तक पठित शब्दों को 'निघण्टु' क्यों कहा जाता है? ये सभी शब्द वेदमन्त्रों के दुरूह अर्थ को निश्चितरूप से बोध कराने वाले हैं, क्योंकि वे दुरूढ शब्द वेदमन्त्रों से चुन-चुन कर वेदार्थबोध के लिए सम्यक्तया नियमबद्धता से पठित हैं, इस पाठक्रमविशेष से वे 'निगन्तु' अर्थात् वेदार्थ के निश्चायक व बोधक होते हुए ही इस निगमन के कारण **'निघण्टु'** कहलाते हैं; ऐसा औपमन्यव आचार्य का [भी] कथन है [निगमात्–निगमनात्–निघण्टवः, नि+√गम्लृ गतौ (१.७०९)+तुन्[१] > निगन्तु > निघन्तु > निघन्टु > निघण्टु]। अथवा ये शब्द भलीभांति मर्यादापूर्वक पञ्चाध्यायी में आहत (पठित)[२] हैं, इसलिए भी इस समाहनन से **निघण्टु** कहलाते हैं। [समाहननाद् निघण्टवः। सम्+आ+√हन हिंसागत्योः (२.२)+तुन् > समाहन्तु > निहन्तु > निघन्तु > निघण्टु]। अथवा वेदों से कुछ विशिष्ट शब्द एकत्रित किये गये हैं, इसलिए भी इस समाहरण से ये शब्द **निघण्टु** कहलाते हैं। [समाहरणात् निघण्टवः। सम्+आ+√हृञ् हरणे (१.६४०)+तुन् > समाहर्तु > निहर्तु > निघर्तु > निघण्तु > निघण्टु]।[३]

२. [प्रकरणशः जो] विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, वे **निपात** कहलाते हैं

१. सि-तनि-गमि-मसि-सचि-अवि-धाञ्-क्रुशिभ्यस्तुन् (उणा०१.६९)।
२. आहननवन्तः = वचनवन्तः (निरु०४.१५)।
३. नियतक्रमेण निश्चितोद्देश्येन घण्यन्ते शब्द्यन्ते पठ्यन्ते वैदिकशब्दविशेषा यत्रेति निघण्टुः

[खण्डम् – २]

३. आचार्यः आचार्यः कस्माद्? आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा। (१.४)

४. कुल्माषाः कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति। (१.४)

[खण्डम् – ३]

५. वयाः वयाः शाखाः— वेतेः, वातायना भवन्ति। (१.४)

[निपतन्तीति निपाताः। नि+√पत्लृ गतौ (१.५८४)+ण[1]]।

३. किस कारण से आचार्य है? आचार्य विद्यार्थियों में सदाचार को ग्रहण कराता है, इसीलिए वह **आचार्य** है [आचारयतीति आचार्यः। आचार+णिच् > आचारि+ यत्> आचार्+य > आचार्य / आङ्+√चर गतौ भक्षणे च (१.३७६, अन्तर्भावितण्यर्थः)+ण्यत् > आचार्य]। सूक्ष्मातिसूक्ष्म, निगूढ ज्ञातव्य पदार्थों का सञ्चय करता है, इसीलिए भी **आचार्य** है [आङ्+√चिञ् चयने (५.५)+डार्यत् > आ+च्+आर्य > आचार्य]। और विद्यार्थियों में बुद्धि (ज्ञान-विज्ञान) का सञ्चय भी करता है, अत एव **आचार्य** है [आङ्+√चिञ्+डार्यत् > आ+च्+आर्य > आचार्य]।

४. प्रत्येक कुल में जो खाद्य पदार्थ अवश्य रहते हैं, वे चना आदि **कुल्माष** कहलाते हैं [कुल+√षद्लृ विशरणगति॰ (१.५९३)+अच् > कुलसद > कुल्मषद > कुल्माष / कुल+√सद्+ड > कुल्म+स्+अ > कुल्मस > कुल्माष]।

५. 'वयाः' का अर्थ 'शाखाः' है, यह शब्द ''वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसन-खादनेषु'' (२.४१) धातु से बनता है, क्योंकि शाखाएँ **(वयाः)** वायु से चलने वाली होती हैं [√वी+असुन् > वयस् > वयाः]। स्कन्द स्वामी ''वातायना भवन्ति'' को दूसरा निर्वचन मानते हैं— ''वातायना भवन्तीति द्वितीयं निर्वचनम्। वातोऽयनो यासां वातेन याश्चाल्यन्त इत्यर्थः'' [वात+अयन > वातायनाः > वतायनाः > वयनाः > वयाः]।

[नि+√घण शब्दे (काश॰धातु॰१.२०६)+तुन् > निघण्टु]।

१. ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः (अष्टा॰ ३.१.१४०), अन्तर्निहितमर्थं नितरां पातीति निपातः। निपातः= यो नितरां पाति सः [गृहस्थो जनः](दया॰, ऋ॰४.५५.३) [नि+√पा रक्षणे (२.४९)+क्त (उणा॰३.८९) > निपातः]।

६. शाखाः* शाखाः खशयाः, शक्नोतेर्वा। (१.४; ६.३२)

तृतीयः पादः [खण्डम् –१]

७. अद्य अद्य अस्मिन् द्यवि। (१.६)

८. द्युः* द्युरित्यह्नो नामधेयम् (निघं॰१.९.२)—द्योतत इति सतः। (१.६)

९. श्वः श्व उपाशंसनीयः कालः। (१.६)

---

६. आकाश में सोने (रहने) के कारण (वृक्ष की शाखाएँ) **शाखा** कहलाती हैं [खे=आकाशे शेरते इति खशयाः। ख+√शीङ् स्वप्ने (२.२५)+अच् > खशया > खशा > शाख > शाखा]। (आकाश में रहने पर भी आकाश से और भूमि से अपने भोजन को ग्रहण करने में) समर्थ होती हैं, इसीलिए भी **शाखा** है [√शक्लृ शक्तौ (५.१६)+अच् > शक > शख > शाखा]।[1]

७. आज के दिन के काल को **अद्य** कहते हैं [अ (इदम्)+स्मिन्+द्यु+ङि > अ+द्यु > अद्य / अस्मिन्+द्यवि > अ+द्य > अद्य]।[2]

८. द्योतते इति सतः (=द्योतनात्) अह्नो द्युरिति नामधेयम् = प्रकाशयुक्त होने से दिन का नाम **'द्यु'** है [√द्युत दीप्तौ (१.४९३)+डुन् > द्युः]।[3] 'सतः' शब्द कर्तृकारक का अभिधायक है।

९. सामीप्यता से अच्छी तरह आश्वसनीय, चाहने योग्य, अपेक्षित काल ही **'श्वः'** (आगामी काल =कल) कहलाता है [(उप+आ+) √शंसु स्तुतौ (१.४८३)+क्वसु > शंस्+वस् > शस्+वस् > श्+वस् > श्वस्]।

---

१. शाखाः अङ्गुलिनाम (निघं॰२.५.१९)।

२. अस्मिन् अहनि = अद्येति पाणिनिः— सद्यः परुत्परार्यैषम॰(अष्टा॰५.३.२२) [इदम्+द्य > अ+द्य > अद्य]।

३. द्युभिः = अहोभिः (यास्कः, निरु॰६.१)। द्यौः = √द्युत दीप्तौ (१.४९३), बाहुलकाद् डोप्रत्ययः (उणा॰२.६८)। द्योतते किरणसम्बन्धात्। यद्वा, √द्यु अभिगमने (२.३३), 'द्युगमिभ्यां डोः' (स॰क॰२.१.१५०) इति श्रीभोजदेवः। अभिगच्छन्त्यस्मिन् स्वं स्वमभिमतप्रदेशं प्राणिनः। 'गोतो णित्'(अष्टा॰७.१.९०) इति [णित्वाद्] वृद्धिः।... केचित् द्युरिति पठन्ति। तदा 'डिच्च' इत्यधिकारे 'द्युद्रुभ्यां च'(स॰क॰२.१.३४) इति भोजसूत्रेण कुप्रत्ययः। 'द्यु अभि-गमने'(२.३३)। द्योतेरेव वा 'अश्र्वादयश्च'(उणा॰५.२९) इति डुन्प्रत्ययान्तो निपातितो द्रष्टव्यः। उभयत्र पूर्वोक्त एवार्थः(देव॰, नि॰ नि॰१.९.२)।

१०. ह्यः ह्यो हीनः कालः। (१.६)

११. अद्धुतम्*(अद्‌भुतम्) अभूतम्, इदमपीतरद् अद्‌भुतमभूतमिव। (१.६)

१२. अन्यः अन्यो नानेयः। (१.६)

१३. चित्तम्* चित्तं चेततेः। (१.६)

[खण्डम् – २]

१४. वरः वरो वरयितव्यो भवति। (१.७)

---

१०. बीता हुआ, त्यागा हुआ काल ही **'ह्यः'** कहलाता है [√ओहाक् त्यागे (३.८) / √ओहाङ् गतौ (३.७)+ड्यसुँ > ह्यस् > ह्यः]।

११. जो (अभी तक) उत्पन्न नहीं हुआ, घटित नहीं हुआ, अनागत है (प्रथमवार उत्पन्न), वह (महान् ही) **अद्‌भुतम्** है[1] [न+√भू सत्तायाम् (१.१)+क्त > अ+भू+त > अभूत > अद्‌भूत > अद्‌भुत]। लोक में आकस्मिक, आश्चर्यजनक अर्थ में प्रचलित 'अद्‌भुत' शब्द भी 'अभूत' जैसा ही होता है अर्थात् पहिले कभी हुआ नहीं है, पर अब आकस्मिक हो गया है।

१२. जो [अपनों में] लाने योग्य नहीं है अर्थात् विश्वसनीय नहीं है, वह **'अन्य'** है [नञ्+(आङ्)+√णीञ् प्रापणे (१.६४२)+यत् > अ+ने+य > अ+न्+य > अन्य]।

१३. चेत (बोध) कराने के कारण ही **'चित्त'**[2] कहलाता है [√चिती संज्ञाने (१.३२)+क्त[3] > चित्त]।[4]

१४. वरण (स्वीकार) करने व चुनने योग्य श्रेष्ठ, मांगने योग्य ही **'वर'** कहलाता है [व्रियत इति वरः। √वृञ् वरणे (५.८) / √वृङ् सम्भक्तौ (९.४२)+अप् > वृ+अ > वर्+अ > वर]।

---

१. अद्धुतम् महन्नाम (निघं॰३.३.२३)।
२. चित्तम् प्रज्ञानाम (निघं॰३.९.४)। चित्तानि=प्रज्ञानानि (निरु॰९.३३)।
३. अञ्चिघृसिभ्य क्तः (उणा॰३.८९)।
४. चित्तम् प्रज्ञानाम (निघं॰३.९.४)।

१५. मघम्* मघमिति धननामधेयम् (निघं॰ २.१०.१)– मंहतेर्दानकर्मणः (निघं॰ ३.२०.१०)। (१.७)

१६. दक्षिणा दक्षिणा दक्षतेः समर्द्धयतिकर्मणः– व्यृद्धं समर्द्धयतीति। अपि वा प्रदक्षिणागमनाद् दिशमभिप्रेत्य। (१.७)[1]

१७. दक्षिणा दिग् (दक्षिणा) दिग् हस्तप्रकृतिः। (१.७)

---

१५. **'मघम्'** यह धन का नाम है[2], क्योंकि यह शब्द दानार्थक "मंह-धातु"[3] से बनता है अर्थात् जो धन दान में दिया जाता है, वह **मघम्** कहलाता है [मह्यते दीयत अर्थिभ्य इति मघम्। √मंह्+क > मह्+अ > मह > मघ]।

१६. **'दक्षिणा'** शब्द सम्मृद्ध्यर्थक "दक्षधातु"[4] से बनता है, क्योंकि विगत सम्मृद्धिवाले (निर्धन) को (प्रचुर) दक्षिणा सम्मृद्ध बना देती है अथवा यज्ञ को पूर्ण कर यजमान (दाता) को समृद्ध बना देती है [√दक्ष+इनन्[5] > दक्षिणा]। अथवा (यज्ञों में) दक्षिण दिशा से प्राप्त होने से भी, दक्षिण दिशा के कारण (ऋत्विजों को दिये जाने वाले हिरण्य, गौ, अश्व, वस्त्र आदि) **'दक्षिणा'** कहलाते हैं अथवा ऋत्विजों को गाय आदि को देकर यजमान अग्नि की प्रदक्षिणा करता है। इसी प्रदक्षिणा गमन के कारण गाय आदि का नाम **'दक्षिणा'** है [दक्षिणा (दिक्) > दक्षिणा (यज्ञीय दान)[6], दक्षिणा+आच् > दक्षिणा][7]।

१७. दक्षिणो हस्तः प्रकृतिर्मूलकारणं यस्याः सा **दक्षिणा दिक्**– दक्षिण दिशा को **'दक्षिणा दिक्'** इसलिये कहते हैं क्योंकि वह दक्षिण (=दाहिने) हाथ की ओर रहती

---

१. का दक्षिणा? गवादय इति। दक्षिणा नाम दक्षतेरुत्साहकर्मणः। दक्षिणा उत्साहिका इति (मी॰शा॰भा॰१०.३.५७)।
२. मघम्=धनम् (निरु॰४.१५)। मघानि=मंहनीयान्यस्माभिर्दीयमानानि हवींषि (सायणः, ऋ॰३.१९.१)।
३. पाणिनीय धातुपाठ में तो मंह्धातु वृद्धि अर्थ में है– √महि वृद्धौ (१.४२२)। मंहते दानकर्मा (निघं॰३.२०.१०)।
४. दक्षतेरुत्साहकर्मण एतद्रूपम्, उत्साहकरी मनुष्याणाम् (स्कन्दः, ऋ॰ ६.६४.१)। दक्षमुत्साहनं करोतीति दक्षिणा, स्तोतृभ्यो देया (सायणः, ऋ॰२.११.२१)। दक्षन्ते वर्धन्ते यया सा [दक्षिणा] (दया॰, ऋ॰१.१८.५)।
५. द्रुदक्षिभ्यामिनन् (उणा॰२.५१)।
६. दक्षिणाशब्देन क्वचिद् यज्ञोऽपि लक्ष्यते। यथा– दक्षिणाम्=दक्षिणयात्र तद्वान् यागो लक्ष्यते। दक्षिणासम्बद्धं यागम् (स्कन्दः, ऋ॰६.३७.४)।
७. तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम् (द्र॰म॰भा॰४.१.४८, न्याय॰२.२.६१)। दक्षिणादाच् (अष्टा॰५.३.३६)।

१८. दक्षिणो हस्तः दक्षिणो हस्तः – दक्षतेरुत्साहकर्मणः। दाशतेर्वा स्याद् दानकर्मणः। (१.७)

१९. हस्तः हस्तो हन्तेः– प्राशुर्हनने। (१.७)

२०. भगः* भगो भजतेः। (१.७; ३.१६; १२.१३)

२१. बृहद्* बृहदिति महतो नामधेयम् (निघं॰ ३.३.४)– परिवृढं भवति। (१.७)

है[१] [दक्षिणः (हस्तः) > दक्षिणा (दिक्)]।

१८. दाहिना हाथ **'दक्षिणः'** इसलिए कहलाता है, क्योंकि वह उत्साहार्थक ''दक्ष'' धातु[२] से बनता है [दक्षते कार्येषु उत्सहते इति दक्षिणः। √दक्ष्+इनन्]। अथवा दानार्थक दाशृधातु से बनता है[३] [दाश्यते दीयतेऽनेनेति दक्षिणो हस्तः। √दाशृ+सिनन् > दाष्+सिन > दाक्+षिण > दाक्षिण > दक्षिण]।

१९. **'हस्त'** शब्द ''हन-धातु'' से बनता है, क्योंकि वह मारने एवं गति करने में शीघ्र व्यापृत होने वाला है [मारणे गतौ च प्रकृष्टत्वेन व्यापनशीलत्वात्, शीघ्रकारित्वाद् हस्तः। √हन हिंसागत्योः (२.२)+तन्[४] > हन्+त > हस्त]।[५]

२०. सेवनीय होने के कारण (धनादि)[६] **'भग'** कहलाते हैं [भज्यते सेव्यते भोगार्थिभिरिति भगः। √भज सेवायाम् (१.७२४)+घ > भग]।[७]

२१. **'बृहद्'** यह 'महान्' का ही दूसरा नाम है, क्योंकि जो महान् होता है,

---

१. तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम् (द्र॰म॰भा॰४.१.४८, न्याय॰२.२.६१)। दक्षिणादाच् (अष्टा॰५.३.३६)।
२. दक्षधातु पाणिनीयधातुपाठ में उत्साह के अर्थ में पठित नहीं है, अपितु वृद्धि, शीघ्र, गति, हिंसा अर्थों में पठित है– √दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च (१.४०३), √दक्ष गतिहिंसनयोः (१.५२१)।
३. दक्षिणेन = दाशतेर्दानार्थस्य, दक्षिणो हस्तः, दीयत एतेन देवपितृमनुष्येभ्यः, तेन दक्षिणेन हस्तेन (वर॰, नि॰स॰, ३.६७)।
४. हसिमृग्रिण्वामि॰ (उणा॰३.८६) इति बाहुलकाद् हनधातोस्तन् प्रत्ययः।
५. हस्तः = यो हसति सः, हर्षमुख (दयानन्दः, ऋ॰२.३३.७)। हस्ताभ्याम् = हस्त इव वर्तमानाभ्यां धारणाकर्षणाभ्याम् (दया॰, यजु॰६.९)।
६. भगः धननाम (निघं॰२.१०.१०)। भग शब्द के 'अन्धः, आदित्यः' अर्थ भी हैं– द्र॰ निरु॰ १२.१४।
७. भगस्य = भागधेयस्य (निरु॰९.३१)।

२२. सुवीराः (सुवीराः) वीरवन्तः, कल्याणवीरा वा। (१.७)

२३. वीरः वीरो वीरयत्यमित्रान्। वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। वीरयतेर्वा। (१.७)

२४. सुरुचः सुरुच आदित्यरश्मयः– सुरोचनात्। (१.७)

वह चारों ओर से बढ़ा हुआ होता है [√बृह / √वृह वृद्धौ (१.४८८)+अति[१] > बृहद् / वृहद् > बृहद्]।

२२. वीरपुत्र वाले **'सुवीराः'** कहलाते हैं। कल्याणकारी पुत्र वाले भी **'सुवीराः'** कहलाते हैं [प्रशस्ताः शोभना वीरा पुत्रपौत्रादयो येषां ते सुवीराः][२]।

२३. जो शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पाता है, भयभीत करता है या दूर तक भगाता है वह **'वीर'** कहलाता है [शत्रून् निःशेषेण विदूरं विविधं वा ईरयति गमयति कम्पयतीति वीरः। वि+√ईर गतौ कम्पने च (२.८)+अच्]। गत्यर्थक ''वी'' धातु से भी वीर शब्द बनता है अर्थात् जो शत्रुओं के सम्मुख निर्भयता से जाता है, वह **वीर** कहलाता है [√वी गतौ (२.४१)+रक् > वीरः]। जो शत्रुओं पर आक्रमण करता है या पराक्रमयुक्त कार्य करता है वह भी **'वीर'** कहलाता है [√वीर विक्रान्तौ (१०.३२४)+अच्]।[३]

२४. अच्छीतरह प्रकाशशील होने के कारण आदित्य (सूर्य) की रश्मियाँ **'सुरुचः'** कहलाती हैं [सु+√रुच दीप्तावभिप्रीतौ च (१.४९८)+क्विप्[४] > सुरुच्]।[५]

---

१. वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उणा॰२.८५)।
२. सुवीरम् = वीर्याज्जायन्त इति वीराः = पुत्राः शोभनैस्तैरुपेतम् (सायणः, ऋ॰८.५.१०)।
३. वीर = अजति वेद्यं जानाति प्रक्षिपति विनाशयति सर्वाणि दुःखानि वा यः, तत्सम्बुद्धौ। अत्र 'स्फायितञ्चिवञ्चि॰' (उणा॰२.१२) अनेनाजेरक् प्रत्ययः (दया॰, ऋ॰१.३०.५)। वीरः = अजति व्याप्नोति शत्रुबलानि यः [सः वीरः] (दया॰, ऋ॰१.१८.४)। अजति सकला विद्याः प्राप्नोति सः [वीरः] (दया॰, ऋ॰२.३.९)। वीरम् = वीरर्त्विक्कर्तृकात् वीरपुत्रफलत्वाद्वा वीरोऽत्र यज्ञ उच्यते। वीरकर्तृकं वीरपुत्रफलार्थं वास्मद्यज्ञम् (स्कन्दः, ऋ॰१.४०.३)। दारिद्र्यस्य विशेषेण ईरयितारम् गमयितारम् (सायणः, ऋ॰६.५३.२)।
४. सम्पदादिभ्यः क्विप् (वा॰३.३.९४)।
५. सुरुचः = शोभने धर्म्ये कर्मणि रुक् प्रीतिर्यस्य (दया॰, ऋ॰१.१९०.१), सुष्ठु रुचः प्रीतयो येषान्ते (दया॰, ऋ॰४.२.१७, द्र॰ ऋ॰६.३५.४)।

२५. सीमतः सीम इत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमीकर्माणम्।
सीम्नः सीमतः सीमातो मर्यादातः। (१.७)

२६. सीमा सीमा मर्यादा– विषीव्यति देशाविति। (१.७)

[खण्डम् – ३]

२७. ऋच्* ऋग् अर्चनी। (१.८; १३.११)

२८. गायत्रम् गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। (१.८)

२९. शक्वर्यः* शक्वर्य ऋचः– शक्नोतेः। तद् यद् आभिर्वृत्रमशकद्

---

२५. **'सीमतः'** शब्द में 'सीम्' (=सर्व) इस मकारान्त निपात में अनर्थक (स्वार्थिक) 'अ' प्रत्यय की परिकल्पना करनी चाहिए और उसके बाद पञ्चम्यर्थक तसिल्प्रत्यय हुआ है [सीम्+अ (स्वार्थिक)+तस् > सीमतः=सर्वतः]। अथवा मर्यादार्थक 'सीमन्' शब्द के तसिल्प्रत्ययान्त का रूप है, जिसके समानार्थक अन्यरूप ये हैं– **सीम्नः, सीमतः, सीमातः = मर्यादातः**।

२६. **सीमा** का अर्थ 'मर्यादा' है, क्योंकि वह दो देशों (स्थानों) को बांधती है, अथवा पृथक् पृथक् कर देती है [(वि+)√षिवु तन्तुसन्ताने (४.२)+मनिन्[१] > सि+मन् > सिमन् > सीमन्]।[२]

२७. ऋक् का अर्थ अर्चनी है। जिससे स्तुति की जाती है, वह **ऋक्** कहलाती है [ऋच्यते स्तूयतेऽनयेति ऋक्। √ऋच स्तुतौ (६.१९)+क्विप्[३] > ऋच् > ऋक्]।[४]

२८. स्तुत्यर्थक गैधातु से 'गायत्र' शब्द बनता है, जिससे स्तुति की जाती है वह **'गायत्र'** है [गै+अत्रन्[५] > गायत्र]।

२९. **'शक्वर्यः'** ऋचाओं को कहते हैं, क्योंकि वह (शक्वरी शब्द सामर्थ्यार्थक) शकधातु से बनता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसा ही कहा गया है कि– 'इन्हीं ऋचाओं (के

---

१. नामन्सीमन्व्योमन्० (उणा० ४.१५२)।
2. ui Oñno ¤‡'ço LoÇÄÇŒÄÇ®æ±ÆFuo Ìyªoæ Ñ°çoyuo Ìyªç [√षिञ् बन्धने (५.२)+ मनिन् > सीमन्]।
३. क्विप् वचिप्रच्छि० (उणा० २.५८) / सम्पदादिभ्यः क्विप् (वा० ३.३.९४)। अन्येभ्योऽपि दृश्यते (अष्टा० ३.२.१७८) / क्विप् च (अष्टा० ३.२.७६)।
४. ऋक् वाङ्नाम (निघं० १.११.३४)।
५. अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् (उणा० ३.१०५)।

हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते। (१.८)

३०. ब्रह्मा ब्रह्मा सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति– ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। (१.८)

३१. ब्रह्म* ब्रह्म परिवृढं सर्वतः।[१] (१.८)

३२. अध्वर्युः अध्वर्युर् अध्वरयुः– अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्य नेता[२], अध्वरं कामयत इति वा, अपि वाऽधीयाने युरुपबन्धः। (१.८)

ज्ञान) से इन्द्र (जीवात्मा) वृत्र (आसुरीभावों) को मारने में समर्थ हुआ था, यही इन ऋचाओं का शक्वरीत्व (शक्वरीपन) है' [√शक्लृ शक्तौ (५.१६)+वनिप्[३] > शक्वन्+ई[४] > शक्वरी]।[५]

३०. ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् सभी वेदों की विद्या को पढ़ा हुआ होता है, इसलिए वह यज्ञ की सभी क्रियाकलापों को जान सकता है। इसप्रकार श्रुतिज्ञानादि से अन्य ऋत्विजों की अपेक्षा अधिक जानने वाला होता है, विद्याओं में वृद्धि को प्राप्त किया हुआ होता है, इसीलिए वह **'ब्रह्मा'** कहलाता है [√बृह वृद्धौ (१.४८८)+मनिन्[६] > ब्रह्मन्]।

३१. परमात्मा सबप्रकार से (प्रकृति एवं जीव की अपेक्षा अधिक) उन्नत, उत्तम व श्रेष्ठ होता है, इसीलिए वह **'ब्रह्म'** कहलाता है [√बृह वृद्धौ (१.४८८)+मनिन्[६] > ब्रह्मन्]।

३२. **'अध्वर्यु'** का अर्थ है 'अध्वरयु' क्योंकि वह अध्वर (यज्ञ) का संयोजक होता है [अध्वर+√युजिर् योगे (७.७)+डु > अध्वर+युज्+उ > अध्वर+य्+उ > अध्वरयु > अध्वर्यु]। अध्वर (यज्ञ) का याता (नेता), प्रणेता, प्रधानपुरुष वा सम्पादक होने से ऋत्विक् विशेष **'अध्वर्यु'** कहलाता है अथवा जो अध्वर (यज्ञ) का याता (नेता)

---

१. ब्रह्माणि = कर्माणि (निरु० १२.३४)। ब्रह्म=धनस्य (निरु० ६.२२)। ब्रह्म उदकनाम (निघं० १.१२.४), अन्ननाम (निघं० २.७.२५), धननाम (निघं० २.१०.२४)।
२. प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम् (ऋ० १०.४६.४)। तु० सम्राजन्तमध्वराणाम् (ऋ० १.२७.१)।
३. स्नामदि...शकिभ्यो वनिप् (उणा० ४.११४)।
४. वनो र च (अष्टा० ४.१.७)।
५. शक्करी बाहुनाम (निघं० २.४.११)। गोनाम (निघं० २.११.९)।
६. बृंहेर्नोऽच्च (उणा० ४.१४७)।

३३. अध्वरः* अध्वर इति यज्ञनाम (निघं० ३.१७.३)— ध्वरतिर्हिंसाकर्मा[१], तत्प्रतिषेधः। (१.८)

[खण्डम् — ४]

३४. अक्षि अक्षि चष्टेः, अनक्तेरित्याग्रायणः। तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवत इति ह विज्ञायते। (१.९)

= देवों के प्रति प्रेरयिता है, वह 'अध्वर्यु' कहलाता है [अध्वर+(√णीञ् प्रापणे =) √या प्रापणे (२.४२)+कु[२] > अध्वर+या+उ > अध्वरयु > अध्वर्यु]। यजमान के लिए यज्ञ-सम्पादन की कामना करने वाला **अध्वर्यु** कहलाता है [यजमानाय अध्वरं कामयते इच्छति। अध्वर+क्यच्+उ[३] > अध्वर+य्[४]+उ > अध्वरयु > अध्वर्यु]। अथवा अध्ययन अर्थ में 'यु' प्रत्यय होकर भी अध्वर्यु शब्द बनता है। अर्थात् यज्ञ के सम्पादनार्थ अध्वरवेद (यजुर्वेद) को पढ़ने वाला वा जानने वाला भी **'अध्वर्यु'** कहलाता है [अध्वरम् अधीते वेद वा— अध्वर+यु > अध्वरयु > अध्वर्यु]।[५]

३३. अध्वर यज्ञ का नाम है क्योंकि ध्वृ-धातु हिंसार्थक[६] (प्रसिद्ध) है और उस हिंसा का प्रतिषेध जिसमें है, उसे **'अध्वर'** कहते हैं [अविद्यमानो ध्वरो हिंसा यस्मिन् सोऽध्वरः। न+√ध्वृ हिंसायाम्+घ > अध्वरः]।[७]

३४. **अक्षि** शब्द दर्शनार्थक चक्षिङ् धातु से बनता है क्योंकि आँखे स्वयं अभिव्यक्त होती हुई मनोगत भावों को भी व्यक्त कर देती हैं और बाह्य वस्तुओं को

१. ध्वरति वधकर्मा (निघं०२.१९.३)।
२. मृगय्वादयश्च (उणा०१.३७)।
३. क्याच्छन्दसि (अष्टा०३.२.१७०)।
४. कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः (अष्टा०७.४.३९)।
५. अध्वर्युः = अध्वरस्य योजको नेता कामयिता वा [परमेश्वरः]। अत्राध्वरशब्दोपपदाद् युज्धातोर्बाहुलकात् क्युः प्रत्ययः टिलोपश्च० (दया०, ऋ०१.९४.६)। अध्वरं शिल्पविद्यां कामयमानः [विद्वान् शिल्पी] (दया०, ऋ०७.३७.२)। आत्मनोऽध्वरमहिंसाव्यवहारं कामयमानः [सज्जनः] (दया०, ऋ० ६.४१.२)। अध्वर्युभिः = य आत्मानमध्वरमिच्छन्ति तैः (दया०, ऋ०१.१३५.३)। आत्मनो हिंसामनिच्छुभिः [जनैः] (दया०, ऋ०२.३७.२)।
६. पाणिनीय धातुपाठ में तो 'झुकाना, मारना, वर्णन करना' अर्थ में पठित है— √ध्वृ हूर्च्छने (१.६७२)।
७. अध्वरः यज्ञनाम (निघं०३.१७.३)। अध्वरम् अन्तरिक्षनाम (निघं०१.३.१६)। अध्वरान् = अहिंसनीयान् गृहाश्रमव्यवहारान् (दया०, ऋ०१.४८.११)। अध्वराय = हिंसारहिताय धर्माय व्यवहाराय (दया०, ऋ०७.४१.६)। अध्वरेषु = अहिंसनीयेषु विद्याप्राप्तिकर्मसु (दया०, ऋ० ३.६२.५)।

३५. कर्णः कर्णः कृन्ततेः — निकृत्तद्वारो भवति। ऋच्छतेरित्याग्रायणः। ऋच्छन्तीव खे उदगन्तामिति ह विज्ञायते। (१.९)

३६. आदघ्नासः (आदघ्नासः) आस्यदघ्नाः। (१.९)

भी प्राप्त कर आत्मा के समक्ष अभिव्यक्त कर देती हैं [√चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि (२.७)+इ > चक्ष्+इ > चक्षि > अक्षि]। आग्रायण आचार्य का मानना है कि **अक्षि** शब्द ''अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु'' (७.२०) धातु से बनता है, क्योंकि ब्राह्मणों में भी कहा गया है कि मुख में अन्य अङ्गों की अपेक्षा अधिक व्यक्त (प्रकट) होते हैं [√अञ्ज्+क्सिन् > अञ्ज्+सि > अज्+सि > अग्+सि > अक्+सि > अक्षि]।[१]

३५. **'कर्ण'** शब्द ''कृती छेदने'' (६.१४४) धातु से बनता है, क्योंकि कर्ण गर्भावस्था में ही निकृत्तद्वार = छिन्नद्वार, कृतद्वार वाले अर्थात् खुदे हुए बिलवाले होते हैं [√कृती+नन् > कृत्+न > कर्त्+न > कर्+न > कर्ण]। आग्रायण आचार्य का मत है कि **कर्ण** शब्द ''ऋ गतिप्रापणयोः'' (१.६७०) अथवा ''ऋच्छ गतीन्द्रिय''० (६.१५) धातु से बनता है। क्योंकि ब्राह्मणों में कहा गया है कि आकाश में (उत्पन्न शब्द कानों को) प्राप्त होते हैं और कान भी शब्दों को प्राप्त करने हेतु आकाश की ओर उठे हुए होते हैं [खे खं वा ऋच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति। ख+√ऋ+नन् > क+अर्+न > कर्ण / ख+√ऋच्छ+नन् > क+अर्च्छ्+न > क+अर्+न > कर्ण]।[२]

३६. **आदघ्नासः** = आदघ्नाः = आस्यदघ्नाः = मुखप्रमाणाः [आस्य+दघ्न > आस्यदघ्न > आदघ्न > आदघ्नासः, यहाँ 'स्य' का लोप अथवा 'आस्य' के स्थान पर 'आ' आदेश हुआ है]।

१. अक्षि = अक्षीणम् (सायणवेंकटमाधवाः, ऋ०९.९.४) [नञ्+√क्षि क्षये > अक्षि]। अक्षी = अश्नुवते व्याप्नुवन्ति याभ्यां बाह्याभ्यन्तरविद्यायुक्ताभ्यान्ते [नेत्रे] (दया०, ऋ०१.७२.१०) [√अशूङ् व्याप्तौ संघाते च (५.१८)+क्सिः, अशेर्नित्—उणा०३.१५६]। रूपप्रकाशके नेत्रे इव [अश्विनौ] (दया०, ऋ०१.१२०.६)।
२. किरति विक्षिपतीति कर्णः, श्रोत्रं क्षत्रियविशेषो वा (दया०, उणा०३.३०) [√कॄ विक्षेपे (६.११८)+न > कर्ण—कॄवृजॄसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित् (उणा०३.३०)]। कर्णाः = यैः कार्याणि कुर्वन्ति ते [पशवः] (दया०, यजु०२४.३)। कर्णाभ्याम् = कुर्वन्ति श्रवणं याभ्याम् (दया०, यजु०१९.२१)। कर्णैः नौचालकैः [नौकर्तृभिः नौविक्षेपकैर्वा] (दया०, ऋ०२.३४.३)। कर्णौ = कर्त्र्यौ [पृथिवीसूर्यौ] (दया०, यजु०३३.७१) [√डुकृञ् करणे (८.१०)+न > कर्ण]।

३७. आस्यम् आस्यम् अस्यतेः– आस्यन्दत एनदन्नमिति वा। (१.९)

३८. दघ्नम् दघ्नं दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः, दस्यतेर्वा स्याद्– विदस्ततरं भवति। (१.९)

३९. स्नात्वाः (स्नात्वाः) प्रस्नेयाः स्नानार्हाः। (१.९)

४०. ह्रदः ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः, ह्लादतेर्वा स्यात् शीतिभावकर्मणः। (१.९)

---

३७. 'आस्य' शब्द ''असु क्षेपणे'' (४.९९) धातु से बनता है, क्योंकि इसीमें अन्नादि पदार्थ फेंके जाते हैं अथवा जो चबाये गये पदार्थों को उदर में फेंकता है एवं जो शब्दों को बाहर फेंकता है, वह **'आस्य'** कहलाता है [√असु+ण्यत् > अस्+य > आस्य]। जो अन्नादि को प्राप्त होकर गीला होता है, अथवा (अन्तर्भावितण्यर्थ में) जो अन्नादि को लार से गीला करता है, वह **'आस्य'** कहलाता है [आ+√स्यन्दू प्रस्रवणे (१.५११)+ड > आ+स्यन्द्+अ > आ+स्य्+अ > आस्य]।

३८. **'दघ्न'** शब्द स्रवणार्थक[१] ''दघ'' धातु से बनता है, क्योंकि दघ्न (परिमाण) स्रवणशील अर्थात् अग्रिम परिमाणों से स्रुत=न्यून होता है [√दघ्+नच् > दघ्न]। अथवा ''दसु उपक्षये'' (४.१०३) धातु से भी बनता है, क्योंकि बड़े परिमाणों की अपेक्षा जो क्षीणतर(छोटा) होता है वह **'दघ्न'** कहलाता है [√दसु+नच् > दस्+न > दस्न > दघ्न / √दसु+डघ्नच् > दस्+अघ्न > द्+अघ्न > दघ्न]।[२]

३९. **'स्नात्वाः'** के अर्थ हैं प्रस्नेयाः, स्नानार्हाः अर्थात् जो सरोवरादि स्नान के योग्य प्रभूत जल वाले हैं, वे 'स्नात्वाः' कहलाते हैं [√ष्णा शौचे (२.५४)+त्वन्[३] > स्ना+त्व > स्नात्व]।

४०. **ह्रद**शब्द शब्दार्थक ''ह्राद'' धातु से बनता है, क्योंकि तरंग, जल-जन्तु आदि के पतनादि से जल शब्द करने वाला होता है [√ह्राद अव्यक्ते शब्दे (१.२१)

---

१. दघधातु पाणिनीय धातुपाठ में मारने एवं पालने के अर्थ में पठित है, न कि स्रवणार्थ में। वह भी स्वादिगण में पठित है, न कि दिवादि में– √दघ घातने पालने च (५.२८)।

२. परिमाणवाचक यह वैदिक 'दघ्न' शब्द कालान्तर में प्रत्यय का रूप धारण कर लिया– ''प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः'' (अष्टा॰५.२.३७)।

३. कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः (अष्टा॰३.४.१४), अर्हे कृत्यतृचश्च (अष्टा॰३.३.१६९)।

[खण्डम् – ५]

४१. शिशिरम् शिशिरं शृणातेः, शम्नातेर्वा। (१.१०)

४२. गिरः* गिरः स्तुतयः– गिरो गृणातेः। (१.१०)

[खण्डम् – ६]

४३. नरकम् नरकं न्यरकम्– नीचैर्गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्य-

---

+अच् > ह्राद > ह्रद]। अथवा शीत्यर्थक (शीतल व शान्त करना) ''ह्लाद'' धातु से बनता है, क्योंकि तडागादि शान्तिप्रद होते हैं [√''ह्लादी सुखे अव्यक्ते शब्दे च'' (१.२२)+अच् > ह्लाद्+अ > ह्राद्+अ > ह्राद > ह्रद]।

४१. शिशिर शब्द हिंसार्थक[१] ''शॄ'' एवं ''शम्''[२] धातुओं से बनता है। क्योंकि यह ऋतु हेमन्त ऋतु के शीत के प्रकोप को नष्ट करता है अर्थात् अल्प शीतवाला होता है, इसीलिए यह ऋतु **'शिशिर'** कहलाता है, अथवा शीतकालीन अन्न, ओषध्यादियों को यह ऋतु सुखा (पका) देता है, अतः इसका नाम **'शिशिर'** है [√शॄ / √शम्+डिरच् > शॄ / शम्+इर > श्/श्+इर > शिर (सन्वद्भावात् द्वित्वम्) शिर् शिर् अ > शिशिर]।[३]

४२. **'गिरः'** का अर्थ 'स्तुतियाँ' है, क्योंकि 'गिर्' शब्द स्तुत्यर्थक व शब्दार्थक ''गॄ''-धातु[४] से बनता है [√गॄ+क्विप् > गिर्]।[५]

४३. **'नरकम्'** का अर्थ है 'न्यरकम्'। 'न्यरकम्' का अर्थ है नीच गति अर्थात् निकृष्ट अवस्था को प्राप्त करना, अथवा नीच (अधर्मी) लोगों का गमन जहाँ होता है,

---

१. शृणाति, शम्नाति इत्येतौ वधकर्माणौ (निघं॰२.१९.२५-२६)।

२. 'शम् धातु पाणिनीय धातुपाठ में उपशमन के अर्थ में है– √शमु उपशमे (४.९१), न कि हिंसा के अर्थ में, वह भी दिवादि में पठित है, न कि क्र्यादि में।

३. शशति दिनाल्पत्वाच्छीघ्रं गच्छति तत् शिशिरम् ऋतुर्हिमं शीतलं वस्तु वा [धातोरुपधाया इत्वं निपात्यते] (दया॰, उणा॰१.५३) [शश प्लुतगतौ (१.४८१)+किरच्– ''अजिरशिशिर-शिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिराः'' (उणा॰१.५३)]।

४. गृणाति अर्चतिकर्मा (निघं॰३.१४.२), √गॄ शब्दे (९.२९)।

५. गिरा=गीत्या स्तुत्या (निरु॰६.२४, १०.५)। गीः वाङ्नाम (निघं॰१.११.३६)।

स्तीति वा। (१.११)

४४. सुरा* सुरा सुनोतेः। (१.११)

चतुर्थः पादः [खण्डम् – ४]

४५. बिल्वम् बिल्वं भरणाद्वा, भेदनाद्वा। (१.१४)

[पञ्चमः पादः]

उसे **'नरक'** कहते हैं [नीचैः अरणं गमनम्, नीचैरस्मिन्नर्यते गम्यत इति वा नरकम्। नीचैस्+√ऋ[1]+वुन्[2] > नी+अर्+अक > न्यरक > नरक]। अथवा जिसमें थोड़ा भी सुखकर, शान्तिप्रद रमणीय स्थान नहीं है, उसे **नरक** कहते हैं [न+√रमु क्रीडायाम् (१.५९२)+ड्वुन् > न+रम्+अक > न+र्+अक > नरक]।

४४. सुरा शब्द ''षुञ् अभिषवे'' (५.१) धातु से बनता है, क्योंकि जो कूटकर निचोड़ी जाती है, वह **सुरा** कहलाती है [√षुञ्+क्रन्[3] > सु+र > सुरा]।[4]

४५. बिल्व शब्द ''भृ भरणे'' (१.६३९) या ''डुभृञ् धारणपोषणयोः'' (३.५) से बनता है, क्योंकि **बिल्व** गूदे से पूर्ण रहता, अनेकों औषधीय गुणों को धारण किया हुआ रहता है और भक्षण से पोषण करने वाला होता है [√भृ+वन्[5] > भर्+व > बर्व > बल्व > बिल्व]। अथवा ''भिदिर् विदारणे'' (७.२) धातु से बनता है, क्योंकि **बिल्व** विरेचनादि उदररोगों का भेदन (नाश) करता है [√भिद्+वन् > बिद्व > बिल्व]।

---

१. √ऋ गतिप्रापणयोः(१.६७०) [पतित होकर दुःखों को प्राप्त करना नरक है], √ऋ० गतौ(३.१६), √ऋ हिंसायाम्(५.३०) [पतित अवस्था में हिंसित होना नरक है]।
२. कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन्(उणा०५.३५) इति भावेऽधिकरणे वा वुन् प्रत्ययः।
३. सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन्(उणा०२.२५)।
४. सुरा उदकनाम(निघं०१.१२.२५)।
५. शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः(उणा०१.१५४)।

षष्ठः पादः [खण्डम् – १]

४६. अवसम् अवसं पथ्यदनम्– अवतेर्गत्यर्थस्यासो नामकरणः। स्यतिरुपसृष्टो विमोचने (इति वा)। (१.१७)

[खण्डम् – २]

४७. स्थाणुः स्थाणुस्तिष्ठतेः। (१.१८)

४८. अर्थः अर्थोऽर्तेः, अरणस्थो वा। (१.१८)

---

४६. **'अवसम्'** का अर्थ 'यात्रा में खाने योग्य पदार्थ' है, क्योंकि यह शब्द गत्यर्थक ''अव'' धातु से 'अस' यह नामनिष्पादक (संज्ञाबोधक) कृत् प्रत्यय होकर बनता है। पाथेय से मार्ग में रक्षा होती है, इसीलिए उसका **'अवस'** है [√अव्+असच्[1] > अवस]। अव-उपसर्ग पूर्वक विमोचनार्थक ''षो'' धातु[2] से भी 'अवसम्' शब्द बनता है– जिससे यात्रा बाधारहित सम्पन्न होती है, उस पाथेय (खाद्य पदार्थ व मार्गव्यय) का नाम **'अवस'** है [अव+√षो+क > अव+सा+अ > अवस]।

४७. **'स्थाणु'** शब्द ''ष्ठा गतिनिवृत्तौ'' (१.६६२) धातु से बनता है, क्योंकि वृक्ष या शंकु (ठूंठ) पृथिवी पर स्थित रहता है [√स्था+णु[3] > स्थाणु]।

४८. **'अर्थ'** शब्द ''ऋ गतिप्रापणयोः'' (१.६७०) धातु से बनता है, क्योंकि शब्दों का अर्थ प्राप्त किया जाता है [अर्यते प्राप्यते जनैः, कर्णपरम्परया जनाज्जनं ऋच्छति गच्छतीति वा**र्थः**। √ऋ+थन्[4] > अर्+थ > अर्थ]। अथवा 'अरणस्थ' से **'अर्थ'** शब्द बनता है, क्योंकि शब्द के नष्ट होने पर भी 'अर्थ' रहता है [अरणे गमने ज्ञाने वा तिष्ठतीत्**यर्थः**। √ऋ+ल्युट् > अर्+अन > अरणः; अरण+√स्था+क > अर्+स्थ्+अ > अर्+थ्+अ > अर्थ]।

---

१. अत्यविचमि...महिभ्योऽसच्(उणा०३.११७)।
२. षो अन्तकर्मणि(४.३८) इति पाणिनिः।
३. स्थो णुः(उणा०३.३७)।
४. उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्(उणा०२.४)।

[खण्डम् – ३]

४९. सुवासाः सुवासाः कल्याणवासाः। (१.१९)

[खण्डम् – ५]

५०. बिल्मम् बिल्मं भिल्मम्, भासनमिति वा। (१.२०)
५१. धातुः धातुर्दधातेः। (१.२०)

[खण्डम् – ६]

५२,५३. वाराः,वालाः वाला दंशवारणार्था भवन्ति। (१.२०; ११.३१)

---

४९. **'सुवासाः'** का अर्थ है 'कल्याणवासाः' [सुष्ठूनि वासांसि यस्याः सा सुवासाः]।

५०. **'बिल्म'** शब्द का अर्थ है 'भिल्मम्' 'भासनम्'। अर्थात् बिल्मशब्द ''भिदिर् विदारणे'' (७.२) अथवा ''भासृ दीप्तौ'' (१.४१५) धातुओं से बनता है। क्योंकि पृथक्करण, विश्लेषण, विस्तार, रहस्य के खुलने के उपाय को ही **'बिल्म'** कहते हैं [√भिद्+मक् > भिद्म > बिल्म]। और अज्ञात अर्थ के प्रकट (स्पष्ट) होने के उपाय को भी **'बिल्म'** कहते हैं [√भास्+मक् > भास्म > बिस्म > बिल्म]।[1]

५१. **'धातु'** शब्द ''डुधाञ् धारणपोषणयोः'' (३.१०) धातु से बनता है, क्योंकि वह अर्थविशेष को एवं उससे बनने वाले सभी शब्दों को धारण किया हुआ रहता है [√धा+तुन्[2] > धातु]।

५२,५३. (पूँछ के) वाल (बाल) मक्खी, मच्छर आदि दशने वाले के निवारणार्थ होते हैं, इसलिए वारणार्थक ''वृ'' धातु से **'वार[3], वाल'** शब्द बनते हैं [√वृ+घञ् > वार > वाल]।[4]

---

१. बिल्मशब्द उपायवचनः (वेंकटः, ऋ०२.३५.१२)। बिल्मैः= प्रदीप्तसाधनैः (दया०, ऋ०२.३५.१२)।
२. सितनि....धाञ्कृशिभ्यस्तुन् (उणा०१.६९)।
३. अपोहयितरि वारशब्दः प्रसिद्धः—अश्ववार इति। अश्वस्य वा वाहयिताऽश्ववार उच्यते। अथवा शत्रूणां वारः (स्कन्दः, ऋ०१.३२.१२)।
४. वालः=बालकः (दया०, यजु०१९.८८)।

५४. दंशः दंशो दशतेः। (१.२०)
५५. मृगः मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः। (१.२०; ९.१९; १३.३)
५६. भीमः भीमो बिभ्यत्यस्मात्। (१.२०)
५७. भीष्मः भीष्मोऽप्येतस्मादेव (=बिभ्यत्यस्मात्)। (१.२०)
५८. कुचरः कुचर इति चरति कर्म कुत्सितम्। अथ चेद् देवताभिधानम्-क्वायं न चरतीति। (१.२०)

---

५४. ''दंश दशने'' (१.७१५) अथवा ''दशि दंशनदर्शनयोः'' (१०.१४५) धातु से 'दंश' शब्द बनता है। काटने (डसने) वाले मच्छर, मक्खी आदि का नाम **'दंश'** है [√दंश+अच् > दंश]।

५५. **'मृग'** शब्द गत्यर्थक ''मृजूष्'' धातु से बनता है क्योंकि वह (व्याघ्र, सिंहादि) शीघ्रगामी या गमनशील होता है [√मृज्+घक् > मृग]।[1]

५६. जिससे लोग डरते हैं, उसे **'भीम'** कहते हैं। [√भी भये+मक्[2] > भीम]।[3]

५७. जिससे लोग डरते हैं, उसे **भीष्म** भी कहते हैं। [√भी भये (षुक्)+मक्[2] > भीष्+म > भीष्म]।

५८. कुत्सित कर्म का आचरण करने वाला **'कुचरः'** कहलाता है [कु+√चर गतौ भक्षणे च (१.३७६)+ट > कुच]। यदि कुचर शब्द से देवता अभिप्रेत है, तो उसका अर्थ इसप्रकार होगा— वह कहाँ विचरण नहीं करता? अर्थात् सर्वत्र विचरने वाला **'कुचरः'** कहलाता है [क्व+√चर गतौ भक्षणे च (१.३७६)+ट > कुचर; क्व न चरति > क्व+चर > कु+चर > कुचर]।

---

१. मृगशब्द √मृग अन्वेषणे (१०.३२२) धातु से भी बनता है, जो भोजनादि का अन्वेषण करता है, वह 'मृग' कहलाता है। मृगम्=मार्गणीयं मेघम् (स्कन्दः, ऋ०१.८०.७)।
२. भियः षुग् वा (उणा०१.१४८)। भीमादयोऽपादाने (अष्टा०३.४.७४)।
३. भीमः बिभेत्यस्मात् सः [कालः](दया०, ऋ०१.९५.७)। भयं [मरणं] प्राप्तः [जीवः] (दया०, यजु०३९.७)।

५९. गिरिष्ठाः गिरिष्ठा गिरिस्थायी। (१.२०)
६०. गिरिः* गिरिः पर्वतः– समुद्गीर्णो भवति। मेघोऽपि गिरिः (निघं० १.१०.१०); एतस्मादेव [=समुद्गीर्णात्]। (१.२०)
६१. पर्वतः* पर्वतः पर्ववान्। (१.२०)
६२. पर्वन् पर्व पुनः पृणातेः[१], प्रीणातेर्वा। अर्धमासपर्व– देवानस्मिन्

५९. 'गिरिष्ठा' का अर्थ है 'गिरिस्थायी' अर्थात् गिरि (पर्वत) पर या समीप में ही रहने वाला **'गिरिष्ठा'** है[२] [गिरि+√ष्ठा गतिनिवृत्तौ (१.६६२)+क्विप् > गिरिष्ठा]।

६०. **'गिरि'** का अर्थ है 'पर्वत', क्योंकि वह पृथिवी से समुद्गीर्ण (उठा हुआ) रहता है [(समुद्+)√गॄ शब्दे, निगरणे च (९.२९, ६.११९)+कि[३] > गिरि]। इसी समुद्गीर्ण के कारण मेघ भी **'गिरि'** कहलाते हैं, क्योंकि वे भी आकाश में पर्वत के समान उठे हुए होते हैं [व्युत्पत्तिः पूर्ववत्]।

६१. पर्व (सन्धि व जोड़) वाले को **पर्वत** कहते हैं[४] [पर्वाणि विद्यन्तेऽस्मिन्निति पर्वतः। पर्व+तप्[५] > पर्वतः]।[६]

६२. 'पर्व' शब्द तो ''पॄ पालनपूरणयोः'' (९.१८) अथवा ''प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च'' (९.२) धातुओं से बनता है, क्योंकि जिससे व जिसमें कर्तव्य कर्मों का पालन किया जाता है अथवा किसीका पालन-पोषण किया जाता है और अपने में शुभगुणादियों की न्यूनताओं को पूर्ण किया जाता है, तथा परस्पर तृप्त करते हैं, मिलने की कामना करते

१. पृणातेः पर्वशब्दः, पृणातिश्च दाने प्रसिद्धः (मी०शा०भा०९.२.५३)। पृणाति दानकर्मा (निघं०३.२०.७)।
२. गिरिर्मेघः, तस्मिन् ह गन्तव्ये स्थातुं शीलमस्येति गिरिस्थायी समीपस्थायी, सप्तम्येषां कूपे गर्गकुलमितिवत्। (वर०, नि०स०३.६.९)। गिरि मन्त्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः (सायणः, ऋ०१.१५४.२)।
३. कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च (उणा०४.१४४) इति इः किच्च। ॠत इद्धातोः (अष्टा० ७.१.१००) इतीत्वम्।
४. पर्वतः=पर्ववान् बह्ववयवकः। महानपि सन्नित्यर्थः(स्कन्दः, ऋ०१.३७.७)।
५. तप् पर्वमरुद्भ्यां वक्तव्यः (वा०५.२.१२२)। उणादिषु पर्वधातोः अतच्प्रत्ययेन साधितः (३.११०)। पर्वति पूर्णो भवतीति पर्वतः, गिरिर्वा। पर्व विद्यतेऽस्मिन्निति मत्वर्थीयस्तकार-प्रत्ययो वा (दया०, तत्रैव)।
६. पर्वतः मेघनाम (निघं०१.१०.९)।

प्रीणन्तीति। तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात्। (१.२०)

इति प्रथमोऽध्यायः



हैं, उसे **'पर्व'** कहते हैं [√पॄ+वनिप्[१] > पर्+वन् > पर्वन् / √प्रीञ्+ वनिप्[१] > (ईकारस्याकारादेशे) प्र (प् र्-अ)+वन् > पर् (प्-अ-र्)+ वन् > पर्वन्]। अर्धमासों (पूर्णिमा एवं अमावास्या) को भी **'पर्व'** कहते हैं, क्योंकि इन अर्धमासों में यज्ञ के द्वारा देवों को तृप्त करते हैं [√प्रीञ्+वनिप् > पर्वन्]। अर्धमासों के जोड़ के समान बाँस, गन्ना, अंगुली आदियों के जोड़ों को भी **'पर्व'** कहते हैं [पर्व इव पर्व। पर्वन् > पर्वन्]।[२]

१. स्नामदिपद्यर्तिपॄशकिभ्यो वनिप् (उणा०४.११४)।
२. पृणन्ति पालयन्ति अवयविनं पूर्यन्ते वा तेन इति पर्वाणि। यद्वा... प्रीणयन्ति स्वाश्रयमिति। यद्वा... पर्वति पूरयति निर्झरनदीप्रवाहादिना भूमिं स्वोन्नत्याकाशञ्च पूरयति (देव०, नि० नि०१.१०.९)।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः [खण्डम् – ४]

१. कम्बोजाः कम्बोजाः कम्बलभोजाः, कमनीयभोजा वा। (२.२)
२. कम्बलः कम्बलः कमनीयो भवति। (२.२)
३. दण्ड्यः (दण्ड्यो) दण्डमर्हतीति वा, दण्डेन सम्पद्यत इति वा। (२.२)
४. दण्डः दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः। [1]दमनादित्यौपमन्यवः। (२.२)

---

१. 'कम्बोजाः' का अर्थ 'कम्बलभोजाः' है अर्थात् शीताधिक्य के कारण कम्बलों का उपभोग करने वाले अथवा कम्बल ही प्रधानरूप से उपभोग का (व्यापार का) साधन है जिनका, वे **'कम्बोज'** कहलाते हैं [कम्बल+√भुज पालनाभ्यवहारयोः+अण् > कम्बल+भोज > कम्+बोज > कम्बोज]। इसका दूसरा अर्थ है— 'कमनीयभोजाः' अर्थात् कमनीय पदार्थों (कम्बल या बादामादि) के उपभोग वाले लोग **'कम्बोज'** कहलाते हैं [√कमु कान्तौ (१.३०२)+अनीयर् > कमनीय+भोज > कम्+भोज > कम्+बोज > कम्बोज]।

२. कमनीय अर्थात् कामना के योग्य होने से **'कम्बल'** नाम है [√कमु कान्तौ (१.३०२) (बुक्)+कल[2] > कम्ब्+अल > कम्बल]।

३. दण्ड देने योग्य को **'दण्ड्य'** कहा जाता है [दण्ड+य[3] > दण्ड्य]। अथवा जो दण्ड से संयुक्त किया जाता है या जो दण्ड से सम्पन्न होने वाला है (घटादि), उसे भी **'दण्ड्य'** कहते हैं [दण्ड+य (सम्पाद्यार्थे) > दण्ड्य]।

४. **'दण्ड'** शब्द धारणार्थक ''दद'' धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि वह धारण किया जाता है [√दद धारणे[4]+ड[5] > दद्+ड > दण्+ड > दण्ड]। औपमन्यव

---

१. दण्डो दमनादित्याहुः (गौ॰ ध॰ सू॰२.२.२८)।
२. कमेर्बुक् (उणा॰१.१०७)।
३. दण्डादिभ्यो यः (अष्टा॰५.१.६६) इत्यर्हार्थे यः।
४. √दद दाने (१.१६) इति पाणिनिः।
५. जमन्ताड्डः (उणा॰१.११४) इति बाहुलकाद् दान्तादपि डप्रत्ययः।

[खण्डम् – ५]

५. कक्ष्या कक्ष्या रज्जुरश्वस्य— कक्षं सेवते। (२.२; द्र॰३.९)
६. कक्षः कक्षो गाहतेः, क्स इति नामकरणः। ख्यातेर्वानर्थकोऽभ्यासः। किमस्मिन् ख्यानमिति। कषतेर्वा। तत्सामान्यात् मनुष्यकक्षो बाहुमूल-सामान्यादश्वस्य। (२.२)
७. राजपुरुषः राजपुरुषो राज्ञः पुरुषः। (२.३)

आचार्य के मत में ''दमु उपशमे'' (४.९३) धातु से **दण्ड** शब्द बनता है, क्योंकि उससे चोरादियों का दमन किया जाता है [√दम्+ड[1] > दण्ड]।

५. घोड़े की रस्सी (तंग, प्रग्रह, लगाम) को **कक्ष्या** कहते हैं, क्योंकि वह घोड़े की काँख में लगी रहती है [√कक्ष+यत्[2]+टाप् > कक्ष्या]।

६. **'कक्ष'** शब्द ''गाहू विलोडने'' (१.४३२) धातु से नामसम्पादक 'क्स' कृत्प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है, क्योंकि वह हिलता है या उसमें रस्सी आलोडित होती है अथवा वह गुप्त रहता है, अवगाहित (गीला) होता है [√गाह्+क्स > गा+क्स > ग+क्स > क+क्ष > कक्ष]। ''ख्या प्रकथने'' (२.५३) धातु से अनर्थ (अविशेषार्थ, स्वार्थ) में द्वित्त्व होकर भी **'कक्ष'** शब्द बनता है, क्योंकि काँख का विषय कथनीय ही होता है, न कि दर्शनीय [√ख्या ख्या स[3] > ख ख् स > कख् स > कक्ष > कक्ष]। अथवा इसमें क्या दर्शनीय है? कुछ भी नहीं है— इस अर्थ में भी **कक्ष** शब्द बनता है [किम्+√ख्या+स > किंख्य स > कख् स > कक्ष > कक्ष]। अथवा ''कष हिंसार्थः'' (१.४६२) धातु से भी **कक्ष** शब्द बनता है, क्योंकि वह खुजलाया जाता है [√कष्+स[3] > कख्+स > कक्ष > कक्ष]। अश्व के बाहुमूल सामान्य (सादृश्य) से मनुष्य का बाहुमूल (काँख) भी **कक्ष** कहलाता है [कक्ष इव कक्षः। कक्ष > कक्ष]।[4]

७. राजा का पुरुष **'राजपुरुष'** कहलाता है [तत्पुरुषसमास]।

---

१. उणा॰१.११४।
२. शरीरावयवाच्च (अष्टा॰४.३.५५) इति भवार्थे यत्।
३. वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः (उणा॰३.६२) इति बाहुलकात् सप्रत्ययः।
४. कक्षः=क्रान्तस्तटादिः (दया॰, ऋ॰६.४५.३१)। कक्षाणाम्=गृहप्रान्तावयवेषु स्थितानाम् [जनानाम्] (दया॰, यजु॰१६.१९)। कक्षेषु=सामन्तेषु (दया॰, यजु॰११.७९)।

८. राजा राजा राजतेः। (२.३)

९. पुरुषः पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तः इत्यन्तर-
œè Êª uß Ÿæ®@(2.3 ; द्र०१.१३)

[खण्डम् — ६]

१०. विश्चकद्रः विश्चकद्रः वीति चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते। द्रातीति गतिकुत्सना। कद्रातीति द्रातिकुत्सना, चकद्राति— कद्रातीति

---

८. **'राजा'** शब्द ''राजृ दीप्तौ''[1] (१.५६९) धातु से निष्पन्न होता है क्योंकि वह बल, ऐश्वर्यादि से प्रदीप्त रहता है [√राज्+कनिन्[2] > राज्+अन् > राजन्]।

९. **'पुरुष'** का अर्थ है 'पुरिषादः' अर्थात् पुर् (शरीर, बुद्धि) में वास करने वाला **'पुरुष'** कहलाता है [पुरि+√सद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (१.५९३)+घञ् > पुरिषाद > पुरुष / पुर्+√सद्+ड > पुर्+स्+अ > पुरुष]। इसका दूसरा अर्थ है 'पुरिशयः' अर्थात् पुर् (शरीर, बुद्धि) में रहने वाला ही **पुरुष** है [पुरि+√शीङ् स्वप्ने (२.२५)+अच् > पुरिशय > पुरिषय > पुरुष]। अथवा √पूरी आप्यायने (४.४२, १०.२२६) धातु से भी **'पुरुष'** शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि (परमात्मा) सृष्टि के अन्दर पूर्ण व्याप्त रहता है। यह (अन्तिम निर्वचन जीव के लिए न होकर जगत् रूपी पुरि के) अन्दर व्याप्त ईश्वर के उद्देश्य से बताया गया है[3] [√पूर्+णिच्+कुषन्[4] > पूरि+उष > पूर्+उष > पूरुष > पुरुष]।[5]

१०. 'वि' और 'चकद्र' शब्दों के योग से सुडागम के साथ 'विश्चकद्र' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ 'कुत्ते की निन्दित गति (प्रवृत्ति)' कहा जाता है। 'द्राति' का अर्थ है— 'कुत्सित गति' (√द्रा कुत्सायां गतौ — २.४७)। 'कद्राति' का अर्थ है— द्राति की (भी) कुत्सना अर्थात् अत्यधिक निन्दित गति व प्रवृत्ति। कद्राति शब्द को अनर्थक (परोक्षादि अर्थों के विना ही) द्वित्व करने पर 'चकद्राति' बनता है। वह अतिनिन्दनीय कर्म (गति) है जिस मनुष्य में, वह अपराधी पुरुष **'विश्चकद्र'** कहलाता है।

---

१. राजति ऐश्वर्यकर्मा (निघं०२.२१.४)।
२. कनिन् युवृषितक्षिराजि० (उणा०१.१५६)।
३. यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ (तै०आ०१०.१०.२०)
४. पुरः कुषन् (उणा०४.७५)।
५. √पुर अभिगमने [अग्रगमने] (६.५७) धातोरपि कुषनि पुरुषो भवति।

सतोऽनर्थकोऽभ्यासः। तदस्मिन्नस्तीति विश्चकद्रः। (२.३)

११. कल्याणवर्णरूपः कल्याणवर्णरूपः कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। (२.३)

१२. कल्याणम् कल्याणं कमनीयं भवति। (२.३)

१३. वर्णः वर्णो वृणोतेः। (२.३)

१४. रूपम् रूपं रोचतेः। (२.३; ३.१३)

[कु+√द्रा+क+टाप् > कद्+द्र्+अ+आ > कद्द्रा > ककद्द्रा > चकद्रा। विशिष्टा चकद्रा अस्त्यस्मिन्निति विश्चकद्रः। वि+सुट्+चकद्रा]।

११. (सोनादि के) सुन्दर वर्ण के समान रूप है जिसका, वह (अग्न्यादि) **'कल्याणवर्णरूप'** कहलाता है।

१२. कमनीय अर्थात् अत्यन्त चाहने योग्य वस्तु ही **'कल्याण'** कहलाता है [√कमु कान्तौ (१.३०२)+याण > कल्याण][1]।

१३. **'वर्ण'** शब्द ''वृञ् वरणे'' (५.८) धातु से बनता है, क्योंकि वह अपने वर्णी आश्रय को आवृत किया हुआ होता है [√वृ+न[2] > वर्+न > वर्ण]।

१४. **'रूप'** शब्द ''रुच दीप्तावभिप्रीतौ च'' (१.४९८) धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि वह द्रष्टा के चक्षुरिन्द्रिय में प्रकाशित होता है [√रुच+डूप > र्+ऊप > रूप]।[3]

---

१. √कल दीप्तौ+(भावे)यत् > कल्य+(मत्वर्थे) आनः > कल्याणः (द्र०वै०प०कोष)। कल्ये प्रातः अण्यते शब्द्यते इति कल्याणम्— कल्य+अण शब्दार्थः (१.३०३)+(कर्मणि) अण् / (अकर्तरि०३.३.१९) घञ् > कल्याण। कल्यं नीरुजत्वमाणयतीति, कल्य+आणि+अण् > कल्याण (द्र० भानुजिदीक्षित-अमर०१.४.२५)।
२. कृवृजृसिद्रूपन्यनिस्वपिभ्यो नित् (उणा०३.१०)। वृणोति व्रियते वा स वर्णः, ब्राह्मणादिः शुक्लादिः स्तुतिर्यशो रूपम् अक्षरं स्वीकारश्च (दया०, तत्रैव)। ''वर्णाय [स्वीकाराय] अनुरुधम्०'' (यजु०३०.९)।
३. रूपाणि = प्रज्ञानानि (निरु०१२.१३)। रूपं हिरण्यम् (मै०सं०४.८.२), अन्नं वै रूपम् (शत० ९.२.१.१२)।

द्वितीयः पादः [खण्डम् – १]

१५. गौः* गौरिति पृथिव्या नामधेयम् (निघं०१.१.१)– यद् दूरं गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेर्वौकारो नामकरणः। अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव। ज्या अपि गौरुच्यते, गव्या चेत् ताद्धितम्। अथ चेत् न गव्या गमयति इषून् इति। आदित्योऽपि गौरुच्यते। सः (= सुषुम्णा) अपि गौरुच्यते। सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते। (२.५-६; २.१४; द्र०१२.७)

१६. मत्सरः मत्सरः सोमः– मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः। मत्सर इति लोभनाम– अभिमत्त एनेन धनं भवति। (२.५)

१५. **'गौ'** यह पृथिवी का नाम है, क्योंकि यह दूर-दूर तक गई (फैली) हुई है व यह सूर्य से दूर-दूर का गमन करती है [√गम्लृ गतौ (१.७०९)+डो[1] (ओ) > गम्+ओ > गो]। और इस पृथिवी पर सभी प्राणी गमन करते हैं, इसलिए भी इसका नाम **'गौ'** है। अथवा ''गाङ् गतौ''(१.६८१) धातु से (भी पूर्ववत् कर्ता एवं अधिकरण कारक में) नामसाधक ओ (डो) कृत्प्रत्यय होकर **'गौ'** शब्द निष्पन्न होता है [√गाङ्+डो > गा+ओ > गो]। इन्हीं (गम्/गा) धातुओं से उक्त दो कारकों में ही पशु को भी **'गौ'** कहते हैं। धनुष की ज्या (प्रत्यञ्चा) भी **'गौ'** कही जाती है, यदि वह ज्या गो के ताँत से बनी हो, तब वह गोशब्द विकारादि तद्धितार्थक होगा। यदि वह ज्या गो के ताँत से न बनी हो तो भी **'गौ'** कहलाती है, क्योंकि वह बाणों को भेजती है, फेंकती है। (इसी गमन क्रिया के कारण) सूर्य को भी **'गौ'** कहते हैं, (चन्द्रमा को प्रकाशित करने वाली) सुषुम्णा नामक सूर्यरश्मि को भी **'गौ'** कहते हैं और सभी रश्मियों को भी **'गौ'** कहते हैं।[2]

१६. तृप्त्यर्थक ''मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु'' (१.१२) धातु से उत्पन्न **'मत्सर'** शब्द का अर्थ 'सोम' है, क्योंकि सोमपान तृप्तिकर होता है [√मदि+सरन्[3] > मन्द्+सर् > मद्+सर > मत्सर]। **'मत्सर'** लोभ का भी नाम है, क्योंकि इससे व्यक्ति

१. गमेर्डोः (उणा०२.६८)।
२. कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः। गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्।।(वा.प.२.१७४)
३. कृधूमदिभ्यः कित् (उणा०३.७३)।

१७. पयस्* पयः पिबतेर्वा, प्यायतेर्वा। (२.५)

१८. क्षीरम्* क्षीरं क्षरतेः, घसेर्वेरो नामकरणः, उशीरमिति यथा। (२.५)

१९. अंशुः अंशुः शमष्टमात्रो भवति, अननाय शं भवतीति वा। (२.५)

धन के प्रति उन्मत्त हो जाता है [√मदि+सरन् > मत्सर]।

१७. **'पयस्'** शब्द ''पा पाने'' (१.६५९) धातु से बनता है, क्योंकि दूध पीया जाता है [पीयत इति। √पा+असुन्[1] > पे[2]+अस् > पयस्]। अथवा ''ओप्यायी वृद्धौ'' (१.३२८) धातु से भी बनता है, क्योंकि दूध से शरीर की वृद्धि होती है [आप्यायन्ते वर्धन्ते जना येन। √प्याय्+असुन् > प्य (प् य् अ)+अस् > प् अ य्+अस् > पय्+अस् > पयस्]।[3]

१८. **'क्षीर'** शब्द ''क्षर सञ्चलने'' (१.५९०) धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि दूध थन से चूता (झरता) है [√क्षर्+ईरन् (डित्) > क्षीर]। अथवा ''घस्लृ अदने'' (१.४७४) धातु से 'उशीरम्'[4] के समान नाम (कृदन्त) को सिद्ध करने वाला 'ईरन्'[5] प्रत्यय होकर भी 'क्षीर' शब्द बनता है, क्योंकि दूध का सेवन किया जाता है [√घस्+ईरन् > घ्स्+ईर > क्स्+ईर > क्षीर]।[6]

१९. सोमरस शरीर में व्याप्त (पीत) होने मात्र से कल्याणकारी होता है, अतः वह **'अंशु'** कहलाता है [शम्+√अशूङ् व्याप्तौ (५.१८)+उ (डित्)[7] > श्-अम्+उ > अम्-श्+उ > अंशु]/ √अश्+√शम्+ उ (डित्) > अम्+श्+उ > अंशु]। अथवा जीवन के लिए शंकर होता है [√अन प्राणने (२.६३)+√शम्+उ (डित्) > अन्+श्+उ > अंशु]।[8]

१. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा०४.१९०)।
२. रपेरत एच्च (उणा०४.१९१) इति बाहुलकाद् इहात अपि एत्वम्।
३. पयः रात्रिनाम (निघं०१.७.२१)। उदकनाम (निघं०१.१२.३७)। अन्ननाम (निघं०२.७.३)। पयसा=पयन्ते विजानन्ति सर्वान् पदार्थान् येन ज्ञानेन तेन विज्ञानेन (दया०, यजु०२.२४) [√पय गतौ (१.३२०)+असुन् > पयस्]।
४. वशेःकिच्च (उणा०४.३२)।
५. घसेः किच्च (उणा०४.३५)।
६. क्षीरम् उदकनाम (निघं०१.१२.१४)।
७. आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च (उणा०१.३३)।
८. अंशुः संविभागः। अत्र अमधातोरुः प्रत्ययः शकारागमश्च (दया०, यजु०७.२६)।

२०. चर्मन् चर्म चरतेर्वा, उच्चृत्तं भवतीति वा। (२.५)

[**खण्डम् – २**]

२१. वृक्षः वृक्षो व्रश्चनाद्, वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा। (२.६; द्र० १२.२९)
२२. क्षा* क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः। (२.६)
२३. मीमयद् मीमयद् शब्दं करोति— मीमयतिः शब्दकर्मा। (२.६)

२०. **'चर्म'** शब्द ''चर गतौ भक्षणे च'' (१.३७६) धातु से बनता है, क्योंकि शरीर (प्राणी) जिससे गति करता है, वह **'चर्म'** कहलाता है; अथवा, सम्पूर्ण शरीर में चरित (गत, संलग्न) होता है, अतः 'चर्म' नाम है [√चर्+मनिन्[1] > चर्मन्]। अथवा मृतपशु का चमड़ा उधेड़ा (निकाला) जाता है, इसलिए भी उसे **'चर्म'** कहते हैं [√चृती हिंसाग्रन्थनयोः (६.३५)+मनिन् > चृत्+मन् > चर्त्+मन् > चर्+मन् > चर्मन्]।[2]

२१. **'वृक्ष'** शब्द ''ओव्रश्चू छेदने'' (६.११) धातु से बनता है, क्योंकि इन्धनादि के लिए जो काटा जाता है, वह **'वृक्ष'** कहलाता है, धनुष शत्रुओं को काटता (मारता) है, इसलिए धनुष भी **'वृक्ष'** कहलाता है [√व्रश्च्+स[3] > व्रच्+स > वृच्+स > वृक्+ष > वृक्ष]। अथवा जो क्षा=पृथिवी को घेरकर रहता है, उसे भी **वृक्ष** कहते हैं, अथवा क्षा (भूखण्ड) को अपने वश में रख कर (उसकी रक्षा में) सुस्थिर (सुदृढ) रहने वाला राजा आदि भी 'वृक्ष' कहाते हैं। [वृत्वा / √वृञ् वरणे (५.८)+क्षा > वृ+क्ष > वृक्ष]।[4]

२२. पृथिवीवाचक **'क्षा'** शब्द निवासार्थक ''क्षि'' धातु से बनता है, क्योंकि उस पर सभी प्राणी निवास करते हैं [√क्षि निवासगत्योः (६.११६)+ड+टाप् > क्षि+अ+आ > क्ष्+आ > क्षा]।[5]

२३. **'मीमयद्'** शब्द का अर्थ है — 'शब्द करता है', क्योंकि वह पद शब्दार्थक √मीमि [मीमृ शब्दे (१.३१६)+णिच्] धातु से बनता है।

१. सर्वधातुभ्यो मनिन् (उणा० ४.१४६)।
२. जिह्वा चर्म (तै०सं० ६.२.११.४)।
३. स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् (उणा० ३.६६)।
४. वृक्षम्=यो वृश्च्यते छिद्यते तं कार्यकारणाख्यं वा जगत् (दया०, ऋ० १.१६४.२०; अपि च द्र० यजु० १७.२०)। वृक्षेभ्यः=ये शत्रून् वृश्चन्ति छिन्दन्ति, तेभ्यः, पादपेभ्यो वा (दया०, यजु० १६.४०)।
५. क्षा पृथिवीनाम (निघं० १.१.५)। क्षाम्=भूमिं भूमिराज्यमात्रं वा (दया०, ऋ० १.१८९.३)।

२४. विः विरिति शकुनिनाम— वेतेर्गतिकर्मणः। अथापीषुनामेह भवत्ये- तस्मादेव। (२.६)
२५. परुषे (परुषे) पर्ववति, भास्वतीत्यौपमन्यवः। (२.६)

[**खण्डम् – ३**]

२६. भूरि* भूरीति बहुनो नामधेयम् (निघं० ३.१.४) – प्रभवतीति सतः। (२.७)
२७. शृङ्गम्* शृङ्गं श्रयतेर्वा, शृणातेर्वा, शम्नातेर्वा, शरणायोद्गतमिति वा,

२४. **'वि'** यह शब्द पक्षी का वाचक है, क्योंकि वह गत्यर्थक ''वी'' [गतिव्याप्ति० (२.४१)] धातु से बनता है। जो आकाश में गमन करता है, वह **'वि'** कहलाता है [वेति वायुवद् गच्छतीति 'विः'। √वी+इ[1] > व्+इ > वि]। इसी गति के कारण बाण को भी 'वि' कहते हैं, क्योंकि युद्धक्षेत्र में बाण भी पक्षियों के समान आकाश में उड़ते हैं और उनमें पक्षियों के पंख भी लगे रहते हैं, इसी समानता के कारण बाणों को भी **'वि'** कहते हैं।[2]

२५. **'परुषे'** का अर्थ है 'पर्ववति' [परुष्मति= पर्व वाले (आदित्य) में]। औपमन्यव आचार्य के मत में उसका अर्थ है 'भास्वति' (=प्रकाश वाले आदित्य में) [√पृ पालनपूरणयोः (३.४)+उसि[3] > पर्+उस > परुष्+मत्वर्थे अः > परुष]। तु० नदीवाची 'परुष्णी' (९.२६)।[4]

२६. **'भूरि'** यह शब्द बहु-वाचक है, क्योंकि जो बहुत होता है, वह प्रकृष्ट रूप से रहता है या पर्याप्त रहता है [भवति तत् सर्वस्यानुग्रहायेति। √भू सत्तायाम् (१.१) +क्रिन्[5] > भू+रि > भूरि]।

२७. **'शृङ्ग'** शब्द ''श्रिञ् सेवायाम्'' (१.६३८) धातु से बनता है, क्योंकि वह

१. वातेर्डिच्च (उणा० ४.१३५) इति बाहुलकाद् वेतेरपि इः प्रत्ययः, स च डित्।
२. वयो वेर्बहुवचनम् (निरु० ४.३)।
३. अर्त्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् (उणा० २.११९) इति उसिः।
४. परुः=मर्म (दया०, यजु० २०.२७)। परूंषि मर्मस्थलानि (दया०, यजु० १८.३), कठोराणि वचनानि (दया०, यजु० २३.४१)।
५. अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उणा० ४.६६)।

शिरसो निर्गतमिति वा। (२.७)

२८. अयासः अयासोऽयनाः। (२.७)

२९. पादः पादः पद्यतेः। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि। (२.७)

शिर पर आश्रित रहता है [श्रयति मूर्धानमिति श्रृङ्गम्। √श्रि+(नुट्) गक्[1] > श्रि+न् ग > श्रृं+ग > श्रृङ्ग]। ''शृ हिंसायाम्'' (९.१७) धातु से भी **'श्रृङ्ग'** बनता है, क्योंकि पशु इन्हीं से अपने शत्रुओं को मारते हैं [श्रृणाति हिनस्ति शत्रून् अनेनेति श्रृङ्गम्। √शृ+(नुट्)गक्[1] > शृ+न् ग > शृंग > शृङ्ग]। ''शमु उपशमे''[2] धातु से भी **'श्रृङ्ग'** शब्द बनता है, क्योंकि सीगों को देख कर शत्रु शान्त होता है [(श्रृङ्गं दृष्ट्वा शत्रवः) येन हेतुना शान्ता भवन्तीति शृङ्गम्। √शम्+(नुट्)गक् > शृ+न् ग > शृङ्ग]। अथवा अपनी रक्षा के लिए शिर पर उत्पन्न हुए हैं, इसलिए भी **'श्रृङ्ग'** कहलाते हैं [शरण+√गम् > शर+म् ग (प्रत्ययलोपः) > शृ+म् ग > शृंग > शृङ्ग]। या शिर से निकले हैं, इसलिए **'श्रृङ्ग'** हैं [शिरस्+गम् > शिर्+म् ग > शृ+म् ग > शृंग > शृङ्ग]।[3]

२८. अयासः = नियमित गमनशील [√अय गतौ (१.३२०)+अच्+जस् > अय्+अ+अस्+असुक् > अय+अस्+अस् > अयासः]।[4]

२९. 'पाद' शब्द ''पद गतौ'' (४.५८) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि जिससे जाया जाता है, उसे **'पाद'** (पैर) कहते हैं [पद्यते गम्यतेऽनेनेति पादः। √पद्+घञ्[5] > पाद]। पशु के पैर स्वभावत चार होते हैं, इसलिए चौथे भाग को भी **'पाद'** कहते हैं। इस चौथाई विभाजन की समानता के कारण मन्त्र, श्लोक आदि के चौथाई विभाग को भी **'पाद'** कहते हैं [पाद इव पादः। पाद > पाद]।[6]

---

१. शृणातेर्ह्रस्वश्च (उणा० १.१२६)।
२. यद्यपि √शम् धातु पाणिनीय धातुपाठ में दिवादि में पठित है, पर यास्क क्र्यादिगण में मान रहें हैं।
३. श्रृङ्गाणि ज्वलतो नामधेयम् (निघं० १.१७.११)। श्रृङ्गाणि = शृङ्ग इवोच्छ्रितानि कर्माणि (दया०, ऋ० १.१६३.११)। श्रृङ्गाणीव चत्वारो वेदा नामाख्यातोपसर्गनिपाता वा (दया०, यजु० १७.९१)।
४. अयासः = विज्ञानवन्तः (दया०, ऋ० ३.१८.२)। ज्ञातारो गन्तारो वा (दया०, ऋ० ७.५८.२)। अयन्त इत्ययासः [गावः] (दया०, यजु० ६.३)।
५. पदरुजविशस्पृशो घञ् (अष्टा० ३.३.१६)।
६. पादौ = नीचस्थानीयौ (दया०, यजु० ३१.१०)।

३०. पदम् तन्निधानात्पदम्। (२.७)

३१. निर्ऋतिः* निर्ऋतिर्निरमणाद्, ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा। (२.७)

[खण्डम् – ४]

३२. माता मातान्तरिक्षम्– निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि। (२.८; १२.७)

३३. योनिः* योनिरन्तरिक्षम् महानवयवः– परिवीतो वायुना। अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव– परियुतो भवति । (२.८; २.१९)

---

३०. उस पाद (पैर) के रखने से जो चिह्न बनता है, उसे **'पद'** कहते हैं। [√पद गतौ (४.५८)+क[1] > पद / पादेन निर्वृत्तमिति पदम्। पाद + अण् > पाद > पद – छान्दसो ह्रस्वः]।

३१. पृथिवी पर लोग निश्चितरूप से व निश्शेषतया (पूर्णतया) रमते हैं, आनन्दित होते हैं, सुख भोगते हैं, अतः उसे **'निर्ऋति'** कहते हैं, अथवा निरमण अर्थात् निश्चलता से रमने, स्थिर रहने के कारण पृथिवी का नाम 'निर्ऋति' है[2] [निर्+√रमु क्रीडायाम् (१.५९२) +क्तिन् (अधिकरणे, कर्तरि वा) > निर्+र+ति > निर्+ऋ+ति > निर्ऋति]। दूसरा जो दुःखार्थक 'निर्ऋति' शब्द है, वह तो ''ऋ गतिप्रापणयोः'' (१.६७०) धातु से बनता है [निर्+√ऋ+क्तिन् > निर्ऋति]।[3]

३२. **'माता'** अन्तरिक्ष को कहते हैं, क्योंकि इसी में पूरा चराचर जगत् निर्मित होता है [√मा / √माङ् माने (=निर्माणे) (२.५५; ३.६)+तृच् / तृन्[4] > मातृ]।[5]

३३. **'योनि'** अन्तरिक्ष के उस महान् अवयव (एकदेश) विशेष का नाम है, जहाँ से वृष्टि होती है, क्योंकि वह स्थान वायु से परिवेष्टित होता है। यह जो दूसरी स्त्रीयोनि है, वह भी उसी कारण से **योनि** कहलाती है, क्योंकि वह मांसपेशियों से

---

१. घञर्थे कविधानम्० (वा० ३.३.५८)।
२. निरमणाद् निश्चलत्वेनावस्थानाद् इत्यर्थः (स्कन्दः, निरु० २.७)।
३. निर्ऋतिः पृथिवीनाम (निघं० १.१.१६)। निर्ऋते = नितराम् ऋतं सत्यं यस्यां तत्सम्बुद्धौ [स्त्रि] (दया०, यजु० ११.६३)। निर्ऋतिः = वायूनां रोगकारिका दुःखप्रदा गतिः (दया०, ऋ० १.३८.६)। निर्ऋतिम् = दुःखप्रदां कुनीतिम् (दया०, ऋ० ६.७४.२)। निरुद्धा ऋतिः गतिरुन्नतिरवगतिर्ज्ञानमिति वा निर्ऋतिः = अधोगतिः, अविद्या।
४. नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० (उणा० २.९७)।
५. मातरः नदीनाम (निघं० १.१३.३६)।

[**खण्डम् – ५**]

३४. वव्रिः* वव्रिरिति रूपनाम (निघं०३.७.२)– वृणोतीति सतः। (२.९)

तृतीयः पादः [**खण्डम् – १**]

३५. हिरण्यम्* हिरण्यं कस्मात्? ह्रियत आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनाज्जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवतीति वा, हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः। (२.१०)

परिवेष्टित होती है, जहां से सन्तान की उत्पत्ति होती है [√यु मिश्रणे अमिश्रणे च[1] (२.२६)+नि[2] > योनि]।[3]

३४. 'वव्रि' यह रूप का वाचक है, क्योंकि रूप आश्रित पदार्थ को आवृत (आच्छादित) करता है [(आ) वरणात् वव्रिः। √वृञ् वरणे (५.८)+कि[4] > वृ+इ > वृ वृ+इ > ववृ+इ > वव्रि]।[5]

३५. हिरण्य को हिरण्य क्यों कहा जाता है? १. लम्बा किया जाता हुआ खीचा जाता है, इसलिए **'हिरण्य'** कहलाता है [√हृञ् हरणे (१.६४०)+√यम उपरमे (१.७१०) > हृ+यम् > हिर्[6]+म्य > हिर्+न्य > हिरण्य]। २. क्रय-विक्रय, दान आदि के व्यवहारों में एक से दूसरे तक ले जाया जाता है, इसलिए भी **'हिरण्य'** कहलाता है [√हृ+जन > हिर्[6]+ज न् अ > हिर्+अ न् ज > हिर्+अ न् य > हिरण्य]। ३. दुर्भिक्षादि विपत्तियों में एवं व्याधियों में हितकारी होता है और साथ में

---

१. मिश्रण=वायु व मांसपेशियों से संयुक्त रहना, अमिश्रण=जल व शिशु का पृथक् होना।
२. वहिश्रिश्रुयु०(उणा०४.५१)।
३. योनिरिति उदकनाम (निघं०१.१२.६९), गृहनाम (निघं०३.४.१४)। योनिषु=युवन्ति मिश्रीभवन्ति येषु कार्येषु कारणेषु वा तेषु (दया०,ऋ०१.१५.४)।
४. आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (अष्टा०३.२.१७१)।
५. वव्रिः=अङ्गीकर्त्ता (दया०, ऋ०५.१९.१)।
६. बाहुलकाद् 'हिर्' आदेशः (उणा०५.४४)। 'हृञ इञ्च' (स०क०२.३.२०) इतीत्वं वा।

३६. अन्तरिक्षम्* अन्तरिक्षं कस्मात्? अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरेमे इति वा, शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा। (२.१०)

३७. समुद्रः* समुद्रः कस्मात्? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा। (२.१०)

रमणीय भी होता है, इसलिए भी **'हिरण्य'** कहलाता है [हितञ्च तद् रण्यं (रमणम्) चेति हिरण्यम्। हित+रमण > हि+रण्य[1] > हिरण्य]।[2] ४. हृदय को लुभाने वाला होता है, इसलिए भी **'हिरण्य'** कहलाता है [हृदय+रमण > हृ+रण्य > हिर्[3]+रण्य > हिरण्य]। ५. इच्छार्थक ''हर्य'' धातु से भी बनता है, क्योंकि सभी इसे प्राप्त करना चाहते हैं [√हर्य+कन्यन्[4] > हिर्+अन्य > हिरण्य]।[5]

३६. किस कारण से मध्यलोक को अन्तरिक्ष कहते हैं? १. मध्यलोक की सीमा से लेकर पृथिवीलोक तक विद्यमान रहता है, इसलिए **'अन्तरिक्ष'** कहते हैं [अन्तरा+क्षा[6]> अन्तरिक्ष] अथवा द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य में शान्त निश्चल रहता है, इसलिए **'अन्तरिक्ष'** नाम है [अन्तरा+√क्षमूष् सहने (१.३०१)+क्त[7] > अन्तरि+क्षान्त > अन्तरिक्ष]। २. द्यावापृथिवी के मध्य में निवास करता है, इसलिए भी **'अन्तरिक्ष'** नाम है [अन्तरा+इमे+ √क्षि निवासगत्योः (६.११६)+अच् > अन्तरा+इ+क्षय > अन्तरिक्ष]। ३. शरीरों (प्राणियों) में विद्यमान रहता हुआ भी अथवा शरीरों के नष्ट होने पर भी जो क्षय (क्षीण) नहीं होता वह **'अन्तरिक्ष'** कहलाता है [अन्तर्+अक्षय (न+√क्षि क्षये+अच्) > अन्तरिक्ष]।[8]

३७. समुद्र नाम का हेतु क्या है? १. समुद्र का जल तरंगों के रूप में या भाप

---

१. रमण, रमणीय, रण्य ये तीनों शब्द समानार्थक हैं (द्र०निरु०६.३३)। अतः यहां रमण के स्थान पर रण्यादेश हो गया। रमणीय > रणीय > रण्य।
२. अथवा द्विधातुजं रूपम्–हितोतेः रमतेश्च धातुद्वयात् समुदितात् कन्यन् प्रत्ययो बाहुलकाद् रूपसिद्धिश्च। हितञ्च तद् आपदि दुर्भिक्षादौ, रमयति च सर्वदा सर्वमिति (दैव०,नि०नि० १.२.५)।
३. बाहुलकाद् 'हिर्' आदेशः (उणा०५.४४)।
४. हर्यतेः कन्यन् हिर् च (उणा०५.४४)।
५. हिरण्यम् हिरण्यनाम (निघं०१.२.५)।
६. क्षा= पृथिवी (द्र०निरु०२.२२)।
७. द्र० स्कन्दः (निरु०२.१०)।
८. अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षनाम (निघं०१.३.६)। अन्तरिक्षम्=क्षयरहितमन्तर्यामिस्वाभाविकं ब्रह्मविज्ञानम् (दया०, यजु०७.५)। अन्तरिक्षस्य=अन्तरिक्षविज्ञानस्य (दया०, यजु०१४.५);

[खण्डम् – २]

३८. आर्ष्टिषेणः आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः, इषितसेनस्येति वा। (२.११)

(वाष्प) के रूप में ऊपर उठता है, इसलिए उसका नाम **'समुद्र'** है [सम्+उद्+√द्रु गतौ (१.६७७)+ड > समुद्+द्र्+अ > समुद्र]। २. पृथिवीस्थ एवं अन्तरिक्षस्थ समुद्र को अभिलक्षित कर चारों ओर से जल निरन्तर प्राप्त होता रहता है, इसलिए भी **'समुद्र'** नाम है [सम्+अभि+ √द्रु+ड > सम्+उद्+द्र्+अ > समुद्र]। ३. जिसमें आकाशगामी वा जलचर प्राणी प्रसन्न होते हैं, उसे **'समुद्र'** कहते हैं [सम्+√मुद हर्षे (१.१५)+रक्[१] > समुद्र]। ४. उभयलोकस्थ समुद्रों में उदक (जल) प्रभूत मात्रा में एकत्रित (संहत) रहता है, इसलिए भी **'समुद्र'** नाम है [सम्+उदक+र[२] > सम्+उद्[३]+र > समुद्र]। ५.उभय-लोकस्थ समुद्रों का जल सम्यक्तया गीला करने वाला होता है, इसलिए भी **'समुद्र'** नाम है [सम्+√उन्दी क्लेदने+रक्[४] > सम्+उद्+र > समुद्र]।[५]

३८. **'आर्ष्टिषेण'** का अर्थ 'ऋष्टिषेण का पुत्र' है [ऋष्टिः=तेज तलवार, भाला आदि शस्त्र। √ऋषी गतौ+क्तिन् > ऋष्टिः[६]। ऋष्टिप्रधाना सेना यस्य स ऋष्टिषेणः, तस्य पुत्र आर्ष्टिषेणः— ऋष्टिषेण+अण् > आर्ष्टिषेणः। विजयार्थम् ऋष्टा (प्र) इषिता सेना यस्य स ऋष्टिषेणः, तस्य वा पुत्र आर्ष्टिषेणः] और 'इषितसेन का पुत्र' भी **आर्ष्टिषेण** कहलाता है [इषिता गतिशीला सेना यस्य स इषितसेनः, तस्य पुत्रः आर्ष्टिषेणः। इषितसेन > ऋषितसेन > ऋष्टिषेण+अण् > आर्ष्टिषेण]।

जलस्य (दया०, यजु०१४.१४; द्र०ऋ०३.३४.१०)। अन्तः सर्वेषां मध्ये सन् ईक्षते जीवानां धर्माधर्मं निरीक्षत इतीश्वर अन्तरिक्षः=अन्तर्यामी होता हुआ धर्माधर्मादि सब को जानने के कारण ईश्वर का नाम 'अन्तरिक्ष' है।

१. स्फायितञ्चि....मदिमुदि...रक् (उणा०२.१३)।
२. मत्वर्थीयो रप्रत्ययश्छान्दसः।
३. संज्ञायामुत्तरपदस्य उदकशब्दस्य उदादेशो भवतीति वक्तव्यम् (का०६.३.५७)।
४. स्फयितञ्चि..उन्दिश्विति...रक् (उणा०२.१३)। अनिदिताम्० (अष्टा०६.४.२४) इति नलोपः।
५. समुद्रः अन्तरिक्षनाम (निघं०१.३.१५)।
६. ऋष्टयः=ज्ञानवन्तः (दया०, ऋ०५.५७.६)। गमनागमनशीलाः [वायवः] (दया०, ऋ०१.६४.४)। शस्त्रास्त्राणि (दया०, ऋ०५.५४.११)। ऋष्टिः=प्रापिका [वाक्] (दया०, ऋ०१.१६७.३)। ऋष्टिभिः=ऋषन्ति जानन्ति प्राप्नुवन्ति व्यवहारांस्ताभिः [वाणीभिः] (दया०, ऋ०१.३७.२)।

३९. सेना सेना सेश्वरा, समानगतिर्वा। (२.११)

४०. पुत्रः पुत्रः पुरु त्रायते, निपरणाद्वा, पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा। (२.११)

४१. ऋषिः ऋषिः दर्शनात्, स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद् यदेनाँस्तप-स्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वम् इति

३९. **'सेना'** वह कहलाती है, जो ईश्वर (स्वामी, नेता) सहित है [इनेन=ईश्वरेण[१] सह वर्तत इति सेना। सह+इन+आ > स+इना > सेना]। समान गति वाली को भी **सेना** कहते हैं [समानम् इनं गतिर्यस्याः सा सेना। स+√इण् गतौ (२.३८)+नक्[२]+टाप् > स+इना > सेना]।

४०. **'पुत्र'** वह है, जो (अन्यों की अपेक्षा) पुरु=अधिक रक्षा करता है[३] [पुरु+√त्रैङ् पालने (१.६९२)+क > पुरु+त्रा+अ > पुत्र]। निश्चितरूप से माता-पिताओंका पालन-पोषण करने वाला, उनकी इच्छाओं को पूर्ण करने वाला भी **पुत्र** कहलाता है [√पॄ पालनपूरणयोः+क्त्र[४] > पृ+त्र > पुत्र]। जो मातापिताओंकी पुत्=नरक (दुःखादियों) से रक्षा करता है, वह भी **पुत्र** कहलाता है [पुत्+√त्रै+क > पुत्+त्रा+अ > पुत्र > पुत्र]।[५]

४१. जो अतीन्द्रिय सूक्ष्मतत्त्वोंका दर्शन करता है, जानता है, वह **'ऋषि'** कहलाता है [√दृशिर् प्रेक्षणे (१.७१४)+इन् (किद्)[६] > दृषि > ऋषि अथवा √ऋषी दर्शने[७]+इन् (किद्) > ऋषि]। औपमन्यव आचार्यका मानना है कि— केवल मन्त्रोंके

१. इन ईश्वरनाम (निघं०२.२२.४)।
२. इण्सिञ्जि० (उणा०३.२)।
३. सर्वथा सदा पुरु बहु त्रायत इति पुत्रः (नि०समु०१.५)। पुत्रः पुरु त्रायत इत्यविभक्तिको निर्देशः। पुरुणो दृष्टादानुश्रविकात् (=लौकिकात् पारलौकिकात्) च दुःखात् त्रायत इति पुरुषः सन् द्विवर्णलोपेन पुत्रः (स्कन्दः, निरु०२.११)।
४. पुवो ह्रस्वश्च (उणा०४.१६६) इति बाहुलकात् पॄधातोरपि क्त्रः।
५. पुत्रः! =बलस्य पालक [राजन्] (दया०, ऋ०५.३.१)। पुत्रम्=प्रसिद्धं प्राणम् (दया०,ऋ० १.९६.३)। पुत्रः=यः पुम्नाम्नो वृद्धावस्थजन्यदुःखात् त्रायते सः [पुत्रः]। अत्राह मनुः— "पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा" [मनु०९.१३८] (दया०, यजु०८.५)। पुत्राय=पवित्रकारकाय अग्निपुत्राय वा। ...पवित्रकर्त्रे सूर्याय परमात्मने वा (दया०, यजु०४.३५) [√पूञ् पवने (९.१०)/√पूङ् पवने (१.६९३) +MP— पुवो ह्रस्वश्च (उणा०४.१६६) > पु+त्र > पुत्र]।
६. इगुपधात् कित् (उणा०४.१२१)।
७. ऋषी गतौ (६.७) इति पाणिनिः।

विज्ञायते। (२.११; १४.१३)

४२. देवापिः देवापि देवानाम् आप्त्या, स्तुत्या च प्रदानेन च। (२.११)

४३. उत्तरः उत्तर उद्धततरो भवति। (२.११)

४४. अधरः अधरोऽधोरः। (२.११)

४५. अधस् अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा। (२.११)

गूढार्थका दर्शन करनेवाला ही **'ऋषि'** कहलाता है। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थोंसे ऐसा ही बोध होता है— तप करने वालों के सम्मुख ब्रह्म (=अपौरुषेय व नित्य वेदार्थ) स्वयं आकर प्रत्यक्ष हुआ, इससे वे **ऋषि** बनगये, यही उनका ऋषिपन है [√ऋषी प्राप्तौ[१]+इन् > ऋषि]।[२]

४२. स्तुतिसे और हवि आदिके प्रदानसे देवताओं की प्राप्ति की इच्छा करने वाला ही **'देवापि'** कहलाता है [देव+√आप्लृ प्राप्तौ+इन्[३] > देवापि]।

४३. जो अत्यन्त उद्धत (ऊपर उठा हुआ, उत्कृष्ट, अतिविस्तीर्ण) है, वह **'उत्तर'** कहलाता है[४] [उत्+√हन गतौ (२.२)+त > उद्+हत > उद्धत+तरप् > उद्धततर (=उद्गततर) > उत्तर > उत्तर, 'हत' इत्येतस्य लोपः]।[५]

४४. **'अधरः'** का अर्थ है, जो नीचे की ओर गत (गया हुआ) है [अध ऋच्छति इयर्ति गच्छतीति अधरः। अधस्+√ऋ गतौ (१.६७०; ३.१६)+अच् > अधस्+अर्+अ > अधस्+अर > अधोर > अधर; अथवा रो मत्वर्थे, अधोमान् इत्यर्थ इति स्कन्दः अर्थात् नीचे वाला, नीचे गतिवाला **'अधरः'** कहलाता है]।

४५. जो ऊपर की ओर नहीं दौड़ता, वह **'अधस्'** है [ऊर्ध्वं न धावतीति अधः। नञ्+√धावु गतौ (१.३९७)+असुन्[६] > अ+धाव्+अस् > अधस्]।

---

१. √ऋषी गतौ (६.७) इति पाणिनिः।
२. ऋषीन्=ऋषीणानि ज्योतींषि, ऋषीणानीन्द्रियाणि (यास्कः, निरु०१०.२६)। ऋषयः= आदित्यरश्मयः, इन्द्रियाणि (यास्कः, निरु०१२.३७)।
३. सर्वधातुभ्यः इन् (उणा०४.११९)।
४. उत्तरन्ति येन तद् उत्तरम् (दया०, ऋ०६.१६.१७) [उत्+√तृ+अप्]।
५. अयं वै (भूः) लोकोऽद्भ्य उत्तरः (शत०१४.३.१.२८)। तेषु ह वा एष एतदध्याहितस्तपति, स वा एष (सूर्यः) उत्तरोऽस्मात् सर्वस्माद् भूताद् भविष्यतः सर्वमेवेदमतिरोचते यदिदं किञ्च (ऐ०ब्रा०४.१८) [उत्+√तॄ प्लवनसन्तरणयोः (१.६९६)+अप् > उत्+तर्+अ > उत्तर]।
६. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा०४.१९०) बाहुलकात् डित्।

[खण्डम् – ३]

४६. शन्तनुः शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा। (२.१२)

४७. पुरोहितः पुरोहितः पुर एनं दधति। (२.१२)

४८. देवश्रुत् देवश्रुत् देवा एनं श्रृण्वन्ति। (२.१२)

४९. रराणः रराणो रातिरभ्यस्तः। (२.१२)

---

४६. हे तनो[१] (शरीरादि)! तेरा कल्याण हो (ऐसी कामना करने वाला) **'शंन्तनु'** कहलाता है अथवा 'तुम निरोग हो' ऐसा कहते ही तनु स्वस्थ हो जाता है, ऐसी समर्थ वाणी वाला **'शन्तनु'** कहलाता है। 'इसका तनू (शरीरादि) से कल्याण हो' ऐसी कामना वाला भी **'शन्तनु'** कहलाता है [शम्+तनु > शम्तनु > शन्तनु]।

४७. यज्ञादि कार्यों में जिसे सामने धारण किया जाता है, आगे रखा जाता है अर्थात् मुख्य बनाया जाता है, उसे **'पुरोहित'** कहते हैं[२] [पुरस्+√धा धारणपोषणयोः+क्त पुरस्+हित > पुरोहित]।

४८. देवश्रुत् का अर्थ है— देवता जिसकी वाणी को, प्रार्थना को अवश्य सुनते हैं, वह **'देवश्रुत्'** है [देव+√श्रु श्रवणे (१.६७५)+क्विप् > देवश्रु+तुक् > देवश्रुत्]।[३]

४९. ''रा दाने'' (२.५०) इसके द्वित्त्वरूप से अर्थात् यङ्लुगन्त धातु से शानच्-प्रत्यय होकर **'रराण'** शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है— बहुत देने वाला, उदारशील।

---

१. तन्यत इति तनुः।
२. पुरो निहितः अग्रतः कृतः....वृत्रवधादीनि कर्माणि कर्तुं प्रधानीकृत इत्यर्थः। केन? सामर्थ्याद् देवैः (स्कन्दः, ऋ०१.४४.१०)। देवानां पुरः स्थापयिता (सायणः, ऋ०१०.१५०.५)। पुरस्ताद्धितकारी (दया०, ऋ०३.३.२; सायणः, ऋ०१०.१२२.४)।
३. देवश्रुत्=यो देवान् विदुषः श्रृणोति सः [सर्वश्रोता जगदीश्वरः] (दया०, यजु०३७.१८)। देवश्रुतः=या देवान् श्रृण्वन्ति ताः [प्रजाः] (दया०, यजु०६.३०)।

चतुर्थः पादः [खण्डम् – १]

५०. आदित्यः* आदित्यः कस्मात्? आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासेति वा, अदितेः पुत्र इति वा। (२.१३)

५१. व्रतम्* व्रतमिति कर्मनाम (निघं०२.१.७)– वृणोतीति सतः, इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म, वारयतीति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते– यदावृणोति शरीरम्। (२.१३)

---

५०. आदित्य शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त क्या-क्या हैं? सूर्य रश्मियों से जलादि रसों का ग्रहण करता है, शोषण करता है, इसलिए वह **'आदित्य'** कहलाता है [आ+√डुदाञ् दाने (३.९)+यक्[१] > आ+दित्+य > आदित्य]। और वह सूर्य उदित होकर अर्थात् दिन में नक्षत्रादियोंकी ज्योति का हरण करता है, इसलिए भी सूर्य **'आदित्य'** कहलाता है [आ+दा (दित्)+यक्]। सूर्य अपनी ही दीप्तिसे प्रदीप्त होता है, इसलिए भी वह **'आदित्य'** कहलाता है [आ+√दीपी दीप्तौ (४.४१)+यक् > आ+दित्+य > आदित्य]। सूर्यादि देव अदिति (=अविनाशी प्रकृति या परमेश्वर) के पुत्र होने से[२] 'आदित्य' कहलाते हैं [अदिति+ण्य[३] > आदित्य]।[४]

५१. **'व्रतम्'** यह कर्मका नाम है,[५] क्योंकि किये गये शुभाशुभ कर्म फलप्राप्ति तक आत्मा को अवश्य आच्छादित करते हैं [√वृञ् आवरणे (१०.२३७)+अतच्[६] > वृ+अत > व्र्+अत > व्रत]। बन्धन का हेतुभूत कर्मवाची व्रत से भिन्न जो दूसरा अहिंसादि यम का वाचक[७] व्रतशब्द है, वह भी ''वृञ् धातु'' से ही निष्पन्न होता है,

---

१. अघ्न्यादयश्च (उणा०४.११३)।
२. ''सूर्यमादितेयम्''(ऋ०१०.८८.११)। आदितेयम् = अदितेः पुत्रम् (निरु०७.२९)।
३. दित्यदित्यादित्य० (अष्टा०४.१.८५)।
४. आदित्यासः = ''सुसेवितेनाष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्येण शरीरात्मबलसाहित्येनादित्यवत् प्रकाशिता अविनाशिधर्मविज्ञाना विद्वांसः। आदित्या इति पदनामसु पठितम् (निघं० ५.६.२४)। अनेन ज्ञानवत्त्वं सुखप्रापकत्वं च गृह्यते (दया०, ऋ०१.४१.४)। 'आददानो यातीत्यादित्यः' इत्यपि व्युत्पत्तिः [आङ्+ दा+ या=आदित्य]।
५. व्रतम् =कर्म (निरु०१२.३२,४५; ११.२३)। व्रता=व्रतानि शरीरात्ममनोजानि धर्म्याणि कर्माणि (दया०, ऋ०२.२७.८)।
६. पृषिरञ्जिभ्यां कित् (उणा०३.१११)।
७. द्र० योगदर्शन २.३०,३१।

[खण्डम् – २]

५२. स्वः* स्वरादित्यो भवति– सु-अरणः, सु-ईरणः, स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषाम्, स्वृतो भासेति वा, एतेन द्यौर्व्याख्याता। (२.१४)

पर यहाँ वृञ्धातु का अर्थ निवृत्ति है। क्योंकि यमनियम मनुष्यों को दुष्प्रवृत्तियों से, भोगवासनाओंसे, दुःख-क्लेशोंसे, बन्धनोंसे निवृत्त करते हैं, इसीलिये वे **व्रत** कहलाते हैं [√वृञ् निवारणे+अतच् > व्रत]। अन्न भी **व्रत** कहलाता है, क्योंकि वह रस, रक्त, मांस, मज्जा आदि के रूप में पूरे शरीर में व्याप्त रहता है [√वृञ् आवरणे+अतच् > व्रत]।[१]

५२. **'स्वर्'** आदित्य का वाचक है[२], क्योंकि वह अच्छी तरह (नियमबद्ध) चलने वाला है अथवा सुखप्रदान के लिए चलने वाला है [सु+√ऋ गतिप्रापणयोः (१.६७०)+विच्[३] > सु+अर् > स्वर्]। सभी प्राणियों को अच्छी तरह प्रेरणा देने वाला है (कार्यों में प्रवृत्त कराने वाला है) अथवा सुख (अनायास) से या सम्यक्तया अन्धकार को भगाने वाला है, इसलिए भी आदित्य **'स्वर्'** कहलाता है [सु+√ईर् गतौ कम्पने च (२.८)+विच् > सु+ईर् > सु+अर् > स्वर्]। वृक्षादियों के रसों में अपने दिव्यगुणों को भरने हेतु किरणों के माध्यम से उनमें अच्छी तरह व्याप्त है अथवा रसों (जलों) को ग्रहण करने हेतु गया हुआ है, इसलिए भी आदित्य **स्वर्** है [सु+√ऋ+विच् > स्वर्]। ज्योतियों = पृथिव्यादिग्रहों में प्रकाश को भरने (प्रकाशित करने) हेतु उनमें व्याप्त है अथवा पृथिव्यादियों को प्रकाशित करने के लिए ही अच्छी तरह निर्मित है, इसलिए भी आदित्य **स्वर**भिधेय है [सु+√ऋ+विच् > स्वर् अथवा सु+कृत > सु+ऋत > स्वृत > स्वृ > स्वर्]। और आदित्य स्वयं अपनी ही दीप्ति से व्याप्त है, इसलिए भी **स्वर्** कहाता है [सु+√ऋ+विच् > स्वर्]। इन्हीं निर्वचनों से द्यौ (आकाश) अर्थ वाले **स्वर्**[४] की भी व्याख्या जान लेनी चाहिए।[५]

---

१. व्रतम्=वाक्संयमः, तु० व्रतचारिणः=अब्रवाणाः (निरु०९.६), कृतवाक्संयमाः (दुर्गः, निरु० तत्रैव)।
२. स्वर्दृशः=सूर्यदृशः (निरु०१०.१३), स्वर्विदि=सूर्यविदि (निरु०७.२५)।
३. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अष्टा०३.२.७५)।
४. सुवर् (=स्वर्) इत्यसौ (द्यु) लोकः (तै०आ०७.५.१, तै०उप०१.५.१)।
५. स्वः उदकनाम (निघं०१.१२.८६)।स्वः साधारणम् [=द्यौरारित्यश्च] (निघं०१.४.१)।स्वर्-शब्द सर्वार्थक निपात भी है। द्र० वररुचि (निरु०स०१.२५), स्कन्द०(ऋ०१.५२.९, निरु०१२.२६), उद्गीथ (ऋ०१०.२०.२, १०.६५.४), वेंकटमाधव (ऋ०१०.२०.२)। स्वर=

५३. पृश्निः* पृश्निरादित्यो भवति– प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्, संस्पृष्टो भासेति वा। अथ द्यौः– संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। (२.१४)

५४. नाकः* नाक आदित्यो भवति– नेता रसानाम्, नेता भासाम्,

---

५३. **'पृश्नि'** भी आदित्य का वाचक होता है, क्योंकि उसे शुभ्रादि वर्ण प्राप्त करते हैं[१], ऐसा नैरुक्त आचार्यों का मत है [प्र+√अशूङ् व्याप्तौ संघाते च (५.१८)+निन्[२] > पृ+अश्+नि > पृश्+नि > पृश्नि]। आदित्य रसों को अच्छीतरह से स्पर्श करने वाला है[३], इसलिए भी वह **'पृश्नि'** कहलाता है [(सम्+) √स्पृश् संस्पर्शने (६.१३१)+निन् > पृश्+नि > पृश्नि]। आदित्य नक्षत्रों की कान्ति का अच्छीप्रकार से स्पर्श करने वाला है, अर्थात् दिन में नक्षत्रों की ज्योति को नष्ट करने वाला है, इसलिए भी **'पृश्नि'** कहा जाता है [√स्पृश्+निन् > पृश्नि]। आदित्य अपनी कान्ति से सब ओर से अच्छी प्रकार से स्पृष्ट (युक्त) है [पूर्ववत्]। अब द्यौः (आकाश) अर्थ वाले पृश्नि शब्द की व्याख्या करते हैं– द्यौः नक्षत्रों और पुण्यकर्ताओं के द्वारा अच्छी तरह से स्पृष्ट (युक्त) है [√स्पृश्+निन् > पृश्नि]।[४]

५४. **'नाक'** का अर्थ 'आदित्य' है, क्योंकि वह रसों का नेता (ले जाने वाला) है। वह प्रकाशों का भी नेता है अर्थात् प्रकाश को सब दिशाओं में ले जाने वाला, इसलिए भी आदित्य **'नाकः'** कहलाता है। ज्योतिष्पिण्डों (ग्रहों) का प्रणेता (प्रेरक) अर्थात् उनकी गति का नियामक है, इसलिए भी आदित्य **'नाकः'** पदवाच्य है [√णीञ् प्रापणे (१.६४२)+ण्वुल् (अक) > नायक > नाक / √नी+आक[५] > नाक — टिलोपो निपात्यते]।

देवयजन (मुद्ल, सुष्ठु अरणीये देवयजने– ऋ॰१.७०.७-८, सुष्ठु अरणीयम् असुरराहित्येन सुखेन प्राप्यम्–ऋ॰१.७१.२)। स्वर्=उदकम् (दया॰ऋ॰२.२३.३, स्वामी दयानन्द जी ने स्वर् शब्द का अर्थ प्रायः सुख ही किया है–द्र॰ऋ॰१.५०.५ आदि)। आदित्यमिव विद्याप्रकाशम् (दया॰ऋ॰५.८०.१)। द्र॰ स्वसराणि (निरु॰५.४)।

१. पृश्निगर्भाः = प्राष्टवर्णगर्भाः आप इति वा (निरु॰१०.३९)।

२. घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः (उणा॰४.५३)।

३. स्पृशति संयुक्तो भवतीति पृश्निः (दया॰, उणा॰४.५३)।

४. पृश्निः साधारणं दिवश्चादित्यस्य (निघं॰१.४.२)। पृश्नयः=सुस्पर्शास्तन्वङ्ग्यः [कोमल-शरीराङ्गवाली स्त्रियाँ]। अत्र स्पृशधातोर्निः प्रत्ययः सलोपश्च (दया॰, यजु॰१२.५५)। प्रष्टव्याः [पशवः] (दया॰, यजु॰२४.१४)। विचित्रचिह्नाः [प्राणिनः] (दया॰, २४.१५)।

५. पिनाकादयश्च (उणा॰४.१६)।

ज्योतिषां प्रणयः। **अथ द्यौः**– कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत। (२.१४)

५५. गौः* गौरादित्यो भवति– गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति। यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति। (२.१४; द्र॰२.५-६; १२.७)

५६. विष्टप्* विष्टब् आदित्यो भवति– आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषाम्, आविष्टो भासेति वा। अथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। (२.१४)

नाक शब्द द्युलोक का भी वाचक है, क्योंकि 'कम्' का अर्थ है– सुख, उससे (सुखसे) रहित (अकम्=दुःखम्) का जिसमें प्रतिषेध (अभाव) है, वह **नाक** कहलाता है [न+कम् > अकम्; न+अकम् > नाकम्[१]]।[२]

५५. **'गो'** का अर्थ 'आदित्य' होता है, क्योंकि वह रश्मियों से रसों (जलों) को अन्तरिक्षलोक में पहुँचाता है [√गम्लृ गतौ (१.७०९)+णिच्+डो > गम्+ओ > ग्+ओ > गो]। अन्तरिक्ष में गमन करता है, इसलिए भी आदित्य का नाम **'गो'** है [√गम्+डो > ग्+ओ > गो]। **'गो'** का अर्थ द्युलोक भी है, क्योंकि वह पृथिवी से अधिक दूर तक गया हुआ है और इसमें सूर्यादि नक्षत्र एवं पृथिव्यादि ग्रह गमन करते हैं, इसलिए भी द्युलोक का नाम **'गो'** है [√गम्+डो > गो]।[३]

५६. **'विष्टप्'** का अर्थ 'आदित्य' होता है, क्योंकि वह रसों में पूर्णतया प्रविष्ट है और वह ज्योतिष्पिण्डों की कान्ति में पूर्णतया समाया हुआ होने से भी **'विष्टप्'** कहलाता है तथा वह अपनी कान्ति से चारों ओर व्याप्त है इसलिए भी **'विष्टप्'** कहलाता है [(आ+) √विश प्रवेशने+तपँक् > विश्+तप् > विष्टप्]। विष्टप् शब्द द्युलोक का भी वाचक है, क्योंकि वह द्युलोक नक्षत्रादि ज्योतिष्पिण्डों से आविष्ट (व्याप्त) है और पुण्यकर्ताओं से युक्त है, अत एव द्युलोक भी **'विष्टप्'**

---

१. नभ्राण्नपान्...नक्रनाकेषु प्रकृत्या (अष्टा॰६.३.७४)। नाके=दुःखरहिते हविर्धानाख्ये स्थाने (सायणः, ऋ॰९.८५.१०)।

२. नाकः साधारणं नाम दिवश्चादित्यस्य (निघं॰१.४.३)।

३. गौः साधारणं नाम दिवश्चादित्यस्य (निघं॰१.४.४)।

५७. नभः* नभ आदित्यो भवति– नेता रसानाम्, नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः। अपि वा भन एव स्याद् विपरीतः, न न भातीति वा, एतेन द्यौर्व्याख्याता। (२.१४)

कहलाता है।[1] [(आ+)√विश्+तपँक् > विष्टप्]।[2]

५७. **'नभस्'** आदित्य को कहते हैं, क्योंकि वह रसों का नेता है [√णीञ् प्रापणे (१.६४२)+असुन्[3] > नयस् > नभस्, बाहुलकाद् यकारस्य भकारः]। वह प्रकाश का प्रणेता अर्थात् सब दिशाओं में प्रकाश को ले जाने वाला है, इसलिए भी वह आदित्य **'नभस्'** कहलाता है [√भा दीप्तौ (२.४४)+ड[4] > भः नक्षत्रम्, भानां नेता भनः, भनः > नभः / √भास्+नी+ड > भास्-न > नभास् > नभस्]। वह ग्रहों का प्रेरक (सञ्चालक) है, इसलिए भी आदित्य **नभस्** कहलाता है [पूर्ववत्]। भासमान होने के कारण आदित्य **'नभस्'** कहलाता है अर्थात् 'भासन' शब्द से 'भनस्' शब्द बनता है और भनस् के वर्णविपर्यय से नभस् शब्द बनता है [भासन > भानस् > भनस् > नभस् / भदि ज्वलतिकर्मा (निघं० १.१६.७)+असुन् > भन्दस् > भनस् > नभस्]। न भातीति न = वह प्रकाशित नहीं होता, ऐसा नहीं है अर्थात् वह अवश्य ही प्रकाशित होता है, इसलिए आदित्य **'नभस्'** कहाता है [न+न+√भा दीप्तौ+डसुन् > न+अभः > नभः]। इन्हीं निर्वचनों से द्यु-अर्थक नभस् की व्याख्या भी जानें।[5]

---

१. विटपविष्टपविशिपोलपाः (उणा० ३.१४५) इत्यत्र तु अकारान्तो विष्टपशब्दः कपन्प्रत्ययान्तः तुडागमेन निपातितः। विष्टपम्=विष्टान् प्रविष्टान् पाति येन तत् [नाकम्, सुखम्] (दया०, यजु० १८.५१) [विष्ट+√पा रक्षणे (२.४९)+क > विष्ट+प्+अ > विष्टप्]। विष्टपम्= व्यप्तिम्। अत्र विषधातोर्बाहुलकादौणादिकस्तपः प्रत्ययः (दया०, यजु० १४.२३)। विष्टपाय= विशन्ति यत्र तस्मै मार्गाय (दया०, यजु० ३०.१२)।
२. विष्टप् साधारणं नाम दिवश्चादित्यस्य (निघं० १.४.५)।
३. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४.१९०)।
४. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अष्टा० ३.२.१०१)।
५. अन्तरिक्षं वै नभांसि (तै० सं० ३.८.१८.१)। चत्वारि वै नभांसि देवाः पितरो मनुष्या असुराः (मै० सं० ४.२.१)। नभः साधारणं नाम दिवश्चादित्यस्य (निघं० १.४.६)। नभः उदकनाम (निघं० १.१२.४)। उणादौ पाणिनिस्तु नभ हिंसायाम् धातोः नभस्– शब्दं साधयति- अत्यविचमि...नभितपिपति० (उणा० ३.११७) [नभ्+असच् > नभस्]। नभः=यो नभते हन्ति परपदार्थाहर्तृन् सः [भगवान् विद्वान् जनो वा]। नभत इति वधकर्मसु पठितम् [निघं० २.१९.१०] (दया०, यजु० ५.३२) [नभ्+असुन् > नभस्]। नह्यन्ति घना यस्मिन् स श्रावणो मासः (दया०, यजु० १४.१५) [√णह बन्धने (४.५५)+असुन् > नह्+अस् > नभस्]। सुखम्, नभ इति साधारणनामसु पठितम् [निघं० १.४.६] (दया०, यजु० २.२२)। जलं प्रकाशं वा (दया०, यजु० ५.९)। नभोभिः=अन्नादिभिः पदार्थैः (दया०, ऋ० २.४.६)।

पञ्चमः पादः [खण्डम् – १]

५८. रश्मिः* रश्मिर्यमनात्। (२.१५)

५९. दिशः दिशः कस्माद्? दिशतेः, आसदनात्, अपि वाभ्यशनात्। (२.१५)

६०,६१. काष्ठाः*, काष्ठा काष्ठा दिशो भवन्ति (निघं० १.६.५)– क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। काष्ठा उपदिशो भवन्ति– इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। आदित्योऽपि काष्ठोच्यते– क्रान्त्वा स्थितो भवति।

---

५८. नियमन करने के कारण रश्मि को **'रश्मि'** कहते हैं[1] [√यम उपरमे (१.७१०)+इन्[2] > यम्+इ > रश्म्+इ (धात्वादेः यकारस्य रशादेशः) > रश्मिः]।[3]

५९. दिशा को दिक् (श्) क्यों कहते हैं? ''दिश्धातु'' से निष्पन्न होने से अर्थात् जिसकी ओर अंगुली आदि के द्वारा निर्देश किया जाता है अथवा सूर्य से जिसका निर्देश होता है, वह **'दिक्'** कहलाती है [दिश्यन्ते निदिश्यन्त उपदिश्यन्त इति दिशः। √दिश अतिसर्जने (६.३)+क्विन्[4] > दिश्]। प्रत्येक वस्तु के समीप में होने से भी **'दिक्'** नाम है [आ+√सद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (१.५९३)+क्विन् > सद् > दस् > दिश्]। व्यापक होने के कारण भी **'दिक्'** नाम है [(अभि+)√अशूङ् व्याप्तौ (५.१८)+क्विन् > अश् (दडागमेन) > द्-इश् > दिश्]।

६०-६१. **'काष्ठा'** का अर्थ दिशाएँ हैं, क्योंकि वे प्रत्येक पदार्थ को घेर कर स्थित रहती हैं [क्रान्त्वा +√स्था > क्रा+स्था > कास्था > काष्ठा]। काष्ठा का अर्थ उपदिशाएँ भी होता है, क्योंकि वे एक दूसरे का अतिक्रमण करके दिशाओं के व्यवधान में स्थित रहती हैं [पूर्ववत्]। आदित्य को भी **'काष्ठा'** कहते हैं, क्योंकि वह सब लोकों

---

१. रश्मयः रश्मिनाम (निघं० १.५.४)।
२. सर्वधातुभ्य इन् (उणा० ४.११९)।
३. उणादौ तु व्युत्पत्तिरेवं दृश्यते– अश्नोते रश च (४.४७), √अश्+मि > रश्+मि > रश्मि। रश्मिः=येनाश्नाति सः [व्यवहारः] (दया०, यजु० १८.१९)। रश्मयः=रज्जवः किरणा वा (दया०, यजु० २९.४२)। रश्मिभिः=प्रकाशकैर्गुणैः किरणैर्वा (दया०, यजु० १.३१)।
४. ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिग्० (अष्टा० ३.२.५९)।

आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते— क्रान्त्वा स्थितो भवति। आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते— क्रान्त्वा स्थिता भवन्तीति स्थावराणाम्। (२.१५)

[**खण्डम् – २**]

६२. शरीरम् शरीरं श्रृणातेः, शम्नातेर्वा। (२.१६; ३.५)

६३. दीर्घम् दीर्घं द्राघतेः। (२.१६)

६४. तमस्* तमस्तनोतेः। (२.१६)

का अतिक्रमण कर स्थित है [पूर्ववत्]। युद्धक्षेत्र[१] का अन्तिम भाग भी **'काष्ठा'** कहलाता है, क्योंकि वह सब का अतिक्रमण कर स्थित होता है [पूर्ववत्]। जल भी **'काष्ठा'** कहलाता है, क्योंकि वह जलाशयादि में चलकर स्थित हो जाता है। यह जलवाची निर्वचन स्थावर (तालाब आदि के स्थिर) जल का है।[२]

६२. शरीर शब्द ''श्रॄ हिंसायाम्'' (९.१७) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि जो शीर्ण (नष्ट) होने वाला है, वह **'शरीर'** कहलाता है [शीर्यते हिंस्यत इति Æy°ª 1@/ शॄ+ईरन्[३] > शर्+ईर > शरीर]। ''शम्नाति[४] वधकर्मा'' (निघं०२.१९.२६) धातु से भी शरीर शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि जो नष्ट होता है, वह **'शरीर'** कहलाता है [√शम्+ईरन्[३] > शर्+ईर > शरीर]।[५]

६३. दीर्घ शब्द ''द्राघृ सामर्थ्ये आयामे च'' (१.७८, ७९) धातु से सिद्ध होता है । जो लम्बा होता है, वह **'दीर्घ'** कहलाता है [√द्राघ्+अच् > दीर्घ्[६]+अ > दीर्घ]।

६४. तमस् शब्द ''तनु विस्तारे'' (८.१) धातु से उपपन्न होता है। अन्धेरा

१. आजौ (=आजिः) संग्रामनाम (निघं०२.१७.८)।
२. काष्ठाः=मर्यादाभूतान् परिधीन् (सायणः, ऋ०४.५८.७)। काष्ठासु=परस्परं क्रान्त्वा वर्तमानासु दशसु दिक्षु (सायणः, ऋ०६.४६.१)। काष्ठानाम्=काश्यन्ते प्रकाश्यन्ते यासु ताः दिशः...अत्र ''हनि कुषीनीरमिकाशिभ्यः क्थन्'' (उणा०२.२) इति क्थन् प्रत्ययः (दया०, ऋ०१.३२.१०)।
३. कॄशॄपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन् (उणा०४.३१)।
४. पाणिनीय धातुपाठ में शम्धातु उपशम के अर्थ में पठित है— √शमु उपशमे (४.९१)। वह भी दिवादि में पठित होने से उसका रूप 'शाम्यति' बनता है।
५. अथ यत् सर्वम् अस्मिन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरम् (शत०६.१.१.४) [√श्रिञ् सेवायाम् (१.६३८)+ईरन् > श्रि+ईर > शर्+ईर > शरीर]।
६. प्रियस्थिरस्फिरोरु० (अष्टा०६.४.१५७) सूत्र से जिसप्रकार 'दीर्घ' को 'द्राघ' आदेश होता है, उसीप्रकार यहाँ 'द्राघ्' को 'दीर्घ्' आदेश हो जाता है।

६५. आशयत् आशयद् आशेतेः। (२.१६)

६६. इन्द्रशत्रुः इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा, शातयिता वा। तस्मादिन्द्रशत्रुः। (२.१६)

६७. शत्रुः शमयिता वा शातयिता वा। (२.१६)

[**खण्डम् – ३**]

६८. दासः दासो दस्यतेः— उपदासयति कर्माणि। (२.१७)

विस्तृत (व्याप्त) होता है, फैल जाता है, अतः वह 'तमस्' कहलाता है [√तन्+असुन्[१] > तम्+अस् > तमस्]।[२]

६५. 'आशयद्' शब्द आङ्पूर्वक ''शीङ् स्वप्ने'' (२.२५) धातु के लङ् लकार प्रथमपुरुष एकवचन का रूप है [आङ्+अट्+√शी+शप्+तिप् (लङि) > आ+अ+शे+अ[३]+त् > आशयद्]।

६६. 'इन्द्रः शत्रुः यस्य सः (मेघः)' इसप्रकार बहुव्रीहि समास होकर इन्द्रशत्रु शब्द निष्पन्न होता है। और शत्रु शब्द ''शमु उपशमे'' (४.९१) धातु से बनता है। जो शान्त (निष्क्रिय) कर देता है, वह **शत्रु** कहलाता है [√शम्+णिच्+क्रुन्[४] > शम्+रु > शत्+रु > शत्रु]। ''शद्लृ शातने'' (१.५९४, ६.१३७) धातु से भी शत्रु शब्द निष्पन्न होता है अर्थात् नष्ट करने वाला **शत्रु** है [√शत्+णिच्+क्रुन्[४] > शत्+रु > शत्रु]।

६७. **शत्रु** शब्द की व्युत्पित्ति और अर्थ ऊपर दिखाया गया है।

६८. **दास** शब्द ''दसु उपक्षये'' (४.१०३) धातु से निष्पन्न होता है[५],

१. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा०४.१९०)।
२. तमः रात्रिनाम (निघं०१.७.११)।
३. बहुलं छन्दसि (अष्टा०२.४.७३) इति शपो लुक् न भवति।
४. रुशातिभ्यां क्रुन् (उणा०४.१०४)।
५. दास शब्द √दासृ दाने (१.६३५) धातु से भी निष्पन्न होता है—''दासा=दासौ, √दासृ दाने, √दसु उपक्षये वा। दातारौ वा धनानाम्, उपक्षपयितारौ वा शत्रूणाम्'' (उवटः, ऋ०१०.६२.१०); दातव्यानि (दया०, ऋ०६.३३.३)। दासानि=दानानि (दया०, ऋ० ६.६०.६)। दासम्=दातुं योग्यम् (दया०, ऋ०२.१२.४; ३.३४.१; अपि च द्र०ऋ०४.१८.९, ५.३०.८)।

६९. अहिः* अहिरयनात्– एति अन्तरिक्षे। अयमपीतरः अहिरेतस्मादेव, निर्ह्रसितोपसर्गः– आहन्तीति।[१] (२.१७)

७०. पणिः पणिर्वणिग् भवति– पणिः पणनात्। (२.१७)

क्योंकि वह कर्मों को क्रमशः नष्ट (समाप्त) करता है।

६९. अयन (गति) के कारण वृत्र (मेघ) **'अहि'** कहलाता है, क्योंकि वह मेघ अन्तरिक्ष में चलता है [√इण् गतौ (२.३८)+इन्[२] > इ+इ > ए+इ > अयि > अहि]। यह जो दूसरा (मेघभिन्न) सर्प है, वह भी अयन (गति) के कारण ही **'अहि'** कहलाता है [√इण्+इन् > अहि]। साथ में वह (सर्पवाचक **अहि**शब्द) ह्रस्व किये हुए आङ् उपसर्ग पूर्वक हन्-धातु से भी बनता है (क्योंकि वह डसकर लोगों को मारता है) [आङ्+√हन् हिंसागत्योः (२.२)+इन् > अ+हन्+इ > अ+ह्+इ > अहि]।[३]

७०. पणि का अर्थ व्यापारी होता है, क्योंकि पणन (लेन-देन का व्यवहार) करने के कारण वह **'पणि'** कहलाता है [√पण व्यवहारे स्तुतौ च (१.२९८)+इन्[४] > पण्+इ > पणि]।[५]

महर्षि पाणिनि ने उणादिकोष में √दसि दंशनदर्शनयोः (१०.१४६) धातु से दास शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई है– √दंसेष्टटनौ न आ च (उणा॰५.१०)।
दंसयति दशति पश्यति वा दासः (दयानन्दस्तत्रैव) [दसि+ट/टन् > दन्स्+अ > दास्+अ > दास]।

१. **अहिः मेघनाम (निघं॰१.१०.२१)। उदकनाम (निघं॰१.१२.३१)। अही गोनाम (निघं॰ २.११.४)। द्यावापृथिवीनाम (निघं॰३.३०.२२)।**
२. **सर्वधातुभ्य इन् (उणा॰४.११९)।**
३. **आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च (उणा॰४.१३९)। आहन्तीति अहि, मेघः सर्पो वा। अत्राङुपसर्गस्यैव ह्रस्वत्वम् [डिदनुवर्तनाट्टिलोपः, 'स चोदात्तः' इत्यनुवर्तनाद् ह्रस्वीभूतस्याङ उदात्तत्वं च] (दयानन्दस्तत्रैव)। आगत्य हन्तीत्यहिः (सा॰, ऋ॰९.८८.४; द्र॰ ऋ॰ १.७९.१; १.८०.१ आदि)। अहिम् = अहन्तव्यम् अन्येन हन्तुमशक्यम् [नञ्+हन्] (स्कन्दः, ऋ॰१.५१.४)। अहिः = अन्तरिक्षगामी अहन्ता वा अहीनो वा अहन्यमानो वा॰ [नञ्+हन्/नञ्+ओहाक्] (सायणः, ऋ॰१.१८६.५)। अहिरिति आङ्पूर्वस्य 'हि गतौ' (वृद्धौ परितापे च– ५.११) इत्यस्य रूपम् (स्कन्दः, ऋ॰१.७९.१)।**
४. **सर्वधातुभ्य इन् (उणा॰४.११९)।**
५. **पणिम् = प्रशंसनीयम् [वेदज्ञानम्] (दया॰, ऋ॰६.६१.१)। पणीन् = प्रशस्तव्यवहारकत्रीन् [अध्येतॄन् उपदेश्यांश्च] (दया॰, ऋ॰१.१८४.२)। पणेः = द्यूतकर्तुः [पाखण्डिजनस्य] (दया॰, ऋ॰६.५३.३)।**

७१. वणिक् वणिक् पण्यं नेनेक्ति। (२.१७)

७२. बिलम् बिलं भरम् भवति– बिभर्तेः। (२.१७)

७३. वृत्रः* [तत् को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोसुर इत्यैतिहासिकाः (२.१६)।] वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्द्धतेर्वा। यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। (२.१७)

---

७१. जो पण्य (बेचने योग्य वस्तु) को अधिकाधिक मूल्य प्राप्त करने के लिए Æb °Qoç Ò{ Ã®ÄÜËs o °Qoç Ò{ ÄÒ **'वणिक्'** कहलाता है [पण्य+√णिजिर् शौचपोषणयोः (३.११)+क्विप् > प+निज् > पनिज् > वनिज् > वणिज्]।[१]

७२. **'बिल'** का मूलरूप 'भर' है, जो कि ''भृञ् धारणपोषणयोः'' (३.५) से निष्पन्न होता है अर्थात् बिल (भर) जल आदि के द्वारा भरता है [√भृ+अप् > भर्+अ > भर > बल > बिल]।[२]

७३. [वह वृत्र कौन है? मेघ ही वृत्र कहाता है, ऐसा नैरुक्ताचार्यों का मत है और त्वाष्ट्र (त्वष्ट्रा का पुत्र) नामक असुर वृत्र कहाता है, ऐसा ऐतिहासिक आचार्यों का मत है।] वृत्रशब्द ''वृञ् वरणे'' (५.८) धातु से बनता है, क्योंकि जो आवृत करता है, ढकता है, वह **'वृत्र'** कहलाता है [√वृञ्+ष्ट्रन्[३] > वृत्र]। वृत्र शब्द ''वृतु वर्तने'' (१.५०८) धातु से भी निष्पन्न होता है, क्योंकि जो सदा विद्यमान रहता है, गति करता है,[४] इन्द्र (विद्युत्) द्वारा आहत होने पर नीचे गिरने के लिए प्रवृत्त होता है, वह भी **वृत्र** कहलाता है [√वृत्+रक्[५] > वृत्र]। और वह वृत्रशब्द ''वृधु वृद्धौ'' (१.५०९) धातु से भी व्युत्पन्न होता है, क्योंकि जो सदा बढ़ता रहता है, वह भी **वृत्र** कहलाता है [√वृध्+रक्[५] > वृत्+र > वृत्र]। जो आकाश को आच्छादित कर लेता है, वही वृत्र

---

१. **पणेरिज्यादेश्च वः (उणा॰२.७१) के अनुसार पण्+इजि > वण्+इज् > वणिज्।**
२. **बिलम् = जलसमूहम् (दया॰, ऋ॰१.११.५)। ब्रह्मचर्यधारणम् (दया॰, यजु॰११.५९)। गर्तम् (दया॰, ऋ॰१.३२.११)। बिल का अर्थ घर भी होता है– ''॰बिल आससाद'' (अथर्व॰ १२.३.१३) और मर्म, सूक्ष्मभेद अर्थ भी होता है– ''बिलं विष्यामि मायया'' (अथर्व॰ १९.६८.१)।**
३. **सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (उणा॰४.१६०)।**
४. **वृत्रतरम् = वर्ततेर्गत्यर्थस्येदं रूपम्, गन्तृतरम्-अतिशयेन गन्तारमित्यर्थः (स्कन्दः, ऋ॰ १.३२.५, स्क॰म॰, निरु॰६.१७)।**
५. **स्फायितञ्चिवञ्चि॰ (उणा॰२.१३)।**

षष्ठः पादः [खण्डम् – १]

७४. रात्रिः* रात्रिः कस्मात्? प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीणि। उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति। रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः, प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः। (२.१८; द्र० ४.११)

७५. उषाः* उषाः कस्मात्? उच्छतीति सत्याः। रात्रेः परः कालः। (२.१८; १२.५)

(मेघ) का वृत्रत्व है, ऐसा ब्राह्मणग्रन्थों से जाना जाता है। वर्षा के रूप में नीचे गिरने में जो प्रवृत्त होता है, वही वृत्र का वृत्रत्व है, ऐसा ब्राह्मणग्रन्थों से जाना जाता है। जो वर्षाकाल में बहुत बढ़ जाता है, वही वृत्र का वृत्रपन है, ऐसा ब्राह्मणग्रन्थों से जाना जाता है।[1]

७४. रात्रि को रात्रि क्यों कहते हैं ? उल्लू आदि निशाचर प्राणियों को प्रकृष्टरूप से आनन्दित करती है और निशाचर से अन्य दिवाचर प्राणियों को उपरत अर्थात् निद्रा से स्थिर करती है, विश्राम देती है, इसलिए **रात्रि** नाम है [√रमु क्रीडायाम्+णिच्+त्रिप् > रामि+त्रि > राम्+त्रि > रात्रि]। दानार्थक "रा दाने" (२.५०) धातु से भी **'रात्रि'** शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें अवश्याय (ओस के बिन्दु) पृथिवी के लिए दिये जाते हैं [√रा+त्रिप् > रात्रि]।[2]

७५. उषा को 'उषस्' क्यों कहते हैं ? रात्रि के पर (अन्तिम) काल (सूर्योदय से पूर्व के काल) को ही **'उषस्'** कहते हैं, क्योंकि वह रात्रि के अन्धकार को हटाती है [उच्छति रात्रिं तमो वा विवासयति समापयति विनाशयतीति उषाः। √उछी विवासे (१.१३१, ६.१४)+असि[3] > उच्छ्+अस् > उष्+अस् > उषस्]।[4]

---

१. वृत्रः मेघनाम (निघं०१.१०.२८)। वृत्रम् धननाम (निघं०२.१०.२७)।
२. राशदिभ्यां त्रिप् (उणा०४.६८)। द्र० निघं०५.३.२३।
३. उषः किच्च (उणा०४.२३५)।
४. √वश कान्तौ (२.७२)+असि (कित्) > वश्+अस् > उष्+अस् > उषस्। अत्र 'बाहुलकात् शकारस्य षकारः, ग्रहिज्या० (अष्टा०६.१.१६) इति सम्प्रसारणम्०' इति देवराजयज्वा (नि०नि०५.२.८)। उश्यते काम्यत इत्युषाः। उणादिना तु व्युत्पत्तिरेवं भवति– √उष दाहे (१.४६४)+असि > उषस्। ओषति दहतीति उषः, कर्णछिद्रं पर्वतभेदः [वा]। स्त्रियां सूर्योदयात् प्राक् प्रभातप्रकाशः उषाः वा (दया०, उणा०४.२३५)। द्र० निघं०५.५.३४; ५.६.२

[खण्डम् – २]

७६. प्रकेतः प्रकेतनं प्रज्ञाततमम्। (२.१९)

७७. योनिः* (स्त्री)योनिरभियुत एनां गर्भः। (२.१९; २.८)

[खण्डम् – ३]

७८. रुशत्* रुशदिति वर्णनाम– रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। (२.२०; ६.१३)

७९. रुशद्वत्सा रुशद्वत्सा सूर्यवत्सा – रुशदिति वर्णनाम, रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। सूर्यमस्या वत्समाह, साहचर्याद् रसहरणाद् वा। (२.२०)

---

७६. **'प्रकेतः'** का ही अपर नाम 'प्रकेतनम्' है, जिसका अर्थ है– अत्यन्त प्रख्यात व प्रज्ञात[1] [प्रकृष्टः केतः प्रज्ञा[2] यस्य सः। प्र+√कित ज्ञाने+अच् > प्रकेत]।

७७. स्त्री की योनि को भी **योनि** इसलिए कहते हैं– क्योंकि वह गर्भ (भ्रूण) से युत (सम्बन्धित) होती है [√यु मिश्रणेऽमिश्रणे च (२.२६)+निन्[3] > योनि]।

७८. **'रुशद्'** यह दीप्तवर्ण (सुन्दर रूप) का नाम है,[4] क्योंकि यह प्रकाशार्थक[5] रुचधातु से बनता है [√रुच दीप्तावभिप्रीतौ च (१.४९८)+अति[6] > रुचद् > रुशद्]।[7]

७९. **'रुशद्वत्सा'** का अर्थ है 'सूर्यवत्सा'। क्योंकि प्रकाशार्थक "रुच्" धातु से निष्पन्न 'रुशद्' शब्द दीप्तवर्ण का नाम है। यहाँ (मन्त्र में– ऋ० १.११३.३) सूर्य

---

१. केत इति प्रज्ञानाम (निघं०३.९.१)। प्रकेत्यते ज्ञाप्यत इति प्रकेतः (सायणः, ऋ० ३.३०.१)। प्रकृष्टा केतः प्रज्ञा यस्य सः (दया०, ऋ०३.३०.१)।
२. केतः प्रज्ञानाम (निघं०३.९.१)।
३. वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् (उणा०४.५२)।
४. रुशदिति पशुनाम [निघं०४.३.५२] (दया०, ऋ०५.७५.९)। [√रुश हिंसायाम् (६.१२९)+श+शतृ (लट्) > रुशत्]।
५. रुचधातु हिंसार्थ में भी प्रयुक्त है– "यद्वा रुशतिर्हिंसार्थः, तमसां हिंसकेन" (सायणः, ऋ० १०.१.१)। रुशन्तः = निघ्नन्तः (स्कन्दः, ऋ० ६.६४.३); हिंसन्तः (दया०, ऋ०१.४८.१३; ३.२९.३; ६.६४.१३)। √रुश हिंसायाम् (६.१२९)।
६. वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उणा०२.८५)।
७. रुशत् = सुस्वरूपम् [नाकम्] (दया०, ऋ० ५.५४.१२)। शुक्लं शुद्धस्वरूपम् (दया०, यजु० ३३.३८)। तमो हिंसत् [अर्चिः = दीप्तिः] (दया०, ऋ०१.९२.५)।

८०. श्वेत्या* श्वेत्या श्वेततेः। (२.२०)

८१. कृष्णा, कृष्णम् (कृष्णा) कृष्णवर्णा रात्रिः। कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्टो वर्णः। (२.२०)

को उषा का वत्स (पुत्र) कहा है, इसके दो कारण हैं— १. साहचर्य अर्थात् जिस प्रकार बछड़ा गाय का अनुगमन करता है, उसी प्रकार सूर्य भी उषा (माता) का अनुगमन करता है। २. रसहरण (रसपान) अर्थात् जिसप्रकार बछड़ा गाय के रस (दूध) का पान करता है, उसीप्रकार सूर्यरूप बछड़ा भी उषारूप गाय के रस (ओस) का पान करता है।

८०. **'श्वेत्या'** शब्द ''श्विता वर्णे'' (१.४९४) धातु से बनता है। जो कि उषा का नाम है[१] (निघं० १.८.१२) [√श्वित्+यक्[२] > श्वेत्य (बाहुलकाद् गुणः)+टाप् > श्वेत्या]।[३]

८१. **'कृष्णा'** का अर्थ है कृष्णवर्ण वाली रात्रि।[४] कृष्णशब्द आकर्षण (खींचना) अर्थवाली ''कृष्'' धातु से बनता है, क्योंकि वह निकृष्ट (निकाला हुआ) वर्ण है अर्थात् जिसप्रकार किसी वस्तु से कूडादि को निकाला जाता है, उसीप्रकार कृष्णवर्ण भी सभी वर्णों से निकाला हुआ है (निकृष्ट अर्थात् श्वेतादि से रहित) वर्ण है [√कृष विलेखने (१.७१६, ६.६)[५]+नक्[६]]।[७]

---

१. श्वेतो वर्ण इति वर्णसामान्यम्, सामर्थ्याद् दीप्तिमच्छुक्लवर्णविशेषविषयं द्रष्टव्यम् (स्क०म०, निरु०२.२०)।
२. अघ्न्यादयश्च (उणा०४.११३)।
३. श्वेत्या उषोनाम (निघं०१.८.१२)। आचार्य के द्वारा 'श्वेततेः' ऐसा धातु का ही निर्देश होने से इसकी निष्पत्ति धातु से दिखाना ही समीचनतर है। न कि तद्धितान्त [श्वित्+घञ् > श्वेत+यप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि० (वा०५.२.१२०) इति मत्वर्थे यप्+टाप् >श्वेत्या]। जैसे कि प्रायः दिखाया जाता है। आचार्य को जहाँ तद्धित प्रत्यय अभीष्ट होता है, वहाँ प्रातिपदिक से निर्वचन प्रस्तुत करते हैं। यथा— दण्ड्यः (२.२) आदि।
४. कृष्णम्=देवानां हि रात्रिर्दक्षिणायनम्, तत्प्रति (सायणः, ऋ०१.१६४.४७)।
५. पाणिनीय धातुपाठ में कृष्धातु भ्वादि एवं तुदादि में पठित है, पर यास्क ने दिवादि का रूप दिया है।
६. कृषेर्वर्णे (उणा०३.४)।
७. कृष्णम्=कर्षति विलिखति येन ज्योतिः समूहेन तम् (दया०, ऋ०१.५८.४)। कृष्णः=कृष्ण-गुणविशिष्टः [प्राणी] (दया०, यजु०२४.३०)। आकर्षणकर्ता [सूर्यः] (दया०, ऋ०१.७९.२)। कृष्णाय=विद्याकर्षणाय [विद्याप्राप्तये] (दया०, यजु०२५.१)।

८२. द्यौः द्यावौ द्योतनाद्। (२.२०)

८३. अहर् अहः कस्मात्? उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। (२.२०)

[खण्डम् — ४]

८४. मेघः* मेघः कस्मात्? मेहतीति सतः। (२.२१)

८५, ८६. उपरः*, उपलः* उपर उपलो मेघो भवति (निघं० १.१.१८,

---

८२. **'द्यौ'** नाम द्योतित (प्रकाशित) होने के कारण है [√द्युत दीप्तौ (1.493)+gç[१] > द्य्+ओ > द्यो]।

८३. दिन को 'अहः' क्यों कहते हैं ? लोग दिन में कार्यों को करते हैं, इसलिए दिन को 'अहर्' कहते हैं [(उप+) आ+√हृञ् हरणे (१.६४०)+विच् > आहर् > अहर्]।[२]

८४. मेघनाम किस कारण से है? पृथिवी के ऊपर जल का सिञ्चन करने के कारण **'मेघ'** नाम है [√मिह सेचने (१.७१८)+अच् > मेघ[३]]।

८५,८६. 'उपर', 'उपल' इनका अर्थ 'मेघ' होता है, क्योंकि इसमें अभ्र (जल को धारण करने का सामर्थ्य)[४] स्थित रहता है।[५] इसमें प्रभूत मात्रा में ठोस जल धारित होता है, इसलिए भी मेघ का नाम 'उपर' है।[६] रेफ को लत्व करने पर 'उपल' शब्द निष्पन्न होता है, अतः इसका निर्वचन 'उपर' के समान है [उप+√रमु क्रीडायाम्

---

१. गमेर्डोः (उणा०२.६८) इति बाहुलकाद् द्योततेरपि डोप्रत्ययः। ग्लानुदिभ्यां डौः (उणा० २.६४) इति बाहुलकाद् वा डौः।
२. उणादौ तु √नञि जहातेः (१.१५८) इति कनिनन्तः [नञ्+हा+कनिन् > अ+ह्+अन् > अहन्]।
३. न्यङ्क्वादीनां च (अष्टा०७.३.५३) इति कुत्वम्। मेघः मेघनाम (निघं०१.१०.२४)।
४. तुलना— भ्राजन्तेऽपो बिभ्रतीति वाभ्राणि (सायणः, ऋ०१०.९९.८)।
५. देवराजयज्वा ने इस प्रथम निर्वचन को पर्वत परक माना है— ''यदा पर्वतस्तदा उपेत्य रमन्ते ह्यस्मिन् अभ्राणीति, मेघपक्षे आप इति वा'' (नि०नि०१.१०.१८-१९)। ''आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधरणानि पर्वतनामभिः'' (निरु०२.२१)— यहाँ 'आङ्' को मर्यादार्थक मानने पर 'उपर, उपल' शब्द केवल मेघवाची होगें। मर्यादार्थ मानने में स्वयं यास्क का वचन ही प्रमाण है— ''उपर, उपलो मेघो भवति''। अतः हमने प्रथम निर्वचन का पर्वतपरक अर्थ न कर, केवल मेघपरक ही किया है।
६. उपर-उपलयोः पाषणसदृशो धृतजलो मेघ इत्यप्यर्थः।

१९)– उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि, उपरता आप इति वा। (२.२१)

[खण्डम् – ५]

८७. प्रथमः प्रथम इति मुख्यनाम– प्रतमो भवति। (२.२२)

८८. कृन्तत्रम् कृन्तत्रमन्तरिक्षम्– विकर्तनं मेघानाम्। विकर्त्तनेन मेघानामुदकं जायते। (२.२२)

८९,९०. अनूपाः,अनूपः अनुपा अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव– अनूप्यत उदकेन, अपि वा अन्वाब् इति स्यात्। (२.२२)

(१.५९२)+ड > उपर; उपर > उपल]।[1]

८७. **'प्रथम'** शब्द मुख्य का नाम है। इसका मूलरूप 'प्रतम' है अर्थात् प्रतम से प्रथम शब्द विकसित हुआ है [प्र(कृष्ट)+तम > प्रतम > प्रथम]।[2]

८८. **'कृन्तत्र'** का अर्थ अन्तरिक्ष का वह स्थान है, जहाँ मेघों का विकर्तन (विदलन, छेदन-भेदन) होता है। मेघों के विकर्तन से जल उत्पन्न होता (बरसता) है [√कृती छेदने (६.४४)+कत्रन्[3] > कृन्त्+अत्र > कृन्तत्र]।

८९, ९०. **'अनूपाः'** का अर्थ है– [मेघ, वायु एवं आदित्य ये तीनों ही] अपने-अपने कर्मों से [वृष्टि, शीत एवं उष्णता के रूप में समयानुकूल] लोगों पर अनुग्रह करते हैं, इसलिए ये तीन **'अनूपाः'** कहलाते हैं [अनु +√डुवप् (उप्) बीजसन्ताने

---

१. उपराः दिङ्नाम (निघं० १.६.३)। उपरशब्द को वप्धातु से भी सिद्ध किया गया है– 'उपरम् = उप्तमवस्थितम्' (वेंकटः, ऋ० ५.३१.११; ६.२१.११)। उपरस्य = उदकमध्ये उप्तस्यावस्थितस्य (सायणः, ऋ० १.१०४.४) [वप्+ अरन् —उणा० ४.१५६]। उपर शब्द के अन्य अर्थ– १. उपरा = उपस्थिता दिक्। उपरा इति दिङ्नामसु पठितम् (निघं० १.६.३) (दया०, ऋ० १.१६७.३)। उपर्युपरि वर्तमानाः (सायणः, ऋ० ३.५६.२)। उपराय = उप समीपे रममाणायान्तेवासिने० (सायणः, ऋ० ७.८७.४)। उपरासु = उपरमन्तेऽस्मिन् हवींषीत्युपरा वेदिसमीपभूमयः (सायणः, ऋ० १.१२७.५)। उपरस्य = उपरिवर्त्तित्वादुपरो देवलोकः (स्कन्दः, ऋ० १.७९.३)।

२. प्रथमम् = परमम् (निरु० ३.८)। प्रथमा = प्रथमौ (निरु० ८.१२)। ''प्रथेरमच्'' (उणा० ५.६८)। प्रथते प्रख्यातो भवतीति प्रथमः, आद्य उत्तमो नूतनो वा (दया०, तत्रैव) [√प्रथ प्रख्याने (१.५१६) + अमच् > प्रथमः]।

३. कृतेर्नुम् च (उणा० ३.१०९)।

९१. बृबूकम्* बृबूकमिति उदकनाम (निघं० १.१२.१९)– ब्रवीतेर्वा शब्दकर्मणः, भ्रंशतेर्वा। (२.२२)

९२. पुरीषम्* पुरीषं पृणातेः, पूरयतेर्वा। (२.२२)

छेदने च (१.७२९)+क[1] > अनु+उप्+अ > अनूप]। यह दूसरा पृथिवीस्थ **'अनूप'** (जल से परिपूर्ण स्थान वा उसका समीपस्थ स्थान) भी इसी ''वप्'' धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि वह स्थान जल के द्वारा अनुगृहीत होता है [अनु+√वप्+क]। अथवा स्थानविशेषवाचक यह **'अनूप'** शब्द 'अन्वाप्' से विकसित (निष्पन्न) हुआ है [अनुकूला अनुगता वा आपो यत्र तत्। अनु+√आप्लृ+क्विप् > अन्वाप्+क > अनूप / अनु+अप्+अ[2] > अनु+ऊप्[3]+अ > अनूप]।

९१. **'बृबूकम्'** यह जल का पर्यायवाची है, क्योंकि जल बुद्-बुद् आदि शब्द करता हुआ बहता है। इसलिए शब्द करना अर्थवाली ''ब्रूञ्'' धातु से निष्पन्न होता है [√ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (२.३७)+ऊक[4] > ब्रू ब्रू[5]+ऊक > बृ बू+ऊक > बृबूक / √ब्रूञ्+क > बृ बू+क > बृबूक]। जल निम्नदेश की ओर प्रवाहित होता रहता है, इसलिए भी जल **'बृबूक'** कहलाता है [√भ्रंशु अधःपतने (१.५०६)+ऊक > भ्रंश् भ्रंश्+ऊक > भ्र भ्र+ऊक > बृ बू+ऊक > बृबूक]।[6]

९२. [पुरीष जलवाची है– निघं० १.१२.१२]। जल जनों को प्रसन्नता प्रदान करने वाला है वा पालन-पोषण करने वाला है, इसलिए जल 'पुरीष' कहलाता है [√पृ पालनपूरणयोः (९.१८) / √पृणाति दानकर्मा (निघं० ३.२०.७)+ईषन्[7] > पुर्+ईष > पुरीष]। जल सरोवरादियों को पूर्ण करने वाला है, इसलिए भी 'पुरीष' कहलाता है [√पूरी आप्यायने (१०.२२६)+णिच्+ईषन् > पूर्+ईष > पुरीष]।[8]

---

१. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अष्टा० ३.१.१३५)।

२. ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (अष्टा० ५.४.७४)।

३. ऊदनोर्देशे (अष्टा० ६.३.९८)।

४. उलूकादयश्च (उणा० ४.४२)।

५. प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् (परि० १२३), बाहुलकाद्वा द्वित्वादिकम्। अथवा 'बृबू' इत्यादेशः।

६. देवराजयज्वा ने बृबूकशब्द को दोनों धातुओं से भी निष्पन्न माना है– 'ब्रवीतेः शब्दार्थात् भ्रंशतेर्वाधःपतनार्थात्, उभाभ्यां समुदिताभ्याम् 'उलूकादयश्च' इति ऊकप्रत्यये निपातनाद् रूपसिद्धिः' (नि० नि० १.१२.१९)।

७. शॄपॄभ्यां किच्च (उणा० ४.२८)।

८. पुरीषम् = पशूनां प्रपूर्तिकरं साधनम्। पुरीष्योऽसि पशव्योऽसि [शत० ६.४.२.१] (दया०, यजु० ५.१३)। व्यापनं पालनं वा [सर्वत्राभिव्याप्तम् = ईश्वरम्] (दया०, यजु० ३८.२१)। पुरीषात् = पूर्णान्तःकरणात् (दया०, ऋ० १.१६३.१)। पुरीषे = सिकतासु (दया०, यजु० १३.५३)।

सप्तमः पादः [खण्डम् – १]

९३. वाक्* वाक् कस्मात्? वचेः। (२.२३)

[खण्डम् – २]

९४. शुष्मम्* शुष्ममिति बलनाम (निघं०२.९.११)– शोषयतीति सतः। (२.२४)

९५. बिसम् बिसं बिस्यतेर्भेदनकर्मणः, वृद्धिकर्मणो वा। (२.२४)

---

९३. 'वाक्' नाम किस कारण से है? ''वच परिभाषणे'' (२.५६) धातु से निष्पन्न होने से अर्थात् उच्चारण किये जाने के कारण से **'वाक्'** नाम है [√वच्+क्विप्[1] > वाक्]।[2]

९४. 'शुष्मम्' यह बल का वाचक है[3]। शत्रु आदियों की शक्ति को सुखा देने से, नष्ट करने के कारण **'शुष्म'** नाम है [√शुष शोषणे (४.७२)+णिच्+मन्[4] > शुष्+म > शुष्म]।[5]

९५. **'बिसम्'** शब्द भेदनार्थक और वृद्ध्यर्थक ''बिस'' धातु से निष्पन्न होता है (जिसका अर्थ मृणालदण्ड या कमलनाल है, जो सरलता से टूट जाता है और बहुत

---

१. क्विप् वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च (उणा०२.५८)।
२. वाक् वाङ्नाम (निघं०१.११.५०)। वाचम्=प्रज्ञानम् (निरु०४.१०)। माध्यमिकां वाचम् (निरु०१२.३२)। वाचि=आस्ये (निरु०८.२१)। वाचम्=वचन्ति वाचयन्ति सर्वा विद्या यया, ताम् सत्यलक्षणां वेदचतुष्टयीम् (दया०, यजु०२.१८)।
३. शुष्मम् इति बलनाम (निघं०२.९.११)। शुष्मात्=बलात् (निरु०१०.१०)।
४. अविसिविसिशुषिभ्यः कित् (उणा०१.१४४)।
५. शुष्मम् = 'शुषिः प्रीणनार्थः' इति माधवः। प्रियं हि बलम्।... 'परस्य सांयोगिकमपि बलं विशोषयति उपक्षपयतीत्यर्थः' इति स्कन्दस्वामी। तत्र शोषयतेर्मनिन् 'बहुलमन्यत्रापि संज्ञाच्छन्दसोः' (उणा०२.२३) इति [णेः] लुक् (देव०, नि०नि०२.९.११)।

९६. सानु सानु समुच्छ्रितं भवति, समुन्नुन्नमिति वा। (२.२४)

९७. पारावतघ्नीम् पारावतघ्नीं पारावारघातिनीम्। (२.२४)

९८. पारम् पारं परं भवति। (२.२४)

९९. अवारम् अवारं अवरम्। (२.२४)

शीघ्र बढ़ता है) [√बिस भेदने वृद्धौ[1] च+क[2] > बिस्+अ > बिस]।

९६. **'सानु'** (पर्वत के शिखर का नाम है, क्योंकि वह) अच्छी प्रकार उठा हुआ होता है [सम्+उत्+√श्रिञ् सेवायाम् (१.६३८)+विच् > साम्+उ > सान्+उ > सानु]। और वह सर्वाधिक उन्नत होता है, इसलिए भी 'सानु' नाम है [सम्+उत्+नुन्न > स+उ+नु > स+अ+नु > सानु]।[3]

९७. **'पारावतघ्नीम्'** का अर्थ है 'पारावारघातिनीम्'। इसकी व्युत्पत्ति इसप्रकार है– पारं च अवतं (=अवारं) च इति पारावते, ते हन्तीति पारावतघ्नी, ताम् (नदीम्) अर्थात् नदी के परले किनारे को एवं इधर के किनारे को तोड़ने वाली (नदी) को [पारावत+√हन्+टक्[4]+ङीप् > पारावतघ्नी] कहते हैं।

९८. **'पारम्'** का अर्थ 'परम्' (परला,उधर,अन्त) होता है [√पृ पूरणे (१०.१६)+अप् > परम्। परमेव पारम्– √स्वार्थिकोऽण् /√पार कर्मसमाप्तौ (१०.३३२) +अच् > पारम्]।[5]

९९. **'अवारम्'** एवं 'अवरम्' दोनों समानार्थ (इधर, समीप आदि अर्थ) वाले हैं [अवरमेव अवारम्; अवर+अण् > अवार / अव+√ऋ गतौ (३.१६)+घञ् > अवार]।

---

१. √बिस प्रेरणे (४.१०७) इति पाणिनिः। २. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अष्टा०३.१.१३५)।
३. उणादि में तो सन् धातु से ञुण् प्रत्यय करके सानुशब्द को सिद्ध किया गया है– 'दृसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण्' (उणा०१.३)। सानु=सानूनि=सरणानि=सक्थीनि (निरु०९.२०)=अश्व के कटिप्रान्त में उठा हुआ भाग।
४. अमनुष्यकर्तृके च (अष्टा०३.२.५३)।
५. पारम्=सर्वदुःखेभ्यः पृथग्भूतम् (दया०, यजु०३.१८)। पाराय=मृगकर्मसमाप्त्यर्थम् (दया०, यजु०३०.१६)।

१००. उदकम्* उदकं कस्मात्? उनत्तीति सतः। (२.२४)
१०१. नद्यः* नद्यः कस्मात्? नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः। (२.२४)
१०२. विश्वामित्रः विश्वामित्रः सर्वमित्रः। (२.२४)
१०३. सर्वम्* सर्वं संसृतम्। (२.२४)
१०४. सुदाः सुदाः कल्याणदानः। (२.२४)

---

१००. **'उदक'** नाम किस कारण से है? भिगो देता है, इसलिए (जल का नाम उदक है (निघं०१.१२.३६) [√उन्दी क्लेदने (७.१९)+क्वुन्[१] > उद्+अक > उदक]।[२]

१०१. नदियों को नदी क्यों कहते हैं? नाद (शब्द) वाले होने से अर्थात् प्रवाहित होती हुई वे शब्द करती हैं, इसलिए उनका नाम **'नदी'** है (निघं०१.१३.३७) [√नद अव्यक्ते शब्दे (१.४४)+अच्+ङीप् > नदी]।

१०२. **'विश्वामित्र'** का अर्थ है 'सर्वमित्र' अर्थात् जो सबका मित्र है अथवा सब मित्र हैं जिसका, वह विश्वामित्र है[३] [विश्व+मित्र > विश्वामित्र[४]]।

१०३. **'सर्वम्'** का अर्थ है— अच्छीप्रकार व्याप्त, गत [सृतं व्याप्तमनेन विश्वमिति सर्वम्, √सृ गतौ (१.६६९)+वन्[५] > सर्व]।[६]

१०४. **'सुदास्'** का अर्थ है— कल्याणकारी (अच्छा) दान देने वाला [सु+√डुदाञ् दाने (३.९)+असुन् > सुदास् / सु+√दासृ दाने (१.६३५)+क्विप् > सुदास्]।

---

१. उदकश्च (उणा०२.४०)।
२. उदकश्च (उणा०२.४०) इत्युणादिसूत्रेण उदकशब्दो निपात्यते। क्वुन्प्रत्यये खनतेरुत्पूर्वस्य धातुलोपः। उत्खायते तद् वायुना विभज्यमानं कर्म, उत्खनति वा भूमिं स्वेन वेगेन कर्ता [उद्+√खनु अवदारणे (१.६९८)+क्वुन् > उद्+अक > उदक]। उत्पूर्वस्य वाञ्चतेर्लोप उदकमिति, उदञ्चतीत्युदकम् [उद्+√अञ्चु गतौ याचने अव्यक्ते शब्दे च (१.६०२)+क्वुन् > उद्+अक > उदक] (देव०, नि०नि०१.१२.३६)।
३. सर्वेषां सुहृद् (दया०, ऋ०३.५३.९), विश्वे सर्वे मित्राणि यस्य (तु०दया० ऋ०३.५३.७)।
४. मित्रे चर्षौ (अष्टा०६.३.१३०) इति दीर्घः।
५. सर्वनिघृष्वरिष्व० (उणा०१.१५३)।
६. सर्वम् उदकनाम (निघं०१.१२.७६)।

१०५. पैजवनः पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। (२.२४)
१०६. पिजवनः पिजवनः पुनः स्पर्द्धनीयजवो वा,अमिश्रीभावगतिर्वा। (२.२४)

[खण्डम् — ३]

१०७. ऋतावरीः ऋतावरीर्ऋतवत्यः। (२.२५)

---

१०५. **'पैजवनः'** का अर्थ है— 'पिजवन का पुत्र'[१] [पिजवन+अण् > पैजवन]।[२]

१०६. 'पिजवन' का एक अर्थ यह है कि वार-वार स्पर्धनीय (अनुकरणीय) अर्थात् दया, क्षमा आदि उत्तम कर्मों (गतियों) वाला [पुनः+जुङ् गतौ (सौत्रधातु[३]) +युच्[४] > (अ)पि+जव्+अन > पिजवन]। दूसरा अर्थ है— किसी अन्य की गति (कर्म) के साथ न मिलनेवाली, अतुलनीय गति (शुभकर्म) वाला भी **'पिजवन'** कहलाता है [पुनः+√यु मिश्रणेऽमिश्रणे च (२.२६)+युच्[५] > (अ)पि+यवन > पियवन > पिजवन]।

१०७. **'ऋतावरी'** का अर्थ है— हे जलवालियों[६] (नदियों)! [√ऋ गति-

---

१. पैजवनस्य (ऋ०७.१८) का दयानन्द कृत अर्थ इसप्रकार है— वेगयुक्तस्य (मन्त्र-२२), क्षमाशीलस्य पुत्रस्य (मन्त्र-२३), क्षमाशीलाज्ञातस्य पुत्रस्य (मन्त्र-२५)।
२. वेगयुक्तस्य [नप्तुः=पौत्रस्य]; पैजवनस्य=क्षमाशीलस्य पुत्रस्य क्षमाशीलाज्ञातस्य पुत्रस्य (दया०, ऋ०७.१८, २२, २३, २५)।
३. जुचङ्क्रम्य० (अष्टा०३.२.१५०), ऊतियूतिजूति० (अष्टा०३.३.९७)। चुङ् च्युङ् जुङ्० (काश०धातु०१.५५२), जुङ् इति नन्दी [=पाठान्तरः] (क्षीर०१.६८२)। यह जुङ् धातु शीघ्रगति के अर्थ में प्रयुक्त होता है— "जवते= त्वरते। जवकः, जवमानः= क्षिप्रकारी.." (चिन्नवीर— काश०धातु०)। इस 'तीव्रगति' अर्थ को यास्क ने 'स्पर्धनीय जवन' शब्द से प्रकट किया है। कुछ लोग 'पिजवन' शब्द के 'पि' अंश को 'स्पर्धनीय' का सूचक मानते हैं [स्पर्धनीय+जुङ्+युच् > पि+जवन]। यह कल्पना अनुचित है, क्योंकि 'स्पर्धनीय' (=तीव्र) अर्थ धात्वर्थ (=तीव्रगति) के अन्तर्गत ही है। यथार्थतः यहां 'पि' शब्द 'अपि' का द्योतक है, जो कि यहाँ 'पुनः' अर्थ में प्रयुक्त है। इसलिए यहाँ 'पिजवनः' की निष्पत्ति में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करके यास्क के निर्वचन को अस्पष्ट मानना सर्वथा अनुचित है।
४. जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्य० (अष्टा०३.२.१५०) इति ताच्छील्ये युच्।
५. चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच् (अष्टा०३.२.१४८)।
६. ऋतावा=ऋतं सत्यमुदकं यज्ञो वा, तैस्तद्वान् (स्क०म०, निरु०१०.१७)। ऋतावानः=य ऋतानि सत्याचरणानि वनन्ति सम्भजन्ति, ते (दया०,ऋ०२.२४.७)। ऋतावरी=वाग्भिर्युक्ता (वेंकट:, ऋ०३.६१.६)।

१०८. ऋतम्* ऋतमिति उदकनाम (निघं० १.१२.६८) – प्रत्यृतं भवति। (२.२५)

१०९. एवैः एवैरयनैरवनैर्वा। (२.२५; १२.२१)

११०. मुहूर्त्तः मुहूर्त्तो मुहुर् ऋतुः। (२.२५)

१११. ऋतुः ऋतुरर्त्तेर्गतिकर्मणः। (२.२५)

प्रापणयोः (१.६७०)+क्त[१] > ऋत+वनिप्+ङीप्-रेफौ[२] > ऋतावरी]।[३]

१०८. **'ऋतम्'** यह उदक (जल) का नाम है[३], क्योंकि यह सबमें गया (व्याप्त) हुआ है, सर्वत्र सुलभ है [√ऋ+क्त[१] > ऋत]।

१०९. **'एवैः'** का अर्थ है— गमन या गमन के हेतु के द्वारा [√इण् गतौ (२.३८)+वन्[४] > एव]। दूसरा अर्थ है— रक्षण अथवा तद्धेतुओं के द्वारा या कामनाओं के द्वारा [√अव रक्षणगतिकान्ति०(१.३९६)+अच् > अव > एव]।[५]

११०. **'मुहुर्तः'** का निर्वचन (व्युत्पत्ति) इसप्रकार है— मुहुर्+ऋतुः। जो वार-वार आता है व जाता है, वह मुहुर्त कहलाता है [मुहुर्+ऋतुः > मुहुर्+त > मुहुर्तः]।[६]

१११. ऋतुशब्द गत्यर्थक ''ऋ''धातु से निष्पन्न होता है अर्थात् जो गतिशील

---

१. अञ्चिघृसिभ्यः क्तः (उणा० ३.८९) इति बाहुलकात् क्तः।
२. छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ (वा० ५.२.१०९), वनो र च (अष्टा० ४.१.७)।
३. ऋतम् उदकनाम (निघं० १.१२.६८)। सत्यनाम (निघं० ३.१०.६)। ऋतावरी = ऋतं सत्यं विद्यते यस्यां सा [उषाः] (दया०, ऋ० ३.६१.६)। ऋतावरीः = ऋतं पुष्कलमुदकं विद्यते यासु ताः [नद्यः] (दया०, ऋ० ३.३३.५)। ऋतं सत्यं विद्यते यासु ताः [दिवः = ज्योतींषि] (दया०, ऋ० ३.५६.५)। ऋतावरी = बहूनृतादीन्युदकानि विद्यन्ते ययोस्ते [सूर्यभूमी] (दया०, ऋ० ३.६.१०)। बह्वृतं सत्यं विद्यते ययोस्ते [द्यावापृथिव्यौ] (दया०, ऋ० ४.५६.२)। ऋतवरि! = सत्याचरणयुक्ते [विदुषि स्त्रि!] (दया०, ऋ० २.१.१८)।
४. इण्शीभ्यां वन् (उणा० १.१५२)।
५. एवैः = कामैः [=प्रार्थनाविशेषैः] (निरु० १२.२१), स्वकीयैश्चरितैः (सायणः, ऋ० १.९५.६), आत्मीयैरेव चेष्टितैः (सायणः, ऋ० ८.१८.१३), प्रशस्तज्ञानैः कर्मभिर्वा (दया०, ऋ० १.१००.१८)।
६. हूर्च्छति कुटिलं भवतीति मुहूर्तम्, घटिकाद्वयकालो वा। धातोर्मुडागमः, राल्लोपः (अष्टा० ६.४.२१) इति छलोपः (दया०, उणा० ३.८९) [√हुर्च्छा कौटिल्ये (१.१२६)+क्त > मुट्-हूर्+त > मुहूर्त]।

११२. मुहुः मुहुर्मूढ इव कालो यावदभीक्ष्णं चेति। (२.२५)

११३. अभीक्ष्णम् अभीक्ष्णम् अभिक्षणं भवति। (२.२५)

११४. क्षणः क्षणः क्षणोतेः– प्रक्ष्णुतः कालः। (२.२५)

११५. कालः कालः कालयतेर्गतिकर्मणः। (२.२५)

११६. मनीषा मनीषया मनस ईषया = स्तुत्या, प्रज्ञया वा। (२.२५; ९.१०)

है, निरन्तर चलता है, कभी रुकता नहीं है, वह काल **'ऋतु'** कहलाता है[१] [√ऋ+तु[२] > ऋतु]।

112. **'मुहुर्'** का अर्थ है— मूढ-सा काल अर्थात् अत्यल्प समय, जो कब बीता है, इसका कुछ पता नहीं लगता [√मुह वैचित्र्ये (४.८७)+उसि[३] > मुहुस् > मुहुर्] और 'अभीक्ष्णम्' का जो अर्थ है, वही **मुहुर्** का भी है अर्थात् दोनों समानार्थक हैं। 'अभीक्ष्णम्' के अर्थ को अनुपद में देखें—

११३. **'अभीक्ष्णम्'** का अर्थ है— क्षण-क्षण की ओर गया हुआ है अर्थात् प्रतिक्षण (निरन्तर), कुछ ही समय तक, क्षणमात्र सामने रहने वाला [अभि+क्षण > अभीक्षण > अभीक्ष्ण]।

११४. **'क्षण'** शब्द ''क्षणु हिंसायाम्'' (८.३) धातु से बनता है, जिसका अर्थ है— बहुत शीघ्र नष्ट, व्यतीत होने वाला काल [प्रकर्षेण क्षतो हिंसितः कालः। √क्षण्+अ (क्तार्थे) > क्षण]।

११५. कालशब्द गत्यर्थक ''कालधातु'' से निष्पन्न होता है। जो सभी भूतों को उत्पत्ति वा विनाश की ओर गति प्रदान करता है, वह **'काल'** कहलाता है [√कल क्षेपे (१०.७२)+णिच्+घञ् > काल]।

११६. **'मनीषया'** का अर्थ है— 'मनसः ईषया' अर्थात् मनोयोगपूर्वक स्तुति

---

१. ऋतुः = कालः (निरु० १२.४६, द्र० निरु० ८.३), ऋतून् = अहोरात्रलक्षणान् (निरु० ४.११)। ऋतुभिः = ऋच्छन्ति प्राप्नुवन्ति यैस्तैः [वसन्तादिभिः] (दया०, ऋ० १.१५.१०)।
२. अर्तेश्च तुः (उणा० १.७२)।
३. मुहेः किच्च (उणा० २.१२२)।

११७. कुशिकः कुशिकः क्रोशतेः शब्दकर्मणः, क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः, साधुः विक्रोशयितार्थानामिति वा। (२.२५)

[खण्डम् – ४]

११८. पाणिः पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः— प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति। (२.२६)

(श्रद्धा, आदर) वा मनोयोगपूर्वक प्रज्ञान[१] [मनस्+ईषा > मनीषा[२]]।[३]

११७. कुशिकशब्द 'शब्दकरना' अर्थवाली ''क्रुश'' धातु से निष्पन्न होता है अर्थात् जो शब्द (उपदेश वा कल्याण की कामना) करता है, वह **'कुशिक'**(=उत्तम वाणी वाला विद्वान्) कहलाता है[४] [√क्रुश आह्वाने रोदने च (१.५९५)+किकन् > क्रुश्+इक > कुशिक] और 'प्रकाश करना' अर्थवाली 'क्रंश' धातु से भी कुशिक शब्द निष्पन्न होता है अर्थात् जो विद्यादि से सबको प्रकाशित (समर्थ वा तेजस्वी) करता है, वह **'कुशिक'** कहलाता है[५] [√क्रंश्+इक > क्रंशिक > कुशिक] और जो अर्थों (गूढ़ वेदार्थ वा धनादि ऐश्वर्यों) को अच्छी प्रकार व अत्यधिक घोषणा (प्रदान) करता है, वह भी 'कुशिक' कहलाता है[६] [√क्रुश्+णिच्+इक > क्रोशि+इक > कुशिक]।[७]

११८. **'पाणिः'** शब्द पूजार्थक पणधातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि लोग दोनों हाथों को जोड़कर देवों (विद्वानादियों) की पूजा (अभिवादनादि) करते हैं [√पण

---

१. मनीषा= मनो विज्ञानम् ईषते यया प्रज्ञया सा (दया०, ऋ०१.५४.८)।
२. शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् (वा०६.१.९४)।
३. मनीषाणाम्=प्रज्ञानाम्, याभिर्मन्यन्ते जानन्ति ता मनीषाः प्रज्ञास्तासाम् (दया०, यजु० १२.२२)। मनीषाः = ये मनांसि विज्ञानानीषन्ते ते [मतयः, विद्वांसः] (दया०, ऋ० १.६२.११)।
४. कुशिकासः= उपदेशकाः (दया०, ऋ०३.२६.१)।
५. कुशिकासः = सर्वशास्त्रसिद्धान्तवेत्तारः (दया०, ऋ०३.५०.४)।
६. कुशिकासः=उत्कर्षं प्राप्ताः (दया०, ऋ०३.२९.१५)।
७. कुशिकस्य=विद्यानिष्कर्षप्राप्तस्य। अत्र वर्णव्यत्ययेन मूर्धन्यस्य तालव्यः [√कुष निष्कर्षे (९.५०)+इक > कुषिक > कुशिक] (दया०, ऋ०३.३३.५)। कुशिकाः = विद्यासिद्धान्त-निष्कर्षकाः (दया०, ऋ०३.५३.१०)। ये कुर्वन्त्युपदिशन्ति ते कुशाः प्रशस्ताः, कुशा विद्यन्ते येषु, ते कुशिकाः (विद्वांसः) [कृञ्+शक् (उणा०४.१०५) > कृशः > कुशः+इक (स्तुत्यर्थे मत्वर्थे वा ठन्) > कुशिक] (दया०, ऋ०३.५३.११)। कुशिकासः= विद्याविनयादिभिराप्ता निष्पन्नाः [नूतना विद्वांसः] (दया०, ऋ०३.४२.९)।

११९. उर्वी* उर्व्य ऊर्णोतेः वृणोतेरित्यौर्णवाभः। (२.२६)

[खण्डम् – ५]

१२०. अश्वः* अश्वः कस्मात्? अश्नुतेऽध्वानम्, महाशनो भवतीति वा। (२.२७; द्र०१.१२; ७.२०)

व्यवहारे स्तुतौ च (१.२९८)+आय[१]+इण्[२] > पाणि]।[३]

११९. उर्वीशब्द ''ऊर्णुञ् आच्छादने'' (२.३२) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि नदियाँ प्रवाहित होती हुई विशाल भूभाग को आच्छादित करती हैं, इसलिए वे **'उर्वी'** कहलाती हैं[४] [√ऊर्णु+उ[५] > ऊर्+उ > उरु+ङीष्[५] > उर्वी]। इसे और्णवाभ आचार्य √वृञ् आवरणे (१०.२३७) धातु से निष्पन्न मानते हैं [√वृ+उ[५] > वरु > उरु+ङीष्[५] > उर्वी]।

१२०. अश्व नाम किसलिए? जो मार्ग को शीघ्र व्याप्त (प्राप्त) करता है, वह **'अश्व'** कहलाता है [√अशूङ् व्याप्तौ (५.१८)+अध्वन्/क्वन्[६] > अश्+वन् > अश्व] और जो महनीय (प्रशंसनीय व मूल्यवान्) भोजन (गमन) करता है, वह भी **'अश्व'** कहलाता है [√अश भोजने (९.५४)+क्वन् > अश्व]।[७]

---

१. गुपूधूपविच्छपणिपनिभ्यः आयः (अष्टा०३.१.२८) इति स्तुतौ आयः।
२. अशिपणाय्यो रुडायलुकौ च (उणा०४.१३४)।
३. पाणिना = किरणसमूहेन व्यवहारेण (दया०, यजु० १.१६)। पाणी वै गभस्ती (शत०४.१.१.९)।
४. 'उर्वी' इति पृथिवीनाम (निघं०१.१.१०)। उर्व्यः नदीनाम (निघं०१.१३.२४)। उर्वी द्यावा-पृथिवीनामधेयम् (निघं०३.३.१९)। ''द्यौश्च पृथिवी चाहश्च रात्रिश्चापश्चौषधयश्च'' (आश्व०श्रौ० १.२.१) इति षड् उर्व्यः (वेंकटः, ऋ०१०.१४.१६; द्र०सायणः, ऋ०१०.१२८.५; दुर्गस्कन्दमहेश्वराः, निरु०१०.४०)। षडुर्वी=षड्विधा भूमीः (दया०, ऋ०६.४७.४३)। उर्वीम् = महतीम् [अध्यापिकोपदेशिकाम्] (दया०, ऋ० ३.३३.३)। उर्वीः= बहुस्वरूपे [सूर्यभूमी] (दया०, ऋ० ३.६.१०)।
५. ऊर्णोतेर्णुलोपश्च (उणा०१.३०)। वोतो गुणवचनात् (अष्टा०४.१.४४)।
६. अशूप्रुषिलटिकणि० (उणा०१.१५१)।
७. अश्वाः अश्वनाम (निघं०१.१४.२६)। अश्वः भूस्थानदेवता (निघं०५.३.१)। अश्वः=आशुगामी वायुरग्निर्वा (दया०, ऋ०१.१६४.२)। अश्वा =आशुगामिनौ [हरी=अग्निजले] (दया०, ऋ० ४.३३.१०)। अश्वान् = वेगवतः किरणान् (दया०, ऋ०१.९२.१५)। अश्वम् = आशु सुखकरं बोधम् (दया०, ऋ० ४.३९.५), व्यापनशीलं विद्युतम् (दया०, ऋ०१.११८.९)।

१२१. दधिक्राः* दधिक्रा इत्येतद् दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधदाकारी भवतीति वा। (२.२७)

[खण्डम् – ६]

१२२. वाजी* वाजी वेजनवान्। क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानम्। (२.२८; ३.३; १०.३१)

---

१२१. 'दधिक्रा' यह शब्द 'दधत् क्रामति' से निष्पन्न है अर्थात् जो सवारी को अपने ऊपर धारण करते ही चल पड़ता है अथवा जो पैरों को विशेषरूप से रखता हुआ चलता है,[1] वह **'दधिक्रा'** कहलाता है [दधत् + √क्रमु पादविक्षेपे (१.३१९)+विट्[2] > दधि[3]+क्रा > दधिक्रा]। सवारी को धारण करता हुआ या चलता हुआ शब्द करता है, हिनहिनाता है, इसलिए भी **'दधिक्रा'** कहलाता है [दधत् + √क्रदि आह्वाने रोदने च (१.५८)+विच्[4] > दधि+क्रा > दधिक्रा]। सवारी को धारण करता हुआ विशेष आकार वाला[4] होता है, इसलिए भी **'दधिक्रा'** कहलाता है [दधत् + आ + √कृञ् + विच् > दधि+कृ+आ > दधिक्रा]।[6]

१२२. **'वाजी'** का अर्थ है— वेगवान् (घोड़ा)[7], क्योंकि चाबुक से प्रेरित व ताडित होते ही वह मार्ग को शीघ्र ही व्याप्त (पूर्ण, तय) कर लेता है [वाजो वेगः, तद्वान्

---

१. पदानि दधत् क्रामति (वेंकटः, ऋ॰४.३८.२)।
२. जनसनखनक्रमगमो विट् (अष्टा॰३.२.६७), विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अष्टा॰६.४.४१)।
३. दधत् और दधि दोनों में धा-धातु समान है, और वर्तमानकालिक एवं कर्ता अर्थ वाले शतृ तथा कि प्रत्ययों का अन्तर। अतः दधि के स्थान पर दधत् अर्थ का निर्देश है।
४. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अष्टा॰३.२.७५)।
५. दधदाकारी भवति अधिष्ठितः, ईषदवनतमध्यभागः, उद्धतकन्धरः, कुञ्चितघोणः, स्तिमितचक्षुः, कर्णशुक्तिकाकारो भवति (देव॰, नि॰नि॰१.१४.७)- सवारी के बैठते ही मध्यभाग (पीठ) को कुछ झुकाया हुआ, कन्धों (गर्दन) को ऊपर किया हुआ, कानों को शुक्तिका (सीपी) के समान किया हुआ रहता है, यही अश्व का आकार विशेष है।
६. दधिक्राः अश्वनाम (निघं॰१.१४.७)। मध्यस्थानदेवताः (निघं॰५.४.१९)। देवपवित्रं वै दधिक्राः (ऐ॰ब्रा॰६.३६)। अन्नं वै दधिक्राः (गो॰ब्रा॰२.६.३६)। दधिक्राः = यो दधीन् धारकान् क्राम्यति स दधिक्रा अश्वः (दया॰, यजु॰९.१४)। अश्व इव धारकान् क्रामयिता गमयिता [अग्निः] (दया॰, ऋ॰७.४४.५)। दधिक्राम् = यो धारकान् क्रामति तमश्वम् (दया॰, ऋ॰३.२०.१)। यो भूम्यादीन् दधीन् धर्त्रीन् पदार्थान् क्रामति तम् [अग्निं = विद्युतम्] (दया॰, ऋ॰३.२०.५)।
७. वाजः अन्ननाम (निघं॰२.७.२), बलनाम (निघं॰२.९.२)। वाग्वै वाजस्य प्रसवः (तै॰ब्र॰ १.३.२.५)। वाजस्य = वजन्ति प्राप्नुवन्ति सुखानि यस्मिन् व्यवहारे, तस्य (दया॰, ऋ॰ १.११.३)। वाजानाम् = वजन्ति प्रप्नुवन्ति जयपराजयौ येषु युद्धेषु, तेषाम् (दया॰, ऋ॰ १.११.१)। ततो भूम्न्यर्थे वा प्रशंसायामर्थे वा इनिनि वाजिन् इति भवति। वाजिनी

१२३. ग्रीवा ग्रीवा गिरतेर्वा, गृणातेर्वा, गृह्णातेर्वा। (२.२८)

१२४. अनुसंतवीत्वत् अनुसंतवीत्वत् तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः। (२.२८)

वाजी। √वज गतौ (१.१५४) / √वज मार्गसंस्कारगत्योः (१०.६९, क्षीर॰)+घञ् > वाज[1]+इन् > वाजिन्]।[2]

१२३. **'ग्रीवा'** शब्द ''गॄ निगरणे'' (६.११९) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि इससे अन्नादि निगले जाते हैं [√गॄ+वन्[3]+टाप् > ग्री (आदेशः)+व+आ > ग्रीवा] और ''गॄ शब्दे'' (९.२९) धातु से भी निष्पन्न होता है, अर्थात् जिससे बोला जाता है, स्तुति की जाती है[4], वह **'ग्रीवा'** कहलाती है [√गॄ+वन्+टाप् > ग्रीवा]। √ग्रह उपादाने (९.६४) धातु से भी निष्पन्न होता है, क्योंकि उसमें रज्जु आदि बान्ध कर प्राणी ग्रहण किये जाते हैं [√ग्रह+वन्+टाप् > ग्रीवा]।[5]

१२४. **'अनुसंतवीत्वत्'** शब्द ''तनु विस्तारे'' (८.१) अप्रत्ययान्त शुद्ध धातु (प्रकृति)[6] से निष्पन्न छान्दस प्रयोग है [अनु + सम् + √तन् > अनुसंतवीत्वत्] [अथवा

उषोनाम (निघं॰१.८.७)। वाजी अश्वनाम (निघं॰१.१४.४), वाजिनः पदनाम (निघं॰ ५.६.३०), वाजिनेषु = वाग्यज्ञेषु (निरु॰१.२०) [वाच्+यज्ञ > वाज्+इज्ञ > वाजिन्]। अग्निर्वायुः सूर्यस्ते वै वाजिनः (तै॰ब्रा॰१.६.३.९)। आदित्यो वाजी (तै॰ब्र॰१.३.६.४)।
१. अजिव्रज्योश्च (अष्टा॰७.३.६०)। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन वजेरपि (कुत्वस्य) प्रतिषेधो भवति— वाजः, वाज्यमिति (न्यासस्तत्रैव)।
२. वाजी वेजनवान् भयदाता वा परेभ्यः (शत्रुभ्यः), बलवान् वा [√ओविजी भयचलनयोः (६.९)] (दुर्गः, निरु॰१०.२८)। वाजिनः = देवाश्वाः (निरु॰१२.४४)। वाजी = प्रशस्तो वाजो शास्त्रबोधो यस्य सः (दया॰, यजु॰१७.३७)। वाजिनम् = बहूनि वाजा अन्नादीनि यस्मिँस्तम् आहारम् (दया॰, ऋ॰ १.१६२.१२)। प्रशस्तो वाजो वेगो यस्यास्ति, तम् (दया॰, ऋ॰१.६४.६)। वाजाः प्रशस्तानि अन्नानि विद्यन्ते येषु, तेषामिदं सारं वस्तु (दया॰, यजु॰ १९.२१)। वाजः प्रशस्तः पराक्रमो बलं वा येषां ते (दया॰, यजु॰९.६)। बहुविज्ञानान्नबलवेगयुक्ताः (दया॰, ऋ॰७.३८.८)।
३. शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः (उणा॰१.१५४)।
४. गृणाति अर्चतिकर्मा (निघं॰३.१४.६)।
५. गिरन्त्यन्तरवस्थापयन्ति बध्नन्तीति ग्रीवा दामानि (सायणः, ऋ॰६.४८.१७)। ग्रीवाः= शिरांसि (दया॰, यजु॰५.२६)।
६. प्रकृत्यन्तः सन्नन्तश्च यङन्तो यङ्लुगेव च।
ण्यन्तो ण्यन्तसन्नन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते ॥
इन छह प्रकार की धातुओं (प्रकृतियों) में से प्रथम प्रकार की प्रकृति (अप्रत्ययान्त शुद्ध तनु धातु) से 'अनुसंतवीत्वत्' शब्द सिद्ध होता है।

१२५. पन्थाः पन्थाः पततेर्वा, पद्यतेर्वा, पन्थतेर्वा। (२.२८)
१२६. अङ्कस् अङ्कोऽञ्चतेः। (२.२८)
१२७. आपनीफणद् आपनीफणदिति फणतेश्चर्करीतवृत्तम्। (२.२८)

इति द्वितीयोऽध्यायः



√तु गतिवृद्धिहिंसासु (सौत्रधातु)[1] से निष्पन्न है]।

१२५. 'पन्थाः' शब्द ''पत्लृ गतौ'' (१.५८४) धातु से, ''पद गतौ'' (४.५८) धातु से और ''पथि गतौ'' (१०.४४) धातु से निष्पन्न है। जिस पर जाया जाता है, उसे **'पन्था'** कहते हैं [√पत्+इन्[2] > पतिन् > पथिन्, √पद्+इन् > पदिन् > पथिन्, √पन्थ्+इन् > पन्थिन् > पथिन्]।

१२६. **'अङ्कस्'** शब्द ''अञ्चु गतौ'' (१.६०२) धातु से निष्पन्न है [√अञ्च्+असुन्[3] > अङ्कस्]।[4]

१२७. **'आपनीफणत्'** शब्द ''फण गतौ'' (१.५६७) धातु के यङ्लुगन्त का रूप है [आङ्+√फण्+यङ्लुक्+शतृ > आ+प नीक् फण्+अत् > आपनीफणत्]।[5]

---

१. तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके (अष्टा०२.३.९५)। तनोतेः तवतेर्वा वृद्ध्यर्थस्येदं रूपम्। अनुसन्तनोति अनुसंवर्द्धयति वा (स्क०म०, निरु०२.२८)।
२. पतस्थश्च (उणा०४.१२)।
३. अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च (उणा०४.२१७)। अञ्चति गच्छति येन तत् अङ्कः, सङ्ख्या-द्योतकं चिह्नं वा (दया०, तत्रैव)।
४. अङ्कांसि– अकिः कौटिल्ये, कुटिलानीत्यर्थः (स्क०म०, निरु०२.२८)। अङ्कांसि= चिह्नानि (दया०, ऋ० ४.४०.४)। लक्षणानि (दया०, यजु०९.१४)।
५. दाधर्तिदर्धर्त्तिदर्धर्षिबोभूतुतेतिक्तेऽलर्ष्यापनीफणत्० (अष्टा०७.४.६५) इत्यभ्यासस्य नीक् आगमो निपात्यते। आपनीफणत् = सर्वतोऽत्यन्तं गच्छति [प्राप्नोति] (दया०, ऋ०४.४०.४)।

अथ तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः [खण्डम् – १]

१. कर्मन् कर्म कस्मात्? क्रियते इति सतः। (३.१)
२. अपत्यम्* अपत्यं कस्माद्? अप-ततं भवति, नानेन पततीति वा। (३.१)

[खण्डम् – २]

३. अरणः अरणोऽपार्णो भवति। (३.२)

---

१. **'कर्म'** किस हेतु से कर्म कहलाता है? किये जाने के कारण से कर्म कहलाता है [√डुकृञ् करणे (८.१०)+मनिन्[1] > कृ+मन्+कर्मन्]।

२. अपत्य शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त क्या है? अपेत्य पृथग्भूत्वा ततं भवति अर्थात् माता से अलग होकर[2] (जन्म लेकर) पिता के वंश को फैलाने वाला **'अपत्य'** होता है या माता-पिता के सामीप्य से जाकर वंश को फैलाने वाला **'अपत्य'** कहलाता है अथवा मातापिता से दूर जाकर भी उनके प्रति श्रद्धा रखने वाला या उनका उपकार करने वाला **'अपत्य'** कहलाता है [अप+√तनु विस्तारे(८.१) / √तनु श्रद्धोपकरणयोः (१०.२६६)+यक्[3] > अप+तन्+य > अपत्य, निपातनेन टेर्लोपः]। जिसके कारण वंश पतित व दुःखी नहीं होता, वह भी **'अपत्य'** कहलाता है [नञ्+√पत्लृ गतौ (१.५८४)+यक्[3] > अ+पत्+य > अपत्य][4]। [तु०नपात्(निरु०८.५)।]

३. **'अरण'** वह है, जो अपार्ण (अपगत ऋण या अर्ण वाला) अर्थात् पितृ-ऋण से युक्त नहीं होता, ऐसा दत्तकादि[5] पुत्र अथवा अपगत उदक[6] अर्थात् निजवीर्य

---

१. सर्वधातुभ्यो मनिन् (उणा०४.१४६)। अर्द्धर्चादित्वात् (अष्टा०२.४.३१) कर्मन्शब्द उभयलिङ्गः।
२. अपपरी वर्जने (अष्टा०१.४.८७)।
३. अघ्न्यादयश्च (उणा०४.११३)।
४. अपत्यम् अपत्यनाम (निघं०२.२.१०)।
५. दत्तक्रीतककृत्रिमक्षेत्रजाः पुत्राः।
६. अर्णः उदकनाम (निघं०१.१२.१)।

४. रेक्णः* रेक्ण इति धननाम (निघं॰ २.१०.२)— रिच्यते प्रयतः। (३.२)

५. शेषस्* शेष इत्यपत्यनाम (निघं॰ २.२.६)— शिष्यते प्रयतः। (३.२)

रहित दत्तकादि पुत्र 'अरण' (=अन्य) कहलाता है[१] [अप+ऋण / अर्ण > अपार्ण > अर्ण > अरण]।[२]

४. **'रेक्ण'** यह धन का नाम है[३], क्योंकि धन व्यक्ति के मरने पर अलग हो जाता है अर्थात् उसके साथ नष्ट नहीं होता है [√रिच वियोजनसम्पर्चनयोः (१०.२४०)+नुट्+असुन्[४] > रेक्+न्+अस् > रेक्णस्]।[५]

५. **'शेष'** यह अपत्य का नाम है, क्योंकि यह मातापिता के मरने पर भी शेष (बचा) रहता है। अथवा विद्या, गुण, धन आदियों में पितादि की अपेक्षा से विशिष्ट (अधिक विद्यादि वाला) होता, इसलिए अपत्य का नाम **'शेष'** है। अथवा सम्पूर्ण पैत्रिक सम्पत्ति का उपयोग नहीं करता, अपितु शेष अर्थात् अपने ही भाग का उपयोग करता है, इसलिए अपत्य **'शेष'** कहलाता है [√शिष्लृ विशेषणे (७.१४) / √शिष असर्वोपयोगे (१०.२४१)+असुन्[६] > शेषः]।

---

१. अरणोऽन्यो भवति, न रमत इति, अपि वा अर्तेः अरणोऽन्यतो गच्छतीति। यास्कस्त्वाह ''अरणः अपार्णो भवति'' (३.२) (वेंकटः, ऋ॰७.४.७) [नञ्+रम्+नक्- उणा॰३.२; ऋ+अन]। अविद्यमानो रणः सङ्ग्रामो यस्मिंस्तस्य [रायः=धनस्य] (दया॰, ऋ॰७.४.७) [न+रण > अरण]। (नि) अरणे=(नि) रमणे=(निर्) गमने (निरु॰११.४५)।
२. अरणम् अम्बु (निरु॰३.१०)। अरणम् =उदकम् (दया॰, ऋ॰ ५.८५.७)। अरणस्य=अविद्यमानो रणः संग्रामो यस्मिँस्तस्य [रायः=धनस्य] (दया॰, ऋ॰ ७.४.७)। अरणः=संग्रामरहितः, यथावत् संग्रामं न करोति यः [कुराजभृत्यः] (दया॰, ऋ॰ ६.७५.१९) [नञ्+रण > अरण— बहुव्रीहिसमासः]। अरणानि=अरमणीयानि [क्षेत्राणि] (दया॰, ऋ॰ ६.६१.१४) [नञ्+√रमु क्रीडायाम् (१.५९२)+डणन् > अ+र+अण > अरण]। अरणाय=सल्लक्षणाय प्राप्तायान्त्यजाय [शूद्राय] (दया॰, यजु॰ २६.२)। अथवा एवमपि व्युत्पादयितुं शक्यते— √ऋ गतिप्रापणयोः (१.६७०)+ल्युट्> अरण। अथवा, रण शब्दार्थः गत्यर्थः (१.३०३; ५३९)+अच् > रणः संग्रामः (निघं॰ २.१७.१)। न+रणः > अरणः।
३. रेक्णस्वती=रेक्णवती, धनवती (निरु॰ ११.४५)।
४. रिचेर्धने घिच्च (उणा॰ ४.२००)। चजोः कुः घिण्ण्यतोः (अष्टा॰ ७.३.५२) इति कुत्वम् ।
५. रिच्यत अवतिष्ठते प्रयतः म्रियमाणस्य धनं धनिना सह न म्रियत इत्यर्थः। 'रेक्णो धनं रिचेः प्रेरणार्थात्' इति माधवः। प्रेर्यतेऽनेन दत्तेन भृत्यादिः कर्मसु (देव॰, नि॰नि॰ २.१०.२)।
६. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा॰ ४.१९०)।

[खण्डम् — ३]

६. ओकः ओक इति निवासनामोच्यते। (३.३)

७. वाजी* वाजी वेजनवान्। (३.३; २.२८; १०.३१)

[खण्डम् — ४]

८. दुहिता दुहिता दुर्हिता, दूरे हिता, दोग्धेर्वा। (३.४)

---

६. 'ओकः' यह निवास (अपने घर व वंश) का नाम है, क्योंकि जहाँ सब पारिवारिक लोग एकत्रित होते हैं, उसे **'ओकस्'** कहते हैं [उच्यति समवैत्यत्र। √उच समवाये (४.११४)+असुन्[१] > उच्+अस् > ओकस्]।

७. वाजी का अर्थ वेजनवान् (वेगवान्) अर्थात् शत्रुओं को भयभीत करने में समर्थ बलशाली (पुत्र) है [द्र॰ २.२८]।[२]

८. **दुहिता** का अर्थ 'दुर्हिता' है अर्थात् बड़ी कठिनाई से धारण व सुरक्षा और पोषण की योग्या होती है [दूरे निहिता दुहिता। दुर्+√डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०)+तृच् (क्तार्थे) > दु+हि+तृ > दुहितृ]। अथवा विवाहोपरान्त गमन (विदाई) में दुःख देनेवाली होती है, इसलिये पुत्री **'दुहिता'** कहलाती है [दुर्+√हि गतौ वृद्धौ परितापे च (५.११)+तृच् (क्तार्थे) > दु+हि+तृ > दुहितृ]।

पितृकुल से दूर ही धारण-पोषण व विवाह की योग्या होती है इसलिये पुत्री **'दुहिता'** कहलाती है [दूरे निहिता दुहिता। दूर+√धाञ् (३.१०)+तृच् > दूर+हि+तृ > दुहितृ] अथवा दूर देश के विवाह से ही हितकारिणी होती है या दूर देश में विवाहित होने पर भी पिता एवं पति के कुलों का हित चाहने वाली होती है, इसलिये पुत्री **'दुहिता'** कहलाती है [दूर+√हि (५.११)+तृच् > दूरहितृ > दुहितृ]।[३]

सभी गृहकार्यों को पूर्ण करने वाली होने से व सन्तान के द्वारा पतिकुल के वंश को पूर्ण (समृद्ध) करने वाली होने से भी पुत्री **'दुहिता'** कहलाती है [√दुह प्रपूरणे

---

१. अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च (उणा॰४.२१७) इति बाहुलकाद् उचेरसुन्।
२. वाजिनम् = अन्नवन्तम् (निरु॰१०.२८)। वाजेषु वाजिनं वाजयाम (ऋ॰ १.४.९); वाजयति अर्चतिकर्मा (निघं॰३.१४.३६)।
३. कुछ लोग 'दुर्हिता' का ही अर्थ 'दूरे हिता' मानकर इन्हें एक ही निर्वचन मानते हैं अर्थात् 'दुहिता' अतिपरोक्षवृत्ति है, 'दुर्हिता' परोक्षवृत्ति है और 'दूरे हिता' प्रत्यक्षवृत्ति है। दूर के अर्थ में ही 'दुर्' उपसर्ग का प्रयोग है।

[खण्डम् – ५]

९. गर्तः* गर्तः सभास्थाणुः– गृणातेः, सत्यसङ्गरो भवति। श्मशान–संचयोऽपि गर्त उच्यते– गुरतेः, अपगूर्णो भवति। रथोऽपि गर्त उच्यते– गृणातेः स्तुतिकर्मणः, स्तुततमं यानम्। (३.५)

१०. श्मशानम् श्मशानं श्मशयनम्। श्म शरीरम्। (३.५)

(२.४)+इट्+तृच्[१] > दुहितृ]। अथवा दुहधातु का अर्थ ''गां दोग्धि'' के समान दोहन (खाली) करना लेने पर पितृकुल का दोहन करने से भी पुत्री 'दुहिता' कहलाती है [पूर्ववत्]।

९. **'गर्त'** का अर्थ है– न्यायसभा का स्थान, क्योंकि यह शब्द ''गृ शब्दे'' (९.२९) धातु से निष्पन्न होता है। वह गर्त सत्य को बुलवाने व घोषणा करने वाला होता है [√गृ+तन्[२] > गर्+त > गर्त]। अथवा जहाँ ईश्वर, वेदादियों की स्तुति व पाठादि होता है, उसे 'गर्त' कहते हैं [गृणाति अर्चतिकर्मा (निघं० ३.१४.६)]। श्मशान के लिए सञ्चित भूमि व कब्रों के समूह को भी **'गर्त'** कहा जाता है, क्योंकि वह श्मशानवाचक गर्तशब्द ''गुरी उद्यमने'' (६.१०४) धातु से निष्पन्न होता है, अर्थात् वह मृतदेहों के दहन (विनाश) के लिए उद्यत (तैयार) रहता है [√गुर्+तन्[२] > गर्त]। यह अपगूर्ण होता है अर्थात् अपशब्दों, दुःखभरे अनिष्ट शब्दों वाला होता है, इसलिए लोग इससे (अप) दूर रहते हैं । रथ भी **'गर्त'** कहलाता है[३], क्योंकि वह रथवाचक गर्तशब्द स्तुत्यर्थक ''गृ''(स्तुतौ)[४] धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि वह सर्वाधिक प्रशंसनीय यान है [√गृ+तन्[२] > गर्त]।[५]

१०. **'श्मशान'** का अर्थ है 'श्म' के (अन्तिम) शयन का स्थान। **'श्म'** का अर्थ है शरीर [श्म+शयन > श्मन्+शान > श्मशान]।

---

१. नप्तृनेष्टृ...दुहितृ (उणा०२.९७), बाहुलकाद् इड् गुणाभावश्च।
२. हसिमृग्रिण्...तन् (उणा०३.८६)।
३. आ रोहथो वरुण मित्र गर्तम् [=रथम्](ऋ०५.६२.८)।
४. गृणाति अर्चतिकर्मा (निघं०३.१४.६)।
५. गर्तः गृहनाम (निघं०३.४.३)। गर्ते=गृहे (दया०, ऋ० २.३३.११, ६.२०.९; सायणः, ऋ० १.१२४.७)।

११. शरीरम् शरीरं श्रृणातेः, शम्नातेर्वा। (३.५; २.१६)

१२. श्मश्रु श्मश्रु लोम– श्मनि श्रितं भवति। (३.५)

१३. लोम लोम लुनातेः, लीयतेर्वा। (३.५)

[खण्डम् – ६]

१४. जामिः* जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम्, जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः– निर्गमनप्राया भवति। (३.६; द्र०४.२०)

---

११. **शरीरम्**– द्र० २.१६ की व्याख्या (पृ० १०८)।

१२. **श्मश्रु**शब्द 'लोम' का वाचक है, क्योंकि वह शरीर पर आश्रित होता है [श्मन्+√श्रिञ् सेवायाम् (१.६३८)+डुन्[१] > श्म+श्र्+उ > श्मश्रु]।

१३. **लोमन्**– शब्द ''लूञ् छेदने'' (९.१२) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि वह काटा जाता है [√लूञ्+मनिन्[२] > लोमन्]। ''लीङ् श्लेषणे'' (४.२९) धातु से भी **लोमन्** शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि वह शरीर से आश्लिष्ट (सटा हुआ) रहता है [√लीङ्+मनिन्[२] > लोमन्, लेर्लो इत्यादेशः]।[३]

१४. (सहोदरी को) **जामि** (कहा जाता है, क्योंकि) दूसरा व्यक्ति (जीजा) उसमें 'जा' अर्थात् सन्तान को उत्पन्न करता है [√जनी प्रादुर्भावे (४.४०)+डामि > जामि]। गत्यर्थक ''जम्'' धातु[४] से **'जामि'** शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह पितृकुल से पतिकुल में जाने वाली होती है [√जम्+इण्[५] > जामि]।[६]

---

१. श्मनि श्रयतेर्डुन् (उणा०५.२८)।
२. नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्लोमन्पाप्मन्ध्यायन् (उणा०४.१५२)।
३. लोम=अनुकूलं वचनम् (दया०, यजु०२३.३६)।
४. जमति गतिकर्मा (निघं०२.१४.१०४), यह धातु पाणिनीय धतुपाठ में तो भक्षणार्थ में पठित है– √जमु अदने (१.३१७)।
५. जनिघसिभ्यामिण् (उणा०४.१३१) इति बाहुलकात् जमतेरपीण्।
६. जमन्ति वर्षाकाले प्रादुर्भवन्तीति जामय ओषधयः। यद्वा जामय-जमन्ति सर्वत्र प्रसरन्तीति जामयः सूर्यदीप्तयः (सायणः, ऋ०३.५७.३)। जमन्ति एकस्मिन् पात्रे सह भुञ्जत इति जामयो देवाः (मुद्गलः, ऋ०१.७१.७)। जामिः = ज्ञाता, अत्र ज्ञाधातोः बाहुलकादौणादिको मिः प्रत्ययः जादेशश्च (दया०१.७५.३)। उदकमिव शान्तिप्रदः, जामिरित्युदकनामसु पठितम् (निघं०१.१२.२८) (दया० ऋ०१.७५.४)। जामयः अङ्गुलिनाम (निघं०२.५.१४)। जमन्ति गच्छन्ति कर्माणि प्रति, अदन्त्याभिरन्नादीनि वा। जनेरेव वा बाहुलकान्नकारस्य मकारः, जाताः स्वकारणात् (देव०, तत्रैव)। जामि उदकनाम (निघं०१.१२.२८)। जामेर्गतिकर्मणः

द्वितीयः पादः [खण्डम् – १]

१५. मनुष्याः* मनुष्याः कस्मात्? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। मनस्यमानेन सृष्टाः, मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे। मनोरपत्यम्। मनुषो वा। (३.७)

[खण्डम् – २]

१६. असुराः* असुरा असुरताः स्थानेषु। अस्ताः स्थानेभ्य इति वा।

१५. मनुष्य किसलिए मनुष्य कहा जाता है? मनन-चिन्तन करके कर्मों को निरन्तर करने के कारण **मनुष्य** कहलाता है [√मन ज्ञाने (४.६५)/ √मनु अवबोधने (८.९)+√षिवु तन्तुसन्ताने (४.२)+ड्यन् > मन् (उक्-आगमः)+ष्+य > मनुष्य]। प्रशस्त अर्थात् विवेकयुक्त व प्रसन्न मन वाले (माता-पिता) के द्वारा (सृष्ट) उत्पन्न किये गये हैं, इसलिए भी **मनुष्य** कहलाता है। यहाँ 'मनस्यति'(मनस्) धातु तो 'मनस्विपन अर्थात् प्रशस्त मन' अर्थ में अर्थात् एतदर्थक 'मनस्' धातु से मनुष्य शब्द बनता है [मनस् +यत् > मनस्य > मनुष्य / मनस्+सृष्ट > मनष्ट > मनुष्य]। मनु (ज्ञानी[1] अथवा प्रजापति परमेश्वर[2]) का अपत्य भी मनुष्य कहलाता है [मन ज्ञाने / मनु अवबोधने+उन् > मनु[3]; मनु+षुक्+यत्[4] > मनुष्+य > मनुष्य]। मनुष् (ज्ञानी[1] अथवा प्रजापति परमेश्वर[2]) का अपत्य होने से भी मनुष्य कहलाता है [मन+उस्[5] (नित्) > मनुष्; मनुष्+यत् > मनुष्य]।[6]

१६. असुर स्थानों (विषयादियों) में अ-सु-रत अर्थात् अच्छी प्रकार से रत

(निघं०२.१४) 'वसिवपियजि०' (उणा०४.१२६) इत्यादिना विहित इञ् बाहुलकाद् भवति। जमति गच्छति निम्नं प्रदेशं, गम्यते वा जलार्थिभिः। यद्वा, 'जनी प्रादुर्भावे' अस्मात् 'जनिघसिभ्यामिण्' (उणा०४.१३१) इति इण्प्रत्ययो बाहुलकान्मकारादेशश्च दीर्घः। जायतेऽस्मात् पृथिव्यादि, जायते वा स्वकारणात् 'अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी' (तै०उ०२.१) इति श्रुतेः (देव०, निघं०१.१२.२८)।

१. मनुर्मननात् (निरु०१२.३३)।
२. प्रजापतिर्वै मनुः (शत०ब्रा०६.६.१.१९)।
३. शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च (उणा०१.१०)।
४. मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (अष्टा०४.१.१६१)।
५. अर्तिपॄवपि...नित् (उणा०२.११९) इति बाहुलकात् मनेरपि उस्प्रत्ययः।
६. मनुष्याः = मनुष्यनाम (निघं०२.३.१)।

अपि वाऽसुरिति प्राणनाम[1]— अस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः। ''सोः देवानसृजत तत् सुराणां सुरत्वम्। असोः असुरान् असृजत तद् असुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते''। ['सुराः सुरताः स्थानेषु' इत्यपीह निर्वचनं बोध्यम्।] (३.८; १०.३४)

१७. असुः* असुरिति प्राणनाम[1]— अस्तः शरीरे भवति।(३.८; १०.३४)

(स्थिर) नहीं रहते, चञ्चल रहते हैं, इसलिए वे **'असुर'** कहलाते हैं[2] [नञ्+सु+√रमु क्रीडायाम् (१.५९२)+ड > अ+सु+र्+अ > असुर] [जो स्थानों में अच्छी प्रकार से रत (स्थिर) रहते हैं, वे **'सुर'** कहलाते हैं, यह भी निर्वचन यहां जानना चाहिए (सु+रम्+ड > सुर)]। जो अच्छे स्थानों (सद्विषयों) से फेंके गये हैं, पतित हुए हैं, वे भी **'असुर'** कहलाते हैं अथवा जो दूसरों को दुःखी करते हैं या अपनी ईर्ष्यादि दुर्भावनाओं से सदा दुःखी (असन्तुष्ट) रहते हैं, वे भी **'असुर'** कहलाते हैं[3] [√असु क्षेपणे (४.९९) / √असु उपतापे (११.४)+उरन्[4] > अस्+उर > असुर]। 'असु' यह प्राण का नाम[5] है, क्योंकि वह शरीर में क्षिप्त (स्थापित) होता है। जो उस (दुरुपयुक्त) प्राण से युक्त होते हैं, वे **'असुर'** कहलाते हैं [असु+र[6] > असुर]।[7] प्रजापति ने 'सु' से अर्थात् सत्कर्मों के फलसमुदाय से देवों को उत्पन्न किया है, वही सुरों (देवों) का सुरपन (देवपन) है, और 'असु' से अर्थात् निन्द्यकर्मों के फलसमुदाय से असुरों को उत्पन्न किया है, वही असुरों का असुरपन है, ऐसा ब्राह्मणग्रन्थों से जाना जाता है।

१७. 'असु' यह प्राण का नाम है, क्योंकि वह शरीर में क्षिप्त (स्थापित) होता

१. असुः प्रज्ञानाम (निघं०३.९.६)।
२. असुर = अविद्यमाना सुरा मद्यपानं यस्य, तत्सम्बुद्धौ (दया०, ऋ०२.२७.१०) [नञ्+सुरा >असुर]।
३. अस्यति प्रक्षिपति धर्मं शुभगुणांश्च स 'असुरः' मेघो दुर्जनादिर्वा (दया०, उणा०१.४२)। अस्यति प्रक्षिपति दूरीकरोति सर्वाणि दुःखानि [इत्यसुरः] (दया०, ऋ० ३.५५.४)। अस्यति क्षिपति सर्वमित्यसुरः कालात्मा संवत्सरः (सायणः, ऋ०३.५६.८)। अस्यति प्रेरयति सर्वान्तर्यामितयेत्यसुरः [इन्द्रः] (सायणः, ऋ०३.३८.४)।
४. असेरुरन् (उणा०१.४२)।
५. असुम् = प्राणम् (निरु०११.१८)। आत्मीयं ज्वालालक्षणं प्राणम् (सायणः, ऋ०१०.१२.१)। असुम् = प्रज्ञाम् (दया०, ऋ०१.१८२.३)।
६. मत्वर्थे रप्रत्ययः।
७. अध्वर्युः असुरः, असुमान् प्रज्ञावान् अतिकुशलोऽस्मिन् यज्ञकर्मणि। असुरो ब्रह्मा... उद्गाता असुरः...सर्वे एवैते यजमानादयः...असुराः (दुर्गः, निरु०३.१६, अपि च द्र०५.३)। असुरः=मेघो वा यः प्रज्ञां राति ददाति सः। असुर इति मेघनामसु पठितम् (निघं०१.१०.२९), असुरिति प्रज्ञानामसु पठितम् (निघं०३.९.६) (दया०, ऋ०१.५४.३) [असु+र > असुर; असु+√रा दाने+क > असुर]। असुरः = असुषु प्राणेषु रमते (दया०, ऋ०१.३५.७)

१८. ऊर्ज्* ऊर्गिति अन्ननाम (निघं०२.७.१५)– ऊर्जयतीति सतः। पक्वं सुप्रवृक्णम् इति वा। (३.८)

१९. निषादः निषादः कस्मात्? निषदनो भवति। निषण्णमस्मिन् पापकम् इति नैरुक्ताः। (३.८)

है, इसलिए प्राण का नाम **'असु'** है [√असु क्षेपणे (४.९९)+उ[1] > असु]।

१८. 'ऊर्ज्' यह अन्न का नाम है[2] क्योंकि अन्न बल और प्राण व जीवनशक्ति को प्रदान करता है, इसलिए अन्न 'ऊर्ज्' कहलाता है [√ऊर्ज बलप्राणनयोः (१०.१७)+क्विप् > ऊर्ज्]। यह अन्न दो प्रकार का होता है– एक पक्व, दूसरा वृक्षों से अच्छी प्रकार से काटने व तोडने योग्य फलादि। ये दोनों ही अन्न बलप्रद होने से 'ऊर्ज्' कहलाते हैं। कुछ लोग 'पक्वम्' एवं 'सुप्रवृक्णम्' शब्दों को भी 'ऊर्ज्' के निर्वचन मानते हैं। इस पक्ष में 'पक्वम्' अर्थात् पक्वान्न बलप्रद होने से **'ऊर्ज्'** कहलाता है [पक्व > क्व > वक् > उक् > ऊर्क्]। अच्छी तरह कटा (चबाया) हुआ अन्न बलप्रद होता है, इसलिए वह **'ऊर्ज्'** कहलाता है [√ओव्रश्चू छेदने (६.११)+क्विप् > व्रश्च् > व्रच् > वर्च् > उर्च् > ऊर्ज्]। कुछ लोग 'पक्व' को 'ऊर्ज्' का अपर नाम मानते हुए 'सुप्रवृक्णम्' को 'पक्वम्' का निर्वचन मानते हैं, पर यह उचित नहीं है।[3]

१९. 'निषाद' किस कारण से निषाद कहलाता है? जो प्राणियों को मारने वाला या धर्म का नाश करने वाला होता है, वह **'निषाद'** कहलाता है [नि+√षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (१.५९३)+घञ् > निषाद]। जिसमें पाप बैठा हुआ (स्थिर) रहता है, वह **'निषाद'** कहलाता है, ऐसा नैरुक्त आचार्यों का मत है [पूर्ववत्]।[4]

[असु+ √रमु क्रीडायाम्+ड > असुर]। असून् प्राणान् राति ददाति अविद्यमानरूपगुणो वा सोऽसुरो वायुः। आतोऽनुपसर्गे कः (अष्टा०३.२.३) इत्यसूपपदाद् राधातोः कः (दया०, ऋ०१.३५.१०)। अपि च द्र० सायणः ऋ०१.५४.३।

१. शॄस्वृस्निहित्रप्यसि० (उणा०१.१०)।
२. ऊर्जे = अन्नाय (निरु०९.२७), ऊर्क् = अन्नं च रसं च (निरु०९.४३), ऊर्जम्=रसम् (निरु० ११.२९)।
३. √पच्– धातु से 'पक्व' सरलतया सिद्ध है, उसे √व्रश्च्– धातु से मानना सर्वथा अनुचित है। साथ में यास्क के 'इति वा' शब्द दो निर्वचनों अथवा दो अर्थों का संकेत करते हैं।
४. निषादेभ्यः = ये वनपर्वतादिषु तिष्ठन्ति तेभ्यः [जनेभ्यः] (दया०, यजु०१६.२७)। एष ह वै न ग्रामे नारण्ये यन्निषादाः (जै० ब्रा०२.१८३)।

२०. पञ्चन् पञ्च पृक्ता संख्या, स्त्रीपुन्नपुंसकेष्वविशिष्टा। (३.८)

२१. बाहू* बाहू कस्मात्? प्रबाधत आभ्यां कर्माणि। (३.८)

२२. अङ्गुलयः अङ्गुलयः कस्मात्? १. अग्रगामिन्यो भवन्तीति वा, २. अग्रगालिन्यो भवन्तीति वा, ३. अग्रकारिण्यो भवन्तीति वा, ४. अग्रसारिण्यो भवन्तीति वा, ५. अङ्कना भवन्तीति वा,

२०. 'पञ्चन्' शब्द सम्पृक्त संख्या है अर्थात् यह स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग एवं नपुंसकलिंगों से संयुक्त होती हुई भी अविशेष (विना परिवर्तन के ही) रहती है [√पृची सम्पर्चने (२.२३) / पृच संयमने (१०.२३१)+कनिन्[1] > पृच्+अन् > पञ्च् (आदेश)+अन् > पञ्चन्]।[2]

२१. बाहु (भुजाएँ) किस कारण से 'बाहु' कहलाती हैं? इनसे सभी कार्य किये जाते हैं, अथवा शत्रुओं या शत्रुबलों का बाध (निवारण) करते हैं, अत एव भुजाएँ 'बाहु' कहलाती हैं [√बाधृ विलोडने (१.५)+कु[3] > बाध्+उ > बाह्+उ > बाहु]।[4]

२२. 'अङ्गुलि' नाम किस कारण से है? १. ये अंगुलियाँ हाथ में आगे-आगे गयी हुई (निकली हुई) होती हैं, इसलिए वे **'अङ्गुलि'** कहलाती हैं [अग्र+√गम्लृ गतौ (१.७०९)+डुलि[5] > अम् (आदेशः)+ग्+उलि > अम्+गुलि > 'अङ्गुलि']। २. रसों को आगे से चखाने वाली होती हैं, या आगे से ये अन्नादियों का भक्षण कराती हैं अथवा अग्रतः अन्न से लिप्त होकर वे स्वयं ही भक्षण करती हुई सी दीखती हैं, या जलादियों को आगे से टपकाती हैं अथवा कुष्ठादि रोगों में सबसे पहिले गलने वाली होती हैं इसलिए भी अंगुलियाँ **'अङ्गुलि'** कहलाती हैं, [अग्र+√गल आस्वादने (१०.२०४) / √गल अदने (१.३६७) / √गल स्रवणे (१०.१६८)+डुलि[5] > अम्+ग्+उलि > 'अङ्गुलि']। ३. शत्रु व दण्डनीय आदियों को आगे बढ़कर मारने अथवा सभी कार्यों में नित्य आगे-आगे रहकर कार्यों को करने वाली होती हैं, इसलिए भी **'अङ्गुलि'** नाम है [अग्र+√कृञ् हिंसायाम् (५.७) / √डुकृञ् करणे (८.१०)+डुलि[5] > अम्+क्+उलि > अम्+ग् +उलि > 'अङ्गुलि']। ४. सभी कार्यों के सम्पादन में अन्य अवयवों की अपेक्षा नित्य अग्रसर होती हैं, इसलिए भी **'अङ्गुलि'** नाम है [अग्र+√सृ गतौ (१.६६९)+डुलि[5]

१. सप्यशूभ्यां तुट् च (उणा०१.१५७) इति बाहुलकात् पञ्चतेरपि कनिन्।
२. पञ्च = पञ्च मनुष्यजातानि (निरु०१०.२९,३१)। पञ्चते व्यक्तीकरोतीति पञ्चन्, संख्यावाचको वा (दया०,उणा०१.१५७) [√पचि व्यक्तीकरणे (१.१०५)+कनिन् > पञ्च्+अन् > पञ्चन्]।
३. अर्जिदृषिकम्यमिपंसिबाधाम्....हकारश्च (उणा०१.२७)।
४. बाहू बाहुनाम (निघं०२.४.८)। बाहुः = बलं बलकारी वा [वायुः] (दया०,यजु०२.३)। वीर्यवत्तमकिरणसमूहस्थो यज्ञः (दया०, यजु०१.२४)।
५. ऋतन्यञ्जि० (उणा०४.२) इत्यनेन विहित उलिप्रत्यय एव बाहुलकाड् डित्त्वेन निर्दिष्टः।

६. अञ्चना भवन्तीति वा, ७. अपि वाभ्यञ्जनादेव स्युः। (३.८)

[**खण्डम् – ३**]

२३. अवनयः* अवनयोऽङ्गुलयो भवन्ति– अवन्ति कर्माणि। (३.९)

२४. कक्ष्याः* कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि। (३.९; द्र०२.२)

> अम्+स्+उलि > अम्+ग् +उलि > 'अङ्गुलि']। ५. अंगुलियाँ सभी वस्तुओं को लक्षित (निर्दिष्ट) करने वाली होती हैं अथवा वाणी को लिपिबद्ध करने वाली होतीं हैं, अथवा ये अंगुलियाँ जिस पर पड़ जाती हैं, उस पर इनका अङ्क (चिह्न) पड़ जाता है। इसलिए भी 'अङ्गुलि' नाम है [√अकि लक्षणे (१.६८)+उलि > अङ्क्+उलि > 'अङ्गुलि']। ६. अंगुलियाँ झुकने वाली होती हैं अथवा मांगने या सम्मान (नमन) करने वाली होती हैं, इसलिए भी **'अङ्गुलि'** नाम है [√अचि गतौ याचने च (१.६०४)+उलि > अञ्च्+उलि > 'अङ्गुलि']। ७. अभिमुख (सम्मुख) उपस्थित होकर सांकेतिक भाषा से बोलने के कारण भी **'अङ्गुलि'** नाम है [√अजि भाषार्थः (१०.२२४)+उलि > अञ्ज्+उलि > 'अङ्गुलि'] अथवा अभ्यञ्जन (मालिश करना, काजल लगाना, सजाना, मिट्टी आदि से घटादिरूपों को अभिव्यक्त करना आदि विशेष कार्यों के) करने के कारण भी **'अङ्गुलि'** नाम है [√अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (७.२०)+उलि > अञ्जुलि > अङ्गुलि]।[१]

२३. 'अवनि' शब्द अङ्गुलि का वाचक है, क्योंकि अंगुलियाँ (अनुष्ठान के द्वारा यज्ञरूपी) कर्मों की रक्षा करतीं हैं [√अव रक्षणगतिकान्ति० (१.३९६)+अनि[२] > अवनि]।[३]

२४. अंगुलियाँ कर्मों को प्रकाशित करती हैं, इसलिए 'कक्ष्याः' कहलातीं हैं [√काशृ दीप्तौ (१.४३०)+स[४] > कश्+स > कष्+स > कक्षः। कक्षेषु प्रकाशकेषु कर्मसु साधुः कक्ष्यः। कक्ष+यत् > कक्ष्य]।[५]

---

१. उणादौ तु √अगि गत्यर्थः (१.८८), √अङ्ग पदे लक्षणे च (१०.३५६) धातोर्वा उलिप्रत्ययेन साधितः। अङ्गति चेष्टतेऽनेन सः 'अङ्गुलिः' करशाखा वा (दया०, उणा०४.२)।
२. अर्तिसृधृधम्यम्यश्यवितॄभ्योऽनिः (उणा०२.१०४)।
३. अवनिः पृथिवीनाम (निघं०१.१.९)। अवनयः नदीनाम (निघं०१.१३.१)। अङ्गुलिनाम (निघं०२.५.११)। अवति प्रजाः, अव्यते वा भूपैः। एतावत्स्वर्थेषु यो योग्यः, स बोद्धव्यः (देव०, नि०नि० १.१.९)। अवन्ति जगत् स्वोदकेन, अव्यन्ते प्राणिभिस्तीरादीनिर्माणेन (देव०, नि०नि०१.१३.१)।
४. वृतॄवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः (उणा०३.६२)।
५. कक्ष्याः अङ्गुलिनाम (निघं०२.५.१०)।

२५. योक्त्राणि*, योजनानि* योक्त्राणि योजनानि इति व्याख्यातम्। (३.९)

२६. अभीशवः* अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि। (३.९)

२७. धूः* धूर्धूर्वतेर्वधकर्मणः (निघं०२.१९.४)। इयमपीतरा

---

२५. योक्त्र शब्द योजनशब्द से व्याख्यात है और योजन शब्द प्रसिद्धार्थक होने से स्वयं व्याख्यात है। अंगुलियाँ पदार्थों को मिलाती हैं, योजन करती हैं, इसीलिए 'योक्त्र' व 'योजन' कहलाती हैं [√युजिर् योगे (७.७) / √युज संयमने (१०.२३१)+ष्ट्रन्[१] > योक्त्र। युज्+ल्युट् / युच्[२] > योजनम्]।[३]

२६. अंगुलियाँ कर्मों में एकसाथ व्यापृत रहती हैं, इसीलिए **'अभीशु'** कहलाती हैं [अभि+√अशूङ् व्याप्तौ संघाते च (५.१८)+उण्[४] > अभि+अश्+उ > अभि+इश्+उ / अभी+श्+उ > अभीशु]।[५]

२७. 'धुर्' यह शब्द वधार्थक ''धुर्वी'' धातु से बनता है। अंगुलियाँ मारने का कार्य भी करती हैं, इसलिए **'धूः'** कहलाती हैं [√धुर्वी हिंसार्थः (१.३८२)+क्विप्[६] > धुर्व्+व् > धुर्]। जो दूसरा जुआ वाचक 'धुर्' शब्द है, वह भी इसी वधार्थक धुर्वी धातु से ही बनता है, क्योंकि वह वहन करने वाले बैल, अश्व आदि के गर्दन पर धारित होकर उन्हें हिंसित करता है अथवा यह जुआ वाचक 'धुर्' शब्द 'धारयति' से अर्थात् णिजन्त ''धृञ् धारणे'' (१.६४१) धातु से भी बनता है, क्योंकि वह गर्दन पर धारण किया जाता है [√धृञ्+णिच्+क्विप्[७] > धार्+व् > धार् > धुर्]।[८]

---

१. दाम्नीशसयुयुज०(अष्टा०३.२.१८२)।
२. सुयुरुवृञो युच् (उणा०२.७५) इति बाहुलकाद् युजेरपि युच्।
३. वि योक्त्रं वि नियोजनम् (अथर्व०७.७८.१)।
४. कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उणा०१.१)।
५. अभीशवः रश्मिनाम (निघं०१.५.५)। अंगुलिनाम (निघं०२.५.२०)। [रश्मयः] अभिव्याप्नुवन्ति जगद्, अश्वग्रीवां वा। यद्वा, अभिपूर्वात् √ईश ऐश्वर्ये (२.१०) इत्यस्मात् पूर्ववद् (उणा०१.७) उप्रत्ययः। ईष्टे सूर्यस्तमोऽपहन्तुमेभिः, अश्वपालोऽश्वं बद्धुमीष्टे (देव०, नि०नि० १.५.५)। [अंगुलयः] अभ्यश्नुवते कर्माणि, अभीशते वा कर्माणि कर्तुम् (देव०, नि०नि० २.५.२०)। अभितोऽश्नुवते व्याप्नुवन्ति मार्गान् यैस्ते रश्मयो हया वा। आभिपूर्वाद् अशूङ् व्याप्तावित्यस्माद् धातोः। कृवापा०(उणा०१.१) इत्युण्, वर्णव्यत्ययेनाकारस्थान ईकारश्च (दया०, ऋ०१.३८.१२); अभीशवः = अङ्गुलय इव (दया०, ऋ०५.६१.२)।
६. भ्राजभ्रासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप् (अष्टा०३.२.१७७)।
७. बाहुलकात् क्विप् (उणा०२.५८)।
८. धुरः अङ्गुलिनाम (निघं०२.५.१८)। धूर्वन्ति घ्नन्त्युपक्षयन्ति कर्माणीत्यर्थः। हिंसन्ति पराना-भिरिति वा। ...अङ्गुल्या हि धार्य्यं सुवर्णादि धारयति (देव०, तत्रैव)। धूः=सर्वदोषनाश-

धूरेतस्मादेव– विहन्ति वहम्, धारयतेर्वा। (३.९)

२८. अन्नम्* अन्नं कस्मात्? आनतं भूतेभ्यः, अत्तेर्वा। (३.९)

२९. बलम्* बलं कस्मात्? भरं भवति– बिभर्त्तेः। (३.९)

३०. धनम् धनं कस्मात्? धिनोतीति सतः। (३.९)

---

२८. 'अन्न' किस कारण से अन्न कहलाता है? इसका प्रवृत्तिनिमित्त क्या है ? यह (भोग्य वस्तु) प्राणियों के लिए सब ओर से आनत अर्थात् अनुकूलित व प्राप्त होता है, इसलिए **'अन्न'** कहलाता है [आङ्+√णम प्रह्वत्वे शब्दे च (१.७०८)+नङ् > आ+नम्+न > अ+न्+न > अन्न]। "अद भक्षणे" (२.१) धातु से भी अन्न शब्द निष्पन्न होता है अर्थात् जो प्राणियों के द्वारा खाया जाता है या जो प्राणियों को खाता है, वह **'अन्न'** कहलाता है[१] [√अद्+न[२] > अन्न]।[३]

२९. **'बल'** किस कारण से बल कहलाता है अर्थात् इसका निर्वचन क्या है ? बल धारण-पोषण करने वाला होता है, क्योंकि यह "डुभृञ् धारणपोषणयोः" (३.५) धातु से निष्पन्न होता है [√भृञ्+अच् / अप् > भर > बल]।[४]

३०. **'धन'** किस कारण से धन कहलाता है? यह "धिवि प्रीणनार्थः" (१.३९२) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि यह मनुष्यों को तृप्त करता है [√धिन्व्+ड्यु > ध्+अन > धन]।[५]

कोऽन्धकारनाशको वा। ...सर्वाभिरक्षकः सर्वपदार्थच्छेदकत्वाद् हिंसको। ...धातेश्वरः, शिल्पविद्याक्रियासाधकतमोऽग्निः (दया०, यजु०१.८)। धुरि=मार्गे (दया०, ऋ० ५.४६.१)। धूर्षु=अयःकाष्ठविशेषासु कलासु (दया०, ऋ०१.१००.१६)।

१. अद्यतेऽत्ति च भूतानि, तस्मादन्नं तदुच्यते (तै०आ०८.३; तै०उप०२.२)।

२. बाहुलकाद् अद्धातोः नः प्रत्ययः, स च नित् (उणा० ३.१०)। उणादौ तु अन्धातोः नः (नित्) प्रत्ययो विहितः– कॄवॄजॄसिद्रूपपन्यनिस्वपिभ्यो नित् (उणा०३.१०)।

३. अन्नम् उदकनाम (निघं०१.१२.६४)। अन्यते प्राण्यते प्रजाभिः, न हि कदाचिदपि जलेन विना जीवन्ति प्राणिनः। ...अत्तेर्वा निष्ठातकारः, 'अन्नाण्णः' (अष्टा०४.४.८५) इति निर्देशात् जग्ध्यादेशाभावः, अद्यते स्म। अन्नहेतुत्वाद्वा अन्नमित्युच्यते (देव०, तत्रैव)। अन्नस्य=प्राणधारणस्य निरन्तर सुखस्य च हेतोः [पदार्थस्य]। 'कॄवॄजॄ०' (उणा०३.१०) इत्यनधातोर्नः प्रत्ययः, 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उणा०३.६) इत्यतधातोर्नः प्रत्ययः (दया०, यजु०३.४३)।

४. बल इति मेघनाम (निघं०१.१०.४)। बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति (निरु० ८.१)। बलम्=मेघम् (दुर्गस्कन्दमहेश्वराः– निरु० ४.२५)। [√बल प्राणने (१०.९५) / √बल प्राणने धान्यावरोधे च (१.५८१)+अच् > बल]।

५. उणादौ तु √डुधाञ्धातोः क्युर्विहितः– कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः (२.८२)। नैरुक्तप्रक्रियायामयमेव प्रत्ययः डित्, न तु कित्।

३१. क्षिप्रम् क्षिप्रं कस्मात्? संक्षिप्तो विकर्षः। (३.९)

३२. अन्तिकम् अन्तिकं कस्मात्? आनीतं भवति। (३.९)

३३. संग्रामः संग्रामः कस्मात्? संगमनाद्वा, संगरणाद्वा, संगतौ ग्रामाविति वा। (३.९)

[खण्डम् – ४]

३४. एकः एक इता संख्या। (३.१०)

---

३१. 'क्षिप्र' किस कारण से क्षिप्र कहलाता है? काल की दूरी को, मध्य के अवकाश को संक्षिप्त (कम) करना ही **'क्षिप्र'** कहलाता है [√क्षिप प्रेरणे (४.१५)+रक्[१] > क्षिप्र]।

३२. 'अन्तिक' किस कारण से कहलाता है? क्योंकि वह दूर से समीप व सम्मुख लाया हुआ रहता है, इसलिए **'अन्तिक'** कहलाता है [आङ्+√णीञ् प्रापणे (१.६४२)+तिकड् > अ+न्+तिक > अन्तिक]।

३३. 'सङ्ग्राम' शब्द किन कारणों से प्रसिद्ध है? वीर योद्धा जहाँ युद्ध के लिए एकत्रित होते हैं, उसे **'सङ्ग्राम'** कहते हैं [सम्+√गम्लृ गतौ (१.७०९)+ड्राम > 'सङ्ग्राम']। वीर योद्धा जहां पर युद्ध के हेतु स्पर्द्धापूर्वक ललकारते हैं, उसे **'सङ्ग्राम'** कहते हैं अथवा जिसमें योद्धा एक दूसरे के प्राणों के भूखे व खून के प्यासे होते हैं, उसे **'सङ्ग्राम'** कहते हैं [√सम्+गॄ शब्दे (९.२९) / √गॄ निगरणे (६.११९)+ड्राम > सङ्ग्राम]। जिसमें दो समूह (ग्राम, देश, संघ आदि) स्पर्द्धा से संगत (एकत्रित) होते हैं, उसे भी **'सङ्ग्राम'** कहते हैं [सम्+ग्राम > सङ्ग्राम]।[२]

३४. सभी संख्याओं में प्रथम स्थान को प्राप्त की हुई संख्या को **'एक'** कहते हैं या एक संख्या सभी संख्याओं में पहुंची हुई संख्या है, सभी में व्याप्त है, इसीलिए वह **'एक'** कहलाती है (अत एव सभी संख्याएँ एक से विभाजित होती हैं), अथवा एक संख्या को जोडते जाने से क्रमशः सभी संख्याएँ प्राप्त होती जाती हैं, सरलतया याद हो जाती हैं, इसीलिए यह संख्या **'एक'** कहलाती है [√इण् गतौ (१.२१२)/ √इक् स्मरणे

---

१. स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपि० (उणा०२.१३)।

२. उणादिप्रक्रियया तु सम्+√ग्रसु अदने (१.४२०) / √ग्रस ग्रहणे (१०.२२०)+मन् [ग्रसेरा च - (उणा०१.१४३)] > संग्राम। ग्रसतेऽत्ति यो वा ग्रस्यते स ग्रामः, शालासमुदायः प्राणनिवासो वा; संग्रामो युद्धं वा (दया०, तत्रैव)।

३५. द्वौ द्वौ द्रुततरा संख्या। (३.१०)

३६. त्रयः त्रयस्तीर्णतमा संख्या। (३.१०)

३७. चत्वारः चत्वारश्चलिततमा संख्या। (३.१०)

३८. अष्टौ अष्टावश्नोतेः। (३.१०)

३९. नव नव न वननीया, न अवाप्ता वा। (३.१०)

(२.४०)+कन्[१] > इ+क > एक]।[२]

३५. 'द्वि' यह एक संख्या की अपेक्षा आगे गयी हुई संख्या है, इसलिए यह **'द्वि'** कहलाती है [√द्रु गतौ (१.६७७)+डि > द्र्+इ > द्रि > द्वि]।

३६. त्रि संख्या पूर्व संख्याओं से भी अधिक आगे पहुंची हुई होने से **'त्रि'** कहलाती है [√तॄ प्लवनसंतरणयोः (१.६९६)+ड्रि[३] > त्+रि > त्रि]।

३७. चतुर् यह संख्या सबसे अधिक आगे चलने वाली होने से **'चतुर्'** कहलाती है [√चल कम्पने (=गतौ) (१.५७४) / √चल विलसने (६.६६)+डतुर् > च्+अतुर् > चतुर्; (अथवा) चल्+उरन्[४] > चत्+उर् > चतुर्]।

३८. **'अष्टन्'** शब्द ''अशूङ् व्याप्तौ'' (५.१८) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि 'अष्टन्' संख्या व्यापकार्थक होती है[५] [√अश्+तुट्+कनिन्[६] > अष्+त्+अन् > अष्टन्]।

३९. 'नवन्' यह संख्या शब्द करने योग्य नहीं होती है, सेवनीय नहीं होती है[७]

१. इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उणा॰३.४३)।
२. प्रजापतिर्वा एकः (तै॰ ब्रा॰ ३.८.१६.१)। एकः = अद्वितीयः [परमेश्वरः] (दया॰, ऋ॰ १.७.९)।
३. तरतेर्ड्रिः (उणा॰ ५.६६)।
४. चतेरुरन् (उणा॰५.५८), बाहुलकात् चलधातोरपि उरन्, लस्य तादेशः। उणादौ तु √चते याचने (१.६०७) धातोः साधितः। एक-द्वि-त्रि-शब्दा गत्यर्थकेभ्यः साधिताः, चतुश्शब्दोऽपि गत्यर्थकाद् धातोः साध्यते चेत् 'चलिततमा' इति आतिशायिनिकः तमप्-प्रत्ययः साधीयान् भवति, नान्यथा।
५. चार दिशाएँ एवं चार उपदिशाएँ मिलकर आठ दिशाएँ होती हैं, जिनमें व्यापकत्व स्पष्ट है। वही व्यापकत्व आठ (अष्ट) संख्या में ज्ञात होता है। तुलना— अष्टापदी = दिग्भिश्चा-श्रवान्तरदिग्भिश्च॰ (निरु॰११.४०)।
६. सप्तशूभ्यां तुट् च (उणा॰१.१५७)।
७. किसी वस्तु का मूल्य ९,९९ आदि हो तो, वहाँ प्रायः १०,१०० आदि रुपयों का ही लेन-देन होता है, न कि ९ आदि का। अत एव इसे असेवनीय आदि कहा गया है।

४०. दशन् दश दस्ता, दृष्टार्था वा। (३.१०)

४१. विंशतिः विंशतिः द्विर्दशतः। (३.१०)

४२. शतम्* शतं दशदशतः। (३.१०)

४३. सहस्रम्* सहस्रं सहस्वत्। (३.१०)

या मांगने योग्य नहीं होती, इसीलिए यह **'नवन्'** कहलाती है [न+√वन शब्दे संभक्तौ (च) (१.३१२,३१३) / √वनु याचने+क्विप् > न+वन् > नवन्]। यह संख्या दस तक पहुंची हुई नहीं होती है, इसलिए भी **'नवन्'** कहलाती है [न+अव+√आप्लृ व्याप्तौ (५.१५) /√आप्लृ लम्भने (१०.२६५)+डनिन् > न+अव+आप्+अन् > नव+अन् > नवन्]।

४०. एक, द्वि आदि संख्याएँ 'दस' पर क्षीण (समाप्त) हो जाती हैं, इसीलिए उस अन्तिम संख्या को **'दश'** कहते हैं, उसके पश्चात् अन्य संख्याओं के योग से अन्यान्य संख्याएँ बनती जाती हैं, यथा— एकादश, द्वादश आदि, अथवा ''द्वौ दशतौ परिमाणमस्य विंशतिः, त्रयो दशत॰ त्रिंशत्....दश दशतः॰ शतम्'' (द्र॰ अष्टा॰५.१.५८)। यहाँ दश की आवृत्ति से ही विंशत्यादि संख्याएँ निष्पन्न होतीं हैं, पर उनमें 'दश' का रूप क्षीण (नष्ट) हो जाता है, इसीलिए इसका नाम **'दश'** है [√दसु उपक्षये (४.१०३)+कनिन् > दस > दशन्]। एकादश, द्वादश आदियों में दश संख्या दृष्टार्थक होने से भी **'दश'** कहलाती है [√दृशिर् प्रेक्षणे+कनिन् > दर्श > दश/ √दस दंशनदर्शनयोः (१०.१४६)+कनिन् > दस > दशन्]।

४१. द्विर्दशतः अर्थात् 'दश' की दो बार आवृत्ति (१०×२) करने से 'विंशति' शब्द निष्पन्न होता है [द्विर्दश+शतिच्[१] > विन्[१]+शति > विंशति]।

४२. दशदशतः अर्थात् 'दश' की दस बार आवृत्ति (१०×१०) 'शत' कहलाती है [दशदशतः+त[१] > श[१]+त > शत]।[२]

४३. सहस्वत् अर्थात् बलवत् होने से 'सहस्र' नाम है [सहस्+र (मत्वर्थीयः) > सहस्र]।[३]

१. पंक्तिविंशतित्रिंशच्॰ (अष्टा॰५.१.५८)।
२. शतमिति बहुनाम (निघं॰३.१.९)।
३. सहस्रमिति बहुनाम (निघं॰३.१.१०)।

४४. अम्बु* अरणमम्बु। (३.१०)

४५. अम्बुदः अम्बुदो मेघो भवति— अरणम् अम्बु, तद्दोऽम्बुदः। (३.१०)

४६. अर्बुदः अम्बुदो[1] मेघो भवति— अरणम् अम्बु, तद्दोऽम्बुदः। अम्बुमद् भातीति वा, अम्बुमद् भवतीति वा। स यथा महान् बहुर्भवति, वर्षंस्तदिवार्बुदम्। (३.१०)

४७. खलः* खल इति संग्रामनाम (निघं०२.१७.३८)— खलतेर्वा, स्खलतेर्वा, अयमपीतरः खलः एतस्मादेव— समास्कन्नो भवति। (३.१०)

---

४४. अरण अर्थात् गमनशील को **'अम्बु'** (=जल)[2] कहा जाता है [√ऋ गतिप्रापणयोः (१.६७०)+बुक् (आगमः)+उ > अर्बु > अम्बु]।[3]

४५. 'अम्बुद' मेघ का वाचक होता है, क्योंकि अरणशील (गमनशील) अम्बु कहलाता है, उसे (अम्बु को) देने वाला **'अम्बुद'** कहलाता है [अम्बु+√डुदाञ् दाने (३.९)+क > अम्बुद]।

४६. 'अम्बुद' मेघ का वाचक होता है, क्योंकि अरणशील 'अम्बु' कहलाता है और उसे देने वाला 'अम्बुद' कहलाता है। अम्बुद (जल देने वाले मेघ) के समान (महान्) प्रतीत होने वाली विशिष्ट संख्या **'अर्बुद'** कहलाती है [अम्बुद > अर्बुद; ऋ+बुक्+उ > अर्बु, अर्बु+दा+क > अर्बुद]। अम्बुमद (जलवाले मेघ) जैसा महद् संख्याविशेष ही **'अर्बुद'** कहलाता है।

४७. 'खल' यह संग्राम (युद्ध) का वाचक है, क्योंकि यह शब्द ''खल सञ्चलने सञ्चये च''(१.३६६) धातु से निष्पन्न होता है— खलन्ति सञ्चलन्ति सर्वे यत्र, सञ्चयञ्च कुर्वन्ति सर्वं यत्र स **'खलः'** [√खल्+घ[4] > खलः]। ''स्खल सञ्चलने'' (१.३६५) धातु से भी 'खल' शब्द सिद्ध होता है— 'स्खलन्ति दुर्बला यत्र स **खलः**

---

१. 'अर्बुदो' इति पाठान्तरम्।
२. अम्बु उदकनाम (निघं०१.१२.९१)।
३. अमन्ति गच्छन्ति चेष्टन्ते प्राणिनो येन तद् 'अम्बु' जलम् (दया०, उणा० १.२७) [अम्+बुक्+कु > अम्बु]।
४. पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (अष्टा०३.३.११८)।

४८. आक्षाणः* आक्षाण आश्नुवानः। [अश्नोतीति सतः] (३.१०)

४९. आपानः* आपान आप्नुवानः। [आप्नोतीति सतः] (३.१०)

५०. वियातः* वियात इत्येतद् वियातयत[1] इति वा, वियातयेति वा। (३.१०)

५१. आखण्डलः* आखण्डल आखण्डयितः। (३.१०)

[√स्खल्+घ > स्खल > खल]। यह दूसरा खलिहान वाचक खलशब्द भी इसी खल या स्खल धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें सम्पूर्ण क्षेत्र के चारों ओर से धान्य अच्छी तरह एकत्रित किया जाता है।[2]

४८. जो व्याप्त हो, वह **'आक्षाण'** कहा जाता है[3] [√अशूङ् व्याप्तौ संघाते च (५.१८)+सिप्+शानच् > अश्+स्+आन > आक्षाण]।

४९. जो सर्वत्र पहुँचा हुआ है, वह **'आपान'** कहलाता है[4] [√आप्लृ व्याप्तौ (५.१५)+शप्+शानच् > आप्+अ+आन > आपान]।[5]

५०. 'वियातः' यह जो शब्द है, इसका निर्वचन इसप्रकार है— जो विशेषरूप से शत्रुओं को यातना देता है, वह **'वियातः'** (=हन्तः) कहलाता है [विशेषेण विविधेन वा याति शत्रून् इति वियाता। वि+√यत निकारोपस्कारयोः (१०.२०३)+णिच्+तृच् > वि+यात्+तृ > वियातृ, सम्बुद्धौ— वियातः]। जो विविध प्रकार से शत्रुओं को यातना देता है, वह **'वियात'** कहा जाता है [वि+√यत्+णिच्+अच् (रुक्) > वियात्+अ+र् > वियातः]।[6]

५१. आखण्डित (नाश) करने वाला (इन्द्र आदि) **'आखण्डल'** (=हन्ता) कहा जाता है [आङ्+√खडि भेदने(१०.४९)+अलच्(उणा० ५.७०) >आखण्डल]।[7]

---

१. 'वियातयितः' इति क्वाचित्कः पाठः।
२. खले = √खज मन्थे (१.१४१)। 'पुंसि संज्ञायां घः' (अष्टा०३.३.११८)। व्यत्ययेन जकारस्य लकारः। मथ्यन्ते हि योद्धारस्तत्र। स्खल... व्यत्ययेन सकारलोपः। स्खलन्ति तत्र कातराः (देव०, नि० नि०२.१७.३८)।
३. आक्षाण इति व्याप्तिकर्मा (निघं०२.१८.३)।
४. आपानमिति व्याप्तिकर्मा (निघं०२.१८.६)।
५. आपानम् = व्यापकम् [ब्रह्म = धनमन्नं वा] (दया०, ऋ०२.३४.७)।
६. वियातः वधकर्मा (निघं०२.१९.१९)।
७. आखण्डलः वधकर्मा (निघं०२.१९.२२)।

५२. खण्डम् खण्डं खण्डयतेः। (३.१०)

५३. तडित्* तडिदिति अन्तिकवधयोः संसृष्टकर्म— ताडयतीति सतः (३.१०)। [**खण्डम् – ५**]

विद्युत् तडिद् भवतीति शाकपूणिः— सा ह्यवताडयति, दूराच्च दृश्यते, अपि त्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्। (३.११)

५४. अरातयः अरातयोऽदानकर्माणो वा, अदानप्रज्ञा वा। (३.११)

५५. अप्नः* अप्न इति रूपनाम[1]— आप्नोतीति सतः। (३.११)

---

५२. **'खण्ड'** शब्द ''खडि भेदने'' (१०.४९) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि वह खण्डित किया जाता है [√खण्ड्+अच् > खण्ड]।

५३. **'तडित्'** यह शब्द अन्तिक एवं वध दोनों का वाचक है, क्योंकि इसमें ये दोनों अर्थ निहित हैं।[2] यह शब्द ''तड आघाते'' (१०.४८) धातु से निष्पन्न होता है। जो ताडित (हनन) करता है, वह हन्ता **'तडित्'** कहाता है [√तड्+इति[3] > तडित्]। विद्युत् भी **'तडित्'** कहलाती है, ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है, क्योंकि विद्युत् भी मेघादि का वध करती है और दूर रहती हुई भी समीपस्थ के समान दिखाई देती है [√तड आघाते (१०.४८) / √तड भासार्थो भाषार्थो वा (१०.२२५)+इति > तडित्]।

५४. दान न देने वाले या दान देने का मन (बुद्धि, इच्छा) जिनका न हो, वे **'अराति'** कहलाते हैं[4] [न+√रा दाने (२.५०)+क्तिच् / अति[5] > अ+रा+ति / अति > अराति]।[6]

५५. **'अप्नस्'** यह रूप का वाचक है, क्योंकि रूप ही प्राप्त (गृहीत) होता है

---

१. अप्न इति कर्मनाम (निघं०२.१.२), अपत्यनाम (निघं०२.२.७), रूपनाम (निघं० ३.७.६)।
२. तडित् इति अन्तिकनाम (निघं०२.१६.१), वधकर्मा (निघं०२.१९.२१)।
३. ताडेर्णिलुक् च (उणा०१.९८)।
४. अरातीः = अमित्रान् अदानान् इति वा (निरु०११.२)।
५. उणा०५.५।
६. अरातिः = शत्रुः (दया०, ऋ०२.७.२)। अरातयः = परसुखासोढारः [दुर्जानाः] (दया०, यजु० १.२९)।

५६. वज्रः* वज्रः कस्मात्? वर्जयतीति सतः। (३.११)

५७. कुत्सः* कुत्स इत्येतत् कृन्ततेः। ऋषिः कुत्सो भवति— कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः। अत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति—तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघानेति। (३.११)

अथवा आश्रित वस्तु को पूरा व्यापता है [√आप्लृ व्याप्तौ (५.१५)+ नुट् (आगमः) +असुन्[1] > आप्+न्+अस् > अप्+न्+अस् > अप्नस्]।

५६. 'वज्र' किस कारण से वज्र कहलाता है? वह प्राणादियों को छुड़ाता है, इसीलिए **'वज्र'** कहलाता है[2] [√वृजी वर्जने (१०.२३६)+रन्[3] > वर्ज्र > वज्र]।[4]

५७. वज्रवाचक[5] **'कुत्स'** शब्द ''कृती छेदने'' (६.१४४) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि इसके द्वारा शत्रु काटा (मारा) जाता है [√कृत्+स (कित्)[6] > कृत्स > कुत्स]। औपमन्यव आचार्य के मत में **'कुत्स'** एक ऋषि का नाम है, क्योंकि वह स्तोमों (मन्त्रों) का कर्ता (द्रष्टा व अध्येता) है, अथवा सामगान सम्बन्धी स्तोत्रों के त्रिवृदादि स्तोमविशेषों का कर्ता है, या स्तोम (स्तुत्य) कार्यों को करने वाला है [√डुकृञ् करणे (८.१०)+स > कृ+स > कु+स > कुत्स / कृञ् + √ष्टुञ् स्तुतौ (२.२६) + ड > कृ +स्तु + अ > कु + स्त > कु + त्स > कुत्स]। (पर यास्क का मत है कि) ऋषि के नाम में भी **'कुत्स'** का अर्थ वध ही है, (अर्थात् कुत्सनाम वधार्थक धातु से निष्पन्न यौगिक शब्द ही है, किसी व्यक्तिविशेष का नाम व रूढ़ नहीं है) [कृन्तति आत्मनो दुर्भावान्, कृत्यते दुःखविघ्नादिकम् अस्मै इति वा कुत्सः। √कृती छेदने (६.१४४) / √कृञ् हिंसायाम् (५.७) / √कृञ् हिंसायाम् (९.१४)+डुत्स > क्+उत्स > कुत्स]।[7]

---

१. आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा (उणा०४.२०९)।
२. वज्रः वज्रनाम (निघं०२.२०.९)।
३. ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० (उणा०२.२९)।
४. वजति प्राप्नोति प्राप्यते वा स वज्रः, हीरकं शस्त्रं वा (दया०,उणा०२.२९) [√वज गतौ (१.१५४)+रन्]। वज्रः = किरणसमूहः (दया०, ऋ०१.८०.३)। प्रहारः शब्दो वा (दया०, ऋ० ६.४७.२८)। वज्रम् = प्रकाशसमूहम् (दया०, ऋ० १.५२.७)। वज्रेण = विज्ञानेन (दया०,ऋ० २.१५.३)।
५. कुत्सः वज्रनाम (निघं०२.२०.११)।
६. स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् (उणा०३.६६)।
७. कुत्साय = कृन्ततेः कुत्सः, कर्षकोऽभिप्रेतः। स हि भूमिं कृन्तति, तस्यार्थाय (स्क० म०, निरु०४.२५)।

५८. इनः* इन इत्येतत् सनित ऐश्वर्येणेति वा। सनितमनेनैश्वर्यमिति वा। (३.११)

[**खण्डम् – ६**]

५९. सुपर्णाः* (अधिदैवतपक्षे) सुपर्णाः सुपतनाः, आदित्यरश्मयः। (अध्यात्मपक्षे) सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि। (३.१२; द्र० ४.३; ७.३१)

६०. पर्णम् [पर्णं पतनम्। (३.१२)]

---

५८. ऐश्वर्य से संयुक्त होने से (ईश्वर का) **'इन'** नाम है [√षण सम्भक्तौ (१.३१३)+न[१] > सन्+न > इ (आदेशः)+न > इन]। जिसके द्वारा ऐश्वर्य दिया गया है, वह भी **'इन'** कहा जाता है [√षणु दाने (८.२)+न > सन्+न > इन अथवा √ईश ऐश्वर्ये (२.१०)+√सन सम्भक्तौ (१.३१३) >ईश्+सन् > ई+अन् > इ +न् अ > इन]।

५९. सुपर्ण का अर्थ है 'सुपतन' अर्थात् 'शोभनं पतनं गमनं येषां ते सुपतनाः सुपर्णाः' आदित्य की रश्मियों का पृथिवी के ऊपर गिरना (आना) कल्याणकारी है, इसलिए वे रश्मियाँ **'सुपर्ण'** कहलाती हैं [सु+√पत्लृ गतौ (१.५८४)+न[२] > सु+पत्+न > सु+पर्+न > सुपर्ण]। इन्द्रियों का विषयों के प्रति जाना ज्ञानप्राप्ति के कारण कल्याणकारी होता है, इसलिए इन्द्रियाँ भी **'सुपर्ण'** कहलाती हैं [पूर्ववत्]।[३]

६०. **पर्ण** नाम पतन (गतिविशेष) के कारण है [√पत्+न[४] > पर्ण]।[५]

---

१. इण्सिञ्जिदीडुष्यविभ्यो नक् (उणा० ३.२) [इण्+नक् > इन, इह तु गुणनिवृत्यर्थं कित्वम्। नैरुक्तदशायां तदनावश्यकम्, परन्त्वत्र इ—आदेशो विधेयः]।
२. धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उणा० ३.६) [पॄ+न > पर्ण]।
३. सुपर्णाः रश्मिनाम (निघं० १.५.१५)। सुपर्णः = √पृण प्रीणने (६.४१) इत्यस्यैतद्रूपम्। सुष्ठु प्रीणयिता आह्लादयिता मनसामित्यर्थः (स्क०, ऋ० १.१०५.१)। सुपर्णः = शोभनानि पर्णानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य सः [विद्वान्] (दया०, यजु० १७.७२)। शोभनं पर्णं पतनं गमनं यस्य सः [चन्द्रमाः] (दया०, ऋ० १.१०५.१)। शोभनपतनशीला रश्मयो यस्य सः [सूर्यः] (दया०, ऋ० १.३५.७)। सुपर्णाः = शोभनपर्णाः सुष्ठुपालनकर्माणः [जीवाः] (दया०, ऋ० १.१६४.२२)। सुपर्णान् = शोभनपक्षान् पक्षिणः (दया०, ऋ० २४.२५)। [सु+पर्ण > सुपर्ण]। पक्षी (सा०, दया०, ऋ० २.४२.२)।
४. धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उणा० ३.६) [पॄ+न > पर्ण]।
५. पर्णम् = प्रजापालनम् (दया०, ऋ० ४.४०.३)। पर्णाय = य प्रतिपालयति तस्मै [पुरुषाय] (दया०, यजु० १६.४६)। पर्णे = पर्णवच्चञ्चले जीवने, क्षणभङ्गुरे जीवने (दया०, यजु० ३५.४)।

६१. धीरः* धीरो धीमान्। (३.१२; ४.१०)

६२. पाकः* पाकः पक्तव्यो भवति। (३.१२)

तृतीयः पादः [**खण्डम् – १**]

६३. बहुः बहुः कस्मात्? प्रभवतीति सतः। (३.१३)

६४. ह्रस्वो* ह्रस्वो ह्रसतेः। (३.१३)

६५. महान्* महान् कस्मात्? मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिः।

---

६१. **धीरः** का अर्थ है धीमान् [धी+र (मत्वर्थे) > धीरः]।[१]

६२. **'पाक'** का अर्थ 'पक्तव्य = पकाने योग्य' होता है अर्थात् अभी पूर्णतः पका हुआ नहीं है [√डुपचष् पाके (१.७२२)+घञ् > पाक]।[२]

६३. 'बहु' नाम किस कारण से है? समर्थ होने से आधिक्य का नाम 'बहु' है [प्र+√भू+क्विप् > प्रभू > पभु > बहु]।

६४. 'ह्रस्व' शब्द न्यूनार्थक[३] "ह्रस" धातु से निष्पन्न होता है अर्थात् जो बहु व महत् की अपेक्षा अल्प व न्यून होता है, वह 'ह्रस्व' कहलाता है [√ह्रस शब्दे (न्यूने) (१.४७२)+वन्[४] > ह्रस्व]।

६५. 'महान्' नाम किस कारण से है? शाकपूणि आचार्य का मानना है कि मान (सम्मान, परिमाण व स्वगुण) से अन्यों (सामान्यों व छोटों) को छोड देता है

---

१. धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तः (निरु० ४.१०)। धीरः मेधाविनाम (निघं० ३.१५.४)।
२. पाकः प्रशस्यनाम (निघं० ३.८.८)। √पा पाने (१.६५९)+कन् > पाक — अर्भकपृथुकपाका वयसि (उणा० ५.५३)। पिबतीति पाकः। कन् प्रत्ययः। अर्भकपृथुकपाका बालकपर्यायाः (दया०, तत्रैव)। इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उणा० ३.४३) [पा+कन् > पाकः]। पिबत्यसाविति पाकः, शिशुर्वृद्धो वा (दया०, तत्रैव)। पाकेन [=परिपक्वेन पवित्रेण वा] मनसा चरन्तम् (ऋ० ७.१०४.८)। पाकम् = पचन्ति परिपक्वं ज्ञानं कुर्वन्ति यस्मिन् धर्म्ये व्यवहारे, तम् (दया०, ऋ० १.३१.१४)। पाकः = ब्रह्मचर्यादितपसा परिपचनीयः [मनुष्यः] (दया०, ऋ० १.१६४.५)।
३. ह्रसतिः शब्दार्थे पठितः, तथाप्यत्र न्यूनार्थे वर्तते (देव०, नि०नि० ३.२.२)।
४. सर्वनिघृष्वरिष्वलिष्वशिवह्रस्वपद्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे (उणा० १.१५३)।

मंहनीयो भवतीति वा। (३.१३)

६६. ववक्षिथ*, **विवक्षसे*** ववक्षिथ विवक्षस इत्येते वक्तेर्वा, वहतेर्वा साभ्यासात्। (३.१३)

६७. गृहाः गृहाः कस्मात्? गृह्णन्तीति सताम्। (३.१३)

६८. सुखम्* सुखं कस्मात्? सुहितं खेभ्यः। (३.१३; ९.२)

(अतिक्रमित करता है), सबसे अधिक (सं / परि) मानवान् होता है, इसलिए **'महान्'** कहा जाता है [√मा माने (२.५५)+√ओहाक् त्यागे (३.८)+अति[१] > मा+हा+अत् > म+ह+अत् > महत्]। महनीय (पूजनीय) होने से भी **'महान्'** कहा जाता है [√महि वृद्धौ (१.४२२) / √मह पूजायाम् (१.४८५)+अति[१] > महत्]।[२]

६६. महदर्थक[३] **'ववक्षिथ'** (निघं० ३.३.१४) और **'विवक्षसे'** (निघं० ३.३.१५) शब्द ''वच परिभाषणे'' (२.५६) और ''वह प्रापणे'' (१.७३०) धातुओं के अभ्यास (द्वित्व=ववच्, ववह) से निष्पन्न होते हैं। [√वच्+सन् > ववक्ष+थ > ववक्षिथ[४]/ √वच्+लिट् > ववच्+सुट् (छान्दसः) इट् थल् > ववक्षिथ। √वह्+सन् > ववह्+स > ववढ्+स > ववक्ष+थ > ववक्षिथ / √वह्+लिट् > ववह्+सुट् इट् थल् > ववक्षिथ। इत्थमेव 'विवक्षसे' इति ज्ञेयम्]।

६७. 'गृह' का प्रवृत्तिनिमित्त क्या है? जो ग्रहण करते हैं अर्थात् लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं अथवा अर्जित सब पदार्थादियों को ग्रहण करते जाते हैं, कभी भी पूर्ण नहीं होते हैं, इसलिए वे **'गृह'** कहलाते हैं [√ग्रह उपादाने (९.६४)+क[५]]।[६]

६८. सुख नाम किस हेतु से है? जो इन्द्रियों के लिए हितकारक है, वह **'सुख'**

---

१. वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उणा०२.८५)।
२. महत् उदकनाम (निघं० १.१२.५२) [महः उदकनाम (निघं०१.१२.५६)]। महत् महन्नाम (निघं० ३.३.१)।
३. ववक्षिथ, विवक्षसे महन्नामनी (निघं०३.३.१४,१५)।
४. ववक्षिथेत्यत्र 'सन्यतः' (अष्टा०७.४.७९) इतीत्वाभावः, एकवचनस्य स्थाने बहुवचनम्, क्षकारात् परस्याकारस्येत्वञ्च व्यत्ययेन (देव०,नि०नि०३.३.१४)।
५. गेहे कः (अष्टा०३.१.१४४)।
६. गृहाः = गृह्णन्ति ब्रह्मचर्याश्रमानन्तरं गृहाश्रमं ये मनुष्यास्तत्सम्बुद्धौ (दया०, यजु०३.४१)। गृहान् = गृह्णन्ति विद्यादिपदार्थान् येषु तान् [स्थानविशेषान्] (दया०, यजु०२.३२)। द्वीपखण्ड-देशान्तरस्थानानि (दया०, यजु०४.३४)।

६९. खम् खं पुनः खनतेः। (३.१३)

७०. रूपम् रूपं रोचतेः। (३.१३; २.३)

७१. सत्यम्* सत्यं कस्मात्? सत्सु तायते, सत्प्रभवं भवतीति वा। (३.१३)

कहलाता है [सु+ख > सुख]।[१]

६९. 'खम्' नाम तो ''खनु अवदारणे'' (१.६१८) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि ये इन्द्रियाँ खुदी हुई (सछिद्र) होतीं हैं [√खन्+ड[२] > ख]।[३]

७०. **'रूपम्'** शब्द ''रुच दीप्तावभिप्रीतौ च'' (१.४९८) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि वह वस्तुओं को प्रकट करता है, अभिव्यक्त करता है [√रुच्+ड्डप > रूप]।[४]

७१. 'सत्य' नाम किस कारण से है? जो सत्पुरुषों में आचरित, व्याप्त रहता व होता है अथवा उनके समीप में सत्य ही बोला जाता है, असत्य नहीं, इसीलिए वह **'सत्य'** कहलाता है [सत्+√तायृ सन्तानपालनयोः (१.३२९)+अच् > सत्+ताय्+अ > सत्+य्+अ > सत्य]। सत् अर्थात् ईश्वर या जीवात्मा से उत्पन्न होने के कारण भी **'सत्य'** नाम है [सत्+यत् > सत्य]।[५]

---

१. सुखमिति कल्याणनाम। कल्याणं पुण्यम् — सुहितं भवति, सुहितं गम्यतीति वा (निरु० ९.२)। सुखम् उदकनाम (निघं०१.१२.४४)। शोभनेन खेन आकाशेन युक्तं विस्तृतमित्यर्थः। यद्वा सुखहेतुभूतम् (सायणः, ऋ०१.४९.२)। शोभनानि खान्यवकाशा विद्यन्ते यस्मिन् सः [रथः] (दया०, ऋ०१.१२०.११)। सुखम् = सुष्ठुद्वारम् (सायणः, ऋ०३.३५.४)। सुखकरं शोभनद्वारम् (दया०, ऋ०१०.७५.९)। सुखादयः = सुष्ठु खादयो भोजनादीनि येषां ते (दया०,ऋ०१.८७.६)। सुहितं खेभ्यो यस्तम् [रथम् = यानम्] (दया०, ऋ०३.३५.४)।
२. अन्येभ्योऽपि दृश्यते (म०भा०, वा०३.२.१०१)।
३. छिद्रं खमित्युक्तम् (गो०ब्रा०२.२.५)। खम् = छिद्रम् (वें०, ऋ०४.११.२), अन्तरिक्षम् (सायणः, ऋ०१०.१५६.३), आकाशम् (दया०, ऋ०४.११.२)। अशेर्डित् (उ०ग०वि०८७)— √अश्+ख (डित्) > ख। अश्नुत इति खम् आकाशम् इन्द्रियञ्च (हेम०, तत्रैव)।
४. रूपाणि = प्रज्ञानानि (निरु०१२.१३)। रूप्यत इति रूपं शरीरादि (√रूप्+क > रूप) (सायणः, ऋ०६.४७.१८)। रूपम् = स्वरूपम् (द्र० सायणः, ऋ०१.१६४.६)।
५. सत्यम् उदकनाम (निघं०१.१२.७१)। सत्यः = सत् क्रियमाणं कर्म, तत्र साधुः, सत्सु भवो वा, सत् फलं तदर्हतीति वा, सम्यक्फलप्रद इत्यर्थः (सायणः, ऋ०१.१४५.५)। सत्सु पदार्थेषु सुखस्य विस्तारकं सत्प्रभवं सद्भिर्गुणैरुत्पन्नम् (दया०, ऋ०१.१.६)। सत्य = सत्सु साधा (दया०, ऋ०६.४५.१०)। सत्यम् = यद् वेदविद्यया, प्रत्यक्षादिप्रमाणैः, सृष्टिक्रमेण विदुषां सङ्गेन, सुविचारेणात्यशुद्ध्या वा निर्भ्रमं, सर्वहितं, तत्त्वनिष्ठं, सत्यप्रभवं, सम्यक् परीक्ष्य निश्चीयते तत् [व्रतम् = सत्यमानं, सत्यभाषणं, सत्यकरणञ्च] (दया०, यजु०१.५)। सत्यः = सन्तीति सन्तः, सद्भ्यो हितस्तत्र साधुर्वा [अग्निः = परमेश्वरो भौतिको वा] (दया०, ऋ०१.१.५)

[खण्डम् – २]

७२. तस्करः* तस्करः तत्करो भवति, यत्पापकमिति नैरुक्ताः। तनोतेर्वा स्यात्– सन्ततकर्मा भवति, अहोरात्रकर्मा वा। (३.१४)

[खण्डम् – ३]

७३. देवरः देवरः कस्मात्? द्वितीयो वर उच्यते। देवरो दीव्यति कर्मा। (३.१५)

---

७२. जो पापकर्म है, उसे करने वाला **'तस्कर'** कहलाता है, ऐसा सभी नैरुक्त आचार्यों का मत है [तत्+√कृ+अच्[१] > तत्कर > तस्कर, सुडागमः[२] तकारस्य लोपः, तकारस्य सकारादेशो वा विधेयः]। "तनु विस्तारे" (८.१) धातु से भी 'तस्कर' शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह निरन्तर चोरी करने वाला होता है अर्थात् दिन-रात (दिन में वनादि में और रात में नगरादि में) चोरी के कार्य करने वाला होता है, इसलिए भी **'तस्कर'** कहलाता है [सन्ततकर्मा=√तन्+√कृ+अच् > तन्+कर्+अ > तस्कर / सम्+√तन्+√कृ+अप् > स्+त+कर्+अ > त+स्+कर्+अ > तस्कर]।[३]

७३. 'देवर' किस कारण से कहलाता है? प्रथम वर पति के बाद पतिरूप नियुक्तव्यक्ति द्वितीय वर होता है[४], अतः वह **'देवर'** कहलाता है [द्वि+√वृञ् वरणे (५.८)+अप् > द्विवर > देवर]। भाभी के साथ सदा स्तुत्य (उत्तम) व्यवहार करनेवाला (पति का छोटा भाई) **'देवर'** कहलाता है [√दिवु क्रीडा....स्तुतिमोद० (४.१)+अर[५] > देवर]।

[√अस्+शतृ > सत्+यत् > सत्य]। सत्याय=सति वर्तमाने भवाय स्थूलाय पदार्थसमूहाय, नित्यसुखाय (दया०, यजु०१५.६)।

१. किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम् (वा०३.२.२१)।

२. पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् (अष्टा०६.१.१५१)। तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च (ग० सू०, तत्रैव)।

३. तस्करः स्तेननाम (निघं०३.२४.८)।

४. द्र० दया० ऋ० भा० भू०, नि० वि०—ऋ०१०.४०.२ की व्याख्या।

५. अर्तिकमिभ्रमिचमिदेविवासिभ्यश्चित् (उणा०३.१३२)।

७४. विधवा विधवा विधातृका भवति, विधवनाद्वा, विधावनाद्वा इति चर्मशिराः। अपि वा धव इति मनुष्यनाम (निघं० २.३.३), तद्वि– योगाद् विधवा। (३.१५)

७५. मर्यः* मर्यो मनुष्यः (निघं०२.३.११)– मरणधर्मा। (३.१५;४.२)

७६. योषा योषा यौतेः। (३.१५)

---

७४. विधवा धातृ (पोषणकर्ता पति) से विहीन होती है, इसीलिए वह **'विधवा'** कहलाती है [वि+√डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०)+डव+टाप् > वि+ध्+अव+आ > विधवा]। चर्मशिर[१] आचार्य का कथन है कि विधवन अर्थात् निराश्रित होने के कारण कम्पायमान, भयभीत रहती है, इसलिए **'विधवा'** कहलाती है [वि+√धूञ् कम्पने (५.९)+अप्+टाप् > विधवा]। अथवा विधावन अर्थात् आजीवन के लिए इधर-उधर जाती रहती है या विधावन = विशिष्ट धावन अर्थात् ईश्वरोपासना एवं स्वाध्यायादि से आत्मशोधन करती है, इसलिए भी **'विधवा'** कहलाती है [वि+√धावु गतिशुद्ध्योः (१.३९७)+अच्+टाप् > विधवा]। 'धव' का अर्थ है मनुष्य (पति), उससे वियुक्त होने से भी **'विधवा'** कहलाती है [वि+धव > विधवा]।[२]

७५. **'मर्य'** का अर्थ है मनुष्य, क्योंकि वह मरणशील होता है [√मृङ् प्राणत्यागे (६.११३)+यत्[३] > मर्य]।[४]

७६. 'योषा' शब्द "यु मिश्रणे अमिश्रणे च" (२.२६) धातु से निष्पन्न होता है, विवाहित स्त्री पति से युक्त होने के कारण **'योषा'** कहलाती है [√यू+स[५]+टाप् > योषा]।[६]

---

१. अश्वत्थसंज्ञा चेयम्। चर्मैव शिरसि यस्य न केशाः सन्ति, स हि खलतिरभूत् (स्क०म०, निरु० ३.१५)।

२. विगतो (विशेषेण गतः) धवः पतिर्यस्याः (दया०, ऋ०४.१८.१२)। निर्वचनेऽस्मिन् वैगत्यं द्विधा सम्भाव्यते— १. विशेषेण गतः=मृतः पतिर्यस्याः सा मृतपतिका स्त्री विधवा। २. विशेषेण गतः=परिव्रजितः (गृहं प्रति पुनर्न प्रत्यागमिष्यति) पतिः यस्याः सा प्रव्रजितपतिका स्त्री विधवा।

३. छन्दसि निष्टक्र्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्य० (अष्टा०३.१.१२३)।

४. मर्याः इति मनुष्यनाम (निघं०२.३.११)। मर्यादाभिधानं वा स्यात्। मर्यादा मर्यैरादीयते, मर्यादा मर्यादिनोर्विभागः (निरु०४.२)।

५. वृतॄवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः (उणा०३.६२)।

६. यौतेरिदं रूपम्। यौतीति यौषा स्तुतिः (सायणः, ऋ०५.५२.१४)। योषा= माध्यमिका वाक् (सायणः, ऋ०१.१०१.७)। विद्याभिर्मिश्रिताया अविद्याभिः पृथग्भूतायाः स्त्रियाः। अत्र

७७. आत्मन् आत्मा अततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वा आप्त इव स्यात्, यावद् व्याप्तिभूत इति। (३.१५)

७८. रुक्मवक्षसः रोचिष्णूरस्का रुक्मवक्षसः। (३.१५)

[खण्डम् – ४]

७९. जारः* आदित्योऽत्र जार उच्यते– रात्रेर्जरयिता, स एव भासाम् (३.१६)।

७७. 'आत्मन्' शब्द ''अत सातत्यगमने'' (१.३१) धातु से निष्पन्न होता है अर्थात् आत्मा निरन्तर गतिशील अर्थात् जानने वाला, कर्मफल को प्राप्त करने वाला और शरीरान्तर में जाने वाला होता है, इसलिए **'आत्मा'** कहलाता है [√अत्+मनिण्[1] > आत्मन्]। ''आप्लृ व्याप्तौ'' (५.१५) धातु से भी **'आत्मन्'** शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि (परम)आत्मा व्याप्त रहता है [√आप्+मनिण्[1] > आत्+मन् > आत्मन्]। (जीवात्मा व्याप्त तो नहीं है, पर) व्याप्त के समान रहता है, जितना व्याप्तीभूत है, उसमें ही वह व्याप्त जैसा है, इसलिए भी **'आत्मा'** कहलाता है [आप्त > आतप् > आत्मन्]।[2]

७८. देदीप्यमान (उन्नत व विशाल) वक्षस्थल व हृदय वाले 'रुक्मवक्षस' कहलाते हैं [रुक्म[3]+वक्षस्[4] > रुक्मवक्षस्]।[5]

७९. यहाँ (ऋग्वेद के १०.११.६ मन्त्र में) आदित्य को **'जार'** कहा गया है,

युधातोर्बाहुलकात् कर्मणि सः प्रत्ययः (दया०, ऋ०१.१०१.७)।

१. सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उणा०४.१५४)।

२. अथ कस्मादुच्यत आत्मेति? यस्मात् सर्वमाप्नोति, सर्वमादत्ते, सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति (शाण्डि०उप०३.१)।

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् पुनः।
यच्चास्य सततं भावः तस्मादात्मेति संज्ञितः॥

यहाँ आत्मशब्द की निष्पत्ति के लिए √आप्, आ+√दा, √अद् एवं √अत् धातुओं का निर्देश है।

३. रुक्मं हिरण्यनाम (निघं०१.२.३)।

४. वक्षः पदनाम (निघं०४.२.२६)। वक्ष उरः भास्वरा शुक्लवर्णा वेत्यर्थः... आदित्यवक्षो हि दीप्त्या रूढम् – √वह प्रापणे (१.७३०)... उपरि प्राप्तं व्याप्तमित्यर्थः। अतो वहेर्वक्षः। इदमपीतरद् वक्षो मनुष्यवक्ष एतस्मादेव धातोः। तदप्यध्यूढं काये उपरि कायस्य व्याप्तं प्रापितं वेत्यर्थः (स्क०म०, निरु०४.१६)।

५. आभरणविशेषो वा, रुक्मविकारो रुक्मशब्देनोच्यते, स उरस्सु येषां ते (स्क०म०, निरु० ३.१५)। रुक्मं रोचकं वक्षो हृदयं येषां ते (दया०, ऋ०२.३४.२)।

८०. भगः (स्त्री)भगः भजतेः। (३.१६; १.७; १२.१३)

८१. मेषः मेषो मिषतेः। (३.१६)

८२. पशुः पशुः पश्यतेः। (३.१६)

८३. अयम् अयम् एततरोऽमुष्माद्। (३.१६)

क्योंकि वह रात्रि का विनाशक होता है और वही आदित्य नक्षत्रादियों की ज्योति को भी जीर्ण करने वाला होता है [√जॄष् वयोहानौ (४.२१)+णिच्+घञ् > जार]।[1]

८०. योनिवाचक **'भग'** शब्द ''भज सेवायाम्'' (१.७२४) धातु से बनता है, क्योंकि वह कामी पुरुषों के द्वारा सेवित होता है [√भज्+घ > भग]।

८१. मेष शब्द ''मिष स्पर्धायाम्'' (६.६२) धातु से बनता है, क्योंकि वह (मेढ़ा, भेड़) स्पर्धाशील होता है अथवा केवल निमेष-उन्मेष कर्ममात्र करता है, विचारने का सामर्थ्य नहीं रखता है, इसीलिए वह **'मेष'** कहलाता है [√मिष्+अच् > मेष]।[2]

८२. **'पशु'** शब्द ''दृशिर् प्रेक्षणे'' (१.७१४) धातु से बनता है, क्योंकि वह सदा भक्ष्यपदार्थों को ही देखता, उचितानुचितादियों को नहीं विचारता [√दृश्+कु[3] > पश्+उ > पशु]।[4]

८३. **'अयम्'** (इदम्) यह शब्द 'अदस्' (दूर में स्थित की) अपेक्षा समीपस्थ का वाचक है [आङ्+√इण् गतौ (२.३८)+अच् > आयम् > अयम् / √इण्+कमिन्[5] > इ+द-आगमः+अम् > इदम्]।

१. जारः = जरयिता (निरु०५.२४, १०.२१)। जरते, जरयति अर्चतिकर्माणौ (निघं०३.१४.७, २४), जरिता स्तोतृनाम (निघं०३.१६.२)। जारः जरतेः स्तुतिकर्मणः (वें०, ऋ०१०.११.६), जो स्तुति करने योग्य है, वह 'जार' कहा जाता है। जारः = दुःखहन्ता सविता (दया०, ऋ०१.६९.५)।

२. मेषम् = सेचनकर्त्तारम् [जनम्] (दया०, यजु०२१.४०)। वृष्टिद्वारा सेक्तारम् [इन्द्रं = राजानम्] (दया०, १.५१.१) [√मिषु सेचने (१.४६५)+अच् = मेष]।

३. अर्जिदृशिकम्यमिपंसिबाधाम् ऋजिपशितुक्धुक्दीर्घहकाराश्च (उणा०१.२७)।

४. पशुः = सूक्ष्मस्य द्रष्टा (सा०, ऋ०८.१.३१), अग्निः (द्र०वें०, सा०, ऋ०५.५०.४; सा०, ऋ० ६.२.९)। यो दृश्यते भोग्यपदार्थसमूहः समक्षे स्थापितः सः [पशुः] (दया०, यजु०३.५७)।

५. इन्देः कमिन्नलोपश्च (उणा०४.१५८) इति बाहुलकादेतेरपि। इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति इदम्, प्रत्यक्षविषयबोधकः सर्वनामसंज्ञको वा (दया०, उणा०४.१५८)।

८४. असौ असौ अस्ततरोऽस्माद्। (३.१६)
८५. अमुथा अमुथा यथासाविति। (३.१६)
८६. वृषलः वृषलो वृषशीलो भवति, वृषाशीलो वा। (३.१६)

[खण्डम् – ५]

८७. प्रियमेधः प्रियमेधः प्रियाऽस्य मेधा। (३.१७)

---

८४. **'असौ'** (अदस्) शब्द 'इदम्' (समीपस्थ की) अपेक्षा से दूर फेंके गये का, दूरस्थ का बोधक है [अस्त > अतस् > अदस् / √असु क्षेपणे (४.९९)+क्विप् > अस् > अदस् (मध्ये 'द' इत्यस्यागमः)]।

८५. **'अमुथा'** इस शब्द का प्रयोग 'असौ' (अदस्) के समान ही होता है अर्थात् 'अदस्' का ही छान्दस् रूप है [अदस्+थाल्[1] > अद् अ+था > अद+था > अमुथा]।

८६. **वृषल** वृषशील अर्थात् धर्मशील (धर्मात्मा, धार्मिक) होता है अथवा वृषभ (बैल) के समान (अल्पबुद्धि व कामना के) शील (स्वभाव) वाला पुरुष **'वृषल'** कहलाता है [वृष+शील > वृषल / वृषभ+शील > वृषल]। जो वृष (धर्म) के शील (स्वभाव) वाला नहीं होता अर्थात् अधार्मिक होता है वह भी **'वृषल'** कहलाता है [वृष+नञ्+शील > वृष+अ+शील > वृषल]।[2]

८७. प्रिय है मेधा (बुद्धि व यज्ञ) जिसको वह **'प्रियमेध'** कहलाता है [प्रिया+मेधा > प्रियमेध[3]]।[4]

---

१. प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि (अष्टा॰५.३.१११) इतीवार्थे थाल्।
२. मनुस्मृति के अनुसार 'वृषल' का निर्वचन– "**वृषो हि भगवान् धर्मः तस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवाः तस्माद् धर्मं न लोपयेत्**" (मनु॰ ८.१६) [वृषं धर्मम् अलं कुरुते नाशयतीति वृषलः, वृष+अलं > वृषल]। वैदिक वाङ्मय में धर्मात्मा के अर्थ में आद्युदात्त वृषल शब्द प्रयुक्त है और अधर्मात्मा व नीच अर्थ में अन्तोदात्त वृषल शब्द प्रयुक्त है (द्र॰वै॰ स्वरमी॰अ॰८, पृ॰१११)। स्वामी दयानन्द ने 'वृष' का अर्थ बल (ऋ॰३.५२.५) और श्रेष्ठ (ऋ॰१.६३.४) भी किया है। वृषादिभ्यश्चित् (उणा॰१.१०६)– √वृष्+कल > वृष्+अल > वृषल। वर्षति सिञ्चतीति वृषलः शूद्रो वा (दया॰तत्रैव)।
३. ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् (अष्टा॰६.३.६२) इति ह्रस्वः।
४. मेधः यज्ञनाम (निघं॰३.१७.४)। नित्यमसिच् प्रजामेधयोः (अष्टा॰५.४.१२२) इत्यत्र नित्यग्रहणेनान्यत्रापि असिजिति वासिजन्तो मेधः शब्दः। प्रिया तृप्ता कमनीया प्रदीप्ता मेधा बुद्धिर्यस्य [सः प्रियमेधः] (दया॰, ऋ॰१.४५.३)।

८८. प्रस्कण्वः प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः। कण्वप्रभवः, यथा प्राग्रम्। (३.१७)
८९. भृगुः* अर्चिषि भृगुः सम्बभूव। भृगुर्भृज्यमानो न देहे। (३.१७)
९०. अङ्गिराः* अङ्गारेष्वङ्गिराः। (३.१७)

---

८८. कण्व का पुत्र होने से **'प्रस्कण्व'** कहा जाता है [प्र+कण्व > प्रकण्व > प्रस्कण्व, निपातनात् सुट्[1]]। जिसप्रकार प्रपूर्वक अग्र (प्राग्र) का अर्थ होता है कि– 'पहले उत्पन्न हुआ', उसीप्रकार प्रस्कण्व का अर्थ है 'कण्व से उत्पन्न हुआ (पुत्र)' अथवा जिसप्रकार 'प्रगतम् अग्रम्' से 'गत' का लोप होकर 'प्राग्रम्' (आगे गया हुआ) शब्द निष्पन्न हुआ, उसीप्रकार 'प्रभवः कण्व' से 'भव' का लोप होकर 'प्रस्कण्व' (कण्व से उत्पन्न = पुत्र) शब्द निष्पन्न हुआ है [प्रभव+कण्व > प्रस्कण्व]।[2]

८९. (आध्यात्मिक, ज्ञानात्मक) ज्वालाओं में उत्पन्न होने से 'भृगु' नाम है[3] [√भ्रस्ज पाके (६.४)+कु[4] > भृज्+उ > भृगु]। जो देह (शरीर) में भुना हुआ नहीं होता अर्थात् आत्मा में ही तप्त (लीन) होता है, शरीर में नहीं, वह 'भृगु' कहलाता है[5] [√भृजी भर्जने (१.१०८)+कु[4] > भृज्+उ > भृगु]।[6]

९०. अङ्गारों में उत्पन्न होने के कारण 'अङ्गिरा' नाम है [व्युत्पत्ति को टिप्पणी में देखें]।[7]

---

१. प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी (अष्टा॰६.१.१४८)।
२. कण्वः मेधाविनाम (निघं॰३.१५.७)। 'प्रकृष्टश्चासौ कण्वो मेधावी च (प्रस्कण्वः)' (दया॰, ऋ॰१.४४.६, १.४५.३)।
३. भृगवः = परिपक्वविज्ञाना मेधाविनो विद्वांसः (दया॰, ऋ॰१.५८.६)।
४. प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च (उणा॰१.२८)। भृज्जति तपसा शरीरमिति भृगुः। ऋषिः प्रतापी वा। न्यङ्क्वादीनाम् च (अष्टा॰७.३.५३) कुत्वम् (दया॰ तत्रैव)।
५. भृगवः = अविद्याऽधर्मनाशनशीलाः (दया॰, ऋ॰१.१२७.७)। विद्ययाऽविद्याया भर्जका निवारका विद्वांसः (दया॰, ऋ॰१.१४३.४)
६. वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः (गो॰ ब्रा॰१.२.८)।
७. अङ्गानि शरीरावयवाः, तद्वदङ्गि शरीरम्, तत्र स्थितिहेतुः अशितपीतरसोऽङ्गिरस। तं (रसं) करोत्यङ्गिरसयति 'तत्करोति तदाचष्टे' (वा॰३.१.२६) इति णिच्। तदन्तात् क्विप्। 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (अष्टा॰६.४.१४) इति दीर्घत्वम्। ...अङ्गिराः शरीरस्थितिहेतोः अशितपीतरसस्य कर्तेत्यर्थः, जाठरो ह्यग्निरन्नं रसीकरोति। रसो लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जा-शुक्रभावेन परिणममानः शरीरस्थितिहेतुर्भवति (स्क॰, ऋ॰१.३१.१; १.१.६) [अङ्गि+रस

९१. अङ्गाराः अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः। (३.१७)
९२. अत्रिः अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुस्तस्माद् अत्रिः, न त्रय इति। (३.१७)
९३. वैखानसः विखननाद् वैखानसः। (३.१७)

---

९१. अङ्कन अर्थात् अग्नि के लक्षक (द्योतक) होने से **'अङ्गार'** नाम है अथवा ये चिह्नित करने वाले होते हैं अर्थात् जहां गिरते, वहाँ चिह्न बनाते हैं, इसलिए भी **'अङ्गार'** नाम है [√अकि लक्षणे (१.६८)+आरन् > अङ्क्+आर > अङ्गार]। अञ्चन अर्थात् पूजित होने से **'अङ्गार'** नाम है अथवा अपने तेज से गतिप्रदान करने वाले होने से **'अङ्गार'** नाम है [√अचि गतौ याचने च (१.६०४)+आरन् > अञ्च्+आर > अङ्गार]।

९२. (भृगु और अङ्गिरा इन दो ऋषियों के उत्पन्न होने पर ऋषियों ने कहा कि) यहीं [इन्हीं अंगारों, ज्वालाओं (ज्ञानाग्नियों) में] तृतीय को भी प्राप्त करो, उसीसे **'अत्रि'** उत्पन्न हुए [अत्र+त्रि > अत्रि]। जिसको तीन ताप (दुःख) प्राप्त नहीं होते हैं, वह भी **'अत्रि'** कहलाता है [न+त्रि > अत्रि]।[1]

९३. (अज्ञान के) विखनन [विशेष रूप से खोदने, नष्ट करने अथवा (आत्मतत्त्व को) विशेषरूप से खोजने] के कारण (मुनियों वा वानप्रस्थों को) **'वैखानस'** कहा जाता है। (यज्ञाग्नि के आधान के लिए यज्ञकुण्ड के) विशेष खनन के कारण भी उसे **'वैखानस'** कहा जाता है।

> अङ्गिरस+णिच्+क्विप् > अङ्गिरस्]। पृथिव्यादीनां ब्रह्माण्डस्य, शिरआदीनां शरीरस्य (अङ्गानां) रसोऽन्तर्यामिरूपेणावस्थितः। 'अङ्गिरसो अङ्गानां हि रसः' (शत०ब्रा०१४.३.१.२१) (दया०, ऋ०१.३१.१; अपि च द्र०ऋ०१.१.६)। अङ्गति जानाति यो विद्वान् (दया०, ऋ० १.११२.१८, १.७५.२); अङ्गन्ति गच्छन्तीति अङ्गिरसो गन्तारः (सा०, ऋ०१.१००.४)। अङ्गति प्राप्नोति जानाति वा स अङ्गिराः, ईश्वरोऽग्निः ऋषिभेदो वा.....असिप्रत्ययस्य इरुडागमः (दया०, उणा० ४.२३७) [√अगि गत्यर्थः (१.८८)+इरुट्+असि > अङ्ग+इर्+अस् > अङ्गिरस्]। अङ्गति हवींषि प्राप्नोतीत्यङ्गिरा अग्निः, यद्वा 'येऽङ्गाराआसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (ऐ०ब्रा०३.३४) इति ब्राह्मणम् (सा०, ऋ०४.३.१५)।

१. अत्रिम् = अग्निरन्तरौषधिवनस्पतिष्वप्सु, तम् (निरु०, ६.३६)। अविद्यमानानि त्रीण्याध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानि दुःखानि यस्मिन् (सः) (दया०, ऋ०१.११२.७)। अविद्यमाना आत्मिकवाचिकशारीरिकदोषा यस्मिन् (दया०, ऋ०१.११२.१६)। न सन्ति त्रीणि भूतभविष्यवर्तमानकालजानि दुःखानि यस्य, तस्मै (अत्रये) सर्वदा सुखसम्पन्नाय (दया०, ऋ० १.१८०.४)।सुखानामत्ता भोक्ता, अदधातोरौणादिकस्त्रिः प्रत्ययः (उणा०४.६९) (दया०, ऋ० १.१३९.९) [√अद भक्षणे (२.१)+त्रिप् > अत्रि]।

९४. भारद्वाजः भरणाद् भारद्वाजः। (३.१७)
९५. विरूपः विरूपो नाना रूपः। (३.१७)
९६. महिव्रतः महिव्रतो महाव्रतः। (३.१७)

चतुर्थः पादः [खण्डम् — १]

९७. काकः काक इति शब्दानुकृतिः, तदिदं शकुनिषु बहुलम्। न शब्दानुकृतिर्विद्यते इत्यौपमन्यवः। काकोऽपकालयितव्यो भवति। (३.१८)

---

९४. ज्ञान व बल के भरण (धारण) से **'भारद्वाज'** नाम है।

९५. विविध (अनेक) रूप व दर्शन वाला **'विरूप'** कहलाता है।[1]

९६. महान् (उद्देश्य से युक्त) व्रत (धर्म्य कर्म) को करने वाला 'महिव्रत' होता है।[2]

९७. **'काकः'** यह नाम (कौवे की 'काँ, काँ' इस) ध्वनि का अनुकरण है। इसप्रकार के अनुकरणात्मक नामकरण पक्षियों में प्रायः (अधिकांशतः) देखा जाता है [काँ+काँ > काक]। आचार्य उपमन्यु के अनुयायी तो कहते हैं कि पक्षियों का नामकरण शब्दानुकरण से नहीं होता है, अपितु वे व्युत्पन्न हैं। (क्योंकि हंस, तित्तिरि आदि शब्दों में शब्दानुकृति नहीं देखी जाती है। उनके मत में 'काकः' की व्युत्पत्ति इसप्रकार है—) जो अपकालयितव्य = हटाने, निकालने योग्य होता है, वह 'काकः' कहलाता है [√कल क्षेपे[3] (१०.७२)+णिच्+कन्[4] > काल्+क > काक]।[5]

---

१. विरूपाः = विविधरूपा विकृतरूपा वा (दया०, ऋ०३.५३.७)। विरूपे = विविधरूपे विरुद्धरूपे वाऽहोरात्रे (दया०, ऋ०६.४९.३)।
२. यहाँ 'महि' और 'महान्' समानार्थक हैं। महि महद् व्रतं = शीलं यस्य सः (दया०, ऋ० १.४५.३)। महान्ति व्रतानि = धर्म्याणि कर्माणि यस्य सः (दया०, ऋ०६.६८.९)। व्रतमिति कर्मनाम (निघं०२.१.७) — वृणोतीति सतः (निरु०२.१३)।
३. कालयति गतिकर्मा (२.१४.१८)।
४. इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उणा०३.४३)।
५. √कक लौल्ये (१.७१)। ककनं काकः लौल्यम्० (स्क०, ऋ०६.४८.१७)। चञ्चलता के कारण भी कौवे को 'काक' कहा जाता है [√कक्+घञ् > काक]।

९८. तित्तिरिः— तित्तिरिस्तरणात्, तिलमात्रचित्र इति वा। (३.१८)

९९. कपिञ्जलः कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः, कपिरिव जवते, ईषत् पिङ्गलो वा, कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति वा। (३.१८)

१००. श्वा श्वा शुयायी, शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः, श्वसितेर्वा। (३.१८)

---

९८. तरण (उछलने) के कारण **'तित्तिरि'** कहा जाता है [√तॄ प्लवनसन्तरणयोः (१.६९६)+इ (कित्)[१] > तिर्+इ > तिर् तिर्+इ > ति तुक् तिर्+इ > तित्तिरि]। शरीर पर तिल के समान छोटे छोटे सफेद चित्र (धब्बे) होने के कारण भी तीतर पक्षी को **'तित्तिरि'** कहा जाता है [तिल+चित्र > तित्+तिर्[२]+इ (मत्वर्थीयः) > तित्तिरि]।

९९. कपि (बन्दर) के समान जीर्ण (स्तुत्य) वर्ण वाला होने से **'कपिञ्जल'** नाम है [कपि+√जॄ अर्चतिकर्मा (द्र० निघं० ३.१४.७,२४; ३.१६.२)+खच् > कपि+मुम्+जर्+अ > कपिंजर > कपिञ्जल]। कपि (बन्दर) के समान उछलते हुए चलने के कारण भी **'कपिञ्जल'** नाम है [कपि+√जुङ् गतौ[३] (क्षीरतरङ्गिणी— १.६८२, पाठान्तर)+डलख् > कपि+मुम्+ज्+अल > कपिञ्जल]। थोड़ा पिङ्गल (पीतरक्तवर्णमिश्रित) वर्ण का होने से भी **'कपिञ्जल'** कहा जाता है [ईषत्+पिङ्गल > क+पिञ्जल > कपिञ्जल]। कमनीय (मनोहर सुन्दर) ध्वनि करने के कारण भी **'कपिञ्जल'** कहलाता है [√कमु कान्तौ (१.३०२)+√पिजि भासार्थः भाषार्थो वा (१०.२२३)+कल[४] > क+पिञ्+अल > कपिञ्जल]।

१००. कुत्ता आशु (शीघ्र) गामी होता है, इसीलिए वह **'श्वन्'** कहलाता है [शु+√या प्रापणे (२.४२)+कनिन्[५] > (बहुलकाद् धातोर्लोपे सति) शु+अन् > श्वन् / शु+√अय गतौ (१.३२०)+कनिन्[५] > शु+अय्+अन् > श्वयन् > श्वन्]। गत्यर्थक

---

१. कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च (उणा०४.१४४)। बाहुलकात् सन्वद्भावोऽभ्यासस्य च तुकागमः।
२. तित्, तिर् इत्येतौ आदेशौ।
३. जु इति सौत्रो धातुः (काशिका— जुचङ्क्रम्य०३.२.१५०)। जवति गतिकर्मा (निघं० २.१४.१०५)।
४. कलस्तृपश्च (उणा०१.१०४)।
५. श्वन्नुक्षन्पूषन्० (उणा०१.१५९)। श्वयति गच्छति वर्द्धतेऽसौ श्वा, कुक्कुरो वा (दया०, तत्रैव) [√टुओश्वि गतिवृद्ध्योः (१.७३६)+कनिन् > श्वन्]।

१०१. सिंहः सिंहः सहनाद्, हिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य, संपूर्वस्य वा हन्तेः, संहाय हन्तीति वा। (३.१८; ८.१५)

१०२. व्याघ्रः व्याघ्रो व्याघ्राणात्, व्यादाय हन्तीति वा। (३.१८)

शवधातु से भी **'श्वन्'** शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह अधिक चलने वाला होता है [√शव गतौ (१.४८०)+ड्वन् > शव्+वन् > श्+वन् > श्वन्]। ''श्वस प्राणने'' (२.६२) धातु से भी **'श्वन्'** शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह बहुत श्वास लेता है, अथवा वह शिकार कर दूसरे प्राणियों के श्वास (प्राण) को निकालता है, मारता है[१] [√श्वस्+डनिन् > श्व्+अन् > श्वन्]।[२]

१०१. सहनाद् = (अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक) शक्तिमान् होने से, सबके प्रहारों को सहने में समर्थ होने से **'सिंह'** नाम है [√षह मर्षणे (१.५९१)+क[३] > (नुमागमः, उपधाया इत्वञ्च बाहुलकात्) सिंह्+अ > सिंह]।[४] ''हिसि हिंसायाम्'' (७.१८) धातु के आद्यन्तविपर्यय से भी **'सिंह'** शब्द सिद्ध होता है,[५] क्योंकि वह सभी प्राणियों को मारता है [√हिंस्+क > सिंह्+अ > सिंह]।[६] सम्पूर्वक ''हन हिंसागत्योः'' (२.२) धातु से भी **'सिंह'** शब्द बनता है क्योंकि वह सम्यक्तया शिकार कर प्राणियों को मारता है [सम्+√हन्+ड > सिम्+ह्+अ > सिंह]। अपने को संकुचित कर, छलांग मारकर प्राणियों को मारता है, अत एव **'सिंह'** नाम है [सम्+√हन्+ड > सिंह]।[७]

१०२. विशेषेण आ समन्ताद् जिघ्रतीति व्याघ्रः— विशेषरूप से चारों ओर सूंघने की शक्ति होने के कारण बाघ **'व्याघ्र'** कहलाता है [वि+आङ्+√घ्रा गन्धोपादाने

---

१. श्वसिति वधकर्मा (निघं०२.१९.९)।
२. श्वानम् = अन्तरिक्षे श्वसन्तं वायुम् (सा०, ऋ०१.१६१.१३), प्रेरकम् (दया०, तत्रैव)। शुनः = विज्ञानवतः (द्र० दया०, ऋ०१.२४.१२)।
३. सिचेः संज्ञायां हनुमौ कश्च (उणा०५.६२)। सिञ्चतीति सिंहः, प्रसिद्धो वा। धातोर्हकारान्त्यादेशो नुमागमः कश्च प्रत्ययः (दया०, तत्रैव) [√षिच क्षरणे (६.१४३)+क > सिंह्+अ > सिंह]।
४. सिंहम् = सहनम् (निरु०८.१५), सहनशीलम् अभिभवनशीलम् तमग्निम् (सा०, ऋ०१.९५.५)।
५. हिनस्तीति 'सिंहः' इति पृषोदरादित्वाद् (अष्टा०६.३.१०८) अपि आद्यन्तविपर्ययः (दया०, उणा०५.६२)।
६. षिहि हिंसागत्योः (का० धातु० १.३१६) इत्यस्मादपि धातोः कप्रत्यये सति विना विपरीतेन सिंहशब्दः सिध्यते।
७. सिंहः = (सिंह) इव। स यथा स्वाश्रयभूतं वनं गजाद्युपद्रवपरिहारेण रक्षति, तद्वत् (सा०,

[**खण्डम् – २**]

१०३. मेधावी मेधावी कस्मात्? मेधया तद्वान् भवति। (३.१९)

१०४. मेधा* मेधा मतौ धीयते। (३.१९)

१०५. स्तोता स्तोता स्तवनात्। (३.१९)

(१.६६०)+क[1] > व्याघ्र]। बाघ मुख, पंजे आदियों को फैलाकर प्राणियों को पकड़-पकड़ कर मारता है, अत एव वह **'व्याघ्र'** कहलाता है [वि+आङ्+(डुदाञ्+)हन्+ड्र > व्या+ह्+र > व्याघ्र]।

१०३. मेधावी किस कारण से है? मेधा से युक्त होता है, इसीलिए **'मेधावी'** कहलाता है [मेधा+विन्[2] > मेधावी]।

१०४. मति में धारण किया जाता है, इसलिए उस धारणावती बुद्धि का नाम **'मेधा'** है [मति+√डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०)+क+टाप् > मति+धा > मे+धा > मेधा / मति+धा > म इ+धा > मेधा]।[3]

१०५. स्तुति करने के कारण **'स्तोता'** नाम है [√ष्टुञ् स्तुतौ (२.३६)+तृन्[4] > स्तोता]।

ऋ॰१.१७४.३)। सिंहस्य=सहतेर्हिंसतेर्वा शब्दकर्मणः सिंहशब्दः। अवर्षणेनाभिभवितुः शब्दयितुर्वा मेघस्य (सा॰, ऋ॰५.८३.३)।

१. व्याङि घ्रातेश्च जातौ (उणा॰५.६३)। आतश्चोपसर्गे (अष्टा॰३.१.१३६) इति वा कप्रत्ययः। पाघ्राध्मा॰ (अष्टा॰३.१.१३७) इति प्राप्तः शप्रत्ययस्तु 'जिघ्रतेः संज्ञायां प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा॰३.१.१३७) इति प्रतिषिद्धः। अतः क एव प्रत्ययः।

२. अस्माया मेधास्रजो विनिः(अष्टा॰५.२.१२१) इति प्रशंसार्थे विनिप्रत्ययः।

३. मेधा धननाम (निघं॰२.१०.२२)। √मिधृ मेधृ सङ्गमे च (१.६११) चकारात् हिंसामेधयोश्च। 'मिधिः सङ्गत्यर्थः' इति माधवः। घञ्। सङ्गच्छतेऽनेन सर्वं तद्वता, हिंस्यते वा तद्वान् चौरादिभिः, 'घ्नन्ति चैवार्थकारणात्' इति महाभारतम्। यद्वा, मतौ धीयते अर्जयितव्यं रक्षितव्यं दातव्यमिति धनवता बुद्धौ धनं धार्य्यते। तत्र मतिशब्द उपपदे धाञः 'घञर्थे कविधानम्' (वा॰ ३.३.५८) इति कः, पृषोदरादित्वात् (अष्टा॰६.३.१०९) मतिशब्दस्य मेभावः (देव॰, नि॰ नि॰२.१०.२२)। मेधाः=स्तुतयः (सा॰, ऋ॰१०.६४.६)।

४. तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिष्टौ (उणा॰२.९५)।

१०६. यज्ञः* यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः, याच्ञो भवतीति वा, यजुरुन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः। यजूंष्येनं नयन्तीति वा। (३.१९)

---

१०६. **यज्ञ** शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त क्या है? नैरुक्त आचार्यों का कथन है कि—यजति (यज् धातु) का यजन (देवपूजनादि) रूप अर्थ लोक और वेद में प्रसिद्ध ही है[1] अर्थात् सभी के मत में यजन अर्थ है [√यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु (१.७२८)+नङ्[2] > यज्ञ]। जिससे किसी विशिष्ट फल की याचना (प्रार्थना) की जाती है अथवा देवता जिसकी याचना करते हैं, उसे **'यज्ञ'** कहते हैं [√याचृ याच्ञायाम् (१.६०५)+नङ्[2] > याच्ञा+अच्[3] > याच्ञ > यच्ञ > यज्ञ / √याच्+नङ् > यच्+न > यज्+न > यज्ञ]। यजुर्मन्त्रों से जो उन्न (क्लिन्न, सिक्त) होता है अर्थात् जिसमें यजुर्वेद के मन्त्रों से रस-हवियों की आहुतियाँ दी जाती हैं, वह भी **'यज्ञ'** कहलाता है, अथवा जो यजुर्मन्त्रों से उन्न (क्लिन्न, परिपूर्ण) होता है, वह भी **'यज्ञ'** कहलाता है[4] [यजुष्+√उन्दी क्लेदने (७.१९)+क्त > यजुष्+उन्न > यज्+न > यज्ञ]। उपमन्यु के अनुयायियों के मतानुसार—जिसमें बहुत से कृष्णाजिन (कृष्णमृग के चर्म) प्रयुक्त होते हैं, उसे (अजिन-युक्त को) भी **'यज्ञ'** कहते हैं [अजिन+√युजिर् योगे (७.७)+घञ् > युज्+अजिन+अ > यज्+न्+अ > यज्ञ / अजिन= अ - ज् - इ - न > इ - अ - ज् - न > य् - अ ज् न > यज् न > यज्ञ+अच्[5] > यज्ञ]। यजुर्मन्त्र जिसे सम्पूर्णता की ओर ले जाते हैं, सम्पन्न करते हैं, उसे भी **'यज्ञ'** कहते हैं [यजुष्+√णीञ् प्रापणे (१.६४२)+ड > यज्+न्+अ > यज्ञ]।[6]

---

१. यागो विज्ञायते, लौकिकोऽसौ पदार्थः... यद्यस्ति लोके ततो ज्ञायेतैव...बाढमस्ति, लौकिकी वैदिकी च (इतिकर्तव्यता)। लौकिकी तावत् पार्वणस्थालीपाकादिषु, वैदिकी दर्शपूर्णमासादिषु (मी॰शा॰भा॰७.४.१)।

२. यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (अष्टा॰३.३.९०)।

३. अर्शआदिभ्योऽच् (अष्टा॰५.२.१२७)।

४. व्यृद्धमु वा एतद् यज्ञस्य यदयजुष्केण क्रियते (शत॰ब्रा॰१३.१.२.१) यजुर्मन्त्रों के विना जो यज्ञ किया जाता है, वह निश्चय ही समृद्धि से रहित है अर्थात् जो यजुर्मन्त्रों से यज्ञ किया जाता है, वही परिपूर्ण (समृद्ध) यज्ञ है।

५. अर्शआदिभ्योऽच् (अष्टा॰५.२.१२७)।

६. यज्ञः यज्ञनाम (निघं॰३.१७.१)। यज्ञम् = अग्निम् (निरु॰१२.४१)। इज्यतेऽनेनेति यज्ञं हविः (सा॰,ऋ॰५.५२.४)। यज्ञम् = यजति सङ्गच्छन्ति येन तम् (दया॰, ऋ॰१.१७०.४)। इज्यतेऽसौ यज्ञः (दया॰, ऋ॰१.१.१)। यो यजति=सत्येन सङ्गच्छते [सः यज्ञः] (दया॰, ऋ॰ ६.४०.१)।

१०७. ऋत्विक् ऋत्विक् कस्मात्? ईरणः, ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः, ऋतुयाजी भवतीति वा। (३.१९)

१०८. कूपः* कूपः कस्मात्? कुपानं भवति, कुप्यतेर्वा। (३.१९)

१०९. स्तेनः स्तेनः कस्मात्? संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः। (३.१९)

---

१०७. ऋत्विक् नाम किस कारण से है? यज्ञसम्बन्धी ईरण (प्रेरणा देने) के कारण **'ऋत्विक्'** नाम है। ऋक् - मन्त्रों से यज्ञ कराने वाला **'ऋत्विक्'** कहलाता है, ऐसा शाकपूणि आचार्य का कथन है [ऋच्+√यज देवपूजा० (१.७२८)+क्विन्[1] > ऋत्+इज् > ऋत्विज्]। ऋतुओं में तदनुकूल यज्ञ कराने वाला भी 'ऋत्विक्' कहलाता है [ऋतु+यज्+क्विन् > ऋतु+इज् > ऋत्विज्]।[2]

१०८. कूप किस कारण से 'कूप' कहलाता है? जहाँ जल कठिनाई से पीने योग्य होता है, वह **'कूप'** कहलाता है [कु+√पा पाने (१.६५९)+ड > कु+प्+अ > [3]कूप]। कूप शब्द ''कुप क्रोधे'' (४.१२२) धातु से भी व्युत्पन्न होता है, क्योंकि जहाँ जल के लिए अनेकों लोगों के एकत्रित होने पर विलम्बादि कारणों से अथवा साधनों के अभाव से पिपासु को क्रोध उत्पन्न होता है, उसे भी **'कूप'** कहते हैं [√कुप+क[4] > कुप्+अ > कूप]।[5]

१०९. स्तेन नाम किस कारण से है? जिस (चोरी आदि) कर्म में पाप एकत्रित (बहुत) होता है, उसे **'स्तेन'** कहते हैं, ऐसा नैरुक्त आचार्यों का मत है [√स्त्यै

---

१. ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च (अष्टा० ३.२.५९)।
२. ऋतौ यजति, ऋतुं वा यजति, ऋतुप्रयुक्तो वा यजति ऋत्विक् (काशिका ३.२.५९)। ऋतौ यज्ञे यजन्ति दक्षिणाप्राप्तिनिमित्तं वा तदीयकर्माणि कुर्वन्तीति ऋत्विजः। यद्वा √ऋ गतौ+तुः = दक्षिणाप्राप्तिः, तन्निमित्ते यजन्ति यज्ञीयं कर्म, तत्करत्वाद्धेतोः प्रवृत्ता ऋत्विजः (अध्वर-मीमासाकुतूहलवृत्तिः-३.७.३०)। ऋत्विजम् =य ऋतौ ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं सङ्गतं यजति करोति तथा च शिल्पसाधनानि सङ्गमयति सर्वेषु ऋतुषु यजनीयस्तम। ऋत्विग्दधृग्० अनेन कर्तरि निपातनम्, तथा कृतो बहुलमिति कर्मणि वा (दया०, ऋ० १.१.१)।
३. अन्येषामपि दृश्यते (अष्टा० ६.३.१३६) इति दीर्घः।
४. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अष्टा० ३.१.१३५)।
५. कूपः कूपनाम (निघं० ३.२३.१)। कूपे = कूपाकारे हृदये (दया०, ऋ० १.१०५.१७)। √कु शब्दे (२.३५) या √कुङ् शब्दे (१.६८२) धातु से औणादिक प-प्रत्यय (कित्) और दीर्घ होकर भी 'कूप' शब्द निष्पन्न होता है—''कुयुभ्यां च'' (उणा० ३.२७)। ''कवतेगति-कर्मणः... पप्रत्ययः, कित्त्वाद्दीर्घश्च। गम्यते जलार्थिभिः (देव०, नि०नि० ३.२३.१)।

११०. निर्णीतम् निर्णीतम् कस्मात्? निर्णिक्तम् भवति। (३.१९)

१११. दूरम् दूरं कस्मात्? द्रुतं भवति, दुरयं वा। (३.१९)

११२. पुराणम् पुराणं कस्मात्? पुरा नवं भवति। (३.१९)

११३. नवम्* नवं कस्मात्? आनीतं भवति। (३.१९)

शब्दसंघातयोः (१.६५०)+इनच्[1] > स्त्येन > स्तेन / √स्तै वेष्टने (१.६५६)+इनच् > स्तेन]।

११०. निर्णीत शब्द किसलिए प्रयुक्त होता है? जो निश्चितरूप से शुद्ध होता है, वह **'निर्णीत'** कहाता है [निर्+√णिजिर् शौचपोषणयोः (३.११)+क्त > निर्+निज्+त > निर्+नी+त > निर्णीत]।

१११. दूर शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त क्या है? (जो मार्ग) लम्बा गया हुआ रहता है, वह **'दूर'** कहाता है [√दु गतौ (१.६७७)+रक्[2] > दु+र > दूर]। कठिनाई से, दुःख से प्राप्त करने योग्य होता है, इसलिए भी **'दूर'** कहलाता है [दुर्+√इण् गतौ (२.३८)+रक्[2] > दु+र > दूर]।

११२. पुराण शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ क्या है? पहले नया होता है (अब नहीं), वह **'पुराण'** कहलाता है [पुरा+नव > पुराणव > पुराण / पुरा+√णु स्तुतौ (२.२७)+ड > पुरा+न्+अ > पुराण]।[3]

११३. 'नव' की निष्पत्ति क्या है? अभी अभी लाया हुआ होता है (पहले नहीं), अतः 'नव' नाम है [√णीञ् प्रापणे (१.६४२)+डव > न्+अव > नव]।[4]

---

१. श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् (उणा० २.४७)।
२. दुरीणो लोपश्च [दीर्घः] (उणा० २.२०)। दुरुपपदात् 'इण्' धातो रक् [प्रत्ययः], धातोश्च लोपः। दुःखेनेयते प्राप्यते तद् दूरम्, विप्रकृष्टं वा (दया०, तत्रैव)।
३. पुराणाः = पुरा अध्ययनसमये नवीनाः [ऋषयः = वेदार्थविज्ञनाः] (दया०, यजु० १८.५२)। पाणिनीयमते तु—पुरा+ट्यु / ट्युल् > पुरा+अन > पुराण। तुडाभावश्छान्दसः— ''सायंचिरं-प्राह्णे०'' (अष्टा० ४.३.२३)।
४. नवम् नवनाम (निघं० ३.२८.१)। नवो नवो भवति जायमानः (ऋ० १०.८५.१९, निरु० ११.६)। नवस्य = इदानीं क्रियमाणत्वान्नूतनम् (सा०, ऋ० ८.२३.१५)। नवेन = अन्यैरकृतपूर्वेण (स्क०, ऋ० १.३१.८)। नूयते स्तूयतेऽत्रेति नवः स्तुतिमान् यद्वा नवोऽभिनवः (सा०, ऋ० २.१८.१)। नवानि = नूतनानि स्तुत्यानि वा (सा०, ऋ० ७.६१.६)। नवम् = अजीर्णम् (स्क०, ऋ० १.२०.६)। नव वै पुरुषे प्राणाः (जै० ब्रा० १.१३२, तै० आ० ५.६.९)।

[खण्डम् – ३]

११४. प्रपित्वे* प्रपित्व इत्यासन्नस्य [वाचकः]। प्रपित्वे प्राप्ते ।[1] (३.२०)

११५. अभीके* अभीक इत्यासन्नस्य [वाचकः]। अभीकेऽभ्यक्ते ।[1] (३.२०)

११६. दभ्रम्* दभ्रमित्यल्पस्य [वाचकः]। दभ्रं दभ्नोतेः– सुदम्भं भवति। (३.२०)

---

११४. 'प्रपित्वे' यह 'आसन्न' का वाचक है। **'प्रपित्वे'** का अर्थ है 'प्राप्त हुआ' [प्र+√आप्लृ व्याप्तौ (५.१५)+त्व > प्र+आप्+त्व > प्र+इप्+त्व > प्र+प् इ+त्व > प्रपित्व]।[2]

११५. 'अभीके' यह शब्द भी 'आसन्न' का वाचक है। **'अभीके'** का अर्थ है– अभ्यक्त (अभ्यागत) है [अभि+√अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु+ईकन् > अभि+ईक > अभीक]।[3]

११६. 'दभ्रम्' यह अल्प अर्थ का वाचक है। 'दभ्रम्' यह शब्द ''दम्भु दम्भने'' (५.२३) / ''दभ्नोति वधकर्मा'' (निघं० २.१९.१) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि अल्प वस्तु सरलतया कट जाता है, नष्ट किया जा सकता है, दबाया जा सकता है [√दम्भ्+रक्[4] > दभ्र]।[5]

---

१. द्वितीयार्थे चात्र सप्तमी। आसन्नं स्वशरीरमित्यर्थः (स्कन्दः, ऋ० ६.५०.१०)।

२. प्रपित्वे=आसन्ननामैतत्। वेद्या आसन्नदेशे, अथवा प्रपित्वे इति कालस्य प्रतिनिर्देशः। निषीदेत्येतेन चास्य सम्बन्धः। आसन्ने यागकाले निषीदेति (स्कन्दः, ऋ०१.१०४.१)। प्राप्तव्ये समये स्थाने वा (दया०, ऋ०१.१०४.१)। प्रकर्षेण प्राप्ते समये (दया०, ऋ० १.१८९.७)। प्रपित्वम् = प्रकृष्टं प्रापणम् (दया०, ऋ०३.५३.२४)।

३. अभीके इति संग्रामनाम (निघं०२.१७.१०)। अभिपूर्वादेतेः 'अलीकादयश्च' (द० उ० ३.४३) इतीकन् प्रत्ययो धातोर्लोपश्च निपात्यते [अभि+√इण् गतौ (२.३८)+ईकन् >अभि+ईक > अभीक]। यद्वा न विद्यते भीर्येषां ते अभीकाः । अभीकैः क्रियमाणत्वाद् (संग्रामः) अभीकमित्युच्यते (देव०,निघं०२.१७.१०) [न+भी+कन् > अभीक]। अभीके = कामिते व्यवहारे (दया०, ऋ०१.११६.१४)। कामिते [सत्याचरणे] (दया०, ऋ० १.१८५.१०)। कमितारे [जगदीश्वरे] (दया०, ऋ०३.५६.४)।

४. स्फायितञ्चिवञ्चिशकि० (उणा०२.१३)।

५. दभ्रम् ह्रस्वनाम (निघं०३.२.८)। दभ्रम् = ह्रस्वं वस्तु (दया०, ऋ०१.११३.५)।

११७. अर्भकम्* अर्भकमित्यल्पस्य [वाचकः]। अर्भकम् अवहृतं भवति। (३.२०)

११८. तिरः* तिर इति प्राप्तस्य[1] [वाचकः]। तिरस्तीर्णं भवति । (३.२०)

११९. सतः* सत इति प्राप्तस्य[1] [वाचकः]। सतः संसृतं भवति। (३.२०)

१२०. त्वः* त्व इत्यर्धस्य [वाचकः]। त्वोऽपततः। (३.२०)

---

११७. 'अर्भकम्' यह 'अल्प' का वाचक है। **अर्भक** अवहृत (संकुचित किया गया) होता है [अव+√हृञ् हरणे (१.६४०)+वुन्[2] > अ+हर्+अक > अ+र् ह+अक > अर्हक > अर्भक]।[3]

११८. 'तिरः' यह शब्द 'प्राप्त' अर्थ का वाचक है। 'तिरः' यह दूर तक तैरा हुआ होता है, अत एव **'तिरः'** कहलाता है [√तॄ प्लवनसंतरणयोः (१.६९६)+असुन् > तिरः]।[4]

११९. 'सतः' यह शब्द भी 'प्राप्त' अर्थ का वाचक है। संसृत अर्थात् एकत्रित रहने के कारण **'सतः'** नाम है [√सृ गतौ (१.६६९)+असुन् > सरः > सतः]।

१२०. 'त्वः' यह अर्ध (आधे) का वाचक है। अपेत्य ततः=सम्पूर्ण में से पृथक् होकर विस्तृत होने वाला **'त्वः'** कहलाता है [√तनु विस्तारे (८.१) / √तनु

---

१. अप्राप्तस्यैके अधीयते, तथापि योज्यम् (दुर्गः, निरु०३.२०)। तिरः सतः इति अप्राप्तस्य नामनी। अप्राप्तस्यापि अनुपजातस्यापि (स्कन्दः, ऋ०६.६५.१)।

२. अर्भकपृथुकपाका वयसि (उणा०५.५३)। ऋध्यति वर्धतेऽसौ अर्भकः। ऋधुधातोर्वुन्, धस्य भः। अर्भकपृथुकपाका बालकपर्यायाः (दया०, तत्रैव) [√ऋधु वृद्धौ (४.१३१)+वुन्]।

३. अर्भकः ह्रस्वनाम (निघं० ३.२.९)। अर्भके =अवृद्धे [= अल्पके] (निरु० ४.१५)। अर्भकेभ्यः = अल्पगुणेभ्यो विद्यार्थिभ्यः (दया०, ऋ०१.२७.१३)। अर्भकम् = बाल्यावस्थापन्नम् (दया०, ऋ०१.११४.७)।

४. तु० तिरोऽन्तर्धौ (अष्टा०१.४.७१)। तिरस्करोति। तिरः = तिरस्करणे (दया०, ऋ० १.१९.७), अदर्शने (दया०, ऋ०१.४१.३), अन्तर्धाने (दया०, ऋ०१.४६.६), अधोगमने (दया०, ऋ० १.६१.७), तिर्यक् (दया०, ऋ०३.५८.५)।

१२१. नेमः* नेम इत्यर्धस्य [वाचकः]। नेमोऽपनीतः। (३.२०)

१२२. अर्धम् अर्धं हरतेर्विपरीतात्, धारयतेर्वा स्याद्– उद्धृतं भवति, ऋध्नोतेर्वा स्यात्– ऋद्धतमो विभागः। (३.२०)

१२३. नक्षत्राणि नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः[1]। नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम्। (३.२०)

श्रद्धोपकरणयोः[2] (१०.२६६)+ड्वप् > तन्+व > त्व]।[3]

१२१. 'नेम' यह भी 'अर्ध' का वाचक है। क्योंकि यह (अपभज्य नीतः) सम्पूर्ण में से पृथक् करके ले जाया गया होता है [√णीञ् प्रापणे (१.६४२)+मन्[4] > नेम]।[5]

१२२. **'अर्ध'** शब्द ''हृञ् हरणे'' (१.६४०) धातु से वर्णविपर्यय होकर सिद्ध होता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण में से आहृत (लिया गया) होता है [√हृ+अप् > हर्+अ > अर् ह्+अ > अर्ह > अर्ध]। ''धृञ् धारणे'' (१.६४१) के णिजन्त से भी 'अर्ध' शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण में से उद्धृत (लिया हुआ) होता है [धारि+अच् > धर्+अ > अर् ध्+अ > अर्ध]। ''ऋधु वृद्धौ'' (५.२४) धातु से भी 'अर्ध' शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि वह चतुर्थभाग आदि की अपेक्षा बड़ा भाग होता है [√ऋध्+अच् > अर्ध]।[6]

१२३. **'नक्षत्र'** शब्द गत्यर्थक ''नक्ष'' धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि ये सदा गतिशील होते हैं [√नक्ष गतौ (१.४४२)+अत्रन्[7] > नक्षत्र]। ये कभी भी प्रकाश

---

१. नक्षति व्याप्तिकर्मा (निघं॰२.१८.२)। नक्षन्त = आप्नुवन्ति (निरु॰१०.२१)।
२. उपसर्गाच्च दैर्घ्ये / अदैर्घ्ये (तत्रैव)।
३. 'त्वः' इति विनिग्रहार्थीयम्। सर्वनामानुदात्तम्। अर्धनामेत्येके (निरु॰१.७)। त्वः = एकः [=कश्चिद्] (निरु॰१.८, १९)। अन्यो द्वितीयो वा (दया॰, ऋ॰ १.१४७.२)। कश्चिन् निन्दकः (दया॰, यजु॰१२.४२)।
४. अर्तिस्तुसुहु...नीभ्यो मन् (उणा॰१.१४०)।
५. नेमः अन्ननाम (निघं॰ २.७.२०)। नमयति सुगतिं दातारम्, नीयते देहयात्राऽनेनेति वा (देव॰, तत्रैव)। नेमः = अर्धाऽधिकारी [पुमान् = अलसः पुरुषः] (दया॰, ऋ॰ ५.६१.८)। नेमानाम् = अन्नानाम् (दया॰, ऋ॰६.१६.१८)।
६. अर्धम् = हिंसकम्, अर्धेर्हिंसाकर्मणोऽर्धशब्दस्य निष्पत्तिः (सायणः, ऋ॰ ७.१८.१६)। सुसमृद्धिम् (दया॰, ऋ॰६.४४.१८), वर्धकम् (दया॰, ऋ॰७.१८.१६)।
७. अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् (उणा॰३.१०५)।

१२४. ऋक्षाः* ऋक्षा इति नक्षत्राणाम् [वाचकः]। ऋक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते। (३.२०)

१२५. स्तृभिः* स्तृभिरिति नक्षत्राणाम् [वाचकः]। स्तृभिः स्तीर्णानीव ख्यायन्ते। (३.२०)

१२६. वम्र्यः* वम्रीभिरिति सीमिकानाम् [वाचकः]। वम्र्यो वमनात्। (३.२०)

से हीन नहीं होते, इसलिए **'नक्षत्र'** कहलाते हैं, ऐसा ब्राह्मणकारों का कथन है [न+क्षत्र > नक्षत्र]।[1]

१२४. 'ऋक्षाः' यह शब्द नक्षत्रों का वाचक है। नक्षत्र नीचे से ऊपर को गये हुए जैसे दीखते हैं, इसलिए वे **'ऋक्ष'** कहलाते हैं [√ऋषी गतौ (६.७)+स[2] > ऋक्ष]।[3]

१२५. 'स्तृभिः' (स्तृ) यह शब्द भी नक्षत्रों का वाचक है। नक्षत्र बिखरे हुए (बिछाये गये) जैसे दीखते हैं, इसलिए वे **'स्तृ'** कहलाते हैं [√स्तृञ् आच्छादने (५.६)+ क्विप् > स्तृ, निपातनात् तुकः अभावः]।[4]

१२६. 'वम्री' यह शब्द सीमिका (दीमक या चींटी) का वाचक है। वमन (मिट्टी को गीला कर घर बनाने) के कारण दीमक **'वम्री'** कहलाते हैं [√वम उद्गिरणे (१.५८८)+रक्[5]+ङीप् > वम्री]।[6]

---

१. नभ्राण्नपात्... नक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या (अष्टा॰६.३.७४)। नक्षत्राणि = यानि कारणरूपेण न क्षीयन्ते तानि भुवनानि (दया॰, यजु॰१८.१८); सत्या नियमाः (दया॰, यजु॰३१.२२)। नक्षत्रः = यो न क्षीयते (दया॰, ऋ॰६.६७.६)। यो वा इह यजतेऽमुं स लोकं नक्षते तन्न-क्षत्राणां नक्षत्रत्वम् (तै॰ब्रा॰१.५.२.५)। देवगृहा वै नक्षत्राणि (तै॰ब्रा॰१.५.२.६)।
२. स्नुवृश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् (उणा॰३.६६)।
३. ऋक्षः रेचनाद् हिंसनाद् वा (वें॰ऋ॰८.२४.२७)। ऋक्षात् = ऋृन् मनुष्यान् क्षिणोति। क्षणो-तेरौणादिको डप्रत्ययः। तस्मात् रक्षसो जातात् (सायणः, ऋ॰८.२४.२७)। ऋक्षाः = सूर्यचन्द्र-नक्षत्रादिलोकाः (दया॰, ऋ॰१.२४.१०)।
४. द्र॰दया॰, ऋ॰१.८७.१।
५. ऋज्रेन्द्राग्रवज्र...वन्रेरामाला (उणा॰२.२९)।
६. वम्र्यः = अल्पवयस्यः [देव्यः = स्त्रियः] (दया॰, यजु॰३७.४)। वम्रीभिः = उद्गीर्णाभिः [वर्षाभिः] (दया॰, ऋ॰४.१९.९)। वम्रम् = रोगनिवृत्तये वमनकर्तारम् [सद्वैद्यम्] (दया॰, ऋ॰१.११२.१५)।

१२७. सीमिकाः सीमिकाः स्यमनात्। (३.२०)

१२८. उपजिह्विकाः* उपजिह्विका इति सीमिकानाम् [वाचकः]। उपजिह्विका उपजिघ्र्यः। (३.२०)

१२९. ऊर्दरम्* ऊर्दरमित्यावपनस्य [वाचकः]। ऊर्दरम् उद्दीर्णं भवति, ऊर्जे दीर्णं वा। (३.२०)

१३०. कृदरम्* कृदरमित्यावपनस्य [वाचकः]। कृदरं कृतदरं भवति। (३.२०)

---

१२७. निरन्तर गति के कारण दीमक **'सीमिका'** कहलाते हैं [स्यमतिर्गतिकर्मा[1] (निघं०२.१४.८)+किकन्[2] > स्यम्+इक > सिम्+इक+टाप् > सीमिका]।

१२८. 'उपजिह्विका' यह शब्द भी सीमिका (दीमक) का वाचक है। क्योंकि इसे सूँघने की शक्ति अधिक होती है, इसीलिए **'उपजिह्विका'** नाम है [उपजिघ्री > उपजिह्वी+कन्[3]+टाप् > उपजिह्विका]।[4]

१२९. **'ऊर्दर'** यह शब्द आवपन (धान्यकोष्ठ, कुसूल) का वाचक है। क्योंकि यह उद्दीर्ण (ऊपर की ओर मुखवाला, खुदा हुआ) होता है [उद्+√दॄ विदारणे (९.२२)+अल् / अच्[5] > उद्+दर्+अ > ऊर्+दर > ऊर्दर]।[6] ऊर्ज (अन्न) के लिए दीर्ण (खुदा हुआ) होता है, इसलिए भी धान्यकोष्ठ **'ऊर्दर'** कहलाता है [ऊर्ज्+√दॄ+अल् / अच् > ऊर्+दर > ऊर्दर]।

१३०. 'कृदर' यह शब्द भी आवपन (धान्यकोष्ठ) का वाचक है। क्योंकि धान्यकोष्ठ कृतदर अर्थात् छिद्र किया गया (खोदा गया) होता है, इसलिए उसका नाम

---

१. पाणिनीये धातुपाठे तु स्यमतिः शब्दकर्मा — √स्यमु शब्दे (१.५७१)।
२. स्यमेः संप्रसारणञ्च (उणा०२.४४) इति किकन् प्रत्ययः प्रसारणस्य दीर्घश्च।
३. संज्ञायां कन् (अष्टा०५.३.८७)।
४. उपजिघ्रतीत्युपजिह्विका (सायणः, ऋ०८.१०२.२१)। उपजिह्विका = उपगताऽनुकूला जिह्वा यस्याः पत्न्याः सा (दया०, यजु०११.७४)। जिह्वा वाङ्नाम (निघं०१.११.२९)।
५. ऊर्जि दृणातेरलचौ (उणा०५.४०)। ऊर्क् पराक्रमं रसं वा दृणातीति ऊर्दरः, शूरो दुष्टो वा (दया०, तत्रैव) [ऊर्ज्+दॄ+अल् / अच् > ऊर्+दर्+अ > ऊर्दर]।
६. ऊर्दरम् = ऊर्ध्वं दीर्णम् ऊर्दरं कुसूलम् (सायणः, ऋ०२.१४.११) [ऊर्ध्व+दॄ+अप् > ऊर्+दर्+अ > ऊर्दर]।

[खण्डम् – ४]

१३१. रम्भः* रम्भ इति दण्डस्य [वाचकः]। रम्भ आरभन्त एनम्। (३.२१)

१३२. पिनाकम्* पिनाकमिति दण्डस्य [वाचकः]। पिनाकं प्रतिपिनष्ट्यनेन। (३.२१)

१३३. स्त्रियः स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः। (३.२१)

'कृदर' है [कृत+√दॄ+अल् /अच्[1] > कृदर]।

१३१. 'रम्भः' यह शब्द दण्ड का वाचक है। वृद्धादि व्यक्ति डण्डे का (आरम्भ, आलम्भ=) आश्रय (सहारा) लेते हैं, इसलिए डण्डा **'रम्भ'** कहलाता है [(आङ्+)√रभ राभस्ये (१.७०१)+घञ् > रम्भ्[2]+अ > रम्भ]।

१३२. 'पिनाकम्' शब्द भी दण्ड का वाचक है। इस (डण्डे) से मारा जाता है, अत एव उसे **'पिनाक'** कहा जाता है [√पिष्लृ संचूर्णने (७.१५)+आक[3] > पिन्+आक > पिनाक]।

१३३. **स्त्री** शब्द लज्जार्थक[4] ''स्त्यै'' धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि स्त्रियाँ स्वभावतः लज्जाशील होती हैं [√स्त्यै+ड्रट्[5] > स्त्+र+ङीप् > स्त्री]।

---

१. 'कृदरादयश्च' (उणा०५.४१)। 'कृत्स्नं दृणातीति कृदरः, कुशूलो वा' (दया०, तत्रैव)। 'कृत्स्नशब्दस्य कृ-आदेशः। यद् वा कृद् शब्दाद् अरच् प्रत्ययो द्रष्टव्यः। कृभागादुत्तरस्य लोपः पृषोदरादित्वाद् विज्ञेयः' (यु०मी०, टिप्पण्यां तत्रैव)। *'कृदरः गृहनाम'* (निघं०३.४.२)। √कृती छेदने (६.१४४)। कृदरादयश्च (उणा०५.४१) इति अरन्प्रत्ययो (?) गुणाभावश्च तकारस्य दकारश्च निपात्यते। कृत्यते छिद्यतेऽनेनन क्लेशः, परिच्छिन्नं वा सुशास्त्रमर्यादया। यद्वा √दृङ् आदरे (६.१२०)। 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' (अष्टा० ३.३.५८) इत्यप्। कृतो दर आदरोऽत्र *कृतदरः*। पृषोदरादित्वात् (अष्टा०६.३.१०९) तशब्दलोपः (देव०, नि०नि० ३.४.२)।
२. रभेरशब्लिटोः (अष्टा०७.१.६३) इति नुम्।
३. पिनाकादयश्च (उणा०४.१६)। पिष्लृ संचूर्णने रौ०। अस्य नकारोऽन्त्यस्य निपात्यतेऽगुणत्वञ्च। पिनष्ट्यनेन शत्रून् इति पिनाकः रौद्रं धनुः शूलं वा (माणिक्यदेवः, द०उणा०३.३४)। पिनाकम् = पाति रक्षति आत्मानं येन तद् धनुर्वर्मादिकम् (दया०, यजु०१६.५१) [√पा रक्षणे (२.४९)+नुक्+अक > पिनाक]।
४. पाणिनीय धातुपाठ में तो यह धातु शब्द करना और संगठित होना अर्थ में पठित है — √स्त्यै शब्दसंघातयोः (१.६५०)।
५. स्त्यायतेर्ड्रट् (उणा०४.१६७)।

१३४. मेनाः* मेना इति स्त्रीणां [नाम]। मेना मानयन्त्येनाः। (३.२१)

१३५. ग्नाः* ग्ना इति स्त्रीणां [नाम]। ग्ना गच्छन्त्येनाः।(३.२१; १०.४७)

१३६. शेपः* शेप इति पुंस्प्रजननस्य (नाम)। शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः। (३.२१)

१३७. वैतसः* वैतस इति पुंस्प्रजननस्य (नाम)। वैतसो वितस्तं भवति। (३.२१)

---

१३४. 'मेना' यह स्त्रियों का नाम है। पुरुष इनका सम्मान करते हैं, इसलिए स्त्रियाँ **'मेना'** कहलाती हैं [√मान पूजायाम् (१.६९९)+अ[१]+टाप् > माना > मेना / √मान्+इनच्[२] > मा+इन+टाप् > मेना]।[३]

१३५. 'ग्ना' यह शब्द भी स्त्रियों का नाम है। क्योंकि वे ऋतुकाल में गम्य होती हैं, इसलिए वे **'ग्ना'** कहलाती हैं [√गम्लृ गतौ (१.७०९)+नङ् > ग्+न+टाप् > ग्ना]।[४]

१३६. 'शेप' यह पुरुष के जननाङ्ग का नाम है। 'शेप' यह स्पर्शार्थक[५] ''शप'' धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि इससे स्त्री का स्पर्श किया जाता है [√शप्+घञ् > शेप्+अ > शेप]।[६]

१३७. 'वैतस' यह शब्द भी पुरुष के जननाङ्ग का नाम है। विगतोपक्षय अर्थात् वह (सम्भोग के समय) वितस्त (उपक्षीणता, शिथिलता से रहित, बढ़ा हुआ) होता है,

---

१. गुरोश्च हलः (अष्टा०३.३.१०३)।
२. बहुलमन्यत्रापि (उणा०२.५०) इति इनच् प्रत्ययः।
३. मेना इति वाङ्नाम (निघं०१.११.१९); मेना नाम कन्यकाभूः (सायणः, ऋ०१.५१.१३)। मेने = प्रक्षेप्ये [न्यायविद्ये]। अत्र बाहुलकाद् डुमिञ्धातोर्नः प्रत्ययः आत्वनिषेधश्च (दया०, ऋ०१.६२.७)।
४. ग्ना गमनाद्, आपो देवपत्न्यो वा (निरु०१०.४७)। ग्ना इति वाङ्नाम (निघं०१.११.४०)। छन्दांसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति (शत०५.५.४.७)। ग्नाः = याः स्तुतिवाचः सन्ति, ताः (सायणः, ऋ०१.१५.३), ''छन्दांसि वै ग्नाः'' इति तैत्तिरीयकम् (सायणः, ऋ० २.३१.४), गन्त्रीर्ज्वालाः (सायणः, ऋ०५.४३.१३), ग्नासु = गन्तुं योग्यासु भूमिषु (दया०, ऋ०१.१६१.४)। ग्नाम् = गच्छन्ति ज्ञानं यया ताम् [महीं वाचम्] (दया०, ऋ०५.४३.६)।
५. पाणिनीयधातु पाठ में तो शप् धातु आक्रोश अर्थ में पठित है— √शप आक्रोशे (१.७२६)।
६. उणादिकोष में तो यह शब्द शीङ् धातु से निष्पादित है— वृङ्शीङ्भ्यां पुट् च (उणा० ४.२०२)।

१३८. स्वस्ति* स्वस्तीत्यविनाशिनाम। अस्तिरभिपूजितः, सु अस्तीति। (३.२१)

इति तृतीयोऽध्यायः



इसलिए उसका नाम **'वैतस'** है [वि+√तसु उपक्षये (४.१०२)+अच् > वितस, स एव वैतसः]।

१३८. 'स्वस्ति' यह 'अविनाशि' (नष्ट न होने वाला अर्थात् नित्य या कल्याण) का नाम है। इसमें क्रमशः अभिपूजित (आदर) अर्थ वाला 'सु' और सत्तार्थक 'अस्ति' (अव्यय) का संयोग (समास)[१] है [सु+अस्ति > स्वस्ति]।

---

१. (सु+अस्ति = श्रेष्ठ अस्तित्व, अच्छा होना व रहना)।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः [खण्डम् – १]

१. जहा जहा जघानेत्यर्थः। (४.१)

[खण्डम् – २]

२,३. मर्यः*, मर्यादा मर्या इति मनुष्यनाम (निघं०२.३.११), मर्यादाभिधानं वा स्यात्– मर्यादा मर्यैरादीयते, मर्यादा मर्यादिनो र्विभागः। (४.२; ३.१५)

---

१. **'जहा'** का अर्थ है 'जघान' (मारा है) [√हन हिंसागत्योः (२.२)+लिट् > जहान > जहा]।

२,३. 'मर्यः' यह मनुष्य का नाम है और मर्यादा का भी नाम है (द्र० निरु० ३.१५)। (मर्यादा के भी दो अर्थ हैं– १. धर्म व न्याय, २. सीमा। अर्थानुकूल निर्वचन क्रमशः इसप्रकार हैं–) मनुष्यों के द्वारा धर्म व न्याय ग्रहण किया जाता है, अत एव धर्म व न्याय **'मर्यादा'** कहलाता है [मर्य+आङ्+√डुदाञ् दाने (३.९)+अङ्[1]+टाप् > मर्यादा]। मर्या (=अन्त) और आदि का मध्यस्थ विभाग ही **'मर्यादा'** कहाता है अर्थात् किसी के अन्त और अन्य के आदि का जो विभाग (सीमा) है, वही 'मर्यादा' कहाता है [मर्या+आदि > मर्यादी > मर्यादा[2]]।[3]

---

१. आतश्चोपसर्गे (अष्टा०३.३.१०६)।
२. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याजालः (अष्टा०७.१.३९) इति द्विवचनस्य स्थाने 'आ' इत्यादेशः।
३. मर्यादा मर्याद्योर्विभागः मर्यादा नाम पूर्वस्या भूमेरन्तः, म्रियते सा तत्रेति मर्या, आदिः परभूमेरारम्भः, मर्या चादिश्च मर्यादी, तौ येन यस्मिन् वा प्रदेशे विभज्येते, स मर्याद्योर्विभागः। स मर्यया चादिना च योगात् (स्क०म०, निरु०४.२)। मर्यादा = प्रीत्यादिव्यवस्था (सायणः, ऋ०४.५.१३)। मर्यादा = सप्तैव, स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति (निरु०६.२७, तु०मनु०७.४८, ५०)।

४. निधा* निधा पाश्या भवति– यन्निधीयते। (४.२)

५. पाश्या पाश्या पाशसमूहः। (४.२)

६. पाशः पाशः पाशयतेः– विपाशनात्। (४.२)

[खण्डम् – ३]

७. सुपर्णाः* सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः। (४.३; ३.१२)

८. चक्षुः चक्षुः ख्यातेर्वा, चष्टेर्वा। (४.३)

---

४. 'निधा' का अर्थ 'पाश्या' (जाल) होता है, क्योंकि पक्षी आदियों को पकड़ने हेतु वह नीचे (गुप्तरूप से) बिछाया जाता है, इसीलिए जाल **'निधा'** कहाता है [नीचैः+√डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०)+अङ्[1]+टाप् > निधा]।[2]

५. **'पाश्या'** का अर्थ है पाशों (रस्सियों) का समूह अर्थात् जाल [पाश+य[3] > पाश्या]।

६. पाश शब्द "पश बन्धने" (१०.१८८) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि जाल बन्धन का कारण होता है [√पश्+णिच्+घञ् > पाश]।[4]

७. सुपतन अर्थात् अच्छीप्रकार व नियमित रूप से पृथिवी की ओर (आ) गमन (आने) के कारण सूर्य की किरणों को **'सुपर्ण'** कहते हैं [सु+√पत्लृ गतौ (१.५८४)+न]। सुपतन अर्थात् सूर्य की किरणें निश्चितरूप से ऐश्वर्यशाली होने से **'सुपर्ण'** कहलाती हैं [सु+√पत ऐश्वर्ये (क्षीर० ४.४८)+न] (द्र० निरु० ३.१२)।

८. 'चक्षु' शब्द "ख्या प्रकथने" (२.५३) धातु से निष्पन्न होता है, चक्षु (नेत्र) इन्द्रियों में अत्यन्त उपयोगी होने से प्रख्यात है, इसलिए **'चक्षु'** कहलाता है [√ख्या+उसि[5]

---

१. आतश्चोपसर्गे (अष्टा०३.३.१०६)।
२. निधया = तन्तिना इव अज्ञानेन (वेंकटः, ऋ०१०.७३.११)।
३. पाशादिभ्यो यः (अष्टा०४.२.४८)।
४. पाशान् (ऋ०१.२४.१३) = बन्धनरज्जुविशेषान् (सायणः), अधर्माचरणजन्यबन्धान् (दया०)।
५. चक्षेः शिच्च (उणा०२.१२१)।

९. पूर्धि पूर्धि पूरय, देहीति वा। (४.३)

१०. पार्श्वम्* पार्श्वं पर्शुमयम् अङ्गं भवति। (४.३)

११. पर्शुः पर्शुः स्पृशतेः– संस्पृष्टा पृष्ठदेशम्। (४.३)

> चक्षिङ्[१]+उस् > चक्ष्+उस् > चक्षुस्]। ''चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि'' (२.७)[२] धातु से भी 'चक्षु' शब्द सिद्ध होता है, जिससे रूप का प्रत्यक्ष होता है, उसे **'चक्षु'** कहते हैं [√चक्ष्+उसि[३] > चक्षुस्[४]]।[५]

९. **पूर्धि** का अर्थ 'पूरय' (पूर्ण करो) है अथवा 'प्रदान करो' है [√पॄ पालनपूरणयोः (३.४)+शप्+हि (लोटि) > पृ+धि[६] > पूर्धि]।

१०. पार्श्व पर्शुमय अर्थात् पर्शु (पसली) बाहुल्य का अंग होता है, इसीलिए **'पार्श्व'** कहलाता है [पर्शु+अण् (मयडर्थे, प्राचुर्यार्थे वा) > पार्श्व]।[७]

११. **'पर्शु'** शब्द ''स्पृश संस्पर्शने'' (६.१३१) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि यह पृष्ठदेश (पीठ) से मिला हुआ होता है [√स्पृश+शुन्[७] > पृ+शु > पर्+शु > पर्शु]।[८]

---

१. चक्षिङः ख्याञ् (अष्टा०२.४.५४) से चक्षिङ् धातु के स्थान पर ख्याञ् आदेश होता है, पर यहाँ यास्काचार्य ख्याञ् धातु के स्थान पर 'चक्षिङ्' आदेश कर 'चक्षु' शब्द को सिद्ध कर रहें हैं।

२. चष्टे (चक्षिङ् धातुः) इति पश्यतिकर्मा (निरु०समु०२.३७)।

३. चक्षेः शिच्च (उणा०२.१२१)।

४. उसिप्रत्यय के शित् होने से सार्वधातुक है, आर्धधातुक न होने से ख्याञादेश नहीं हुआ।

५. चक्षुः = ख्यानम् (निरु०१२.१६)। चक्षुषे = चष्टे पश्यति येन, तस्मै (दया०,यजु०२२.२३)। चक्षुषः = न्यायदर्शकस्य [उपदेशकस्य] (दया०, यजु०१७.२५)। चक्षोः = ज्योतिःस्वरूपात् [ब्रह्मणः] (दया०, यजु०३१.१२)।

६. बहुलं छन्दसि (अष्टा०२.४.७३) इति शपो लुक्। श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि (अष्टा० ६.४.१०२) इति हेर्धिभावः।

७. स्पृशेः श्वण्शुनौ पृ च (उणा०५.२७)– √स्पृश्+श्वण् > पृ+श्व > पार्+श्व > पार्श्व। स्पृशति येन सः पार्श्वः, कक्षयोरधोभागो वा; पर्शुः आयुधं वा (दया०, तत्रैव)।

८. पर्शुः = मृगी (वेंकटः, ऋ०१०.८६.२३)। पर्शवः = कूपपर्शवः (निरु०४.६), इष्टका वा इह पर्शव उच्यन्ते। ताः हि कूपस्य पर्शुस्थानीयाः। इमाः कूपभित्तय इष्टका वेत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ०१.१०५.८)। परान् अन्यान् श्रृणन्ति हिंसन्ति ते पर्शवः पार्श्वस्था मनुष्यादयः प्राणिनः (दया०, ऋ०१.१०५.८)। आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च (उणा०१.३३)। परान् शत्रून् श्रृणाति हिनस्ति येन स *'परशुः'*, शस्त्रभेदः कुठारो वा। पृषोदरादित्वात् (अष्टा० ६.३.१०८)

१२. पृष्ठम् पृष्ठं स्पृशतेः– संस्पृष्टमङ्गैः। (४.३)

१३. अङ्गम् अङ्गम् अङ्गनाद्, अञ्चनाद्वा। (४.३) [तु० ५.१७]

१४. श्रोणिः श्रोणिः श्रोणतेः गतिचलाकर्मणः, श्रोणिश्चलतीव गच्छतः। (४.३)

---

१२. **'पृष्ठ'** शब्द ''स्पृश संस्पर्शने'' (६.१३१) धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि यह अन्य अङ्गों के साथ संयुक्त रहता है[१] [√स्पृश्+थक्[२] > पृश्+थ > पृष्ठ]।[३]

१३. **'अङ्ग'** शब्द ''अगि गत्यर्थः'' (१.८८) धातु से व्युत्पन्न होता है, क्योंकि ये गति करते हैं [√अगि > अङ्ग्+अन् > अङ्ग]। ''अञ्चु गतौ याचने अव्यक्ते शब्दे'' (१.६०२) धातु से भी **'अङ्ग'** शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि इनसे गतिपूर्वक कर्म किये जाते हैं और विषय व फल प्राप्त किया जाता है [√अञ्चु+अन् > अङ्ग्+अ > अङ्ग]।[४]

१४. **'श्रोणि'** शब्द गतिपूर्वक चलनार्थक[५] (एक की गति से दूसरे में गति होना या आगे बढ़ना अर्थ वाले) ''श्रोणृ'' धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि चलते हुए प्राणी की श्रोणियाँ (जघन, नितम्ब) चलती हुई के समान दीखती हैं [√श्रोणृ+इन्[६]

अकारलोपे पूर्वार्थ एव *'पर्शुः'* अपि दृश्यते (दया०, तत्रैव) [पर+√शॄ हिंसायाम् (९.१७)+कु > पर्+श्+उ > पर्शु]।

१. पृष्ठम् = पृष्ठभागे तिष्ठन्तमादित्यम् (सायणः, ऋ०९.६९.५)। पश्चाद् भागम् (दया०, ऋ० १.११५.३); उपरिभागम् (दया०, ऋ०१.१६६.५); आधारम् (दया०, ऋ०२.१३.४); परभागम् (दया०, ऋ०३.२.१२); प्रच्छनीयम् [=प्रष्टव्यम्] (दया०, ऋ० ४.५.६) [प्रच्छ्+थक् > पृष्ठम्]।

२. तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः (उणा०२.१२)।

३. पर्षति सिञ्चति यो येन वा तत् पृष्ठम्, शरीरस्य पश्चाद्भागः स्तोत्रं वा (दया०, उणा० २.१२) [√पृषु सेचने सहने च (१.४६८)+थक् > पृष्ठ]। पृष्ठम् = ज्ञीप्सितम् [स्वः = सुखम्] (दया०, यजु०१७.६५)। पृष्ठे = ज्ञीप्सिते [लोके] (दया०, यजु०१५.५०) [√प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (६.१२२)+थक् > पृष्ठ]। पृष्ठम् = परभागम् [नाकम् = मोक्षसुखम्] (दया०, ऋ० ३.२.१२)। ज्ञातुमिच्छा (दया०, यजु०१८.२९)। प्रश्नं शिष्टं च (दया०, ऋ०२२.३३)। प्रच्छनीयम् [धनम्] (दया०, ऋ०४.५.६)।

४. अमति गच्छति प्राप्नोति कर्माणि विषयान् वा येन तद् अङ्गम्, गात्रम्, उपायः, प्रतीकम्, अप्रधानम् देशविशेषो वा (दया०, उणा०१.१२३) [√अम्+गन् > अङ्ग]। अङ्ग = योऽ – ङ्गति जानाति तत्सम्बुद्धौ [हे राजन्] (दया०, यजु०१०.३२) [√अगि+अन् > अङ्ग]।

५. पाणिनीय धातुपाठ में तो श्रोणृधातु संघातार्थ में पठित है– √श्रोणृ संघाते (१.३०७)।

६. सर्वधातुभ्य इन् (उणा०४.११९)।

१५. शिताम* दोः शिताम भवति। योनिः शितामेति शाकपूणिः—विषितो भवति। श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः। शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः। (४.३)

१६. दोः दोर्द्रवतेः। (४.३)

> श्रोण्+इ > श्रोणि]।[१]

१५. **'शिताम'** शब्द 'दोः' (बाहु) का वाचक होता है, क्योंकि इसी पर सभी कार्य आश्रित रहते हैं [श्रित+म > शित+म > शिताम]।[२] शाकपूणि आचार्य के मतानुसार **'शिताम'** शब्द योनि[३] (=गुदा) का वाचक है, क्योंकि वह गुदेन्द्रिय मल से युक्त[४] होता है [विषित > सित+म > शिताम]। तैटीकि आचार्य के मत में श्याम होने के कारण **'शिताम'** यकृत का वाचक है [श्याम > शिताम]। गालवाचार्य के अनुसार 'शितिमांस' (श्वेतमांस, चर्बी) होने के कारण 'शिताम' शब्द मेद का वाचक है। क्योंकि अधिक चर्बी घातक होने से वह पिघलाने (तनूकरण) के योग्य होती है, अत एव वह शितिमांस **'शिताम'** कहलाता है [शितिमांस > शिताम]।[५]

१६. 'दोस्' शब्द ''द्रु गतौ'' (१.६७७) धातु से निष्पन्न होता है। गतिशील, सक्रिय होने से बाहु **'दोस्'** कहलाती है [√द्रु+डोसि[६] > द्र+ओस् > द्+ओस् > दोस्]।[७]

---

१. वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् (उणा०४.५२) इत्यनेन श्रुधातोर्निः प्रत्ययः। श्रृणोतीति श्रोणिः कटिप्रदेशो वा (दया०, तत्रैव)। [√श्रु श्रवणे (१.६७५)+नि > श्रोणिः]।
२. श्रितशब्दस्य रेफलोपोऽतो दीर्घत्वं मशब्दश्चोपजनः। अङ्गे श्रितत्वाद् दोः शिताम। सितशब्दस्य वा सकारस्य शकारः (देव०, नि० नि०४.१.३)।
३. योनिरनवदानीया एव। योनिसमानदेशस्तु गुदो नामावदानमस्ति। स योनिशब्देनोच्यते (दुर्गः,निरु०४.३)। योनिगुर्दम् (देव०, नि०नि०४.१.३)। पुरुषपशोर्योनेरभावाद् योनिशब्दस्य गुदार्थे लक्षणा (लेखकः)।
४. विषितः=विविधं सितो बद्धो भवति, पुरीषोत्सर्गवेलायां विकसति, सङ्कोचति (देव०, नि० नि०४.१.३)।
५. शितामतः= शितस्तीक्ष्ण आमोऽपरिपक्वं यस्मिन् [सः शितामः], तस्मात् [अङ्गाद् अङ्गात् = प्रत्यङ्गात्] (दया०, यजु०२१.४३) [शित+आम (बहुव्रीहिः) > शिताम]।
६. दमेर्डोसिः (उणा०२.७०) इति बाहुलकात् द्रुधातोरपि डोसिः, रेफस्य च लोपः।
७. दोः = भुजस्य बलम् (दया०, ऋ०५.६१.५)।

१७. श्यामम् श्यामं श्यायतेः। (४.३)

१८. यकृत् यकृद् यथा कथा च कृत्यते। (४.३)

१९. शितिः शितिः श्यतेः। (४.३)

२०. मांसम् मांसं माननं वा, मानसं वा, मनोऽस्मिन् सीदतीति वा। (४.३)

---

१७. **'श्याम'** शब्द ''श्यैङ् गतौ'' (१.६९०) धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि श्याम वर्ण अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक व्याप्त है [√श्यै+मक्[१] > श्या+म > श्याम]।

१८. यकृद् जिस किसी भी प्रकार से अर्थात् सरलतया[२] काटा जाता है, इसलिये वह **'यकृत्'** (जिगर, कलेजा) कहलाता है [यथाकथा+√कृती छेदने (६.१४४) +क्विप् > य+कृत् > यकृत्]।

१९. 'शिति' शब्द ''शो तनूकरणे'' (४.३६) [अथवा श्यति के समानार्थक ''शिञ् निशाने'' (५.३)] धातु से निष्पन्न होता है, जो छीलने, काटने वा पिघलाने योग्य होता है, वह 'शिति' कहलाता है, यह श्वेतवर्ण का भी वाचक है [√शो+क्तिच् > शा+ति > शिति / √शिञ्+क्तिच् > शिति]।

२०. 'मांस' मा-अनन होता है अर्थात् मांसभक्षण से अनन (=दीर्घ जीवन, दीर्घ श्वास) मा=नहीं होता, अल्पायु होता है, इसीलिए वह **'मांस'** कहलाता है [मा+√अन प्राणने (२.६३)+स[३] > मान्+स > मांस]। अथवा मांस संमानन का कारण होता है अर्थात् मांसल (हृष्ट-पुष्ट) व्यक्ति व प्राणी आद्रित होता है, अत एव मानन हेतु को **'मांस'** कहते हैं [√मान पूजायाम् (१.६९९)+स[३] > मान्+स > मांस]।[४] मानसिक पाप को उत्पन्न करने वाला होने से भी **'मांस'** नाम है अथवा मांसाहारी प्राणियों को मानसिक सन्तुष्टि को प्रदान करने वाला होने से **'मांस'** नाम है [मनसि भवं मानसम्। मानस > मान्स > मांस]। मांसाहारी प्राणियों का मन इसमें प्रसन्न

---

१. इषुयुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् (उणा०१.१४५)।
२. यथा कथा=येन केन प्रकारेण अर्थात् बड़ी कठिनाई से काटे जाने के कारण 'यकृत्' नाम है, ऐसा भी अर्थ यहाँ सम्भव है।
३. मनेदीर्घश्च (उणा०३.६४) इति बाहुलकात् अन्धातोः, मान्धातोश्च सप्रत्ययः।
४. मन्यते ज्ञायतेऽनेन तत् मांसम्, शरीरोपचयो वा (दया०, उणा० ३.६४) [मन्+स > मांसम्]।

२१. मेदस् मेदो मेद्यतेः। (४.३)

[खण्डम् – ४]

२२. चित्रम् चित्रं चायनीयम्। (४.४; १२.६, १६)

२३. मेहना* (मेहना) मंहनीयम्। मे इह नास्तीति वा, त्रीणि मध्यमानि पदानि। (४.४)

होता है, इसलिये भी इसका नाम **'मांस'** है अथवा मांसल अर्थात् हृष्ट-पुष्ट शरीर के प्रति सबका मन (सीदति) आकर्षित होता है, और वहीं केन्द्रित होता है, अत एव उसका नाम **'मांस'** है [मनस्+√सद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (१.५९३; ६.१३६)+ड > मनस्+स्+अ > म न् अ+स > म अन्+स > मान्+स > मांस]।

२१. **'मेदस्'** शब्द ''जिमिदा स्नेहने'' (४.१२९) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि यह स्निग्ध (चिकना) होता है [√मिद्+असुन्[1] > मेदस्]।

२२. **'चित्र'** चायनीय (पूजनीय) को कहते हैं [√चायृ पूजानिशामनयोः (१.६२०)+क्त्र[2] > चि+त्र > चित्र] अथवा चित्र चायनीय अर्थात् चयन करने योग्य (उत्कृष्ट) होता है, अत एव **'चित्र'** कहलाता है [√चिञ् चयने (५.५)+क्त्रः[2] > चित्र]।

२३. **'मेहना'** मंहनीय (पूजनीय) होता है [मंहते दानकर्मा (निघं० ३.२०.१०)/ √महि वृद्धौ (१.४२२)+ल्युट्+सु > मंह्+अन+आ[3] > मंहना > मेहना]।[4] 'मेरा (मंहनीय धन) यहाँ नहीं है' इस अर्थ में भी **'मेहना'** शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत 'मे, इह, न' ये तीन पद सम्मिलित हैं [√मे+इह+न > मे+ह+न > मेहना[5]]।

---

१. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा०४.१९०)।
२. अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः (उणा०४.१६५) इति बाहुलकात् चायतेरपि क्त्रः प्रत्ययः, धातोश्च चिरादेशः।
३. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडा० (अष्टा०७.१.३९)। धनादिसेचकाः राजजनाः। अत्राकारादेशः (दया०, यजु०३३.५०)।
४. मेहना=मेहनानि सेचमानानि (वेंकट०, ऋ० ८.४.२१) [√मिह सेचने (१.७१८)+ल्युट्+आ > मेहना]। द्र० सायणः, ऋ०८.६३.१२; दया०, ऋ०२.२४.१०।
५. अन्येषामपि दृश्यते (अष्टा०६.३.१३६) इति दीर्घः।

२४. त्वादातम् त्वादातं त्वया नः तद् दातव्यम्। (४.४)

२५. अद्रिः* अद्रिः आदृणाति एनेन, अपि वा अत्तेः स्यात्। (४.४; ९.९)

२६. राधस् * राध इति धननाम (निघं०२.१०.१७) – राध्नुवन्त्यनेन। (४.४)

---

२४. 'तुम्हारे द्वारा देने योग्य' इस अर्थ में **'त्वादातम्'** पद प्रयुक्त होता है [त्वया (युष्मद्)+दातव्यम् > त्वा+दातम् > त्वादातम् / त्वया+√डुदाञ् दाने (३.९) +अतच्[1] > त्वा+दात > त्वादात]।[2]

२५. जिस (वज्रादि) से शत्रुओं को मारा जाता है, वह **'अद्रि'** कहलाता है [आङ्+√दृ विदारणे (९.२२)+इन्[3] > अद्रि]। ''अद भक्षणे'' (२.१) धातु से भी **'अद्रि'** शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह शत्रुओं को खा जाता है (मार देता है) [√अद्+क्रिन्[4] > अद्+रि > अद्रि]।[5]

२६. 'राधस्' यह धन का वाचक, धन के द्वारा धर्मादि पुरुषार्थ सिद्ध किये जाते हैं, इसीलिए धन को **'राधस्'** कहते हैं [राध्नुवन्ति सम्यङ् निर्वर्तयन्ति सुखानि येभ्यः साधनेभ्यस्तानि धनानि (दया०, यजु० ३.१३)। √राध संसिद्धौ+असुन्[6] > राध्+अस् > राधस्]।[7]

---

१. भृमृदृशियजि...अतच् (उणा०३.११०) इति बाहुलकाद् ददातेरपि अतच्।
२. त्वादातम्=त्वया शोधितं तेन सूर्येण वा [राधः=द्रव्यम्] (दया०, ऋ०१.१०.७) [त्वया+√दैप् शोधने (१.६५८)+क्त]। त्वया गृहीतं यशः [आरोग्यप्रदमुदकमन्नं धनं वा] (दया०, ऋ०३.४०.६) [त्वया+आङ्+√डुदाञ् दाने (३.९)+क्त > त्वादातम् – अच उपसर्गत्तः' (अष्टा०७.४.४७) इति तकाराभावश्छान्दसः]।
३. सर्वधातुभ्य इन् (उणा०४.११९)।
४. अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उणा०४.६६)।
५. अद्रिः मेघनाम (निघं०१.१०.१); अद्रयः = अदरणीयाः (निरु०९.९)। अद्रिम् = अद्रिरादृणात्यमित्रान् (वेंकट०, ऋ०१.७३.६); अत्तारम् (वेंकटः, ऋ०१.७१.२)। अद्रिवः= अथापि ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति (निरु०२.५) इत्यनेन पर्वतविकारो वज्रोऽप्यद्रिरुच्यते, आदरणाद्वा मेघानामसुराणां च (स्कन्दः, ऋ०१.१०.७)। योऽत्ति, अदन्ति यत्रेति वा स अद्रिः, पर्वतो मेघो वृक्षः सूर्यो वा (दया०, उणा०४.६६)। अद्री = यौ न द्रवतो विनश्यतः कदाचित् तौ [इन्द्राग्नी = विद्युद्भौतिकाग्नी] (दया०, ऋ०१.१०९.३)। मेघविद्युतौ (दया०, ऋ० ७.४२.१)। आनन्दितौ पत्नीयजमानौ (दया०, ऋ० ७.३९.१)।
६. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा०४.१९०)।
७. राधसा=धनेन (निरु०११.२४)। राधसे = राध्नुवन्ति संसेधयन्ति सुखानि येन, तस्मै धनाय (दया०, ऋ०१.१७.७)।

२७. उभौ उभौ समुब्धौ भवतः। (४.४)

२८. दमूनाः* दमूना दममना वा, दानमना वा, दान्तमना वा। अपि वा दम इति गृहनाम, तन्मनाः स्यात्। (४.४)

२९. मनस् मनो मनोतेः। (४.४)

---

२७. जो सम्यक्तया पूर्ण होते हैं, उन्हें **'उभौ'** कहते हैं [√उभ पूरणे (६.३२)+अच् > उभ]।

२८. 'दमूना' का अर्थ 'दममना' होता है अर्थात् दमम् अक्रूरं दयायुक्तं मनो यस्य = दयागुणयुक्त मन वाला **'दमूना'** कहलाता है अथवा दमे शत्रुदमने मनो यस्य = अन्तः व बाह्य शत्रुओं को नाश करने में जिसका मन लगता है, वह **'दमूना'** कहलाता है [दम + मनस् > द + मूनस् > दमूनस्]। दाने मनो यस्य = विद्यादि के दान में जिसका मन प्रवृत्त होता है, वह **'दमूना'** कहलाता है [दान + मनस् > द + मूनस् > दमूनस्]। दान्तेषु जितेन्द्रियेषु दमनानुकूलविषयेषु वा मनो यस्य = जितेन्द्रियों में या जितेन्द्रियता के विषयों में जिसका मन लगता है, वह भी **'दमूना'** कहलाता है [दान्त + मनस् > द + मूनस् > दमूनस्]। अथवा 'दम' का अर्थ 'गृह' भी है, अतः दमे गृहे गृहस्थजीवने मनो यस्य[1] = गृह में या गृहस्थ जीवन में जिसका मन उत्साहित होता है, वह भी **'दमूना'** कहलाता है [दम + मनस् > द + मूनस् > दमूनस्]।[2]

२९. **मनस्** शब्द ''मनु अवबोधने'' (८.९) [√मन ज्ञाने (४.६५) / मनस् उपतापे (११.४)] धातु से निष्पन्न है, क्योंकि इससे ज्ञान की उपलब्धि होती है, मनन-चिन्तन होता है, और संकल्प - विकल्प किये जाते हैं । भोगजन्य दुःख की अनुभूति भी इसी के माध्यम से होती है [√मन्+असुन् > मन्+अस् > मनस् / √मनस्+क्विप् > मनस्]।[3]

---

१. दमे यज्ञगृहे मनो यस्य सोऽग्निः (सायणः, ऋ०१.६८.९-१०)।

२. दमूनसम् = दमनीयम् उपार्ज्यम् । 'दमेरूनसि' (उणा०४.२३६, दशपादी उणा०९.९५) इति ऊनसिप्रत्ययः (सायणः, ऋ०१.१४१.११, अपि च द्र० ऋ०४.११.५) [√दमु उपशमे (४.९३)+ऊनस् > दम्+ऊनस् > दमूनस्]। दमूनाः = दाम्यति येन सः (अग्निः = राजा)। अत्र 'दमेरुनसि' (उणा०४.२३६) इत्युनस् प्रत्ययः, अन्येषामपि इति दीर्घः (दया०, ऋ० १.६०.४)।

३. तु० मनांसि जानताम् (ऋ०१०.१९१.२)।

[खण्डम् – ५]

३०. अतिथिः अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति, अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा, परगृहाणीति वा। (४.५)

३१. दुरोणः* दुरोण इति गृहनाम (निघं०३.४.७) – दुरवा भवन्ति, दुस्तर्पाः। (४.५)

३२,३३. मूषः*, मूषिका मूषो मूषिका इत्यर्थः। मूषिका पुनर्मुष्णातेः। मूषोऽप्येतस्मादेव। (४.५)

---

३०. अतिथि (विद्वान्) गृहस्थों के घरों का अभ्यागत (चारों ओरों से, कहीं से भी, कभी भी निरन्तर पहुँचने वाला) होता है, इसीलिए वह विद्वान् **'अतिथि'** कहाता है [√अत सातत्यगमने (१.३१)+इथिन्[1] > अत्+इथि > अतिथि]। पूर्णिमादि पर्वतिथियों में यज्ञ-यागादि के ऋत्विक् कर्म के लिए दूसरों (यजमानों) के कुलों वा गृहों में नियमतः पहुंचते हैं, अत एव वे **'अतिथि'** कहलाते हैं [अभि+√इण् गतौ (२.३८)+तिथि > अभि+इ+तिथि > अ+तिथि > अतिथि]। (मेहमान वाचक 'अतिथि' शब्द भी इसी प्रकार सिद्ध होता है)।[2]

३१. 'दुरोण' यह घर का नाम है,[3] क्योंकि वे (घर) दुरव = दुस्तर्प होते हैं अर्थात् बड़ी कठिनाई से रक्षा के योग्य और तर्पणीय व पूरणीय होते हैं, कभी पूर्ण ही नहीं होते हैं [दुर्+√अव रक्षणगतिप्रीतितृप्ति० (१.३९६)+न[4] > दुर्+ऊठ्[5]+न > दुर्+ओ+न > दुरोण]।

३२,३३. **'मूष'** शब्द 'मूषिका' अर्थ वाला है। मूषिका शब्द तो ''मुष स्तेये'' (९.६०) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि वह पदार्थों की चोरी करती है [√मुष्+किकन्[6]

---

१. ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्यत्यङ्गि---इथिन्नुल्यसासानुकः (उणा०४.२)।

२. अतति निरन्तरं गच्छति भ्रमतीति 'अतिथिः', अकस्मादागतः सज्जनो वा। न विद्यते नियता तिथिरस्येति व्युत्पत्त्यन्तरम् [न+तिथि (बहुव्रीहिः) > अतिथि]। स्त्रियां 'कृदिकारादक्तिनः' (ग०सू०४.१.४५) इति ङीष् 'अतिथी' स्त्री (दया०, उणा०४.२)। यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिर्भवति (ऐ०आ०१.१.१)।

३. दुरोणे = गृहे (निरु०८.५)।

४. धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उणा०३.६) इति बाहुलकात् अवतेरपि नप्रत्ययः।

५. ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च (अष्टा०६.४.२०)।

६. मुषेर्दीर्घश्च (उणा०२.४३) इति किकन् प्रत्ययः।

[खण्डम् – ६]

३४. त्रितः त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव। अपि वा संख्यानाम एवाभिप्रेतं स्यात्— एकतो द्वितः त्रित इति त्रयो बभूवुः। (४.६; ७.१२; ९.२५)

[खण्डम् – ७]

३५. इषिरेण* ईषणेन वा, एषणेन वा, अर्षणेन वा। (४.७)

> मूष्+इक+टाप् > मूषिका]। मूष् शब्द भी इसी मुष् धातु से निष्पन्न होता है [√मुष्+क्विप् > मूष्; मूट्, मूषौ, मूषः इति रूपम्। यहाँ बहुवचन का निर्देश किया गया है]।

३४. जो मेधा से सर्वाधिक (या एकतः, द्वितः की अपेक्षा से अधिक) आगे बढ़ा हुआ (= मेधावी) है, वह **'त्रित'** कहलाता है [√तॄ प्लवनसन्तरणयोः (१.६९६)+ कितच्[1] > तॄ+इत > त्रित]। अथवा यहाँ संख्या वाचक त्रि शब्द ही अभिप्रेत (अभीष्ट) है, क्योंकि 'एकं तनोतीति एकतः'= जो ऋङ्मन्त्रों के ज्ञान को जानता है, वह 'एकतः' कहाता है, 'द्वौ तनोतीति द्वितः' = जो ऋग्यजुर्मन्त्रों के ज्ञान को विस्तृत करता है, वह 'द्वितः' कहाता है, 'त्रीन् तनोतीति त्रितः'= जो ऋग्यजुःसाम मन्त्रों के ज्ञान का अनुष्ठान करता है, वह **'त्रितः'** कहाता है (जैसे यज्ञों में ब्रह्मा)। इसप्रकार त्रित में तीन प्रकार का मन्त्रज्ञान प्रतिष्ठित है [त्रि+√तनु विस्तारे (८.१)+ड > त्रि+त्+अ > त्रित]।[2]

३५. ईषण अर्थात् गतिशील होने से, ज्ञानादि को प्राप्त करने वाला चिन्तन करने वाला होने से, दुःखकारक होने से व प्रत्येक विषय का वार-वार ग्रहण करने वाला

१. रुचिवचिकुचिकुटिभ्यः कितच् (उणा०४.१८७) इति बाहुलकात् तरतेरपि कितच्।
२. त्रितः = त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रः (निरु०९.२५)। त्रिस्थानो वायुः (दुर्गः, निरु०४.१३)। त्रिशब्दाद् आद्यादित्वात् सप्तम्यास्तसिः। त्रिषु प्रदेशेषु अग्रमध्यमूलेषु अभिनदित्यर्थः (स्कन्दः, ऋ० १.५२.५)। तीर्णतमस्तिरस्कृताज्ञानः (सायणः, ऋ०१.१०५.९)। संप्लावकः [इन्द्रः = विद्युत्], अत्रौणादिकस्तॄधातोः कितच् प्रत्ययः(दया०,ऋ०१.१६३.२); यस्त्रीन् विषयान् विद्याशिक्षा-ब्रह्मचर्याणि तनोति सः [बृहस्पतिः = विद्वान् जनः], अत्र त्र्युपपदात्तनोतेरौणादिको डः प्रत्ययः (दया०, ऋ०१.१०५.१७); यस्त्रीणि शरीरात्मसम्बन्धिसुखानि तनोति सः (दया०, ऋ०२.३४.१४); त्रिषु क्षित्युदकान्तरिक्षेषु वर्धमानः [विद्वान् शिल्पिजनः] (दया०, ऋ०५.४१.४); त्रिभ्योऽध्यापनोपदेशनरक्षणेभ्यः (दया०, ऋ०५.८६.१)। त्रितस्य = तीर्णतमस्कस्य (सायणः, ऋ०२.११.२०); त्रिभिरुत्तममध्यमनिकृष्टोपायैर्युक्तस्य [राजजनस्य] (दया०, ऋ०२.११.२०)। त्रिताय = त्रिविधानां शारीरिकवाचिकमानसानां सुखानां प्राप्तिर्यस्य, तस्मै (दया०, ऋ०२.११.१९)।

३६. वासराणि* वासराणि वेसराणि, विवासनानि, गमनानीति वा। (४.७)

३७. जठरम्* जठरम् उदरं भवति, जग्धमस्मिन्ध्रियते, धीयते वा। (४.७)

होने से मन **'इषिर'** कहलाता है [√ईष गतिहिंसादानेषु (१.४०६) / √ईष उञ्छे (१.४६१) / √इष गतौ (४.१९) / √इष आभीक्ष्ण्ये (९.५६)+किरच्[1] > इष्+इर > इषिर]। एषण अर्थात् कामना युक्त होने से मन **'इषिर'** कहलाता है [√इषु इच्छायाम् (६.६१)+किरच्[1] > इष्+इर > इषिर]।[2] अर्षण अर्थात् सब पदार्थों को देखने व जानने की इच्छा वाला होने से मन **'इषिर'** कहलाता है [√ऋषी गतौ (६.७)+किरच्[1] > ऋष्+इर > इष्+इर > इषिर]।[3]

३६. दिन वाचक **'वासर'** शब्द[4] ''वेसति कान्तिकर्मा'' (निघं०२.६.५) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि दिन सूर्य के प्रकाश से कान्तिमान होता है [√वेस्+अर[5] > वेसर > वासर]।[6] जो विवासन अर्थात् अन्धकार और शीत का निवारण करता है, वह **'वासर'** कहाता है [(वि+)√वास उपसेवायाम् (१०.३०९)+अर > वासर / (वि+) √वस निवासे+णिच्+अर > वास+अर[5] > वासर]। दिन का कालमान नित्य गतिशील होने से भी **'वासर'** कहलाता है [वि+√सृ गतौ (१.६६९)+अप् > वि+सर्+अ > वा+सर > वासर]।[7]

३७. **'जठर'** उदर (पेट) का वाचक है, क्योंकि इस उदर में खाया हुआ अन्न

१. इषिमदिमुदिखिदि...किरच् (उणा०१.५१)।
२. इषिरः = इषिरिच्छा शत्रुवधे, तद्वान् अथवा इष गतावित्यस्य, इषिर्गतिः, तद्वान् (स्कन्दः, ऋ०६.२९.३)।
३. इषिरम् = अन्वेषणीयम् (वेंकट०, ऋ०९.९६.१५)। इच्छन्तीष्टं साध्नुवन्त्यनेनेति 'इषिरः', अग्निर्वा (दया०, उणा०१.५१)। इषिरः = येनेच्छन्ति सः [वातः = वायुः] (दया०,यजु०१८.४१)। इषिरम् = बहुपदार्थप्रापिकाम् [भूमिम्] (दया०, ऋ० ३.३०.९)। इषिर इति क्षिप्र इत्येतत् (शत०ब्रा०९.४.१.१०)।
४. वासरम् अहर्नाम (निघं०१.९.४)।
५. अर्तिकमि...वासिभ्यश्चित् (उणा०३.१३२) इति अरप्रत्ययः।
६. वेसरशब्दस्य चायमेकारस्याकारश्छान्दसः (स्क०म०, निरु०४.७)। वेसराणि = द्विसराणि। शीतोष्णाभ्यां हि द्वाभ्यां तानि सरन्ति। तेषु हि शीतोष्णं भवति। रात्रौ शीतं दिवोष्णम् (दुर्गः; निरु०४.७) [द्वि+√सृ गतौ (१.६६९)+अप् > द्वा+सर > वासर]।
७. सर्तेर्विपूर्वस्य गत्यर्थस्य, वीत्यस्येकारस्याकारः। विविधं सराणि विविधं सृतानि विस्तीर्णानीत्यर्थः (स्क०म०, निरु०४.७) [वि+√सृ+अप् > वासर]। गमनानि = विसृतानि विस्तीर्णानि सन्ति वासराणि (दुर्गः, निरु०४.७)।

[खण्डम् – ८]

३८. मरुत्वान् मरुत्वान् इन्द्रः, मरुद्भिः तद्वान्। (४.८)

३९. वृषभः* वृषभो वर्षिता अपाम्। (४.८; ९.२२)

जाता है, स्थित होता है [जग्ध+√धृङ् अवस्थाने (६.१२१)+अर[१] > ज+ठ+अर > जठर]। जिसमें खाया हुआ अन्न पदार्थ धारित होता है, उसे भी **'जठर'** कहते हैं [जग्ध+√डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०)+अर > ज+ठ+अर > जठर]।[२]

३८. मरुत्वान् इन्द्र का वाचक है। मरुतों के साथ होने से इन्द्र को **'मरुत्वान्'** कहते हैं [मरुत्+मतुप् > मरुत्वत्[३]]।[४]

३९. वृषभ आपः (वीर्य व मूत्ररूपी जल) को सींचने वाला होता है, अत एव उसे **'वृषभ'** कहते हैं [√वृषु सेचने (१.४६८)+अभच्[५] > वृषभ]।[६]

---

१. जनेररष्ठ च (उणा० ५.३८) इति बाहुलकाद् अन्येभ्योऽपि धातुभ्योऽरप्रत्ययः, धातोश्च स्थाने ठश्चादेशः।

२. जग्धमन्नमस्मिंस्तिष्ठतीति जठरमुदरम् [जग्ध+स्था+अर > ज+ठ+अर > जठर] (सायण०, ऋ० ३.४७.१); जठरे=अन्तरिक्षे (सायणः, ऋ० १०.९२.५); द्रोणकलशे (सायणः, ऋ० ९.७२.२)। जायतेऽस्मादिति जठरम्, उदरं कठिनं वा (दया०, उणा० ५.३८) [जन्+अर > जठर]; जठरे=जायन्ते यस्मादुदराद्वा। 'जनेररष्ठ च' (उणा० ५.३८)। अत्र जनधातोररः प्रत्ययो नकस्य ठकारश्च (दया०, ऋ० १.१०४.९); जायते सुखं यस्मात् (दया०, ऋ० ३.४०.५); जातेऽस्मिन् जगति (दया०, ऋ० ३.४२.५); जठरेषु=जायन्ते वृष्टयो येभ्यस्तेषु [मेघेषु] (दया०, ऋ० १.५४.१०)।

३. तसौ मत्वर्थे (अष्टा० १.४.१९) इति भत्वात् पदकार्यं जश्त्वं न भवति।

४. मरुत्वन्तम्=मरुतः सम्बन्धिनो विद्यन्ते यस्य, तम्। अत्र सम्बन्धेऽर्थे मतुप्० (दया०, ऋ० १.२३.७)। मरुत्वान्=मरुतः प्रशस्ता मनुष्या विद्यन्ते यस्य, स (दया०, ऋ० ३.४७.१)। मरुतो बहवो वायवो विद्यन्ते यस्मिन् सः [सूर्यः] (दया०, ऋ० ६.४७.५)। मरुत्वते=मरुतो बहवो मनुष्याः कार्यसाधका विद्यन्ते यस्य, तस्मै [शिल्पिजनाय] (दया०, ऋ० ३.३५.७)। प्रशस्तानि मरुदस्त्राणि विद्यन्ते यत्र, तस्मै [इन्द्राय=रणाय] (दया०, यजु० ७.३८)। मरुत्वन्तम्=प्रशस्ता मरुतो विद्यावन्त ऋत्विजोऽध्यापका विद्यन्ते यस्मिन्, तम् (दया०, ऋ० १.१०१.१)।

५. ऋषिवृषिभ्यां कित् (उणा० ३.१२३)।

६. वृषभः=यो वर्षति सुखानि स [जगदीश्वरः] (दया०, ऋ० १.३१.५)। यो वृष्टान् वृष्टिनिमित्तानि भाति सः [सूर्यः] (दया०, ऋ० १.५४.२) [वृष्ट+√भा दीप्तौ (२.४४)+क > वृष् अ+भ्+अ > वृषभ]। सुखानामभिवर्षकः [यज्ञः शब्दो वा] (दया०, यजु० १७.९१)। मेघशक्तिनिरोधकः [इन्द्रः=सूर्यलोकः] (दया०, ऋ० २.१२.१२)। वृषभम्=सर्वलोकस्तम्भकम् [सूर्यम्] (ऋ० १.१६०.३)। वृषभस्य=यज्ञादिद्वारा वृष्टिकरस्य [विद्वज्जनस्य] (दया०, ऋ० १.१४१.२)।

४०. मधु* मधु सोमम् इत्यौपमिकम्, माद्यतेः। इदमपीतरत् मधु एतस्मादेव। (४.८; १०.३१)

द्वितीयः पादः [खण्डम् – १]

४१. तितउ* तितउ परिपवनं भवति– ततवद्वा, तुन्नवद्वा, तिलमात्र-तुन्नमिति वा। (४.९)

---

४०. मधु शब्द उपमा[१] से 'सोम' का वाचक है, क्योंकि आनन्द व हर्ष के प्रदान में मधु और सोम दोनों समान हैं और यह शब्द ''मदी हर्षे'' (४.९८) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि इससे विजय की प्राप्ति आदि का उत्साह प्राप्त होता है [√मद्+उ[२] > मध्+उ > मधु]।[३] यह जो प्रसिद्ध मधु (शहद व उदक का वाचक) है, वह भी इसी ''मदी हर्षे'' धातु से ही निष्पन्न होता है [पूर्ववत्]।[४]

४१. तितउ शब्द सक्तु आदि खाद्य पदार्थों को सम्यक्तया शोधने वाली चलनी का वाचक होता है, क्योंकि उसमें शोधनीय वस्तु फैल जाती है, इसीलिए वह **'तितउ'** कहलाती है। अथवा चलनी वस्तुओं के शोधन के अनुकूल फैली हुई होती है, अत एव

---

१. सोमरसोऽत्र द्रवत्वसामान्यान्मृष्टत्वसामान्याच्च मधूच्यते (स्कन्दः, ऋ० १.१४.१०, १.१९.९)।

२. फलिपाटिनमिमनिजनां...धतश्च (उणा० १.१८) इति बाहुलकाद् मदेरपि उप्रत्ययः।

३. मन्यन्ते विशेषेण जानन्ति यस्मिन् स मधुः, चैत्रो मासः। मधूको मद्यं क्षौद्रं पुष्परसो वा (दया०, उणा० १.१८)। मधु=मन्धातोरयं प्रयोगः (दया०, ऋ० १.११७.२२)। मन्यन्ते प्राप्नुवन्ति सुखानि येन, तत् मधुरसुखकारकम् [रसम्] (दया०, ऋ० १.१९.९)।

४. मधु उदकनाम (निघं० १.१२.११)। देवानां मधु यद् घृतम् (मै० सं० ३.९.३, द्र० दुर्गः, नि० ८.१८)। एतद्वै मधु दैव्यं यदाज्यम् (ऐ० ब्रा० २.२; द्र० सायणः, ऋ० ३.८.१)। मधु उदकनाम (निघं० १.१२.११), अत्रैव देवराजयज्वा द्रष्टव्यः। मधु=वृष्टिलक्षणमुदकम् (स्कन्दः, ऋ० ६.७०.५)। मधुशब्दो रसविशेषवचनः अन्तर्णीतमत्वर्थश्च। सामर्थ्याच्चेहोदके वर्तते (स्कन्दः, ऋ० १.९०.६)। मधु=क्षीरं घृतं च (दुर्गः, निरु० १२.४)। मधुत्वेन चात्र सर्वत्र तद्गतप्रीतिकरत्वं लक्ष्यते। प्रीतिकरी रात्रिरस्माकं भवत्वित्यर्थः (स्कन्दः, ऋ० १.९०.७, अपि च द्र० उवटः, ऋ० १०.२४.६)। मध्वाख्यं परं ब्रह्म (वेंकटः, ऋ० १.११७.२२)। मधुशब्देन सर्वैः सेव्यमान आदित्य उच्यते (सायणः, ऋ० १०.५४.६)। मधुरं ज्ञानम् (दया०, ऋ० १.९०.६)।

[खण्डम् – २]

४२. सक्तुः सक्तुः सचतेः – दुर्धावो भवति, कसतेर्वा स्याद् विपरीतस्य– विकसितो भवति। (४.१०)

४३. धीराः* धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तः। (४.१०; ३.१२)

'तितउ' कहलाती है। अथवा फैले हुए चर्म से बन्धी हुई होती है, इसलिए भी चलनी का नाम **'तितउ'** है [√तनु विस्तारे (८.१)+क्त > तत+मतुप् > तत+वत् > तत+व > तत+उ > तितउ]।[1] चलनी तुन्न (छिद्रों) वाली होती है, अत एव **'तितउ'** कहलाती है [√तुद व्यथने (६.१)+क्त+मतुप् > तुद्+त+वत् > तु+त+व > तितउ]। तिल के बराबर सूक्ष्म (तुन्न) छिद्र वाली चलनी को भी 'तितउ' कहते हैं [तिल+√तुद्+क्त+मतुप् > ति+त+व > तितउ]।

४२. **'सक्तु'** शब्द "षच सेचने सेवने च"(१.९७) / "षच समवाये" (१.७२३) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि यह भूसी आदि से युक्त होने से दुर्धाव अर्थात् बड़ी कठिनाई से शुद्ध होता है, शुद्ध होने के पश्चात् ही जलमिश्रण (जल के साथ सम्बद्ध) के योग्य होता है और सेवनीय होता है। अथवा जलमिश्रण से समवेत अर्थात् पिण्डरूप में एकत्रित होने वाला होने से **'सक्तु'** नाम है [√षच्+तुन्[2] > सक्तु]। "कस गतौ" (१.५९९) धातु के वर्णों के आद्यन्तविपर्यय से भी सक्तु शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह धान्यों को पीसने पर विकसित (अधिक परिमाणवाला) होता है, अथवा धान्यों को भून कर चूर्ण करने के कारण सत्तु में सुगन्ध विकसित (प्रादुर्भूत, उत्पन्न) होता है, इसलिए भी उसे **'सक्तु'** कहते हैं [√कस्+तुन्[2] > सक्+तु > सक्तु]।

४३. 'धीराः' का अर्थ प्रज्ञावान् और ध्यानवान् होता है अर्थात् प्रज्ञा और ध्यान वाचक 'धी' शब्द से मत्वर्थ रप्रत्यय होकर **'धीर'** शब्द सिद्ध होता है [धी+र > धीर]।[3]

---

१. व्याकरण की प्रक्रिया में व्युत्पत्ति इस प्रकार है— 'तनोतेर्डउ सन्वच्च' (उणा०५.५२)— तन्+डउ > तितन्+अउ > तित्+अउ > तितउ। 'तनोति विस्तृणोति येन तत् तितउः, चालनी पेषणशोधकपात्रम् (दयानन्दस्तत्रैव)।

२. सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन् (उणा०१.६९)

३. धीरः मेधाविनाम (निघं०३.१५.४)। धीरः— दधातेः 'सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन्' (उणा०२.२५) इति क्रन् प्रत्ययः। 'घूमास्था'०(अष्टा०६.४.६६) इतीत्वम्। धत्ते श्रुतमर्थम्, ददाति [धारयति] वा विद्याः शिष्येभ्यः। यद्वा धीः प्रज्ञा कर्म वा, रो मत्वर्थीयः। 'धियम् ईरयति' [इति धीरः] (अ०उ०२.७.५) इति क्षीरस्वामी (देव०,नि०नि०३.१५.४)।

४४. भद्रम् भद्रं भगेन व्याख्यातम् (१.७; ३.१६)– भजनीयं, भूतानाम् अभिद्रवणीयम्, भवद् रमयतीति वा, भाजनवद्वा। (४.१०; ११.१९)

४५. लक्ष्मीः लक्ष्मीर्लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लप्स्यनाद्वा, लाञ्छनाद्वा, लषतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः, लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणः। लज्जतेर्वा स्याद-श्लाघाकर्मणः। (४.१०)

---

४४. **'भद्र'** शब्द भगशब्द से ही व्याख्यात हो जाता है अर्थात् दोनों ही शब्द "भज सेवायाम्" (१.७२४) धातु से निष्पन्न हैं, क्योंकि यह (भद्र) भी सेवनीय होता है [√भज्+रन्[1] > भद्+र > भद्र]।[2] भूतों (प्राणियों) के द्वारा प्राप्त करने योग्य होने से भी कल्याण का नाम **'भद्र'** है [भवतीति भू, ततो डः– भम्, भानि=भूतानि, भानाम्= भूतानाम् अभिद्रवणीयम् अभिलक्ष्य प्रापणीयम् इति भद्रम्।[3] भ+द्रु+ड > भ+द्र्+अ > भद्र]। जिसके होते हुए मनुष्य आनन्दित होता है, वह कल्याणकारक भी **'भद्र'** कहलाता है [भवद्+√रमु क्रीडायाम् (१.५९२)+ड > भद्+र्+अ > भद्र]।[4] सुपात्र व्यक्ति को प्राप्त होने के कारण भी **'भद्र'** नाम है [भाजन+र (मत्वर्थे) > भज्+र > भद्र[5]]।[6]

४५. जिससे सब प्रकार के पदार्थादि प्राप्त होते हैं, उसे **'लक्ष्मी'** कहते हैं [√डुलभष् प्राप्तौ (१.७०२)+मुट्+ई[7] > लभ्+मी > लक्ष्+मी > लक्ष्मी / लभ्+डक्ष्मी > ल्+अक्ष्मी > लक्ष्मी]। धनादि ऐश्वर्य से व्यक्ति को प्रतिष्ठा, सम्मानादि प्राप्त होते हैं और सभी लोग उससे मिलना चाहते हैं, अत एव धनादि का नाम **'लक्ष्मी'** है अथवा सभी लोगों का लक्ष्य (प्राप्तव्य) धन नहीं होता, इसीलिए धन का नाम **'लक्ष्मी'** है।[8]

धीरः= क्षमादिगुणान्वितो ध्यानकृत् (दया०, ऋ०५.२.११)। धीराः = धीमन्तः कर्मवन्तः प्रज्ञावन्तो वा (सायणः, ऋ०१.९१.१)। धीरम् = स्थिरबुद्धिं ब्रह्मचर्ये (दुर्गः, निरु०५.२)।

१. ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रकुब्रचुब्रक्षुरखुरभद्र० (उणा०२.२९)।

२. भद्रम् = भजेर्भः, द्रवतेर्द्रः शब्दः (स्क०म०, निरु०४.१०) [√भज् + √द्रु=भ+द्र=भद्र]।

३. स्क०म०, निरु०४.१०।

४. भवद् उत्पद्यमानं रमयतीति वा, यस्य तद् भवति रमतेऽसौ (स्क०म०, निरु०४.१०)।

५. भाजनं स्थानं भद्रस्य कर्मणः पुरुषास्तद्वत्। भद्रं भाजनशब्दे भाशब्दस्य ह्रस्वत्वम्, जकारस्य दकारः, अनशब्दस्य लोपः, मत्वर्थे रो नामकरणः (स्क०म०, निरु०४.१०)।

६. भद्रे = भन्दनीये, भाजनवति वा (निरु०११.१९)। भद्रम् = भन्दनीयं स्तुत्यम् (दुर्गः, निरु० ४.२५; द्र० ४.११, १९; १२.१७; सायणः, ऋ० १.१३४.४)। भद्रा = भजनीयानि धर्म्याणि कर्माणि (दया० ऋ० १.१६६.१०)।

७. लक्षेर्मुट् च (उणा०३.१६०) इति बाहुलकाद् अन्येभ्योऽपि प्रत्ययागमौ।

८. लक्षणाद्वा, न हि लक्ष्यते चिन्त्यते सर्वेण (स्क०म०, निरु०४.१०)।

[खण्डम् – ४]

४६. मन्दू* मन्दू मदिष्णू, अपि वा मन्दुना तेनेति स्यात्। (४.१२)

[खण्डम् – ५]

४७. ईर्मान्तासः* ईर्मान्ताः समीरितान्ताः सुसमीरितान्ताः, पृथ्वन्ता वा। (४.१३)

[√लक्ष दर्शनाङ्कनयोः (१०.५)+मुट्+ई > लक्ष्+मी > लक्ष्मी]। मनुष्य के लिए यह अभिलषित होती है, अत एव इसका नाम **'लक्ष्मी'** है [लप्+मुट् ई / डक्ष्मी > लक्ष्मी]। धनवान् व्यक्ति को धनवान्, दानी आदि के रूप में पहचान व सम्मान प्राप्त होता है, इसलिए धन का नाम **'लक्ष्मी'** है [√लाछि लक्षणे (१.१२२)+मुट् ई > लक्ष्+मी > लक्ष्मी]। प्रेप्सार्थक लष्धातु से भी **'लक्ष्मी'** शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि इसे सभी लोग प्राप्त करना चाहते हैं [√लष कान्तौ (१.६२८)+मुट् ई > लक्ष्+मी > लक्ष्मी]। आश्लेषार्थक लग् धातु से भी **'लक्ष्मी'** शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि सभी लोग इसका आलिङ्गन (प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार) करते हैं अथवा मरणासन्न व्यक्ति भी इससे चिपका रहना चाहता है, इसीलिए इसका नाम **'लक्ष्मी'** है [√लग आस्वादने (१०.१८७)+मुट् ई > लक्ष्+मी > लक्ष्मी]। अश्लाघार्थक लस्ज् धातु से भी **'लक्ष्मी'** शब्द की निष्पत्ति अभीष्ट है, क्योंकि धनवान् व्यक्ति केवल धन की चिन्ता करता है, अपनी नहीं अथवा धनवान् अपनी श्लाघा (प्रशंसा) स्वयं नहीं करता है [√लस्जी व्रीडायाम् (६.१०)+मुट् ई > लक्ष्+मी > लक्ष्मी]।

४६. **'मन्दू'** का अर्थ है— 'मदिष्णू' अर्थात् दोनों अत्यन्त व नित्य हर्षशील हैं अथवा आनन्द का प्रदाता हैं [यह प्रथमाद्विवचन का रूप है, √मदि स्तुतिमोद-मदस्वप्नकान्तिगतिषु (१.१२)+उ[1] > मन्द्+उ > मन्दु]। अथवा उस मदयुक्त (प्रसन्नता) के साथ अर्थ में **'मन्दू'** शब्द प्रयुक्त है [यह तृतीयैकवचन का रूप है।[2] मदि+उ > मन्दू]।[3]

४७. ईर्मान्तासः (ईर्मान्ताः) का अर्थ समीरितान्त, सुसमीरितान्त होता है = भलीभान्ति प्रेरित (प्रेषित) अन्तवाली अर्थात् लम्बी-लम्बी सूर्य की किरणें **'ईर्मान्त'**

१. भृमृशीङ्तॄचरि॰(उणा॰१.७) इति बाहुलकाद् मन्दतेरपि उप्रत्ययः।
२. सुपां सुलुक्॰(अष्टा॰७.१.३९) इति पूर्वसवर्णः।
३. मदेर्वा उप्रत्ययो नुम् च(देव॰,नि॰नि॰४.१.१३)। मन्दू=आनन्दितावानन्दकारकौ [वायुसूर्यौ]

४८. सिलिकमध्यमासः सिलिकमध्यमाः संसृतमध्यमाः, शीर्षमध्यमा वा, अपि वा शिर आदित्यो भवति— मध्ये चैषां तिष्ठति। (४.१३)

४९. शिरस् शिर आदित्यो भवति— यदनुशेते सर्वाणि भूतानि। इदमपी-तरच्छिर एतस्मादेव— समाश्रितान्येतदिन्द्रियाणि भवन्ति। (४.१३)

कहलाती हैं [√ईर क्षेपे (१०.२३४)+मक्[1] > ईर्+म > ईर्म+अन्त > ईर्मान्त]। पृथु अर्थात् विस्तृत (फैलाव के साथ) अन्तवाली किरणों को भी **'ईर्मान्त'** कहाजाता है [√ईर गतौ कम्पने च (२.८)+मक्[1]+ईर्+म > ईर्म+अन्त > ईर्मान्त]।[2]

४८. सिलिकमध्यमासः, सिलिकमध्यमाः का एक अर्थ है— संसृतमध्यम अर्थात् जिन (सूर्यकिरणों) का मध्यभाग सम्यक्तया संस्कृत (मिले हुए) हैं, उन्हें **'सिलिकमध्यम'** कहते हैं [संसृत+मध्यम > सिलिक+मध्यम > सिलिकमध्यम]। दूसरा अर्थ यह भी है कि 'शीर्षमध्यम' अर्थात् शीर्षस्थानीय (प्रमुख) है मध्यमभाग जिनका, उन्हें भी **'सिलिकमध्यम'** कहते हैं [शीर्ष+मध्यम > सिलिक+मध्यम > सिलिकमध्यम]। शिर आदित्य को कहते हैं और वह किरणों के मध्य में स्थित होता है अर्थात् आदित्य (शिर) की किरणें चारों ओर से निकलती हैं, इसलिए भी **'सिलिकमध्यम'** नाम है [शिर+मध्यम > सिलिक+मध्यम > सिलिकमध्यम]।[3]

४९. **'शिरस्'** का अर्थ 'आदित्य' होता है, क्योंकि सभी प्राणी आदि भूत आदित्य पर आश्रित होते हैं व उसका सेवन करते हैं [√शीङ् स्वप्ने (२.२५)/ √श्रिञ् सेवायाम् (१.६३८)+असुन्[4] > शिर+अस् > शिरस्]। यह जो प्राण्यङ्गवाची 'शिरस्'

(दया॰, ऋ॰१.६.७)।
१. इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् (उणा॰१.१४५) इति बाहुलकाद् ईर्तेरपि मक्।
२. ईर्ते गच्छति कम्पते वा तत् ईर्म, व्रणं वा (दया॰, उणा॰१.१४५)। ईर्म इति बाहुनाम (निघं॰ ४.१.१४); समीरिततरो भवति (निरु॰५.२५)। अर्तेः ईर्मा इति रूपम् [ऋ+मक् > ईर्मा] (सायणः, ऋ॰५.७३.३)। √ईर प्रेरणे (१०.२३४), अर्तिस्तुसुहु॰(उणा॰१.१४०) इति मन्प्रत्ययः... तेषां(= अश्वानां) ये अन्तास्ते ईरिताः प्रेरिता विरला इत्यर्थः, अथवा अश्वस्य अन्तो जघनं, स येषामीर्मः पृथुरित्यर्थः। अश्वानां पृथवोऽन्ताः, पृथूरस्काः पृथुजघना वेत्यर्थः (दुर्गः, निरु॰४.१३)। ईर्मान्तासः = ईर्मः प्रेरितः स्थितिर्येषान्ते [प्रेरणामनुगन्तारः (अश्वाः)] (दया॰, यजु॰२९.२१)।
३. सिलिकमध्यमासः = सिलिकः संलग्नो मध्यदेशो येषान्ते [अश्वाः] (दया॰, यजु॰२९.२१)। सिलिकानां मध्ये भवाः [अश्वाः = अग्न्यादयः] (दया॰, ऋ॰१.१६३.१०)
४. श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च (उणा॰४.१९५)।

५०. शूरः शूरः शवतेर्गतिकर्मणः। (४.१३)
५१. दिव्याः दिव्या दिविजाः। (४.१३; ७.१८)
५२. अत्याः* अत्या अतनाः। (४.१३)
५३. हंसाः* हंसा हन्तेः – घ्नन्त्यध्वानम् । (४.१३)

शब्द है, वह भी इसी उक्त धातु से ही निष्पन्न होता है, क्योंकि इसमें सभी इन्द्रियाँ स्थित व आश्रित होती हैं [√शीङ् / √श्रिञ्+असुन् > शिर+अस् > शिरस्]।[1]

५०. शूरशब्द ''शव गतौ'' (१.४८०) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि गमनशील (पुरोगामी आदित्य, मनुष्य आदि) 'शूर' कहलाता है [√शव्+क्रन्[2] > श्+ऊठ्+र > शूर]।[3]

५१. द्युलोक में उत्पन्न होने वाले (सूर्यकिरण आदियों) को **'दिव्य'** कहते हैं [दिव्+यत् (भवार्थे, उत्पन्नार्थे)[4] > दिव्य]।[5]

५२. अतन अर्थात् सतत व तीव्र गति करने वाले (सूर्यकिरण, अश्वादि) को **'अत्य'** कहते हैं [√अत सातत्यगमने (१.३१)+यत्[6] > अत्य]।[7]

५३. हंसशब्द ''हन हिंसागत्योः'' (२.२) धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि मार्ग में गमन करने वाले को या मार्ग को तय (गमन) करने वाले को 'हंस' कहते हैं

---

१. श्रृणाति हिनस्ति दुःखानि येन तत् [उत्तमाङ्गम्] (दया०,यजु०१२.४) [√शॄ हिंसायाम् (९.१७)+असुन् > शिरस्]।
२. शुसिचिमीनां दीर्घश्च (उणा०२.२६) इति बाहुलकाद् शवतेरपि क्रन्। उणादिदिशा तु– शु (सौत्रधातुः)+क्रन् > शू+र >शूर इति व्युत्पत्तिः। √शूर विक्रान्तौ (१०.३२४) इति धातोः कर्तरि अचि शूर इत्यपि व्युत्पत्तिर्ज्ञेया ।
३. शूर = शृणाति हिनस्ति शत्रुबलान्याक्रमति, अत्र √शॄ हिंसायाम् इत्यस्माद् बाहुलकाद् डूरन्प्रत्ययः (दया०, ऋ०१.२९.४)।
४. द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् (अष्टा०४.२.१००)।
५. दिव्यशब्दो लोके प्रशस्यवचनः (स्कन्दः, ऋ० ६.३९.१)।
६. कृत्यल्युटो बहुलम् (अष्टा०३.३.११३)।
७. अत्य अश्वनाम (निघं०१.१४.१)। कर्तरि यत् अथवा 'अघ्न्यादयश्च' (उणा०४.११३) इति यत्प्रत्ययो द्रष्टव्यः (देव०,नि०नि०१.१४.१)। अत्यम् = व्यापकं शीघ्रगामिनं वायुम् (दया०,ऋ०३.२२.१)। अतति व्याप्नोति तत्रभवम् [हविः = होतव्यं द्रव्यम्] (दया०, ऋ० ५.४४.३)। अत्याः = अतन्ति सर्वत्र व्याप्नुवन्ति त आकाशादयः (दया०,ऋ०३.५६.२)। सकलशुभगुणकर्मव्यापिनः [राज्यकर्माधिकारिजनाः] (दया०, ऋ०६.४४.१९)

५४. श्रेणिः श्रेणिः श्रयतेः – समाश्रिता भवन्ति । (४.१३)

[खण्डम् – ६]

५५. कायमानः* कायमानः चायमानः, कामयमान इति वा। (४.१४)
५६. लोधम् * (लोधम्) लुब्धम् । (४.१४)

[√हन्+स[1] > हंस] ।[2]

५४. श्रेणिशब्द ''श्रिञ् सेवायाम्'' (१.६३८) धातु से व्युत्पन्न होता है, क्योंकि पंक्तिबद्ध सभी परस्पर आश्रित (सेवित) होते हैं, अत एव **'श्रेणि'** नाम है [√श्रिञ्+नि[3] (नित्) > श्रेणि] ।[4]

५५. **'कायमानः'** का अर्थ 'चायमानः' है अर्थात् दर्शनार्थक (ज्ञानार्थक) ''चायृ पूजानिशामनयोः'' (१.६२०) धातु से निष्पन्न है [√चाय्+शप्+मुक्+शानच् > चायमान > कायमान] । **'कायमान'** का अर्थ 'कामयमान' (चाहता हुआ) भी है [कामयमान > कायमान] ।[5]

५६. **'लोधम्'** का अर्थ 'लुब्धम्' है [√लुभ गार्ध्ये (४.१२५) / √लुभ विमोहने (६.२२)+अच् / घञ् > लोभ > लोध] ।[6]

---

१. वृतॄवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः (उणा०३.६२)।
२. हंसासः अश्वनाम (निघं०१.१४.२५)। हंसासः = अध्वनि शीघ्रं गन्तारः (सायणः, ऋ० ४.४५.४); हंसः = हनिर्गत्यर्थः, सर्वत्र सर्वदा गन्ता (सायणः, ऋ०४.४०.५)। हंसा इव सद्यो गन्तारोऽश्वाः (दया०,ऋ०४.४५.४)। घ्नन्ति गच्छन्त्यध्वानम्, गच्छन्तः पद्भिरध्वानं हिंसन्ति वा (देव०, नि० नि०१.१४.२५)। हन्तीति हंसः, निर्लोभः सूर्यः पक्षिभेदोऽश्वभेदः शरीरस्थो वायुर्वा (दया०,उणा०३.६२)। यं संहन्ति सर्वान् पदार्थान् स जगदीश्वरः (दया०, यजु०१०.२४)। यो हन्ति पापानि सः [जीवात्मा] (दया०,ऋ०४.४०.५)।
३. वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् (उणा०४.५२)।
४. एकव्यापाराणां बहूनां समूहः श्रेणिरुच्यते (स्क० म०, निरु० ४.१३; सायणः, ऋ०१.१६३.१०)।
५. कायमानः = अध्यापयन् उपदिशन् वा (दया०,ऋ०३.९.२)।
६. लोधम् = लोब्धारम् [दुर्जनम्]; अत्र वर्णव्यत्ययेन भस्य धः (दया०,ऋ०३.५३.२३)।

५७. शीरम्* (शीरम्) अनुशायिनम् इति वा, आशिनम् इति वा। (४.१४)

[खण्डम् – ७]

५८. कन्या कन्या कमनीया भवति, क्वेयं नेतव्येति वा, कमनेनानीयत इति वा, कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः। (४.१५)

---

५७. अनुशायिन् अर्थात् सब में विद्यमान को **'शीरम्'** कहते हैं [√शीङ् स्वप्ने (२.२५)+रक्[१] > शीर]।[२] आशिन अर्थात् सब में व्यापकशील को भी 'शीरम्' कहते हैं [आङ्+√अशूङ् व्याप्तौ संघाते च (५.१८)+ईरन्[३] > आ+अश्+ईर > आशीर > शीर]।[४]

५८. कन्या कमनीय (वाञ्छनीय, चाहने योग्य) होती है, इसीलिए **'कन्या'** कहलाती है [√कमु कान्तौ (१.३०२)+यक्[५]+टाप् > कम्या > कन्या]। 'इसे कहाँ (किस घर में) ले जाया जाय' इसप्रकार वर व उसके परिवार के विषय में विचार करने के पश्चात् ही जिसका विवाह किया जाता है, उसे **'कन्या'** कहते हैं [क्व+√णीञ् प्रापणे (१.६४२)+यक्[५]+टाप् > क् अ+न्+य+आ > कन्या]। कमन (कामी, विवाह के इच्छुक वर) के द्वारा अपने घर में जो लायी जाती है, वह **'कन्या'** कहाती है [कमन+√णीञ् प्रापणे (१.६४२)+यक्[५]+टाप् > क+न्+या > कन्या]। कान्ति अर्थवाली 'कन' धातु से भी 'कन्या' शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह अपेक्षाकृत कान्तिमती अर्थात् सुन्दर होती है [√कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (१.३११)+यक्[५]+टाप् > कन्या]।[६]

---

१. स्फायितञ्चिवञ्चि॰(उणा॰२.१३) इति रक्।
२. शेतेऽसौ शीरः, महासर्पो (अजगरनामा) वा (दया॰, उणा॰ २.१३)।
३. कृशृपृकटिपटिशौटिभ्य ईरन् (उणा॰४.३१) इति बाहुलकाद् अश्नोतेरपीरन्।
४. अनुगम्य भूतानि जङ्गमानि जाठरात्मना स्थावराणि च सूक्ष्मेण चाभिव्यक्तशक्त्यात्मनाऽयं शेते— व्यवतिष्ठते अश्नाति वा, एवं शीलं स शीरोऽग्निः, तं शीरमनुशयिनं वेत्यर्थः (स्क॰ म॰, निरु॰४.१४)।
५. अघ्न्यादयश्च (उणा॰४.११३) इति यक्।
६. कन्यते दीप्यते काम्यते गच्छति वा सा कन्या कुमारी वा (दया॰, उणा॰४.११३)। कन्या = कमनीया लावण्यातिशयविशेषेण (नि॰समु॰४.९१)।

५९,६०. दारु, द्रु दारु दृणातेर्वा, द्रूणातेर्वा, तस्मादेव द्रु। (४.१५)

६१. तुग्वन्* तुग्व तीर्थं भवति— तूर्णमेतदायन्ति। (४.१५)

६२. आहनस्* आहनसः आहननवन्तः वचनवन्तः। (४.१५, द्र॰ ५.२)

५९, ६०. दारुशब्द ''दॄ विदारणे'' (९.२२) धातु से व्युत्पन्न होता है, क्योंकि लकड़ी फाड़ी जाती है, अत एव **'दारु'** कहलाती है [√दॄ+ञुण्[१] > दारु]।[२] ''द्रूञ् हिंसायाम्'' (९.९) धातु से भी 'दारु' शब्द निष्पन्न होता है, लकड़ी काटी जाती है, इसलिए भी उसका नाम 'दारु' है [√द्रू+कु (डित्)[३] > द्र्+उ > दार्+उ > दारु]। दारु (काष्ठ) का वाचक 'द्रु' शब्द भी इसी 'द्रू' धातु से ही निष्पन्न होता है [√द्रू+कु (डित्)[३] > द्र्+उ > द्रु]।

६१. **'तुग्वन्'** यह शब्द तीर्थ (नदीतट या शरीर) का वाचक है, क्योंकि यहाँ पर (लोग स्नानादि के लिए या मोक्ष आदि के लिए) बार-बार आते हैं [तूर्ण+√गम्लृ गतौ (१.७०९)+वनिप्[४] > तु+ग्+वन् > तुग्वन्]।

६२. आहननवन्त अर्थात् वचनवन्त = वचन (उपदेश) करने वाले वेद या अध्यापक आदि 'आहनस्' कहलाते हैं[५] [आङ्+√हन हिंसागत्योः (२.२)+असुन्[६] > आहनस्+मतुप् > आहनस्]।[७]

---

१. दॄसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण् (उणा॰१.३)।
२. दारुम् = दुःखविदारम् (दया॰, ऋ॰७.६.१)।
३. शते च (उणा॰१.३५) इति बाहुलकात् केवलाद् द्रवतेरपि कुः।
४. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अष्टा॰३.२.७५) इति वनिप्, स च छन्दसि डित्।
५. दुर्ग के अनुसार 'आहननवन्त' का अर्थ— 'वञ्चनवन्तः सम्मोहयितारः' है। उनके मत में निर्वचन का अर्थ इसप्रकार होगा— 'वञ्चना करने वाले (सम्मोहक) आहनस् कहलाते हैं'। परन्तु देवराजयज्वा, सायण, स्कन्दमहेश्वरों के मत में 'वचनवन्तः' पाठ ही उचित है— ''आहन्तेरसुन्, मत्वर्थीयस्य लुक्। 'सूत्रे इदमाहतम्, ब्राह्मण इदम् आहतम्' इत्यादि-प्रयोगदर्शनाद् आहन्तिर्वचनार्थः। आहननवन्तो वचनवन्त इत्यर्थः (देव॰, नि॰नि॰ ४.१.२३)। ''आहननवन्तो वचनवन्तः'' इति यास्कः (सायणः, ऋ॰९.७५.५)। 'ब्राह्मण इदमाहतम्' इत्यादौ दर्शनादाहनिर्वचनार्थं वचनवन्तः पाटवजनना नः सम्मोहकारा इत्यर्थः (स्क॰म॰, निरु॰४.१५)।
६. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा॰४.१९०)।
७. आहनाः = या आहन्यन्ते ताः [वाचः] (दया॰, ऋ॰५.४२.१३)।

[खण्डम् – ८]

६३. शुन्ध्युः शुन्ध्युरादित्यो भवति– शोधनात्। शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते– शोधनादेव, उदकचरो भवति। आपोऽपि शुन्ध्युव[१] उच्यन्ते– शोधनादेव। (४.१६)

६४. वक्षस्* तस्यैव वक्षो भासोऽध्यूढम्।इदमपीतरद् वक्ष एतस्मादेव– अध्यूढं काये। (४.१६)

६५. नोधस् नोधा ऋषिर्भवति– नवनं दधाति। (४.१६)

---

६३. **'शुन्ध्यु'** नाम आदित्य का है,[२] क्योंकि वह किरणों के द्वारा सब को शुद्ध करता है [√शुन्ध शुद्धौ (१.६०) / √शुन्ध शौचकर्मणि (१०.२५९)+युच्[३] > शुन्ध्यु]। उदकचर (हंस) पक्षिविशेष भी **'शुन्ध्यु'** कहलाता है[४], क्योंकि वह भी (जल आदि का) शोधन करता है या जलचर होने से स्वयं शुद्ध रहता है [पूर्ववत्]। आपः (जल) भी **'शुन्ध्यु'** कहलाता है, क्योंकि वह शोधन कर्म का साधन है [पूर्ववत्]।

६४. उसी (आदित्य) का वक्षःस्थल (ऊपरीभाग) प्रकाश पर आश्रित है अर्थात् प्रकाशमय है, इसीलिए **'वक्षः'** कहलाता है [√वह प्रापणे (१.७३०)+सुट् असुन्[५] > वह्+स् अस् > वक्षस्]। यह जो प्राण्यङ्ग वक्षःस्थल (छाती) का वाची **'वक्षः'** शब्द है, वह भी इसी ''वह्'' धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि यह भी शरीर पर आश्रित (स्थित) है अर्थात् सामने उठा हुआ होता है [पूर्ववत्]।

६५. **'नोधा'** ऋषि होता है, क्योंकि ऋषि नवन (स्तवन) को धारण (अनुष्ठान)

---

१. तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानम् (वा० ६.४.७७) अनेन वार्तिकेनोवङादेशः (दया०, ऋ० १.५०.९)।
२. तमसा व्याप्तं कृत्स्नं रश्मिभिः शोधयति (स्क०म०, निरु० ४.१६)। अस्मिन् [आदित्ये] उदिते सति ब्राह्मणा आत्मीयं कर्म कृत्वा शुद्धा भवन्तीति शोधनहेतुत्वात् शुन्ध्युरादित्यः (सायणः, ऋ० ८.२४.२४)।
३. यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् (उणा० ३.२०)।
४. शकुनिरपि=य एष मद्गुर्नामायम् (दुर्गः, निरु० ४.१६)। शुन्ध्युर्मुद्गुरुच्यते (स्क०म०, निरु० ५.५)। शुन्ध्युरिति जलचर श्वेतवर्णः पक्षिविशेषः, स यथा स्वकीयं वक्षः प्रकाशयन् दृश्यते (सायणः, ऋ० १.१२४.४)।
५. वहेः सुट् च (स० कं० – २.१.३२६)। पचिवचिभ्यां सुट् च (उणा० ४.२२१)। वक्ति येन तद् वक्षः, हृदयं वा (दया०, तत्रैव) [√वच परिभाषणे (२.५६)+सुट् असुन् > वक्षस्]।

६६. अद्मन् अद्मान्नं भवति। (४.१६)

६७. अद्मसत्* अद्मसादिनी इति वा, अन्नसानिनी इति वा। (४.१६)

६८. इष्मिणः* (इष्मिणः) ईषणिन इति वा, एषणिन इति वा, अर्षणिन इति वा। (४.१६)

करता है [नवन+√डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०)+असि[१] > नो+धा+अस् > नोधस्]।[२]

६६. **'अद्म'** अन्न को कहते हैं, क्योंकि वह खाया जाता है [√अद भक्षणे (२.१)+मनिन् > अद्+मन् > अद्मन्]।[३]

६७. 'अद्मसद्' का अर्थ है 'अद्मसादिनी', अर्थात् जो अन्न को पकाकर सिद्ध करती है, वह गृहणी **'अद्मसद्'** कहलाती है [अद्मानि सादयतीति। अद्म+√षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (१.५९३; ६.१३६)+णिच्+क्विप्[४] > अद्मसद्]। घर के सभी लोगों को अन्न का प्रदान करने से भी गृहणी **'अद्मसद्'** कही जाती है [अद्म+√षणु दाने (८.२)+क्विप्[४] > अद्म+सन् > अद्मसद्[५]]।[६]

६८. 'इष्मिणः' का एक अर्थ है 'ईषणिनः' अर्थात् गति करने वाला, क्रियाशील। अभीष्ट की प्राप्ति के लिए गतिशील व समर्थ मरुत् आदि का नाम **'इष्मी'** है [√ईष

---

१. नुवो धुट् च (उणा० ४.२२७)।
२. नौति स्तौति, नूयते स्तूयते वा स नोधाः, ऋषिर्वा (दया०, उणा० ४.२२७) [√णु स्तुतौ (२.२७)+धुट् अस् > नो+ध् अस् > नोधस्], अपि च द्र० दया०, ऋ० १.६२.१३; १.१२४.४। नायकान् प्राप्तिकरान् धरन्तीति। अत्र णीञ् धातोर्बाहुलकादौणादिको डो प्रत्ययस्तदुपपदाद् √डुधाञ्धातोश्च क्विप् (दया०, ऋ० १.६१.१४)। यो नौति सर्वाणि शास्त्राणि (दया०, ऋ० १.१२४.४)।
३. अद्म = अदनीयं तृणगुल्मादिकम् (सायणः, ऋ० १.५८.२)। अत्तुमर्हं कर्मफलम् (दया०, ऋ० १.५८.२)। अद्मेति गृहनाम 'वरूथम्, अद्म' (निघं० ३.४.१७, १८) इति तन्नामसु पाठात् (सायणः, ऋ० १.१२४.४) ।
४. क्विप् च (अष्टा० ३.२.७६)।
५. सनोतेर्नकारलोपे ह्रस्वत्वे पिति तुक् (देव०, नि० नि० ४.१.२४)।
६. अद्यत इति अद्म अन्नम्। तस्य पाकाय गृहे सीदतीति अद्मसत् पाचिका योषित्, यद्वा अद्मेति गृहनाम – 'वरूथम्, अद्म' (निघं० ३.४.१७, १८) इति तन्नामसु पाठात्, तत्र सीदतीत्यद्मसत् पाचिका, योषित् (सायणः, ऋ० १.१२४.४)। अद्मन्यन्ने हविषि सीदन्तीत्यद्मसद ऋत्विजः (सायणः, ऋ० ७.८३.७)। अद्मसु अदनीयेषु हविःषु सीदन् हविः स्वीकरणायोपविशन् (सायणः, ऋ० ६.४.४)। यो अद्मेषु भोक्तव्येषु सीदति (दया०, ऋ० ६.४.४)। योऽद्मनि सादयति परिपचति सः (दया०, ऋ० १.१२४.४)। अद्मसदः = योऽद्मस्वत्तव्येषु सीदन्ति (दया०, ऋ० ६.३०.३)।

६९. वाशी* वाशीति वाङ्नाम (निघं० १.११.११) – वाश्यत इति सत्याः। (४.१६,१९)

७०. वाहस्* (वाहः) अभिवहनस्तुतिम्, अभिषवणप्रवादां स्तुतिं मन्यन्ते। (४.१६)

गतिहिंसादानेषु (१.४०६)+मक्[१] > ईष्म > इष्म+इनि[२] > इष्मिन्]। दूसरा अर्थ 'एषणिनः' (चाहने योग्य) है, सबके द्वारा चाहने योग्य मरुत् आदि का नाम **'इष्मी'** है [√इषु इच्छायाम् (६.६१)+मक् > इष्म+इनि > इष्मिन्]।[३] तीसरा अर्थ 'अर्षणिनः' (दर्शनीय) है अर्थात् स्वयं अदृश्य होता हुआ भी दर्शनीय (ज्ञातव्य) होता है, ऐसे मरुत् आदि को **'इष्मी'** कहा जाता है अथवा अभिमुखतः सभी पदार्थों का द्रष्टा भी **'इष्मी'** कहा जाता है [√ऋषी गतौ (६.७)+मक् > इष्+म > इष्म+इनि > इष्मिन्]।[४]

६९. **'वाशी'** यह वाणी का नाम है, क्योंकि इससे बोला जाता है [√वाशृ शब्दे (४.५२)+इञ्+ङीष्[५] > वाशी]।[६]

७०. 'वाहः' का अर्थ है – 'अभिवहनस्तुति' अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कराने वाली स्तुति या उत्तम ज्ञान की प्राप्ति के हेतु की जाने वाली स्तुति [√वह प्रापणे

---

१. इषियुधीन्धि० (उणा० १.१४५) [√इष गतौ (४.१९) / √ इषु इच्छायाम् (६.६)+मक् > इष्म]।
२. अत इनिठनौ (अष्टा० ५.२.११५)।
३. य इच्छति, य इष्यते वा स इष्मः, कामो वसन्त ऋतुर्वा (दया०, उणा० १.१४५)।
४. उल्मुकदर्विहोमिनः (उणा० ३.८४) इति बाहुलकाद् ईष-इष-ऋष-धातुभ्योऽपि मिनिः [ईष् / इष् / ऋष्+मिन् > इष्मिन्]। 'इट्' इत्यन्ननाम (तु० निघं० २.७.१४), तद्वन्त इष्मिणः (स्कन्दः, ऋ० १.८७.६; तु० सायणः, ऋ० ५.८७.५)। प्रशस्तविज्ञानगतिमन्तः (दया०, ऋ० १.८७.६); बहुविधमिष्मा इच्छा येषान्ते (दया०, ऋ० ५.८७.५); इच्छान्नादियुक्ताः (दया०, ऋ० ७.५६.११)। इष्मिणम् = इष्मो बहुविधो बलं विद्यते यस्य, तम् (दया०, ऋ० ५.५२.१६)।
५. वसिवपि...वाशिवादिवारिभ्य इञ् (उणा० ४.१२६), कृदिकारादक्तिनः (ग० सू० ४.१.४५)।
६. वाश्यते शब्दयतीति वाशिः, अग्निर्वा (दया०, उणा० ४.१२६)। वाशीम् = ज्वालाम्, वाशतिरुच्चरतिकर्मा, इह तु ज्वालामाह (वेंकटः, ऋ० ८.१९.२३)। वाशीशब्दोऽत्रायुधविशेषः, "वाशीमेको बिभर्ति" (ऋ० ८.२९.३) इति यथा (स्कन्दः, ऋ० १.८७.६); वाशीषु = आयुधेषु (सायणः, ऋ० ५.५३.४)। वाशीशब्दः छेदनद्रव्यविशेषवचनस्तस्य सकारस्य शकारेण व्यापत्तिः। वासीभिरधिषवणग्रावाख्याभिः। अथवा सिचेर्द्रवद्रव्यप्रक्षेपे या प्रसिद्धस्तस्यां त्यक्तुमयोग्यत्वाद्। वाशीशब्दस्य च वाङ्नामत्वाद् रसावस्थः सोम इहोच्यते, न लतावस्थः। आसिञ्चत हरितवर्णमेनं रसावस्थं सोमं द्रुममयस्य द्रोणकलशस्योपरि। असिच्य च वाशीभिस्तक्षत वाग्भिः संस्कुरुत स्तुतेत्यर्थः (स्क० म०, निरु० ४.१९)।

तृतीयः पादः [खण्डम् – १]

७१. सुविते* सुविते सु इते, सूते, सुगते प्रजायामिति वा। (४.१७)

७२. दुर्वर्तुः दुर्वर्तुर्दुर्वारः। (४.१७)

(१.७३०)+असुन् (णिद्)[१] > वाहस्]। 'वाहः' का दूसरा अर्थ है – 'अभिषवणप्रवादा स्तुति' अर्थात् सोमाभिषवन के लिए की जाने वाली स्तुति, ऐसा आचार्यों का मत है [पूर्ववत्]।[२]

७१. 'सुविते' का अर्थ 'सु-इते' है और 'सु-इते' का अर्थ है 'सुगते' अर्थात् सम्यग् गति वाला **'सुविते'** कहलाता है [सु+√इण् गतौ (२.३८)+क्त > सु-उवङ् (छान्दसः)+इ+त > सुवित]। **'सुविते'** का दूसरा अर्थ 'सूते' अर्थात् प्रजायाम् = प्रजा सम्बन्धी होना, सन्तान को उत्पन्न करना [√षु प्रसवैश्वर्ययोः (१.६७४)+इट्[३] क्त > सु-उवङ्+इत > सुवित]।[४]

७२. दुर्वर्तु का अर्थ है 'दुर्वारः' अर्थात् बडी कठिनाई से निवारित होने वाला या जिसे रोकना असम्भव जैसा है, ऐसे भयानक दावाग्नि आदि **'दुर्वर्तुः'** कहलाते हैं [दुर्+√वृञ् वरणे (५.८)+तु[५] > दुर्वर्तु]।[६]

---

१. वसेर्णित् (उणा० ४.२१९) इति बाहुलकाद् वहतेश्चासुन्, स च णित्।
२. इन्द्रं प्रत्युह्यत इति वाहः सोम उच्यते (सायणः, ऋ० १०.१९.३)। वाहसा = हविषां वाहकेनाग्निना (सायणः, ऋ० ३.११.७)। यदेतत् कूपसमीपे तदुदकस्योद्धृतस्य स्थानमावाह इति लोके प्रसिद्धम्। तत्सदृशत्वात् सोमरसस्य पूर्णमधिषवणं चर्म 'वाहः' इत्युच्यते (देव०, नि० नि० ४.१.२६)।
३. स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा (अष्टा० ७.२.४४)।
४. सुविताय = कर्मणे (निरु० ११.१५)। सुविता = सुप्रसूतानि (निरु० १२.२८)। सुवितम् = सुष्ठूत्पादितम् [अन्नादिकम्] (दया०, ऋ० ४.५५.४)।
५. अर्तेश्च तुः (उणा० १.७२) इति बहुलकाद् वृणोतेरपि तुः।
६. दुर्वर्तुः = यो दुःखेन वर्तते तस्य [दुष्टजनस्य] (दया०, ऋ० ४.३८.८) [दुर्+√वृतु वर्तने (१.५०८)+तु > दुर्वर्तु]।

७३. रयिः* रयिरिति धननाम (निघं० २.१०.८) — रातेर्दानकर्मणः। (४.१७)

[खण्डम् — २]

७४. अकूपारः* (अकूपारस्य) अकुपरणस्य। आदित्योऽप्यकूपार उच्यते— अकूपारो भवति दूरपारः। समुद्रोऽप्यकूपार उच्यते— अकूपारो भवति महापारः। कच्छपोऽप्यकूपार उच्यते— अकूपारो न कूपमृच्छतीति। (४.१८)

७५. कच्छपः कच्छपः कच्छं पाति, कच्छेन पातीति वा, कच्छेन

---

७३. रयिशब्द धन का वाचक है, क्योंकि यह दानार्थक ''रा'' धातु से निष्पन्न होता है। जो धन दान में दिया जाता है, वह **'रयि'** कहलाता है [√रा दाने (२.५०)+ इ[१] > र- युक्+इ > रयि]।[२]

७४. **'अकूपार'** का अर्थ है 'अकुपरण' (अकुत्सितपरण) अर्थात् अन्यून (प्रभूत) पालन करने वाला या सर्वथा परिपूर्ण, प्रशंसनीय (दान) [परणमेव पारः। √पृ पालनपूरणयोः (३.४)+घञ् > पारः। कुत्सितः पारः पालनं पूरणं वा यस्य, सः कुपारः, न कुपारः अकुपारः, स एव अकूपारः। न+कु+पार > अकूपार]। आदित्य भी **'अकूपार'** कहा जाता है, क्योंकि वह कु (न्यून) पार वाला नहीं होता है, अपितु बहुत अत्यधिक दूरी को पार करने वाला होता है, अधिकतम दूरी (स्थान) को प्रकाश से भरने (पूर्ण करने) वाला होता है अथवा अत्यधिक विशाल होता है [न+कु+पार > अकूपार]। समुद्र भी **'अकूपार'** कहा जाता है, क्योंकि वह कु (कम) पार वाला नहीं होता है, अपितु बहुत दूर एवं गहरे तक विस्तृत रहता है, अतः उसका पार महान् (विशाल) है [पूर्ववत्]। कच्छप (कछुवे) को भी 'अकूपार' कहते हैं, क्योंकि वह अल्प जलवाले या गहरे कूप में जाना नहीं चाहता, अपितु नदी, तालाब आदि विशाल जलाशयों में जाना चाहता है, अत एव वह **'अकूपार'** कहलाता है [न+कूप+√ऋ गतिप्रापणयोः (१.६७०)+अण् > अ+कूप+आर > अकूपार]।

७५. 'कच्छप' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है— कच्छं पाति अर्थात् अपने कठोर

---

१. अच इः (उणा०४.१४०)।

२. रयिरिति उदकनाम (निघं० १.१२.७३)। √रीङ् गतौ (४.२८), 'अच इः' इति इप्रत्ययः, गुणः। रीयते गच्छति रयिः। यद्वा रातेः इप्रत्यये बाहुलकाद् युगागमो धातोः ह्रस्वश्च। दीयते पिपासितेभ्यः (देव०, नि० नि०१.१२.७३)।

पिबतीति वा। (४.१८)

७६. कच्छः कच्छः खच्छः खच्छदः। अयमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव कमुदकं तेन छाद्यते। (४.१८)

७७. रक्षः रक्षो रक्षितव्यमस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षत इति वा। (४.१८)

पीठ (कटाह) से कच्छ (मुख आदि) की रक्षा करता है, अत एव उसका नाम **'कच्छप'** है [कच्छ+√पा रक्षणे (२.४९)+क > कच्छ+प्+अ > कच्छप]। दूसरा यह भी प्रवृत्तिनिमित्ति है कि— कच्छेन पाति अर्थात् कटाह से ही स्वयं की रक्षा करता है, अन्य अङ्गों से नहीं इसीलिए वह **'कच्छप'** कहलाता है[१] [कच्छ+√पा+क > कच्छप]। कच्छ (मुख) से जलादि का पान करता है, इसलिए भी उसका नाम **'कच्छप'** है [कच्छ+√पा पाने (१.६५९)+क > कच्छप]।

७६. 'कच्छ' का अर्थ 'खच्छ' अर्थात् 'खच्छद' होता है, जो आकाशमात्र से आच्छादित है, रक्षित है, अन्य कोई रक्षा का उपाय जिसका नहीं है, ऐसा सहायहीन कछुवे का पृष्ठभाग **'कच्छ'** कहलाता है अथवा खं छादयति अर्थात् अपने खानि = इन्द्रिय व इन्द्रियस्थान शरीर को कटाह से आच्छादित (रक्षित) करता है, इसलिये कछुवे का पृष्ठभाग 'कच्छ' कहलाता है [ख+√छद संवरणे (१०.२४८)+ड > ख+छ्+अ > खच्छ > कच्छ]। यह जो दूसरा नदीतट का वाचक 'कच्छ' शब्द है, वह भी इसी धातु से निष्पन्न होता है। कम् का अर्थ उदक (पानी) होता है, उससे आच्छादित, पूर्ण स्थान को भी **'कच्छ'** कहते हैं [केन उदकेन छाद्यते। क+√छद्+ड > कच्छ]।[२]

७७. जिससे वेद और धर्म की एवं अपनी रक्षा करनी चाहिए, उसे **'रक्षस्'** कहते हैं [√रक्ष पालने (१.४४०)+असुन्[३] > रक्षस्]। एकान्त (अकेलेपन) में आक्रमण करता है, मारता है, इसलिए भी **'रक्षस्'** नाम है [रहस्+√क्षणु हिंसायाम् (८.३)+असुन् (डित्) > र+क्ष्+अस् > रक्षस्]।[४] रात्रि में विचरण करने के कारण भी 'रक्षस्' नाम

---

१. कच्छ का अर्थ मुख एवं पीठ का कठोर भाग (कटाह) दोनों हैं।

२. दशपाद्युणादिरीत्या तु — 'कचेश्छः'(४.६) इति सूत्रेण √कच बन्धने (१.१०१)+छ > कच्छः। कच्यते बध्यते येन संयुक्तो भवतीति कच्छः शरीरैकदेशः। अथवा कम् उदकं छ्यति परिच्छिनत्तीति कच्छः नदीतीरः [क+√छो छेदने (४.३७)+क > क+छा+अ > क+छ्+अ > कच्छ]।

३. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा०४.१९०)।

४. रक्षांसि = योऽस्मान् रहसि क्षिण्वन्ति (दुर्गः, निरु०१४.४४) [रहस्+√क्षिणु हिंसायाम् (८.४) / √क्षि हिंसायाम् (५.३०)+असुन् (डित्) > रक्षस्]।

७८. सुतुकः* (सुतुकः) सुतुकनः, सुप्रजा वा। (४.१८)

७९. सुप्रायणाः* (सुप्रायणाः) सुप्रगमनाः। (४.१८)

[खण्डम् — ३]

८०. अप्रायुवः अप्रायुवोऽप्रमाद्यन्तः। (४.१९)

है [रात्रि+√णक्ष गतौ (१.४४२)+असुन् > र+क्ष्+अस् > रक्षस्]।[१]

७८. **'सुतुकः'** का अर्थ 'सुतुकनः' अर्थात् सुगमन, अच्छी गतिवाला है, क्योंकि यह शब्द गत्यर्थक[२] तुकधातु से निष्पन्न है [सु+√तुक्+क[३] > सुतुकः]। 'सुतुकः' का अर्थ 'सुप्रजाः' भी है अर्थात् अच्छी प्रजा (सन्तान) वाला भी **'सुतुकः'** कहलाता है, क्योंकि तुक्[४] अपत्य (सन्तान) का नाम है (निघं० २.२.१) [सु+तुक्+जस् > सुतुकः]।[५]

७९. 'सुप्रायणाः' का अर्थ है 'सुप्रगमनाः' [सु+प्र[६]+अयन > सुप्रायण]।[७]

८०. **'अप्रायुवः'** का अर्थ प्रमाद (त्रुटि, भूल) रहित है अर्थात् सचेत, ज्ञानादि में जागरूक [√इण् गतौ (२.३८)+उण्[८] > आयुः (जीवन, चेतन, ज्ञातृत्व); प्रगतं प्रणष्टम् आयुर्जीवनं ज्ञातृत्वं वा यस्य, स प्रायुः। न+प्रायु+जस् > अ+प्राय् उवङ्+अस्

१. रक्षांसि = अन्यान् प्रपीड्य स्वात्मानमेव ये रक्षन्ति ते [चोराः] (दया०,यजु०३४.५१)। पालयितव्यानि [अस्ना = रुधिराणि] (दया०,यजु०२५.९)। रक्षः = दुर्गन्धादिदुःखजालम् (दया०, यजु०१.९)।
२. तुकिर्गत्यर्थः(सायणः, ऋ०१०.३.७)।
३. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः(अष्टा०३.१.१३५)।
४. तुक् = '√तुज हिंसायाम् (१.१५०)+क्विप्; तोजति हिनस्ति मातापितरौ गर्भवासादिना... तुजिर्गत्यर्थः प्रेरणार्थश्च' इति माधवः, (ततः) क्विप्; गच्छत्यनेन पितृलोकं पिता, गच्छत्यनेनानृण्यं पितृभ्य इति वा, प्रेर्यते प्रसवकाले वायुनापि वा। यद्वा √ष्टुच प्रसादे (१.१०६) +क्विप्, पृषोदरादित्वात् (अष्टा०६.३.१०९) सकारलोपः, प्रसाद्यतेऽनेन पिता वा (देव०, नि० नि०२.२.१)।
५. सुतुकः = सुष्ठु विद्यावृद्धः (दया०, ऋ०१.१४९.५), सुतुका = सुष्ठु वर्धकानि (दया०, ऋ० ६.२२.१०), सुतुकाः = सुष्ठु आदात्र्यः (दया०, ऋ०१.१७८.२)। सुतुकान् = शोभनानि तुकानि अपत्यानि येषाम्, तान् [राजपुरुषान्] (दया०, ऋ०७.१८.९)।
६. छान्दसत्वात् 'उपसर्गस्यायतौ' (अष्टा०८.२.१९) इति रेफस्य लत्वं न।
७. शोभनगमनसाधनाः (सायणः, ऋ०१०.११०.५)। सुप्रायणाः = सुष्ठु प्रायणं गमनं यासां ताः [सत् स्त्रियः] (दया०, ऋ०२.३.५)। शोभनानि प्रकृष्टान्ययनानि यासु ताः [द्वारः = द्वाराणि] (दया०, यजु०२८.५)। सुष्ठु प्रकृष्टं भवनं गृहं यासु ताः [द्वारः] (दया०, यजु० २९.३०)।
८. छन्दसीणः (उणा०१.२)।

८१. च्यवनः* च्यवन ऋषिर्भवति— च्यावयिता स्तोमानाम्। [च्यवानमित्यपि अस्य निगमा भवन्ति]। (४.१९)

८२. युवन् युवा प्रयौति कर्माणि। (४.१९)

८३. रजस्*, रजसी* रजो रजतेः। ज्योतिः रज उच्यते। उदकं रज

> अप्रायुवः]।[१]

८१. **'च्यवन'** ऋषि होता है, क्योंकि वह मन्त्रों के ज्ञान को प्राप्त करने वाला होता है। च्यवन के स्थान पर तत्समानार्थक 'च्यवानम्' पदघटित वेदमन्त्र भी उपलब्ध होते हैं [√च्युङ् गतौ (१.६८४)+युच्[२] > च्यो+अन > च्यवन]।[३]

८२. कर्मों को योजनाबद्ध से क्रमशः (सतत) करने वाला कर्मठ अर्थात् अनेक कर्मों को करने का सामर्थ्य वाला **'युवा'** कहलाता है [√यु मिश्रणे अमिश्रणे च (२.२६)+कनिन्[४] > युवन्]।[५]

८३. **'रजस्'** शब्द ''रजति गतिकर्मा'' (निघं० २.१४.४७) / ''रञ्ज रागे'' (१.७२५) धातु से व्युत्पन्न होता है [रज्+असुन्[६] > रजस्]। ज्योति को **'रजः'** कहते हैं,[७] क्योंकि यह सबको अपने प्रकाश से रञ्जित (प्रकाशित) करती है। उदक भी **'रजः'** कहा जाता है,[८] क्योंकि जल सभी प्राणियों की आवश्यकताओं को पूर्ण कर आनन्दित करता। लोक भी **'रजः'** कहे जाते हैं,[९] क्योंकि लोकों में सभी प्राणी अनुरक्त रहते हैं।

१. अप्रायुवः = न विद्यते प्रगतः प्रणष्ट आयुर्बोधो येषान्ते [देवाः = विद्वज्जनाः]। जसादिषु छन्दसि वा वचनमिति गुणविकल्पात् 'इयङुवङ्प्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानम्' (वा० ६.४.७७) इति वार्त्तिकेनोवङादेशः (दया०, ऋ०१.८९.१)। अप्रायु = यन्न प्रैति नश्यति तत् [रयिम् = धनम्] (दया०, ऋ०५.८०.३)।
२. सुयुरुवृञो युच् (उणा०२.७५) इति बाहुलकात् च्यवतेरपि युच्।
३. च्यवनः = गन्ता [राजकर्मचारी] (दया०, ऋ० ६.१८.२)।
४. कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः (उणा०१.१५६)।
५. युवा = सुखैः संयोजको दुःखैर्वियोजकश्च (दया०, ऋ०२.२०.३)। यौति मिश्रयति पदार्थैः सह पदार्थान् वियोजयति वा [अग्निः] (दया०, ऋ०१.१२.६)।
६. भूरञ्जिभ्यां कित् (उणा०४.२१८)। रजकरजनरजस्सूप० (वा०६.४.२४) इति नस्य लोपः।
७. द्र०निघण्टुः ४.१.३९।
८. रजःसु = उदकेषु (निरु०१०.४४)। रजः = आर्द्रवृक्षान्तर्गतमुदकम् (सायणः, ऋ०१.५८.५)। उदकं वृष्टिलक्षम् (सायणः, ऋ०१.१३९.४)।
९. रजः = लोकम् (निरु०१२.२३), रजसः = अन्तरिक्षलोकस्य (निरु०१२.७)। रजसी इति द्यावापृथिवीनामधेयम् (निघं०३.३०.८)।

उच्यते। लोका **रजांस्युच्यन्ते**। असृगहनी **रजसी** उच्येते। (४.१९)

८४. हरस्*, हरसी हरो हरतेः। ज्योतिर्हर उच्यते। उदकं हर उच्यते। लोकाः **हरांस्युच्यन्ते**। असृगहनी **हरसी उच्येते**। (४.१९)

८५, ८६. उस्रिया*, उस्रा* उस्रियेति गोनाम– उत्स्राविणोऽस्यां भोगाः। उस्रेति च। (४.१९)

असृक् अर्थात् रक्त एवं दिन-रात भी **'रजः'** कही जाती हैं,[१] क्योंकि रक्त से सभी प्राणी जीवित (आनन्दित) हैं और दिन-रात भी सभी को आनन्दित करती हैं।[२]

८४. **'हरस्'** पद ''हृञ् हरणे'' (१.६४०) धातु से निष्पन्न होता है [√हृ+असुन्[३] > हरस्]। ज्योति **'हरः'** कहलाती है, क्योंकि यह अन्धकार तथा जलादियों को हरती है। उदक भी **'हरः'** कहलाता है, क्योंकि जल अशुद्धि, उष्णता, प्यास आदि को हरता है। लोक भी **'हरः'** कहलाते हैं, क्योंकि ये जीवों को आकर्षित (आहरण) कर मोक्षमार्ग को हरते हैं अथवा पृथिव्यादि लोक परस्पर आहृत (आकर्षित) रहते हैं। असृक् (रक्त) भी **'हरः'** कहलाता है, क्योंकि यह निर्बलता को हरता है। दिन-रात भी 'हरः' कहलाती हैं, क्योंकि दिन अन्धकार का हरण करता और रात प्राणियों के थकावट को हरती है।[४]

८५, ८६. **'उस्रिया'** यह गो का नाम है, क्योंकि इससे (दूध, दही, छाछ, मलाई, मक्खन, पनीर, घी आदि) अनेक भोग्य पदार्थ प्राप्त होते (निकलते) हैं [उस्र+घ (स्वार्थिक)+टा > उस्र्+इय् अ+आ > उस्रिया[५] अथवा उत्+√स्रु गतौ (१.६७३)/√स्रिवु गतिशोषणयोः (४.३)+डिय+टाप् > उ+स्र् / स्र्+इय+आ > उस्रिया]। **'उस्रा'** नाम भी गो का ही है [उत्+√स्रु / √स्रिवु+ड+टा > उ+स्र्+अ+आ > उस्रा]।[६]

---

१. 'रजः' इति रात्रिनाम (निघं०१.७.१२)।
२. रजः = अणुत्रसरेण्वादिः (दया०, ऋ०१.९०.७)।
३. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा०४.१९०)।
४. हरः ज्वलतो नामधेयम् (निघं०१.१७.९)। हरः क्रोधनाम (निघं०२.२३.२)।
५. उस्रशब्दात् पृषोदरादित्वेन स्वार्थे घः (देव०, नि० नि०२.११.३)।
६. उस्रा, उस्रिया इति गोनामनी (निघं०२.११.२-३)। उस्रा इति रश्मिनाम (निघं०१.५.९)। उस्रियाणाम् = अपाम् (वेंकटः, ऋ०६.३२.२)। उस्रियासु = भूमिषु (दया०, ऋ०२.४०.२); पृथिवीषु (दया०, ऋ०५.८५.२)। √वस निवासे (१.७३१), स्फायितञ्चि०(उणा०२.१३) इत्यादिना रक्, यजादित्वात् (अष्टा०६.१.१५) सम्प्रसारणम्, बाहुलकात् 'शासिवसिघसीनाञ्च' (अष्टा०८.३.६०) इति षत्वाभावः(देव०,नि०नि०१.५.९)। वसति क्षीरादि हविरस्याम् (देव०,नि०नि०२.११.२)।

८७. हरिः* हरिः सोमः– हरितवर्णः, अयमपीतरो हरिरेतस्मादेव। (४.१९)

८८. वाशीभिः वाशीभिरश्ममयीभिरिति वा,वाग्भिरिति वा। (४.१९,१६)

८९. शिश्नम् शिश्नं श्नथतेः। (४.१९)

---

८७. **'हरि'** यह सोम का वाचक है, क्योंकि सोम हरित (हरे) वर्ण का होता है, यह जो दूसरा (तोता) है, वह भी इसी हरेपन के कारण ही **'हरि'** कहाता है [हरित >हरि]।[१]

८८. **'वाशी'** का अर्थ 'अश्ममयी' (केवल पत्थर से बना साधनविशेष या पात्रविशेष) और वाणी[२] (स्तुति) हैं [व्युत्पत्तिः द्र० ४.१६]।

८९. **'शिश्न'** शब्द ''श्नथति वधकर्म'' (निघं० २.१९.२) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि इससे योनि पर आघात (प्रहार) किया जाता है[३] अथवा कामवासनेतरकाल में शिथिलशील[४] होने के कारण पुरुषजननांग का नाम **'शिश्न'** है [√श्नथ्+ड (सन्वत्) > शिश्न्+अ > शिश्न]।[५]

---

१. हरयः = हरणाः [आदित्यरश्मयः](निरु०७.२४)। मनुष्यनाम (निघं०२.३.१०)। हरन्ति पदार्थान्, प्रसह्यीक्रियन्ते वा मृत्युनेति वा(देव०, तत्रैव)। हरन्ति ये ते किरणाः(दया०, ऋ०१.१६.१)। हरिः = यो हरते वहते यथायोग्यं गृहाश्रमव्यवहारान् सः [गृहपतिः] (दया०, यजु०८.११)। हरिभिः = सद्गुणाकर्षकैर्मनुष्यैस्सह (दया०,ऋ०७.२९.२)। हरिः = हविर्हरणशीलश्च सन् देवान् प्रति हविः प्रापणशीलश्च सन्नित्यर्थः(उवटः, ऋ०१०.७९.६)। हरत्युष्णतामिति हरिश्चन्द्रः (दया०, ऋ०१.९५.१); हरणशीलो वायुः (दया०, ऋ०३.४४.३) [√हृञ् हरणे+इ (उणा०४.१२०) > हरि]।
२. वाशीति वाङ्नाम– वाश्यत इति सत्याः (निरु०४.१६)।
३. तु० यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् (ऋ०१०.८५.३७; अथर्व०१४.२.३८)।
४. शिश्नथत् = शिथिलीकरोति (दया०, ऋ०४.३०.१०)।
५. शिश्नमित्यपि √ष्णा शोचे, √ष्णा वेष्टने इत्यनयोरन्यतरस्य रूपम्। कथम्? धात्वादेः सकारस्य शकारश्छान्दसत्वात् 'घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्'(म० भा० ३.३.५८) इति कर्मणि कप्रत्ययः। 'द्विर्वचनप्रकरणे कृञादीनां के'(म०भा० ६.१.१२) इति द्विर्वचनम्। अर्तिपिपर्त्योश्च (अष्टा०७.४.७७) इत्यभ्यासस्येत्वम्। एवं शिश्नमिति भवति। किं पुनरस्य शिश्नशब्देनोच्यते? वायितं सूत्रम्। तद्धि शौचार्हं भवति, अन्नगन्धित्वात्। वेष्टितं च तन्तुवायुयन्त्रे। अथवा शिश्नशब्दः प्रजननवचनः। इह तु तत्सादृश्यात् पुच्छां शिश्नमुच्यते (स्कन्दः,ऋ०१.१०५.८; द्र० निरु० ४.६)।

[खण्डम् – ४]

९०. जामि* जाम्यतिरेकनाम, बालिशस्य वा। समानजातीयस्य वोपजनः। (४.२०, द्र०३.६)

[खण्डम् – ५]

९१. पिता* पिता पाता वा, पालयिता वा, [जनयिता]। (४.२१)

---

९०. **'जामि'** यह अतिरेक अर्थात् अधिकता (पुनरुक्त) का नाम है, क्योंकि वह पुनः उत्पन्न व प्रयुक्त होता है[1] [√जनी प्रादुर्भावे (४.४०)+मि[2] > जा+मि > जामि]। 'जामि' यह मूर्ख का भी वाचक है, क्योंकि वह मर्यादा का अतिक्रमण करता है, मूर्खतापूर्ण कार्य करता जाता है, इसलिए उसका नाम **'जामि'** है [√जमति गतिकर्मा (निघं० २.१४.१०४)+इण्[3] > जामि]। 'जामि' पद का अर्थ ज्ञाति, सनाभि व सगोत्र के लोग हैं, क्योंकि अपत्यवाचक 'जा'[4] शब्द से समानजातीय अर्थ में 'मि' प्रत्यय होकर 'जामि' शब्द निष्पन्न होता है [√जनी प्रादुर्भावे (४.४०)+ड[5] > ज+टाप् > जा+मि > जामि]।[6]

९१. पिता सन्तान की रक्षा करने वाला होता है, अत एव वह **'पिता'** कहाता है [√पा रक्षणे (२.४९)+तृन्[7] > पि+तृ > पितृ]। सन्तान का पालन करने वाला होता है, इसलिए भी **'पिता'** नाम है [√पाल रक्षणे (१०.७६)+तृन् > पि+तृ > पितृ]। (सन्तान को उत्पन्न करने वाला होता है, इसलिए भी जनक का नाम **'पिता'** है [√जनी प्रादुर्भावे (४.४०)+तृन् > पि+तृ > पितृ अथवा उत्पादनार्थक 'पि' धातु से तृन् प्रत्यय होकर पिता शब्द उत्पन्न होता है])।

---

१. अतिरिच्यत इत्यतिरेकः पुनरुक्तमुच्यते, तस्य नाम पुनर्जायमानत्वात् (स्क०म०, निरु०४.२०)।
२. नियो मिः (उणा०४.४४) इति बाहुलकात् जायतेरपि।
३. जनिघसिभ्यामिण् (उणा०४.१३१) इति बाहुलकाद् जमतेरपीण्।
४. जाम् = अपत्यम् (निरु०३.६)।
५. अन्येष्वपि दृश्यते (अष्टा०३.२.१०१)।
६. याति कार्याणि प्रापयतीति 'यामिः', आदेर्जत्वं 'जामिः' स्वसा कुलस्त्री वा (दया०, उणा०४.४४) [√या प्रापणे (२.४२)+मि > यामि > जामि]। जामयः अङ्गुलिनाम (निघं०२.५.१४)।
७. नप्तृनेष्टृ... मातृपितृदुहितृ (उणा०२.९७)।

९२. बन्धुः* बन्धुः संबन्धनात्। (४.२१, द्र० २.२०)

९३. नाभिः नाभिः सन्नहनात्; नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुः। (४.२१)

९४. सनाभिः एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते, सबन्धव इति च। (४.२१)

---

९२. सम्बन्धविशेष के कारण **'बन्धु'** नाम है [√बन्ध बन्धने (९.४१)+उ[1] > बन्धु]।[2]

९३. सम्यक्तया बन्धन (आधार,[3] रक्षण[4]) का हेतु होने के कारण शरीर के केन्द्रभूत अवयवविशेष को **'नाभि'** कहते हैं, क्योंकि इससे शरीर की सम्पूर्ण नाडियाँ संबद्ध रहती हैं और गर्भस्थ शिशु भी इससे आबद्ध (सन्नद्ध) रहता है, उसे भोजनादि का शक्तिसंचार भी इसीसे होता है [√णह बन्धने (४.५५)+इञ्[5] > नाभ्+इ > नाभि]।[6]

९४. एक ही माता की नाभि से सम्बन्धित होकर उत्पन्न हुए ज्ञाति (आत्मीय बन्धु लोग, दायाद **'सनाभि'** कहलाते हैं [समान+नाभि > [7]सनाभि]।[8]

---

१. शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च (उणा०१.१०)।
२. बन्धुः धननाम (निघं०२.१०.२१)। बध्नन्ति फलेन संयोजयन्तीति बन्धवः कर्माणि (सायणः, ऋ०३.६०.१)। स्नेहेन बध्नातीति बन्धुः... अथवा फलेन बध्नातीति बन्धुरध्वर्य्वादिः (सायणः, ऋ०७.६७.९)।
३. नहनं बन्धनम् आधारः (दुर्गः, निरु०७.१०)।
४. सन्नाहकः = रक्षक इत्यर्थः (सायणः, ऋ०१.५९.२)।
५. नहो भश्च (उणा०४.१२७)।
६. मध्यं वै नाभिर्मध्यमभयम् (शत०ब्रा०१.१.२.२३) [नञ्+√ञिभी भये (३.२) > नाभिः]। नाभिः = नाभिशब्दोऽत्र प्राणमात्रोपलक्षणार्थो द्रष्टव्यः, प्राणः (स्कन्दः, ऋ०१.१०५.९)। नाभिस्थानीयः, यथा अङ्गानां मध्ये प्रधानभूत इत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ०६.४७.२८)। नह्यति दुष्टं, नाडीर्वा बध्नातीति नाभिः, क्षत्रियः प्राण्यङ्गं वा (दया०, उणा०४.१२७)। आत्मनो मध्यवर्त्ती विचारः [आप्तविचारः] (दया०, यजु०२९.५४)। आकर्षणेन बन्धनम् (दया०, ऋ०१.१६४.३५)। स्तम्भनं, स्थिरीकरणम्, प्रबन्धनम् (दया०, यजु०१७.८९)।
७. ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु (अष्टा०६.३.८५) इति समानस्य सभावः।
८. सनाभयः अङ्गुलिनाम (निघं०२.५.१५)। सनाभिः = सह नाभ्या, नाभिस्त्रयः ऋतवः— ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इत्येते, आदित्यमण्डलं वा (स्क०म०, निरु०४.२७)। समाना नाभिर्बन्धनं यस्य स कालः (दया०, ऋ०१.१६४.१३)। सनाभिः = एक प्रकार के कर्मबन्धन के साथ विद्यमान जीवात्माएँ (व्याख्याता)।

९५. ज्ञातिः ज्ञातिः संज्ञानात्। (४.२१)

९६. उत्तानः उत्तान उत्ततानः, ऊर्ध्वतानो वा। (४.२१)

९७. शंयुः* शंयुः सुखयुः। शमनं च रोगाणां, यावनं च भयानाम्। अथापि शंयुर्बार्हस्पत्यः उच्यते। (४.२१)

---

९५. पैत्रिक सम्बन्धी – पिता, ताऊ, चाचा आदि भाई एवं उनकी सन्तान आदि, जो कि एक संज्ञा (गोत्र) से भलीभांति जाने जाते हैं, वे सब समष्टिरूप से **'ज्ञाति'** कहलाते हैं [√ज्ञा अवबोधने (९.४०)+क्तिन् > ज्ञाति] ।

९६. **'उत्तान'** का अर्थ है – 'उत्कृष्टतया फैला हुआ' एवं 'ऊपर फैला हुआ' [उतम् ऊर्ध्वं वा तानो यस्य स उत्तानः। उत्+√तनु विस्तारे (८.१)+घञ् > उत्तान / उत्त (ऊर्ध्व)+तान > उत्ततान > उत्तान] ।[1]

९७. शंयु शब्द 'शम्' (सुख) और 'यु' के मेल से बना है अर्थात् 'रोगों का शमन तथा भयों का निवारण' को ही **'शंयु'** कहते हैं [शम्+यु > शंयु] । बृहस्पति (परमात्मा) के पुत्र (भक्त) को भी **'शंयु'** कहते हैं ।[2]

---

१. उत्तानः = ऊर्ध्वं तनित इव स्थितः [जीवात्मा](दया०,ऋ०४.१४.५)। ऊर्ध्वं स्थितः [सूर्यः] (दया०,ऋ०४.१३.५)। उत्तानयोः = उपरिस्थितयोरूर्ध्वं स्थापितयोः पृथिवीसूर्ययोः(दया०, ऋ०१.१६४.३३)।

२. ते शंयुं बार्हस्पत्यमब्रुवन् (तै०सं०२.६.१०.१)। शंयोः=कल्याणवतः साधनात् कर्मणः सुखवतो वा, सुखात्। अत्र ''कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः''(अष्टा०५.२.१३८) इति शमो युस्प्रत्ययः(दया०,यजु०३.४३)। शं लौकिकं पारमार्थिकं सुखं यस्मिँस्तस्य [मोक्षस्य] (दया०,ऋ०१.४३.४)।

चतुर्थः पादः [खण्डम् – १]

९८. अदितिः* अदितिरदीना देवमाता (४.२२)। [**खण्डम् – २**] (एनानि) अदीनानीति वा (४.२३)।

९९. एरिरे एरिर इतीर्त्तिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः। (४.२३)

[**खण्डम् – ३**]

१००. वस्त्रम् वस्त्रं वस्तेः। (४.२४)

---

९८. अदीन (कभी क्षीण, खण्डित व नष्ट न होने वाली, नित्य, समृद्ध) देवमाता (दिव्य पदार्थों का निर्माता परमेश्वर, द्युलोक, अन्तरिक्षलोक आदि) को **'अदिति'** कहते हैं [√दीङ् क्षये (४.२४) / √दो अवखण्डने (४.३९)+क्तिन् > दिति > न+दिति > अदिति] ।[1]

९९. **'एरिरे'** यह पद आङ् उपसर्गपूर्वक ''ईर गतौ कम्पने च'' (२.८) धातु से लिट् प्रत्यय होकर अभ्यासादि कार्यों से निष्पन्न है [आङ्+√ईर्+झ (लिट्) > आ+इ ईर्+इरेच् > आ+ईरिरे > एरिरे]।[2]

१००. **'वस्त्र'** शब्द ''वस आच्छादने'' (२.१३) धातु से व्युत्पन्न होता है, क्योंकि उससे शरीरादि को आच्छादित किया जाता है [√वस्+ष्ट्रन् > वस्त्र]।[3]

---

१. अग्निरप्यदितिरुच्यते (निरु०११.२३)। अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥(ऋ०१.८९.१०)। अदितिः पृथिवीनाम(निघं०१.१.१४)। वाङ्नाम(निघं०१.११.४८)। गोनाम(निघं०२.१२.६)। अदिती द्यावापृथिवीनामधेयम्(निघं०३.३०.२१)।

२. 'ईराञ्चक्रे' की प्राप्ति में यह छान्दस प्रयोग है।

३. वस्त्रा = वस्त्राणि पयांसि वेगनिमित्तानि इन्द्रस्य(वेंकटः, ऋ०९.९६.१)। आच्छादनयोग्यानि वस्त्राणि। अग्नेर्ज्वाला एव वस्त्राणि। उषःकाले अग्नीनां प्रज्वाल्यमानवत्वात् ता एव वस्त्राणीत्युपचर्यते (सायणः, ऋ०१.१३४.४)। वस्त्राण्याच्छादकानि तेजांसि(सायणः, ऋ० ९.९७.२)।

१०१. तायुः* तायुरिति स्तेननाम (निघं०३.२४.७) – संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः, तस्यतेर्वा स्यात्। (४.२४)

१०२. भरः* भर इति संग्रामनाम(निघं० २.१७.५) – भरतेर्वा , हरतेर्वा। (४.२४)

१०३. नीचैः नीचैर्निचितं भवति। (४.२४)

---

१०१. 'तायु' शब्द स्तेन (चोर) का नाम है, क्योंकि चोर में पापकर्म संचित होता है, इसीलिए चोर **'तायु'** कहलाता है, ऐसा निरुक्त परम्परा के आचार्यों का मत है [√स्त्यै शब्दसंघातयोः (१.६५०)+उ > ताय्+उ > तायु]।[1] ''तसु उपक्षये'' (४.१०२) धातु से भी 'तायु' शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि चोर में पापकर्माशय की वृद्धि के कारण सुखादि क्षीण होते हैं, अत एव वह **'तायु'** कहलाता है अथवा अधार्मिक होने से हीन होता है [√तस्+डायु > त्+आयु > तायु]।[2]

१०२. भर शब्द संग्राम (युद्ध) का वाचक है, क्योंकि यह ''भृञ् भरणे'' (१.६३९) धातु से बनता है अर्थात् युद्ध से विजयादि प्राप्त होते हैं, इसलिए वह 'भर' कहलाता है [√भृ+अप् > भर]। ''हृञ् हरणे'' (१.६४०) धातु से भी 'भर' शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि युद्ध से शत्रु के ऐश्वर्य, राज्य आदि का हरण (आधिपत्य) किया जाता है, अथवा युद्ध में पराजय होने पर राज्यादि हरे (छिन) जाते हैं, अत एव युद्ध का नाम **'भर'** है [√हृ+अप् > हर > भर]।[3]

१०३. नीचैः शब्द निपूर्वक ''चि'' धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि जो निकृष्टतया चित (एकत्रित, क्षीण) होता है अथवा जो नीचे चित (स्थित) होता है,

---

१. √तायृ सन्तानपालनयोः(१.३२९), छन्दसीणः(उणा०१.२) इति बाहुलकाद् उण्(देव०, नि०नि०३.२४.७)।

२. उपक्षीणो ह्यसाविह लोके आयुषा यदा राज्ञो मारयिष्यमाणत्वाद्, परलोकेऽपि धर्मेणाधर्मकारित्वात् (स्क०म०,निरु०४.२४)। तायवः=सूर्यपालका वायवाः(दया०, ऋ०१.५०.२)। स्तेनाः(दया०,ऋ०५.५२.१२)।

३. भरे=√डुभृञ् धारणपोषणयोः(३.५)। नन्दिग्रहिपचादिभ्यः०(अष्टा०३.१.१३४)। तत्र गणपाठः–पचवचवपवदलपतजभराः इति। बिभर्ति पोषयति सुभटानां धैर्यं यशो वा।.... बिभ्रत्यनेन जयलक्ष्मीं योधाः।.... यद्वा √भृ भर्त्सने(९.२०).... भर्त्स्यन्ते हि तत्र शत्रवः। हरतेर्वा भः। ह्रियन्ते हि यत्र योद्धृणाम् आयूंषि धनानि च। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (वा०८.२.३५) (देव०,नि०नि०२.१७.५)।

१०४. उच्चैः उच्चैरुच्चितं भवति। (४.२४)

१०५. श्येनः* श्येनः शंसनीयं गच्छति। (४.२४; १४.१३)

१०६. यूथम् यूथं यौतेः– समायुतं भवति। (४.२४)

१०७. मन्दी * मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः। (४.२४)

उसका नाम **'नीचैः'** है [नि+√चिञ् चयने (५.५)+डैस्[1] > नी+च्+ऐस् > नीचैस्]।

१०४. उच्चैः शब्द उत्पूर्वक ''चि'' धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि जो उत्कृष्टतया चित (एकत्रित, चुना गया, बढ़ा हुआ) होता है अथवा जो ऊपर चित (स्थित) होता है, वह **'उच्चैः'** कहलाता है [उत्+√चिञ् चयने (५.५)+डैस्[2] > उच्+च्+ऐस् > उच्चैस्]।

१०५. बाज पक्षी प्रशंसनीय (सुन्दर) गति से उड़ता है अथवा प्रशस्त (तीव्र) गतिवाला होता है, अत एव उसका नाम **'श्येन'** है [√श्यैङ् गतौ (१.६९०)+इनच्[3] > श्येन]।[4]

१०६. **'यूथम्'** (= समूह) शब्द ''यु मिश्रणामिश्रणे च'' (२.२६) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि इसमें अधिकांश व्यक्ति (अवयव) समाहित होते हैं [√यु+थक्[5] > यूथ]।[6]

१०७. **'मन्दी'** शब्द स्तुत्यर्थक ''मदि'' धातु से व्युत्पन्न होता है, क्योंकि स्तुतिमान्, स्तुतियोग्य का नाम 'मन्दी' है [√मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (१.१२)+घञ् > मन्दः+इनि > मन्दिन्]।[7]

---

१. नौ दीर्घश्च (उणा०५.१३)।

२. उदि चेर्डैसिः (उणा०५.१२)।

३. श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् (उणा०२.४७)।

४. श्येनासः(=श्येनाः) अश्वनाम (निघं०१.१४.२०)। श्येनः=श्येन इव शीघ्रगन्ता [व्यभिचारिपुरुषः] (दया०,ऋ०४.१८.१३)। श्याययति विज्ञापयतीति श्येनो विद्वान् (दया०,यजु० २१.३५)। श्येनाय=श्येन इव पाखण्डिहिंसनाय [अतिथये] (दया०, ऋ०७.१५.४)।

५. तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः (उणा०२.१२)।

६. यूथस्य = सर्वस्य (निरु०११.४९)।

७. मन्दतेः स्तुतिकर्मणो घञि मन्दः स्तुतिः, तद्वान् मन्दी, अत इनिठनौ (अष्टा०५.२.११५) (देव०, नि०नि०४.१.५३)। मन्दिनः=सर्वस्यानन्दस्य जनयितुः (दया०, ऋ०२.११.२०)।

[खण्डम् – ४]

१०८. अपीच्यम्* अपीच्यम् अपचितम्, अपगतम्, अपहितम्, अन्तर्हितम् वा। (४.२५)

१०९. दंसयः* दंसयः कर्माणि– दंसयन्त्येनानि। (४.२५)

१०८. 'अपीच्यम्' का अर्थ है 'अपचितम्' अर्थात् पृथक् हुए का चयन (ग्रहण) किया गया, सूर्य से पृथक् हुई गोनामक किरणविशेष को चन्द्रमा ग्रहण करता है, इसीलिए उन्हें **'अपीच्यम्'** कहते हैं [अप+√चिञ् चयने (५.५)+यक्[१] > अप्+(च् इ)इच्+य > अप्+ईच्+य > अपीच्य]। यह 'अपगतम्' अर्थात् अपपूर्वक गत्यर्थक ईज् धातु से भी निष्पन्न होता है, जो किरणें सूर्य से निकल कर चन्द्रमा पर गमन करती हैं, वे **'अपीच्यम्'** कहलाती हैं [अप+√ईज गतिकुत्सनयोः (१.११०)+यक् > अप्+ईच्+य > अपीच्यम्]। जो किरणें सूर्य से निष्क्रान्त होकर चन्द्रमा में धारित (अपिहित) होती हैं, वे **'अपीच्यम्'** कहलाती हैं [अप+डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०)+यक् > अप्+ईच्+य > अपीच्य]। उसका 'अन्तर्हित' अर्थ भी है, अर्थात् सूर्य की गोनामक किरणें चन्द्रमा के (अप=) अन्तः धारित हैं, इसलिए भी वे **'अपीच्यम्'** कहलाती हैं [अप+√धा+य > अप+हि+य > अपीच्य]।[२]

१०९. 'दंसयः' यह कर्मों का नाम है (द्र० नि०नि० ४.१.५६), क्योंकि ये किये जाते हुए प्रकट होते हैं, दिखाई देते हैं, कर्मों का परिणामस्वरूप जो कर्माशय बनता है, वह जीवों के लिए बन्धन (सुखदुःखरूपी दंशन) का कारण बनता है और फलतः सुखदुःखों का अनुभव (दर्शन) भी होता है। इसीलिए कर्मों का नाम **'दंसि'** है, अथवा दंसयन्ति मोक्षयन्तीति दंसयः अर्थात् जन्ममरण व सुखदुःखादि से मुक्त कराने के कारण निष्काम कर्मों का नाम **'दंसि'** है [√दसि दंशनदर्शनयोः (१०.१४६)+इन्[३] > दंस्+इ > दंसि]।[४]

१. अघ्न्यादयश्च (उणा०४.११३) इति यको निपातनम्।
२. 'अपीच्यम्' इति निर्णीत (= बहिर्णीत) – अन्तर्हितनामधेयम् (निघं०३.२५.६)। अपिपूर्वाद् (अप इत्यस्मिन्नर्थे अपि इति भावः) अञ्चतेः 'ऋत्विग्०'(अष्टा०३.२.५९) इत्यादिना क्विन्प्रत्ययः, ततो 'भवे च्छन्दसि' (अष्टा० ४.४.११०) इति यत्, अचः (अष्टा०६.४.१६७) इत्यकारलोपः, चौ (अष्टा०६.३.१३७) इति पूर्वपदस्य दीर्घः (भट्टभास्करमिश्रः, ऋ० ८.४१.५)। अपीच्यम् = गुह्यम् (सायणः, ऋ०८.३९.६), येऽप्यञ्चन्ति प्राप्नुवन्ति तेषु साधुम् (दया०,ऋ०१.८४.१५), स्वगुणैर्निश्चितम् (दया०, ऋ०२.३५.११)।
३. सर्वधातुभ्य इन् (उणा०४.११२)।
४. दंसः कर्मनाम (निघं०२.१.३)। दंसयः = कृषिकर्माणि.... दासैः कर्मकरैर्दस्यन्ते इति (दुर्गः, निरु०४.२५)। अह्यश्च दंसयोऽहिर्मेघः, तस्मिन् भवस्तन्निमित्त इत्यर्थः। मेघनिमित्तानि कर्माणि वर्षणादीनि यस्मिन् काले वर्षास्वित्यर्थः (स्क०म०, निरु०४.२५)। उपक्षपयितव्यानि नाशयितव्यानि इति दंसयः [√दसु उपक्षये (४.१०३)+इन् (कर्मणि) > दस्+इ > दंस्+इ > दंसि]। बाहुलकान्नुम्।

११०-११२. अंहतिः, अंहस्, अंहुः अंहतिश्च अंहश्च अंहुश्च हन्तेर्निरूढोपधाद् विपरीतात्। (४.२५)

११३. पियारुम् (पियारुम्) पीयुं– पीयतिर्हिंसाकर्मा। (४.२५)

११४. वियुते* वियुते द्यावापृथिव्यौ– वियवनात्। (४.२५)

११०-११२. अंहति, अंहः, अंहु ये तीनों शब्द पाप के वाचक हैं और ये तीनों ही "हन हिंसागत्योः" (२.२) धातु की उपधा (अ) को धातु से (निरूढ) अलग कर अवशिष्ट 'ह् न्' वर्णों को आद्यन्त विपरीत (न् ह् के रूप में) करने से निष्पन्न होते हैं [√हन्+अति > अ न् ह्+अति > अंहति[१]; अ न् ह्+असुन् > अंहस्[२]; अ न् ह्+उ > अंहु[३]]।

११३. **'पियारु'** का अर्थ है 'पीयु' अर्थात् हिंसक, हिंसाशील[४] क्योंकि यह शब्द हिंसार्थक "पीङ्" धातु से निष्पन्न होता है [√पीङ् हिंसायाम्[५]+आरु[६] > पिय्+आरु > पियारु]।

११४. द्युलोक और पृथिवीलोक का नाम संयुक्तरूप से **'वियुत'** है, क्योंकि वे

१. उणादिकोष में पाणिनि ने तो हन् धातु से अतिप्रत्यय और धातु के स्थान पर 'अंह' आदेश माना है – हन्तेरंह च (४.६३)। हन्त्यनेनेति अंहतिः, दानं वा (दया०, तत्रैव)।
२. पापं यदात्मनः कायकृतम् (दुर्गः, निरु०१३.१)। जन्मान्तरकृतमपि पापम् (स्क० म० तत्रैव)। पापपर्यायः हन्तिर्ह्येतत् कर्तारं यदा कदाचित् (वर०,नि०स०२.३२)। दारिद्र्यम् (वेंकटः, ऋ०२.२३.४)। आहन्तव्यं दुःखम् (सायणः,ऋ०२.२३.५)। दुःखरोगवेगम्। अत्र अमेर्हुक् च (उणा०४.२१४) चादसुन्। अनेन वेगो गृह्यते (दया०, ऋ०१.४२.१) [√अम गतिशब्दसंभक्तिषु (१.३१४)+हुक् (आगमः)+असुन् > अंह्+अस् > अंहस्]। अमन्ति प्राप्नुवन्ति दुःखं येन तत् अंहः पापं वा (दया०, उणा०४.११४)।
३. भृमृशीङ्तॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उणा०१.७)। अंहोः = विज्ञानवत्, अत्र हिधातोरौणादिक उः प्रत्ययः (दया०,ऋ०१.१०७.१)।
४. पियारुम् = सोमपानशीलं सोमेन यष्टारम् (सायणः, ऋ०१.१९०.५)। उदकस्य पातारम् (वेंकटः, ऋ०३.३०.८)। पानेच्छुकम् (दया०, ऋ०१.१९०.५), पीयमानम् (दया०, ऋ० ३.३०.८)।
५. पाणिनीयधातुपाठे त्वयं धातुः पानार्थकः – √पीङ् पाने (४.३२)।
६. शॄवन्द्योरारुः (अष्टा०३.२.१७३) इति आरुप्रत्ययो बाहुलकाद् वेदे पीयतेरपि भवति, स च किद्वद् भवति।

११५. समानम् समानं सम्मानमात्रं भवति। (४.२५)

११६. मात्रा मात्रा मानात्। (४.२५)

११७. अन्तः अन्तोऽततेः। (४.२५)

११८. ऋधक्* ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति। अथापि ऋध्नोत्यर्थे दृश्यते। (४.२५)

दोनों पृथक्-पृथक् रहते हैं [वि+√यु मिश्रणे अमिश्रणे च (२.२६)+क्त > वियुत]।

११५. 'समानम्' का अर्थ है 'सम्मानमात्र' अर्थात् सम परिमाण वाले **'समानम्'** कहलाते हैं [सम्+√मा माने (२.५५)+ल्युट् > सम्+मा+अन > सम्मान > समान]।[१]

११६. मापने में सबसे छोटी इकाई (अवयव) होने से उसका नाम 'मात्रा' है [√मा माने (२.५५)+त्रन्[२]+टाप् > मात्रा]।[३]

११७. 'अन्त' शब्द ''अत सातत्यगमने'' (१.३१) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि वह सामीप्य से प्राप्त रहता है [√अत्+अच् > अ नुम् त्+अ > अन्त्+अ > अन्त]।[४]

११८. **'ऋधक्'** यह अव्ययपद पृथक् अर्थ का वाचक है [पृथक् > ऋथक् > ऋधक् – अव्ययपदम्]। और यह वृद्धि के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है [√ऋधु वृद्धौ (४.१३१)+अजि[५] (कित्) > ऋधज् > ऋधक्]।[६]

---

१. समानम् = साधारणं वा, सहभूतौ (स्कन्दः, ऋ॰१.२५.६)।
२. हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् (उणा॰४.१६९)।
३. मात्राभिः = मीयन्ते मान्तीति वा मात्राः शिलोच्चयः, ताभिः (सायणः, ऋ॰३.३८.३)। मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते इति मात्राः शिलोच्चयः (सायणः, ऋ॰३.४६.३)।
४. अन्तः = अभ्यन्तरम् (निरु॰१०.१९)। मध्ये (दुर्गः, निरु॰८.२)। उणादौ तु √अम गतिशब्द-सम्भक्तिषु (१.३१४)+तन् > अन्तः – 'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन्' (उणा॰३.८६)। अमति गच्छतीति अन्तः, नाशः समीपं तत्त्वस्वरूपं मनोहरं वा (दया॰, तत्रैव)।
५. प्रथेः कित्सम्प्रसारणं च (उणा॰१.१३७) इति ऋधेरपि बाहुलकाद् अजिप्रत्ययः।
६. ऋध्नुवन् ऋद्धं कुर्वन् (देव॰, नि॰नि॰४.१.६०)। ऋधक् = विरुद्धं कर्म (सायणः, ऋ॰४.१८.४)। यः समृध्नोति सः [मर्त्यः = मनुष्यः] (दया॰, यजु॰३३.८७)। स्वीकारे (दया॰, ऋ॰३.२५.१), सत्यम् (दया॰, ऋ॰४.१८.४)।

११९. ररिवान् ररिवान् रातिरभ्यस्तः। (४.२५)

१२०. अजाः* अजा अजनाः। (४.२५)

१२१. शरत् शरत् श्रृता अस्यामोषधयो भवन्ति, शीर्णा आप इति वा। (४.२५)

[खण्डम् – ५]

१२२. वामः* वामस्य वननीयस्य। (४.२६; ६.२२,३१; ११.४६)

---

११९. **ररिवान्** (=दानी, दयालु, दान देता हुआ) शब्द ''रा दाने'' (२.५०) धातु से द्वित्व होकर सिद्ध हुआ है [√रा+(लट्)[१] क्वसु > रा रा+वस् > र र्+इवस् > ररिवस्]।

१२०. अजाः का अर्थ अजन अर्थात् जो उत्पन्न नहीं होता है, वह **'अज'** कहलाता है [नञ्+√जनी प्रादुर्भावे (४.४०)+ड > अ+ज्+अ > अज]।[२]

१२१. जिस ऋतु में औषधियाँ पक जाती हैं, उसे **'शरत्'** कहते हैं [√श्रा पाके (२.४६) / √श्रीञ् पाके (९.३)+अदि[३] > शर्+अद् > शरद्]। जिसमें जल (शैत्य) बढ़ा हुआ रहता है, जिससे प्राणी दुःखी व रोगग्रस्त होते हैं, उसे **शरद्** कहते हैं अथवा वर्षाकाल में सर्वत्र भरा हुआ पानी व प्रवाह जिसमें कम (क्षीण) हो जाता है, उसे **'शरद्'** कहते हैं [√शॄ हिंसायाम् (९.१७)+अदि[३] > शर्+अद् > शरद्]।[४]

१२२. **'वामस्य'** का अर्थ है 'वननीयस्य' अर्थात् स्तुति करने योग्य, सेवनीय का [√वन शब्दे सम्भक्तौ (१.३१२) / √वनु याचने (८.८)+मक्[५] > वन्+म >

---

१. छान्दसत्वाद् वर्तमाने लटि क्वसावेतद् रूपम् (स्क॰म॰, निरु॰४.२५)।
२. अजः = अजनः (निरु॰१२.२३)। अजति गच्छतीत्यजः सूर्यः [√अज गतिक्षेपणयोः (१.१३९) +अच् > अज]। यद् वा, न जायते इत्यजः जन्मरहित इत्यर्थः (सायणः, ऋ॰१.६७.५-६)। य परमात्मा कदाचिन्न जायते सः (दया॰, ऋ॰१.६७.३)।
३. शॄदॄभसोऽदिः (उणा॰१.१३०)।
४. वर्षासु सर्वतोऽभिप्लुता या आपो बह्व्यस्ताः शीर्णा विशीर्णा अल्पीभूता अस्यामिति (स्क॰म॰, निरु॰४.२५)। शरच्छब्दः संवत्सरपर्यायः .... अथवा शरच्छब्देन ऋतुरभिधीयते, न संवत्सरः। शरदि हि व्याधिबहुलत्वाद् दुर्दर्शमिति विशेषेण प्रार्थ्यते (वर॰, नि॰स॰ २.३७)।
५. इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् (उणा॰१.१४५)।

१२३. पलितः पलितस्य पालयितुः। (४.२६)

१२४. होता होतुः (ह्वातुः) ह्वातव्यस्य। (४.२६; ७.१५)

१२५. भ्राता भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः– हरते भागं, भर्त्तव्यो भवतीति वा। (४.२६)

१२६. विश्पतिः (विश्पतिं) सर्वस्य [=विश्वस्य] पातारं वा

वअ+म > वाम]।[1]

१२३. **'पलितस्य'** का अर्थ है 'पालयिता' अर्थात् पालन करने वाले का [√पल रक्षणे (क्षीर० १०.६३)+(इट्) क्त > पल्+इत > पलित]।[2]

१२४. **'होतुः'** का अर्थ है 'ह्वातव्यस्य' अर्थात् आह्वान करने (बुलाने) योग्य का [√ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च (१.७३३)+तृच् > ह्वा+तृ > हु[3]+तृ > होतृ]।

१२५. भ्रातृशब्द हरण (ग्रहण) अर्थ वाले ''भृञ्'' (भरणे– १.६३९) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि सूर्य रश्मियों के द्वारा जलभाग का आहरण (ग्रहण) करता है, अतः वह **'भ्राता'** कहलाता है। सोदर भी अपने दायभाग का ग्रहण करता है, इसलिए वह भी **'भ्राता'** कहलाता है [√भृञ्+तृन् / तृच्[4] > भ्रा+तृ > भ्रातृ]। जल से भरने योग्य अन्तरिक्ष लोक का भी नाम **'भ्राता'** है और सोदर भी परस्पर या छोटा भाई बड़े के द्वारा धारणपोषण के योग्य होने से, वे भी **'भ्राता'** कहलाते हैं [√भृञ् भरणे (१.६३९) / √भृञ् धारणपोषयोः (३.५)+तृन् / तृच् > भ्रातृ]।

१२६. सब के रक्षक और पालन करने वाले को **'विश्पति'** कहते हैं [√पा रक्षणे (२.४९) / √पाल रक्षणे (१०.७६)+डति[5] > प्+अति > पति; विश्वस्य

---

१. वामः प्रशस्यस्य नाम (निघं० ३.८.९)। वामम् = वमत्युद्गिरति येन तम् [वायुम्]। टुवमु उद्गिरणेऽस्माद्धातोः हलश्चेति घञ्, उपधावृद्धिनिषेधे प्राप्ते 'अनाचमिकमिवमीनामिति वक्तव्यम्' (७.३.३४) इति वार्त्तिकेन वृद्धिः सिद्धा (दया०, ऋ०१.३३.३)। वामा = प्रशस्ता वाक् (दया०,ऋ०१.४०.६, द्र० सायणः, ऋ०६.४८.२०)।

२. पलितः = जातश्वेतकेशः (दया०,ऋ०१.१४४.४)। पलितस्य = प्राप्तवृद्धावस्थस्य [विदुषः] (दया०,ऋ०१.१६४.१) [फल निष्पत्तौ (१.३५७)+इतच् – 'फलेरितजादेश्च पः' (उणा०, ५.३४) > पल्+इत > पलित]।

३. बहुलं छन्दसि (अष्टा० ६.१.३३) इति सम्प्रसारणम्।

४. नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृपितृदुहितृ (उणा० २.९७) इति निपातेन भ्रादेशश्च।

५. पातेर्डतिः (उणा० ४.५८)।

पालयितारम् वा। (४.२६; ५.२८; १२.२९)

१२७. सप्तपुत्रम् सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रम्, सर्पणपुत्रमिति वा। (४.२६)

१२८. सप्त सप्त सृप्ता संख्या। (४.२६)

[खण्डम् – ६]

१२९. चक्रम् चक्रं चकतेर्वा, चरतेर्वा, क्रामतेर्वा। (४.२७)

पतिः – विश्व+पति > विश्+पति > विश्पति]।[1] विश् का अर्थ है मनुष्य,[2] उनका पति, पालक व रक्षक **'विश्पति'** कहलाता है [विश्+पति > विश्पति]।[3]

१२७. सप्त रश्मय एव पुत्रा यस्य, सः सप्तपुत्रः– जिसके सात वर्ण के रश्मीरूपी पुत्र (संरक्षक) हैं, ऐसा सूर्य **'सप्तपुत्र'** कहलाता है [सप्त+पुत्र > सप्तपुत्र]। अदिति [प्रकृति या ईश्वर] का सातवाँ पुत्र होने से भी सूर्य का नाम **'सप्तपुत्र'** है [सप्तम+पुत्र > सप्त+पुत्र > सप्तपुत्र]। सर्पण (गमन) शील सात रश्मिरूपी पुत्र हैं जिसके वह सूर्य **'सप्तपुत्र'** कहलाता है [√सृप्लृ गतौ (१.७०९)+तुट् कनिन् > सप्+त् अन् > सप्तन्; सप्त+पुत्र > सप्तपुत्र]।[4]

१२८. सप्त संख्या छह से भी आगे सरकी हुई है, अत एव उसका नाम **'सप्त'** है [√सृप्लृ गतौ (१.७०९)+तुट् कनिन् > सप्+त् अन् > सप्तन्]।

१२९. चक्रशब्द ''चक तृप्तौ प्रतिघाते च'' (१.७३) / ''चक तृप्तौ'' (१.५३२) धातु से सिद्ध होता है [यहाँ चक धातु गत्यर्थ में है],[5] क्योंकि वह (सूर्य) निरन्तर चलता रहता है अथवा सूर्य अकेला ही सम्पूर्ण भूमण्डलादियों को अपने प्रकाश से तृप्त करता है (अन्तर्भावितण्यर्थ), अन्य नक्षत्रादियों का प्रकाश इसके सामने नष्ट हो जाता है,

---

१. विश्पतिः = सर्वस्य पाता वा पालयिता वा (निरु० १२.२९)।

२. विशः (बहुवचनरूपम्) मनुष्यनाम (निघं० २.३.५)।

३. विशो मनुष्याः, तेषां पतिर्विश्पतिः राजा (स्कन्दः, ऋ०१.२७.१२), पुत्रपौत्रादीनां मनुष्याणां पतिः विश्पतिः, कुलज्येष्ठोऽत्राभिप्रेतः, न राजा (स्कन्दः, ऋ०१.३७.८)। विशां प्रजानां पालकः सभापतिः राजा, अत्र 'वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' इति नियमात् 'व्रश्चभ्रस्ज०' (अष्टा० ८.२.३६) इति षत्वं न भवति (दया०,ऋ०१.२६.७)।

४. सप्तपुत्रम् = सप्तविधैस्तत्त्वैर्जातम् सूर्यम् (दया०,ऋ०१.१६४.१)।

५. चकनं चलनमुच्यते, चरणधर्मि क्रमणधर्मि वा (दुर्गः, निरु० ४.२७)। चक्रशब्दो हि समूहवाची, ब्राह्मणचक्रं भज (स्कन्दः, ऋ० ६.५६.३)। एकं यन्त्रकलासमूहम् (दया०, ऋ०१.३०.१९)।

१३०,१३१. सप्तनामा,नामन्* सप्तनामादित्यः– सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति, सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा। [नाम-] इदमपीतरत् नाम एतस्मादेव– अभिसन्नामात्। (४.२७)

इसलिए सूर्य का नाम **'चक्र'** है [√चक्+रक्[१] > चक्र]। ''चर गतौ भक्षणे च'' (१.३७६) धातु से भी 'चक्र' शब्द की व्युत्पत्ति होती है, क्योंकि चक्राख्य सूर्य निरन्तर गमनशील होता है और भूमिस्थ जलादि रसों का भक्षण भी करता है, इसलिए वह **'चक्र'** कहलाता है [√चर्+अच् > च कुम्(आगमः)र्+अ > चक् र्+अ > चक्र। अथवा धातोः कुगागमः – √चर् कुक्+अच् > चर्क्+अ > चक्र्+अ > चक्र / √चर्+अक्रड् > च्+अक्र > चक्र]। ''क्रमु पादविक्षेपे'' (१.३१९) धातु से भी **'चक्र'** शब्द निष्पन्न होता है [√क्रम्+ड (लिड्वत्)+क्रम् क्रम्+अ > चक्र्+अ > चक्र]।[२]

१३०-१३१ 'सप्तनामा' यह आदित्य का नाम है, क्योंकि सप्त (सर्पणशील, गतिशील) रश्मियाँ जिसके लिए जलादि रसों को लाकर समर्पित करती हैं, वह सूर्य **'सप्तनामा'** कहलाता है [सप्तरश्मि+√णम प्रह्वत्वे शब्दे च (१.७०८)+घञ् > सप्त+ नाम > सप्तनामा]। सप्त ऋषि जिसकी स्तुति करते हैं, वह भी **'सप्तनामा'** कहलाता है [सप्तर्षि+नाम > सप्तनामा]। यह दूसरा जो मनुष्यादि का 'नाम' पद है, वह भी नमधातु से ही बनता है, क्योंकि 'नामधेये मनुष्ये गुणान् नामयति नामानुरूपान् गुणान् धारयतीति नाम' अर्थात् नाम में नामधेय के सभी गुण (अभिसन्नत) समाहित रहते हैं, सभी गुणों का अभिव्यञ्जक शब्द ही, उसका **'नाम'** होता है अथवा नाम के द्वारा ही ईश्वरादि की स्तुति की जाती है या नामपद ही अर्थ को प्रसिद्ध (प्रकट) करता है, अथवा नामपद का अर्थ क्रियापद के अर्थ के प्रति झुक जाता है, गौण हो जाता है, इसीलिए उसका नाम **'नाम'** है [√णम+मनिन्[३] > नम्+मन् > ना+मन् > नामन्]।[४]

१. स्फायितञ्चिवञ्चिशकि... रक् (उणा०२.१३)।
२. √कृञ्+घञर्थे कविधानम्; द्विर्वचनप्रकरणे कृञादीनां के (वा०६.१.१२) इति द्वित्त्वम् [कृ कृ+अ > चक्र] इत्यपि व्युत्पत्तिर्व्याकरणप्रक्रियया भवति।
३. नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्लोमन्पाप्मन्ध्यामन् (उणा०४.१५२)।
४. नाम उदकनाम (निघं०१.१२.७९)। नाम–नमते (१.७०८), '०मनिन्' (उणा०४.१४६) इति मनिन्प्रत्यये धातोर्मलोपो दीर्घश्च निपात्यते। नम्यते पुरुषैर्देवतात्वात्। णिजन्ते वा निपातनम्। नमयति नदीतीरनिकटवर्त्तिनो वेतसान्। अथवा √अम गत्यादिषु भ्वादिः (३१४), √अम रोगे चुरादिः(१८९), नञ्पूर्वः, अस्मान्निपातनं पूर्ववत्। न अमन्ति गच्छन्त्यनेन। न हि स्नानपानोपयोगिजले विद्यमाने प्राणिनोऽन्यत्र गच्छन्ति। तथाहि– श्रोत्रियसजलनदीप्रभृतिषु विद्यमानेष्वेव वासो विधत्ते इति स्मृतिः। न आमयत्यनेन, रोगी न भवत्यनेनेत्यर्थः(देव०,नि०नि०१.१२.७९)।

१३२. संवत्सरः संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि। (४.२७)
१३३. ग्रीष्मः ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः। (४.२७)
१३४. वर्षाः वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः। (४.२७)
१३५. हेमन्तः हेमन्तो हिमवान् भवति। (४.२७)
१३६. हिमम् हिमं पुनर् हन्तेर्वा, हिनोतेर्वा। (४.२७)

१३२. समस्त प्राणी आदि भूत जिसमें एकसाथ निवास करते हैं, उसे **'संवत्सर'** कहते हैं [सम्+√वस निवासे (१.७३१)+सरच्[१] > संवत्सर]।

१३३. जिस ऋतु में शीत या जलादि रस सूर्य के द्वारा ग्रसे (खाये) जाते हैं, सूखे (नष्ट किये) जाते हैं, ग्रहण किये जाते हैं, उस ऋतु का नाम **'ग्रीष्म'** होता है [√ग्रसु अदने (१.४२०) / √ग्रस ग्रहणे (१०.२२०)+मक्[२] > ग्री (आदेशः, षुक् आगमश्च)+म > ग्रीष्म]।

१३४. जिस ऋतु में मेघ बरसते हैं, उसे **'वर्षा'** कहते हैं [√वृषु सेचने (१.४६८) + अच्[३] > वर्ष, वर्षः वर्षणम् (बहु) अस्त्यस्मिन्निति अर्शआदिभ्योऽच् (अष्टा० ५.२.१२७) – वर्ष+अच्+टाप् > वर्षा]।[४]

१३५. जिस ऋतु में हिम का पात होता है या शीत का आधिक्य होता है, ऐसे हिमयुक्त काल को **'हेमन्त'** कहते हैं [हिम+मतुप् > हेमन्त / √हन हिंसागत्योः (२.२)+ (मुट्) झच्[५] > हि+म् अन्त > हेमन्त]।[६]

१३६. हिमशब्द तो ''हन हिंसागत्योः'' (२.२) धातु से निष्पन्न होता है। यह अपने शीत से निर्बल प्राणी व वनस्पति आदियों को मारता है अथवा उष्ण, दुर्गन्ध

१. सम्पूर्वाच्चित् (उणा०३.७२)। सः स्यार्धधातुके (अष्टा०७.४.४९)।
२. घर्मग्रीष्मौ (उणा०१.१४९)। ग्रीष्मः=यो रसान् ग्रसते स [ऋतुः] (दया०,यजु०१३.५५)।
३. अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम् (वा०३.३.५६)।
४. वृतॄवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः(उणा०३.६२) [वृञ् वरणे (५.२)+स > वर्ष+टाप् > वर्षा] इत्यपि व्युत्पत्तिरुणादौ दृश्यते।
५. हन्तेर्मुट् हि च (उणा०३.१२९)।
६. हेमन्तः=हन्त्युष्णतां येन सः [ऋतुः](दया०,यजु०१३.५८)। हेमन्तेन=वर्द्धन्ते देहा यस्मिँस्तेन [सर्वरसपरिपाचकेन ऋतुना](दया०, यजु०२१.२७)।

१३७. अजरम् अजरम् अजरणधर्माणम्। (४.२७)

१३८. अनर्वम् अनर्वम् अप्रत्यृतमन्यस्मिन्। यत्रेमानि सर्वाणि भूतान्यभिसन्तिष्ठन्ते। (४.२७; ६.२३)

१३९. अराः अराः प्रत्यृता नाभौ। (४.२७)

आदियों को नष्ट करता है, इसलिए उसका नाम **'हिम'** है [√हन्+मक्[1] > हि+म > हिम]। ''हि गतौ वृद्धौ परितापे च'' (५.११) धातु से भी हिमशब्द बनता है। हिमपात (अधिकशीत व पाला पड़ने) से यव, गेहूँ, सरसों आदि फसलों की वृद्धि होती है, अथवा शीतकाल में शीत के कारण व्यायाम करने वाले के शरीर की वृद्धि होती है। इसलिए भी उसका **'हिम'** नाम है [√हि+मक् > हिम]।[2]

१३७. संवत्सर (काल) सबकी जरा का कारण है, परन्तु स्वयं जरा (मरण) धर्म से रहित है, अत एव वह **'अजर'** कहलाता है [√जृष् वयोहानौ (४.२१)+अङ्+टाप् > जरा, न विद्यते जरा यस्मिन् सः अजरः, न+जरा > अजर]।

१३८. जो किसी अन्य पर प्रत्यृत अर्थात् आश्रित वा पराधीन नहीं हैं, अन्य सम्बद्ध नहीं है, वह **'अनर्व'** (=स्वतन्त्र, प्रधान) कहलाता है, जिसमें ये सभी भूत आश्रित (सम्बद्ध) होते हैं ऐसे संवत्सर को **'अनर्व'** कहते हैं [√ऋ गतिप्रापणयोः (१.६७०)+वप् > अर्व, न+अर्व > अनर्व]।[3]

१३९. आरें नाभि में प्रत्यृत अर्थात् जुड़ी हुई, एकत्रित होती हैं, इसलिए उनका नाम **'अराः'** है। प्रकृत प्रसंग में ऋतुरूप अरें संवत्सररूपी नाभि में प्रतिगत (सम्बद्ध, आश्रित) रहते हैं, इसलिए ऋतुओं का नाम **'अराः'** है [√ऋ गतौ (१.६७०; ३.१६)+अच् > अर]।

---

१. हन्तेर्हि च (उणा०१.१४७)।

२. हिमेन = उदकेन (निरु० ६.३६)। हिमाः = वर्षाणि (दया०, ऋ०५.५४.१५)।

३. स्नामदिपद्यर्तिपॄशकिभ्यो वनिप् (उणा०४.११४) इति वनिपन्तः(नान्तः) अपि शब्द समानार्थकः। *अनर्वणाम्* = अप्रत्यृतानाम्, अन्यं प्रति आश्रितत्वेन, स्वतन्त्राणामित्यर्थः (उवटः, ऋ०१०.६५.३)। *अनर्वणः* = अर्वा गन्तव्यः... अगन्तव्यस्य अप्रत्यृतस्य (सायणः, ऋ० ८.३१.१२)। *अनर्वा* अप्रत्यृतः = केनापि प्रतिकूलेन न प्राप्त इत्यर्थः (सायणः, ऋ०४.१७.२०), केनाप्यतिरस्कृतः(सायणः, ऋ०५.४९.४), अभिगन्तृरहितो युद्धेष्वपराङ्मुखो वा (सायणः, ऋ०७.२०.३)। *अनर्वाणः* = अपापाः, यद्वा अनर्वाणस्त्वमप्राप्नुवन्तो येऽस्मद्विरोधिनः(सायणः, ऋ०१.१९०.६), अप्रत्यृताः परैरप्रतिगताः(सायणः, ऋ०८.१८.२)। अविद्यमाना अश्वा यस्याः, सा [अदितिः=माता](दया०, ऋ०२.४०.६; अपि च द्र० ऋ०४.१७.२०; ७.२०.३; १.९४.२; १.३७.१)। अर्वा अश्वनाम (निघं०१.१४.३)।

१४०. षट् षट् पुनः सहतेः। (४.२७)

१४१. मासाः मासा मानात्। (४.२७)

१४२. प्रधिः प्रधिः प्रहितो भवति। (४.२७)

इति चतुर्थोऽध्यायः

---

१४०. षट् शब्द तो ''षह मर्षणे'' (१.५९१) धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि वह पाञ्च संख्या को अभिभूत (पराभूत) कर प्रयुक्त होता है, इसलिए उसका नाम 'षष्' (षट्) है [√सह्+क्विप् > षष् > षट्]।

१४१. मीयते मस्यते वा दिनैरिति मासः, संवत्सरो वा मीयते एभिरिति मासाः— दिनादि कालखण्डों से जिसको मापा जाता है, वह **'मास'** कहलाता है अथवा जिनके द्वारा संवत्सर मापा जाता है, वे भी 'मास' कहलाते हैं [√मा माने (२.५५)+स[1] > मास / √मसी परिमाणे (४.१११)+घञ्[2] > मास्+अ > मास]।[3]

१४२. प्रहित (प्रश्लेष्य निहित) अर्थात् परस्पर दृढ़तया स्थापित परिधि (परितः प्रकृष्टतया वा धीयते इति) का ही नाम **'प्रधि'** (परिधि, लोहे की हाल) है [प्र+√डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०)+कि[4] > प्रधि]।[5]

---

१. वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः(उणा०३.६२) इति बाहुलकाद् इहापि सः।

२. अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (अष्टा०३.३.१९)

३. मासः = अधियज्ञपक्षे माता निर्माता सोम ओषधिः। सर्वस्य किलौषधिसोमस्य चन्द्रमसः कलोपचयमनु प्रत्यहमेकैकश्येन कला इव चन्द्रमसः पर्णान्युपचीयन्ते। स पौर्णमास्यां पञ्चदशपर्णः सम्पद्यते। पौर्णमास्याः पुनः परतः कलाहानौ चन्द्रमस इव एकैकं पर्णम् अपचीयते इति ओषधेः सोमस्य चन्द्रमसः सम्पद्यते। तदायुर्वेदविदः सोमलक्षणं रसायनतन्त्रे स्मरन्ति। अधिदैवतपक्षे चन्द्रमाः सोमोपलक्षणत्वान्मासः(दुर्गः, निरु०११.५)। मासशब्दश्चन्द्रमसो वाचकः, द्विवचननिर्देशाद्यात्र तत्सहचरितः सूर्योऽपि द्वितीयो गृह्यते। यथा द्युलोके दीप्तौ पूजितौ वा सूर्याचन्द्रमसौ गच्छतः(स्कन्दः, ऋ०६.३४.४)।

४. उपसर्गे घोः किः (अष्टा०३.३.९२)।

५. प्रधिः प्रहितः (प्रश्लेष्य चक्रे निहितो भवति। गण्डपृष्ठः प्रधिरित्युच्यते। द्वादशप्रधयो मासाख्याः संहताः सन्तः(दुर्गः, निरु०४.२७)। प्रधिम् = प्रधिरक्षच्छिद्रकाष्ठाः प्रान्तकाष्ठः। स च रथावयवानामुपलक्षकः। रथावयवम् (सायणः, ऋ०१०.१०२.७)। रथचक्रस्य पार्श्वम्। पार्श्वफलके प्रधी इत्युच्येते (सायणः, ऋ०१०.१३८.६)।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः पादः [खण्डम् – १]

१. सस्निम्* (सस्निं) संस्नातं मेघम्। (५.१)
२. वाहिष्ठः* (वाहिष्ठः) वोढृतमः। (५.१)
३. नराः* नरा मनुष्याः— नृत्यन्ति कर्मसु। (५.१)

१. संस्नात अर्थात् अच्छीप्रकार से धुला हुआ (स्नात), शुद्ध जल से युक्त (परिवेष्टित) मेघ का नाम **'सस्नि'** है अथवा शुद्ध जल से सम्पूर्ण पृथिवी लोक का सम्यक्तया शुद्ध करने वाला होने से [अन्तर्भावितण्यर्थ से] मेघ का नाम **'सस्नि'** है [√ष्णा शौचे (२.५४)+किन् (लिड्वत्) > सस्न्+इ > सस्नि]।[१]

२. वोढृतम अर्थात् अत्युत्तम वाहक को ही **'वाहिष्ठ'** कहते हैं [√वोढृ+इष्ठन्[२] > वह्[३]+इष्ठ > वाह्[४]+इष्ठ > वाहिष्ठ]।[५]

३. मनुष्यों को **'नर'** कहते हैं, क्योंकि वे कर्मों में आसक्तिपूर्वक इधर-उधर, इसमें-उसमें दौड़ लगाते हैं, हाथ-पैर चलाते हैं, क्रियाशील रहते हैं [√नृती गात्रविक्षेपे

१. *सस्नि* = संस्नातमिन्द्रेण सम्यक् शोधितं भवति। स्नातेः 'आदृगमहन.' (अष्टा० ३.२.१७१) इति व्यत्ययेन कर्मणि किन् प्रत्ययः। यद्वान्तर्णीतण्यर्थात् कर्तर्येव किन्। वृष्ट्यादिना सम्यक् स्नापयिता शोधयिता भवति (सायणः, ऋ० १०.१२०.२)। *सस्निः* = ०शुद्धः, एवं—विधो यज्ञः, यद्वा सस्निः सनोतेर्द्विर्वचनादि, कामानां दाता (सायणः, ऋ० २.१८.१)। *सस्निम्* = अद्भिः संस्नातं प्रकर्षेण सर्वस्य जगतः स्नापयितारं मेघम् (सायणः, ऋ० १०.१३९.६)। स्नानसंशुद्धं संचेष्टयितारं वा ...अथवा संशोधयितारं संचेष्टयितारं वा वृष्ट्या सर्वस्य पृथिव्यादेः (उवटः, ऋ० १०.३८.४)। ब्रह्मचर्यव्रतविद्याग्रहणाभ्यां पवित्रम् (दया०, ऋ० ५.३५.१)। सस्नितमम् = अतिशयेन शुद्धं शुद्धकारकं च तथा शुद्धहेतुकं भौतिकं वा, अथवा स्वव्याप्त्या सर्वजगद् वेष्टयितारमीश्वरं, शिल्पविद्याहेतुकं व्यापनशीलं भौतिकं वा। √ष्णा शौचे (२.५४), अथवा √ष्णै वेष्टने इत्यस्य रूपम् (दया०, यजु० १.८)।
२. तुश्छन्दसि (अष्टा० ५.३.५८) इति इष्ठन् प्रत्ययः।
३. तुरिष्ठेमेयस्सु (अष्टा० ६.४.११४) इति तृचो लोपः।
४. छान्दसो दीर्घः।
५. वाहिष्ठः = अतिशयेन वोढा [रथः] (दया०, ऋ० ७.३७.१)। वाहिष्ठम् = अतिशयेन वाहयितारम् [राजानम्] (दया०, यजु० २६.१२)।

४. दूतः* दूतो जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, वारयतेर्वा। (५.१)
५. वावशानः* वावशानो वष्टेर्वा, वाश्यतेर्वा। (५.१; १४.१५)

(४.१०)+अच् > नृत्+अ > नर्+अ > नर]।[१]

४. दूतशब्द ''जुङ् गतौ'' (१.६८२) धातु से निष्पन्न होता है। जो वेगपूर्वक सन्देश को पहुँचाता है, वह **'दूत'** कहलाता है [√जु+क्त[२] > दू+त > दूत]। ''दु द्रु गतौ'' (१.६७७) धातु से भी दूतशब्द सिद्ध होता है। जो शीघ्रगामी होता हुआ सन्देश व पदार्थादि को पहुँचाता है, वह **'दूत'** कहलाता है [√दु (√द्रु)+क्त > दू+त > दूत]। वारणार्थक ''दु'' (उपतापे— ५.१०) धातु से भी 'दूत' शब्द बनता है। जो समाचारादि के प्रदान से दुःखादियों का निवारण करता है, वह **'दूत'** कहलाता है [√दु+क्त > दूत]।[३]

५. **'वावशान'** शब्द ''वश कान्तौ'' (२.७२) धातु से निष्पन्न होता है, इसलिए इसका अर्थ है— 'चाहता हुआ, प्रकाशित होता हुआ' अथवा 'पुनः पुनः भृशं वा कामयमानः, बार बार या अधिक चाहता हुआ'— [√वश्+कानच्[४] > ववश्+आन > वावश्[५]+आन > वावशान / वशेः यङ्लुगन्ताद्वा शानच्— √वावश्+आन > वावशान]। ''वाशृ शब्दे'' (४.५२) धातु से भी **'वावशान'** (शब्द करता हुआ, स्तुतियों से आह्वान करता हुआ) शब्द सिद्ध होता है [√वाश्+कानच् > वावाश्+आन > वावश्+आन > वावशान / √वावाश्+शानच् > वावश्+आन > वावशान]।[६]

१. नरः मनुष्यनाम (निघं० २.३.२)। अश्वनाम (निघं० १.१४.२३)। नरः √णीञ् प्रापणे (१.६४२), 'नयतेर्डिच्च' (उणा० २.१०२) इति ऋन्प्रत्ययः, जस्। नयन्ति संसारचक्रम्, पदार्थत्वात् देशान्तरम् नीयन्ते वा स्थानोत्तरकालेन। यद्वा √नृती गात्रविक्षेपे (४.१०) बाहुलकादृन् डिच्च। नृत्यन्ति गात्रविक्षेपं कुर्वते हि नियमेन गात्राणि विक्षिपन्ति कर्मसु तानि कुर्वन्तः (देव०, नि०नि० २.३.२)। नयन्ति आरोहिणम्, कर्मणां नेतारो वा नरः [अश्वाः] (देव०, नि०नि० १.१४.२३)
२. दुतनिभ्यां दीर्घश्च (उणा० ३.९०)।
३. दूतः = यो दुनोति शत्रून् भेत्तुं जानाति सः (दया०, ऋ० १.४४.९)। यो दुनोति परितापयति शत्रुस्वान्तानि सः (दया०, ऋ० १.१८८.१); सत्यासत्यसमाचारदाता (दया०, ऋ० ३.५४.१९); यो दुनोति समाचारं दूरं दूराद् वा गमयत्यागमयति (दया०, ऋ० ५.२६.६); सर्वपदार्थविद्यासमाचारप्रज्ञापकः (दया०, ऋ० ६.१६.६); यो दुःखानि दुनोति दूरीकरोति तम् (दया०, ऋ० ६.१५.८)।
४. लिटः कानज्वा (अष्टा० ३.२.१०६)।
५. तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (अष्टा० ६.१.७)।
६. वावशानाः = कमनीयाः [गिरः = वाचः] (दया०, ऋ० ७.५.५)। अत्यन्तं कामयमानाः [गावः] (दया०, ऋ० १.७३.५)। वावशाना = भृशं कामयमाना [उषाः] (दया०, ऋ० १.११३.१०)।

६. वार्यम्* वार्यं वृणोतेः, अथापि वरतमम्। (५.१)

७. गोपयत्यम् (गोपयत्यम्) गोपायितव्यं, गोपायितारो यूयं स्थ, युष्मभ्यमिति वा। (५.१)

८. अन्धस्* अन्ध इत्यन्ननाम (निघं० २.७.१)– आध्यानीयं भवति। तमोऽप्यन्ध उच्यते, नास्मिन् ध्यानं भवति, न दर्शनम्। अन्धंतम इत्य-

६. **'वार्यम्'** शब्द ''वृञ् वरणे'' (५.८) धातु से बनता है, जिसका अर्थ है– वरने योग्य [√वृ+ण्यत्[1] > वार्यम्[2]]। जो वरतम (वरणीयों में श्रेष्ठ) होता है, वह भी **'वार्यम्'** कहलाता है [√वृञ्+ण्यत् (तमबर्थे) > वार्यम्]।[3]

७. **'गोपयत्यम्'** का अर्थ है रक्षा करने योग्य। तुम लोगों के द्वारा जो रक्षणीय है, वह भी **'गोपयत्यम्'** कहलाता है [यूयं गोपयितारो यस्य]। जो तुम लोगों के लिए रक्षणीय, वह भी **'गोपयत्यम्'** कहलाता है।

८. **'अन्धस्'** यह शब्द अन्न (भोग्य वस्तु) का वाचक है, क्योंकि वह सर्वाधिक ध्यान (चिन्तन) करने योग्य होता है अथवा सबको विशेषरूप से ध्यान करने योग्य होता है [आङ्+√ध्यै चिन्तायाम् (१.६४८)+असुन्[4] > आ+ध्या+अस् > अ+नुट् ध्+अस् > अन्धस्]। तमस् (अन्धकार) भी **'अन्धस्'** कहलाता है, क्योंकि इसमें ध्यान (दर्शन) नहीं होता है, कुछ भी सूझता नहीं है [न+ध्यान > अन्+ध्+असुक् > अन्धस्]। अन्धकार को लक्षित कर 'अन्धंतम' अर्थात् यह बहुत घना अन्धकार है, ऐसा कहते हैं। यह जो दूसरा नेत्रविहीन है, वह भी अदर्शन (अ-ध्यान) के कारण **'अन्धः'** कहलाता है [पूर्ववत्]।[5]

१. एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् (अष्टा० ३.१.१०९) इति क्यपि प्राप्ते 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (अष्टा० ३.३.११३) इति ण्यत्।
२. ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः (अष्टा० ६.१.२०९) इत्याद्युदात्तशब्दः।
३. वार्यम् = वारि इत्युदकनाम (निघं० १.१२.९४)। तत्र भवम्। यावत् किञ्चिद् उदकभवं, तत् सर्वं त्वत्प्रभवया वृष्ट्या पुष्णन्तीत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ० १.८१.९)। वार्याणाम् = वारि-प्रभवानां व्रीहियवानां वरणीयानाम् (उवटः, ऋ० १०.९.५)। वार्याणाम् अश्वनाम (निघं० १.१४.२४; पाठान्तरम्)।
४. अदेर्नुम्धौ च (उणा० ४.२०७)। इह उणादौ तु √अद भक्षणे (२.१)+असुन् > अ नुम् ध्+अस् > अन्धस् इति व्युत्पाद्यते। 'अद्यते भक्ष्यते तद् अन्धः, अन्नमोदनो वा' (दया०, तत्रैव)'।
५. √अन्ध दृष्ट्युपघाते (१०.३५३)+अच् / असुन् > अन्धः, अन्धस् इत्यपि पाणिनिनये साध्यते। अन्धांसि = अन्नानि (निरु० ९.३६)।

भिभाषन्ते। अयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव। (५.१)

९. अमत्रम् अमत्रं पात्रम्– अमा अस्मिन्नदन्ति। (५.१; ६.२३)

१०. अमा* अमा पुनरनिर्मितं भवति। (५.१)

११. पात्रम् पात्रं पानात्। (५.१)

[खण्डम् – २]

१२. असश्चन्ती (असश्चन्ती) असज्यमाने इति वा, अव्युदस्यन्त्यौ इति वा। (५.२)

९. 'अमत्र' पात्र का नाम है, क्योंकि अपरिमित (अधिकतम) लोग जिसमें भक्षण करते हैं, उसे **'अमत्र'** कहते हैं [अमा+√अद भक्षणे (२.१)+ष्ट्रन् (डिद्) > अमत्र]। अथवा अपरिमित परिमाणवाला बड़े पात्र का नाम **'अमत्र'** है [न+√मा माने (२.५५)+अत्रन्[1] > अमत्र]।[2]

१०. अमाशब्द का अर्थ तो अनिर्मित अर्थात् निश्चित परिमाण वाला नहीं। अपरिमित, अनिश्चित, अधिक परिमाण (बड़ा), एकसाथ अर्थ में **'अमा'** शब्द प्रयुक्त होता है [न+√मा माने (२.५५)+अच्]।[3]

११. पान व भक्षण करने के कारण अथवा रक्षण करने के कारण **'पात्र'** नाम है [√पा पाने (१.६५९) / √पा रक्षणे (२.४९)+ष्ट्रन्[4] / त्रन्[5] > पात्र]।[6]

१२. **असश्चन्ती** का अर्थ है – (द्युलोक और पृथिवी लोक दोनों ही) असज्यमान हैं अर्थात् परस्पर न मिलने वाले हैं, पृथक्-पृथक् रहने वाले हैं [नञ्+ √सञ्ज

१. अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् (उणा० ३.१०५)।
२. अमत्रोऽमात्रो महान् भवति, अभ्यमितो वा (निरु० ६.२३)। अमा सहादन्त्यत्र होत्रादय इत्यमत्राणि चमसाः (सायणः, ऋ० २.१४.१)। अमत्रम् = सुपात्रम् (दया०, ऋ० ४.२३.६)। अमत्रः = ज्ञानवान् (दया०, ऋ० ३.३६.४)।
३. अमा पुनरमत्रं भवत्यपरिमाणम्, न हि यत्पात्रे दत्तं तस्य परिमाणमस्ति (स्क०म०, निरु० ५.१)। अमा गृहनाम (निघं० ३.४.११)। अमा = गृहे (निरु० ११.४५)।
४. सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (उणा० ४.१६०)।
५. दादिभ्यश्छन्दसि (उणा० ४.१७१)।
६. पात्रा = पतन्ति गच्छन्ति गमनसमर्थानि यानि, तान्यपत्यानि पात्राणि (सायणः, ऋ० १.१०४.८)। पात्रम् = पद्यते येन तत् [रथम्] (दया०, ऋ० १.८२.४)। यः पातिस्तम् [राजानम्] (दया०, ऋ० ६.७.१)। पात्राणां ज्ञानानां समूहम् (दया०, ऋ० १.११०.५)। पाति रक्षति समस्तं शिल्पव्यवहारं यस्तम् [अग्निम्] (दया०, यजु० ७.२४)।

१३. दूढ्यम् दूढ्यं दुर्धियम्, पापधियम्। (५.२,२३)

१४. पापः पापः पाताऽपेयानां, पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा— पापत्यतेर्वा स्यात्। (५.२)

सङ्गे (१.७१३)+शप्+शतृ > अ+सज्[१]+अत् > अ+सश्च्+अत् > असश्चन्ती (स्त्रीलिङ्गद्विवचनरूपम्)]। दूसरा अर्थ है— अव्युदस्यन्त्यौ अर्थात् (वे दोनों लोक) विषमगति से न चलने वाले, समगतिवाले हैं अथवा परस्पर एक दूसरे को अलग नहीं करने वाले, सम्बद्ध रहने वाले हैं; क्षीण व नष्ट होने वाले नहीं हैं [नञ्+(वि+उद्) √असु क्षेपणे (४.९९)+शप्+शतृ > अ+सश्च्+अत् > असश्चन्ती]।[२]

१३. दूढ्यम् का अर्थ है— दुर्धियम् अर्थात् पापबुद्धि व दुष्टबुद्धि वाले को। दुष्टबुद्धिवाला, पापभावना वाला **'दूढ्य'** कहलाता है [दुर्+धि+अम् > दु उ[३]+ढि+अम् > दू+ढ्य्+अम् > दूढ्यम्]।[४]

१४. अपेय अर्थात् जो सुरा आदि पाने योग्य नहीं हैं, उन्हें पाता है अथवा अरक्षणीय की रक्षा करता है, वह **'पापः'** (पापी) कहलाता है [√पा पाने (१.६५९) / √पा रक्षणे (२.४९)+प[५] > पाप, अथवा पाता+अपेय > पा+अप > पाप]। पापत्यमान अर्थात् पुनः पुनः व अत्यधिक पतित होता हुआ अधोगति को प्राप्त करता है, इसलिए भी वह पापी **'पापः'** कहलाता है [यङ्लुगन्तात् पत्लृ गतौ (१.५८४) धातोः डः; पापत्+ड > पाप्+अ > पाप]।[६]

---

१. दंससञ्जस्वञ्जां शपि (अष्टा० ६.४.२५) इत्यनुनासिकलोपः।
२. असश्चतः=असश्चन्त्य उद्घाटनेन प्रवृष्टपुरुषसङ्गरहिताः, यद्वा असश्चतः प्रवृष्टपुरुषरहितान् यज्ञगृहान्, तत्पुरुषप्रवेशाय द्वाराभिमानिन्य एतत्संज्ञिका अग्निविशेषमूर्तयो द्वारसेवया (सायणः,ऋ० १.१३.६)। विभागं प्राप्ताः, अत्र √सस्ज गतौ (१.११८) इत्यस्य व्यत्ययेन जकारस्य चकारः(दया०,ऋ० १.१३.६)। असश्चन्ती=असमवयन्ती [धारा=प्रवाहवद्वाणी] (दया०,ऋ०३.५७.६) [नञ्+ √षच समवाये (१.७२३)+शतृ+ङीप् > असश्चन्ती]।
३. दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वं वक्तव्यमुत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम् (वा० ६.३.१०९)।
४. दूढ्यः=दुर्धियः देवयागं प्रति कुत्सितमतयः अयज्वाना इत्यर्थः(उवटः,ऋ० १०.४४.७)। अनधिकारिभिर्दुःखेन ध्यातुं योग्यः। अत्र दुरुपपदाद् ध्यैधातोर्घञर्थे कविधानमिति कः प्रत्ययः। दुरुपसर्गस्योकारादेश उत्तरपदस्य ष्टुत्वञ्च पृषोदरादित्वात् [दुर्+ √ध्यै+क > दु उ+ढ्या+अ > दू+ढ्य्+अ > दूढ्य](दया०,ऋ० १.९४.८)। *दूढ्ये* = न दूढ्ये न तेभ्य एवं लक्षणेभ्यो दुर्धीभ्यः पापबुद्धिभ्यः स्वार्थप्रधानेभ्यः(दुर्गः,निरु० ४.२५)। यो दुष्टं ध्यायति विचारयति, तस्मै। अत्र चतुर्थ्यर्थे सप्तमी(दया०,ऋ० १.१९०.५)। दुःखेन ध्यातुं योग्याः [वीरसैनिकाः](दया०,ऋ० ३.१६.२)। दुःखेन ध्यातुं योग्यो व्यवहारः (दया०, ऋ० १.१०५.६)।
५. पानीविषिभ्यः पः(उणा० ३.२३)।
६. पापासः=पापाः(निरु० ६.२५)। अकृतपुण्या ब्रह्मचर्यव्रतादिरहिताः(सायणः,ऋ० ८.६१.११)।

१५. भन्दनाः* भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः। (५.२)

१६. आहनस् आहंसीव भाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहना इव भवत्येतस्मा-दाहनः स्यात्। (५.२, द्र० ४.१५)

१७. नदः* ऋषिर्नदो भवति— नदतेः स्तुतिकर्मणः। (५.२)

[खण्डम् – ३]

१८. अक्षाः* (अक्षाः) अश्नोतेरित्येके, क्षियतिनिगमः पूर्वः क्षरतिनिगम

---

१५. भन्दनाशब्द स्तुत्यर्थक[१] ''भदि'' धातु से निष्पन्न होता है। वन्दना वा स्तुति को ही **'भन्दना'** कहते है [√भन्द्+यु[२] > भन्द्+अन+टाप् > भन्दना]।[३]

१६. चोट पहुँचाती हुई जैसी तू बोलती है, इसप्रकार का तुम्हारा वचन असभ्यभाषण होने से हथोड़ी जैसी चोट (आघात) पहुँचाती है, इसलिए तुम्हारा सम्बोधन 'आहनः' ऐसा किया जाना चाहिए अर्थात् आघात करने जैसा असभ्य व निन्द्यवचन बोलने वाली स्त्री अथवा आघात (बन्धन) करने वाली प्रकृति का वाचक 'आहनस्' शब्द है [आङ्+ √हन हिंसागत्योः (२.२)+असुन् > आ+हन्+अस् > आहनस्]।[४]

१७. स्तुति करने वाला ऋषि **'नद'** कहलाता है, क्योंकि यह शब्द स्तुत्यर्थक ''नद'' धातु[५] से निष्पन्न है [√नद्+अच् > नद]।

१८. **'अक्षाः'** यह तिङन्त शब्द है, जो कि ''अशूङ् व्याप्तौ संघाते च'' (५.१८) धातु के लुङ्लकार में 'आशिष्ट, आष्ट' रूप की प्राप्ति में छान्दस रूप है, ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है [√अश्+सिच्+सिप् (व्यत्ययेन तस्य स्थाने सिप्,

---

१. भदि कल्याणे सुखे च (१.११) इति पाणिनिः।
२. सुयुरुवृञो युच् (उणा० २.७५) इति युच्प्रत्ययस्य इहाचित्त्वं बाहुलकात् ।
३. भन्दनानाम् = कल्याणाऽऽचरणानाम् [पत्नीनाम्](दया०,यजु० ८.४८)।
४. आहनसः = आहननवन्तो वञ्चनवन्तः (= सम्मोहयितारः) (निरु० ४.१५)। आहनः = आहन्तः मर्यादया हिंसितः। स्वकृतशुभाशुभकर्मापेक्षया मनुष्यादिप्राणिनां नरकपातेन स्वर्गप्रापणेन निग्रहानुग्रहयोः कर्तः इत्यर्थः(सायणः, ऋ० १०.१०.६)। आहनाः = या आहन्यन्ते ताः [वाचः](दया०, ऋ० ५.४२.१३)। व्याप्ताः [अपः = जलानि](दया०, ऋ० २.१३.१)।
५. नद अव्यक्ते शब्दे (१.४४) इति पाणिनिः। नदति अर्चतिकर्मा (निघं० ३.१४.९)। नदः स्तोतृनाम (निघं० ३.१६.४)।

उत्तर इत्येके, सर्वे क्षियतिनिगमा इति शाकपूणिः। (५.३; ९.७; द्र० १३.१२)

१९. श्वात्रम्* श्वात्रमिति क्षिप्रनाम (निघं० ४.२.१४)– आशु अतनं भवति। (५.३)

२०. ऊतिः* ऊतिरवनात् । (५.३)

ऊदित्वादिड्विकल्पः) > अश् + स् + स् > अक्षः > अक्षाः]।[१] **''अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः''** (ऋ०९.१०७.९) इस मन्त्र में पहले प्रयुक्त अक्षशब्द ''क्षि निवासगत्योः'' (६.११६) धातु के लुङ्लकार में 'अक्षैषीत्' रूप की प्राप्ति में **'अक्षाः'** यह छान्दसरूप है, ऐसा कुछ आचार्यों की मान्यता है [अट् + √क्षि + सिच् + सिप् (तिपः स्थाने) > अ + क्ष + स् + स् > अक्षाः]। मन्त्रस्थ दूसरा 'अक्षाः' प्रयोग तो ''क्षर सञ्चलने'' (१.५९०) धातु के लुङ्लकार में 'अक्षारीत्' की प्राप्ति में **'अक्षाः'** यह छान्दसरूप है, ऐसा किन्हीं का मत है [अट् + √क्षर् + स् + स् > अक्षाः]।[२] परन्तु शाकपूणि आचार्य का पक्ष है कि पूर्वोक्त दोनों प्रयोग और **'सोमो अक्षाः'** (ऋ० १०.८९.६) मन्त्रस्थ 'अक्षाः' प्रयोग, ये तीनों ही ''क्षि'' धातु के छान्दसरूप हैं।

१९. **'श्वात्रम्'** यह क्षिप्र (शीघ्रता) का नाम है, क्योंकि यह आशु और सतत गतिशील होता है [आशु + अतन > शु आ + अत्र > श्वात्र / आशु + √अत सातत्यगमने (१.३१) + रक्[३] > शु आ + अत् + र > श्वात्र]।[४]

२०. ऊति शब्द ''अव रक्षणगतिकान्ति''० (१.३९६) धातु से उपपन्न होता है। रक्षण, गमन, तृप्ति, पालन, याचन आदि का नाम **'ऊति'** है [√अव् + क्तिन् >

---

१. बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (अष्टा० ६.४.७५) इत्याटोऽभावः। बहुलं छन्दसि (अष्टा० ७.३.९७) इति ईटोऽभावः।
२. अतो ल्रान्तस्य (अष्टा० ७.२.७) इति वृद्धिः, रात्सस्य (अष्टा० ८.२.२४) इति सस्य लोपः।
३. स्फायितञ्चिवञ्चि ....शुभिभ्यो रक् (उणा० २.१३)।
४. श्वात्रमिति धननाम (निघं० २.१०.६)। आशु अतति गच्छति, चञ्चलं हि धनम् (देव०, तत्रैव)। श्वात्रम् = क्षिप्रनाम, अन्यदेवतास्तुतिरूपविलम्बमकृत्वातिशीघ्रमतिदीर्घं स्तुवन्तीत्यभिप्रायः (सायणः, ऋ० ८.६३.५)। श्वात्राः = श्वात्रं शीघ्रं कर्मविज्ञानं वर्तते यासां ताः [पत्नीः = विदुष्यः स्त्रियः]। अर्शादित्वादच् (दया०, यजु० ६.३४)। श्वात्रं प्रशस्तं विज्ञानं धनं वा विद्यते यासां ताः [आपः = प्राणाः]। अत्र अर्शादित्वात् प्रशंसार्थेऽच् (दया०, यजु० ४.१२)। श्वात्रः = ज्ञानवान् [जगदीश्वरो विद्वज्जनो वा]। श्वात्रतीति गतिकर्मसु पठितम् [निघं० २.२४] (दया०, यजु० ५.३१)।

२१. पड्भिः* (पड्भिः) पानैरिति वा, स्पाशनैरिति वा, स्पर्शनैरिति वा। (५.३)

२२. ससम्* (ससम्) स्वपनम् , एतन्माध्यमिकं ज्योतिः, अनित्यदर्शनम्। (५.३)

२३. द्विता* (द्विता) द्वैधम्। (५.३)

ऊठ् + ति > ऊति[१]]।

२१. ''पा पाने'' (१.६५९) / ''पा रक्षणे'' (२.४९) धातु से और ''स्पश बाधनस्पर्शनयोः'' (१.६२७) / ''स्पश ग्रहणसंश्लेषणयोः'' (१०.१५०) और ''स्पश संस्पर्शने'' (६.१३१) धातु से भी पट् शब्द सिद्ध होता है [√पा / √स्पश् / √स्पृश् + अट्[२] > प (आदेशः) + अट् > पट्]। सोम (अध्यात्मज्ञान) का पान व रक्षण करने से, दुर्गुणों को रोकने से या सद्गुणों को अपनाने से, स्तुतियों से स्पर्श करने से 'पट्' नाम है।[३]

२२. 'सस' का अर्थ है – स्वप्नशील अर्थात् अन्तर्लीन (छिपा) रहना, कभी कभी दिखाई देना। यह नाम अन्तरिक्षस्थ (मेघस्थ) ज्योति (बिजली) का नाम है। क्योंकि यह वर्षाकाल से अतिरिक्त आठ महिनों में दिखाई नहीं देती (सोती हुई जैसी अन्तर्लीन होती) है, केवल वर्षाकाल में ही कभी कभी दिखाई देती है, इसलिए बिजली का नाम **'सस'** है [√षस स्वप्ने (२.७१) + घ[४] > सस]।[५]

२३. **द्विता** का अर्थ है द्वैधम् अर्थात् दो प्रकार का [द्वि + तल् (विधार्थे अधिकरणविचालार्थे वा, न तु भावे)[६] > द्विता]।

---

१. ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च (अष्टा० ३.३.९७) इत्यन्तोदात्तत्वं निपात्यते। ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च (अष्टा० ६.४.२०) इत्यूट्।
२. सर्त्तेररटि (उणा० १.१३४) इति बाहुलकाद् पादिभ्योऽपि धातुभ्योऽट्प्रत्ययः।
३. पड्भिः = पादैः, अत्र वर्णव्यत्ययेन दस्य डः (दया०, यजु० २३.१३)। विज्ञानादिभिः (दया०, ऋ० ४.२.१४)। पादवद्भिश्च पादचतुष्टयोपेतैरश्वैः (सायणः, ऋ० ५.६४.७)।
४. पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (अष्टा० ३.३.११८)।
५. ससतः = स्वपतः (यास्कः, निरु० ४.१६)। ससम् अन्ननाम (निघं० २.७.२१)। स्वपन्त्यनेन भुक्तेन, न हि क्षुधितस्यातिनिद्रास्ति (देव०, तत्रैव)। ससस्य = शयानस्य [मनुष्यस्य] (दया०, ऋ० ३.५.६)। स्वप्नस्य (दया०, ऋ० ४.७.६)। कार्यस्य (दया०, ऋ० ५.२१.४)।
६. संख्याया विधार्थे धा, अधिकरणविचाले च (अष्टा० ५.३.४२-४३)।

२४. शम्भुः शम्भुः सुखभूः। (५.३)
२५. व्रा (व्राः) व्रात्याः=प्रैषा। (५.३)

[खण्डम् – ४]

२६,२७. वराहः*, वराहवः वराहो मेघो भवति (निघं० १.१०.१३) – वराहारः। ''वरम् आहारम् आहार्षीः'' इति च ब्राह्मणम्। अयमपीतरो वराह एतस्मादेव। बृहति मूलानि, वरं वरं मूलं बृहतीति वा।

---

२४. **'शम्भु'** का अर्थ है 'सुखभू' अर्थात् सुख देने वाला [शम्+√भू+डु > शम्भु]।[1]

२५. **'व्राः'** का अर्थ है 'व्रात्याः' अर्थात् आज्ञा देने योग्य कर्मकर (भृत्यगण) आदि[2] [व्रतमेव व्रातम्, व्रातमर्हतीति। व्रात+यत्[3] > व्रात्य > व्राः, 'त्य' इत्यस्य लोपश्छान्दसः]।[4]

२६-२७. **'वराह'** शब्द मेघ का वाचक होता है, क्योंकि मेघ (वर) उत्तम जल का आहरण (ग्रहण, भोजन) करता है अथवा उत्तम जल या अन्न प्रदान करता है [वर+आहार > वराह]। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसा ही कहा गया है— 'वरमाहारमाहार्षीः'। यह जो दूसरा लोकप्रसिद्ध जंगली शूकरवाची **'वराह'** शब्द है, वह भी इसी 'वराहार'

---

१. शम्भुः=यः शं सुखं भावयति सः [पतिः स्वामीश्वरो राजा वा] (दया०, ऋ०७.३५.१०)। सुखसम्पादकम् [क्षोदः=जलम्] (दया०, ऋ०१.६५.३)।
२. अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ।। (मनु०२.१४)
व्रात्यः संस्कारहीनः स्यात् (अमर०२.७.५३)। उपनयनसंस्कार (द्विजत्व) से हीन शरीरायासजीवी 'व्रात्य' कहलाता है।
३. दण्डादिभ्यो यत् (अष्टा०५.१.६५)।
४. व्राः=व्रियन्त इति व्राताः, तकारलोपश्छान्दसः। विशां व्राता यथा परस्परमनुरागवन्तः, तथा एतेऽपीत्यर्थः (सायणः, ऋ०१.१२६.५); व्रा इत्युषो नाम, उषसः (सायणः, ऋ० ४.१.१६)। ये व्रजन्ति ते (व्राः), अत्र व्रजधातोर्बाहुलकाद् औणादिको डः प्रत्ययः। व्रा इति पदनामसु पठितम् (निघं०४.२.२०) (दया०, ऋ०१.१२६.५)। या वृणोति [सा उषाः] (दया०, ऋ० १.१२४.८)। व्राताः मनुष्यनाम (निघं०२.३.१४)। व्राः=वृञ् वरणे (५.८)। गेहे कः (अष्टा०३.१.१४४) इति बाहुलकात् कः, यणादेशः, जस्। वरितारोऽन्वेष्टारो मृगादीनाम्। व्रात्यस्थानीया लुब्धकादयः (देव०, नि०नि०४.२.२०)।

अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते। अथाप्येते माध्यमिका देवगणा वराहव उच्यन्ते। (५.४)

शब्द से ही व्युत्पन्न होता है, क्योंकि वह भी उत्तम भक्ष्य कन्दमूलादि पदार्थों को खोदकर आहार (भोजन) ग्रहण करता है [पूर्ववत्]। (शूकरवाची **'वराह'** शब्द की व्युत्पत्ति यह भी है कि—) यह शूकर कन्दमूलादियों को खोदकर निकालता है [वर+√बृह्+क > वर+ह > वराह]। उत्तमोत्तम मूलों को उखाड़कर निकालता, इसलिए भी शूकर का नाम **'वराह'** है [वर+वर+√बृह > वर+ह > वराह]। (अयमपीतरो वराह एतस्मादेव... की व्याख्या यह भी कर सकते हैं—) यह जो वेद में प्रसिद्ध पर्वतवाचक **'वराह'** शब्द है, वह भी इसी 'वराहार' शब्द से ही निष्पन्न होता है, क्योंकि यह पर्वत भी श्रेष्ठ फल, मूलादि पदार्थों को प्रदान करता है। श्रेष्ठ मूल आदि पदार्थों को पर्वत प्राप्त कराता है, इसलिए भी उसका नाम **'वराह'** है। उत्तम - उत्तम पदार्थ व ओषधि आदि की खोज कर मनुष्य पर्वत से प्राप्त करता है, इसलिए पर्वत का नाम **'वराह'** है। अङ्गिरस (इन्द्रियादि अंगों को सद्विषयों में ही प्रेरित करने वाला संयमी, तेजस्वी वा चिकित्सक पुरुष) भी **'वराह'** कहलाता है, क्योंकि वह भी वराहार (सात्विक आहार या विषयों का) ही ग्रहण करता है, उत्तम स्वास्थ्य के लिए जड़ों को उखाड़ता है, बड़े-बड़े औषधीय कन्दमूलों का ग्रहण करता है और माध्यमिक (अन्तरिक्षस्थ मरुत्, रुद्र आदि) देवगण **'वराहु'**[1] कहलाते हैं।[2]

---

१. वराहुम्=वराणां धर्म्याणां व्यवहाराणां धार्मिकाणां जनानाञ्च हन्तारं दस्युं शत्रुम् (दया०, ऋ०१.१२१.११) [वर+√हन हिंसागत्योः (२.२)+डु- डुप्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्' (वा०३.२.१८०) > वर+ह्+उ > वराहु]। वराहून्=वरम् आह्वयतः शब्दायमानान् [रथान्] (दया०, ऋ०१.८८.५)। [वर+√ह्वेञ् स्पर्द्धायां शब्दे च (१.७३३)+डु > वर+ह्+उ > वराहु]।
२. वराहः— वृणोतेः (५.८)। 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' (अष्टा०३.३.५८) इत्यकारः (अप्), वरशब्दे कर्मण्युपपदे आङ्पूर्वाद्धरतेः 'कर्मण्यण्' (अष्टा०३.२.१)। वरमुदकमाहरतीति वराहः। वर उदकलक्षण आहारोऽस्येति वा वराहः (निरु०५.४) आङ्पूर्वाद्धरतेर्घञ्। 'वरमाहारमाहार्षीः' इति च ब्राह्मणम्। पृषोदरादित्त्वात् (अष्टा०६.३.१०९) आहारशब्दस्याकाररेफयोर्लोपः। यद्वा वरशब्दे उपपदे हरतेराङ्पूर्वात् 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अष्टा०३.२.१०१) इति बाहुलकाद् डप्रत्ययः। वराहाकारो वा कृष्णो मेघो वराहसादृश्येन वर्त्तते। वरमुत्कृष्टमुदकं वृहति उद्यच्छति वर्षितुम् √'वृहू उद्यमने' (६.५८)। ... हन्तेः पूर्ववद् डः। यद्वा वरशब्द उपपदे जुहोतेर्दानार्थात् डः। वरमुदकं ददाति आदत्ते वा वर्षितुमिति वराहो मेघः, पर्वतोऽपि वरमुत्कृष्टं पदार्थमाहारयति प्राणिभिः, पदार्थानां सर्वत्र सौलभ्यादाहारयतीत्युच्यते। वर आहारोऽत्रेति वा। वराहवत् कृष्णवर्ण इति वा। वरं [वरं] मूलं वृहत्युद्यच्छत्यस्मादिति वा। वरं वरमित्यत्रैकस्य वरशब्दस्य निवृत्तिः। वरशब्दाद् वृहेश्च वराह इत्यर्थः। वरमुदकमाददाति, आदीयते च तस्मात् पुरुषैर्वरः पदार्थ उदकमेव वा। 'विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता' (ऋ०१.६१.७), 'वराहमिन्द्र एमुषम्' (ऋ०८.७७.१०) इति च मेघस्य निगमौ। पर्वतस्यान्वेषणीयः (देव०, नि०नि०१.१०.१३)।

[खण्डम् – ५]

२८. स्वसराणि* स्वसराण्यहानि भवन्ति (निघं० १.९.५) – स्वयंसारीणि। अपि वा स्वरादित्यो भवति (निरु०२.१४) – स एनानि सारयति। (५.४)

२९. शर्याः* शर्या अङ्गुलयो भवन्ति (निघं०२.५.५) – सृजन्ति कर्माणि। शर्या इषवः – शरमय्यः। (५.४)

३०. शरः शरः शृणातेः। (५.४)

२८. **'स्वसर'** शब्द दिन का वाचक है, क्योंकि वे स्वयं सरकते हैं, आगे-आगे गमन करते हैं [स्वयम् + √सृ गतौ (१.६६९) + अच् > स्व + सर् + अ > स्वसर]। अथवा स्वर्‌शब्द आदित्य का वाचक है। वह आदित्य इन (दिनों) को सरकाता है, गमन कराता है, अतः दिनों का नाम **'स्वसर'** है [आदित्येन सार्यन्त इति स्वसराणि, स च स्वोदयास्ताभ्यां दिनानि सारयतीति वा। स्वर् + √सृ (अन्तर्भावितण्यर्थः) + अच् > स्वसर]।[1]

२९. **'शर्या'** शब्द अङ्गुलियों का वाचक है, क्योंकि वे कर्मों को करती हैं [√सृज विसर्गे (४.६७) + अच् > शृज् + अ > शृय् + अ > शर्य]। **'शर्या'** शब्द इषुओं (बाणों) का भी वाचक है, क्योंकि वे शरों (सरकण्डों) के विकार हैं अर्थात् सरकण्डों से बनाये जाते हैं [शर + यत् (मयडर्थे) > शर्या]।[2]

३०. शरशब्द ''शॄ हिंसायाम्'' (९.१७) धातु से निष्पन्न होता है । बाण मारता है, चीरता है, बींधता है, इसलिए उसका नाम **'शर'** है [शृणाति हिनस्त्यनेनेति। √शॄ + अप् > शर]।

१. स्वसराणि गृहनाम (निघं०३.४.१०)। स्वेन स्वननेन स्रियते प्राप्यते, स्वैर्गृहवतो ज्ञातिभिः श्रियते, सुष्ठु अस्यन्ते वास्मिन् पदार्थाः (देव०, तत्रैव)। सुष्ठु अस्यति क्षिपति तम इति स्वसरः सूर्यो वासरो वा [सु + √अस् + अरच् (उणा० ३.१३२)] (सायणः, ऋ० ३.६१.४)। सुष्ठु अर्यन्ते प्राप्यन्त इति स्वसराणि [सु + √ऋ + अच्] (सायणः, ऋ० २.१९.२)। सुष्ठु अस्यन्ते प्रेर्यन्ते गावोऽत्रेति स्वसराणि गोष्ठानि (सायणः, ऋ०८.८८.१)। स्वस्वकार्य-प्रापकाणि दिनानि, स्वसराणीति पदनामसु पठितम् (निघं० ४.२.२२) अनेन प्राप्त्यर्थो गृह्यते (दया०, ऋ०१.३४.७)।

२. शर्याम् = शरमयीमिषुम् (यास्कः, निरु०१०.२९)। शरो नाम हिंसासाधनलोहमयम् इषुमुखं, तत्प्रचुराम्। यद्वा, शरो नाम वंशावान्तरजातीयः काष्ठविशेषः, तद्विकाराम् इषुमिव। ...शर एव शर्या। अथवा शरो हिंसा, तत्करोतीति शर्या इषुः, तां यथा वायुः नोदनजन्यो वेगो वाऽनुकूलं प्रेरयति, तद्वत् (सायणः, ऋ०१.१४८.४)।

३१. अर्कः*, अर्कम् अर्को देवो भवति – यदेनमर्चन्ति। अर्को मन्त्रो भवति – यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति (निघं०२.७.१८) – अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति – संवृतः कटुकिम्ना। (५.४)

[खण्डम् – ६]

३२. वंशः वंशो वनशयो भवति । वननाच्छ्रूयत इति वा । (५.५)

३१. **'अर्क'** देव का वाचक है, क्योंकि उसकी अर्चना (स्तुति) की जाती है [√अर्च पूजायाम् (१.१२०) + घञ् (कर्मणि) / क[1] > अर्क्[2] + अ > अर्क]। **'अर्क'** शब्द मन्त्र का भी वाचक है, क्योंकि इससे स्तुति की जाती है [पूर्ववत्, प्रत्ययस्तु करणे]।[3] **'अर्क'** अन्न का भी वाचक है, क्योंकि वह प्राणियों को जीवित रखता है [पूर्ववत्, प्रत्ययस्तु कर्तरि]।[4] **'अर्क'** वृक्ष (= आक के पौधे) का भी वाचक है, क्योंकि वह कड़ुवेपन से व्याप्त होता है [संवृत + कटुकिमन् > ऋ + क > अर्क]।[5]

३२. वंश (बाँस) वनशय अर्थात् वन में विद्यमान होता है, इसलिए इसका नाम **'वंश'** है [वन + √शीङ् स्वप्ने (२.२५) + ड > वन् + श् + अ > वंश]। विविध कार्यों में इसका सेवन किये जाने के कारण इसका नाम **'वंश'** है, यह शब्द करता है, इसलिए भी इसका नाम **'वंश'** है, ऐसा सुना जाता है अथवा सेवन करने (बजाने) से इससे (बाँसुरी से) शब्द सुनाई देता है, इसलिए इसका नाम **'वंश'** है [√वन शब्दे सम्भक्तौ (१.३१२, ३१३) + √श्रु श्रवणे (१.६७५) > वन् + श > वंश]।

१. अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (अष्टा०३.३.१९) / कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः (उणा० ३.४०)।

२. चजोः कु घिण्ण्यतोः (अष्टा०७.३.५२) / चोः कुः (अष्टा० ८.२.३०)।

३. अर्कैः = अर्चनीयैः स्तोमैः (निरु० ६.२३)। अर्कम् = ऋग्वेदम् (दया०, ऋ०१.१६४.२४)। अर्कः = सर्वान् प्राणिनोऽर्चन्ति येन सः [घर्मः = यज्ञः] (दया०, यजु० २९.३९)।

४. अर्कम् = अर्चनीयमन्नं चरुपुरोडाशादिकम्, यद्वा अर्कमन्नसाधनं स्तोत्रम् (सायणः, ऋ० १.१८६.४)। सर्वैरर्चनीयं सोमम् (सायणः, ऋ० ८.९२.१९)।

५. अर्कः वज्रनाम (निघं० २.२०.१०)। अर्चनीयं गवां संघम् (सायणः, ऋ०७.९.२)। अर्कम् = उदकम्; अर्कशब्दस्योदकवाचित्वं वाजसनेयिन आमनन्ति — ''आपो वा अर्कः'' (शत० ब्रा०१०.६.५.२) इति। तन्निर्वचनं च त एवमामनन्ति – ''सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति, तदेवार्कस्यार्कत्वम्'' (शत०ब्रा० १०.६.५.१; बृ०उप०१.२.१) इति। स जगत् सृष्ट्वा हिरण्यगर्भ उदकं स्रष्टुमुद्युक्तोऽर्चन् सत्यसंकल्पमहिमप्रख्यापनेन स्वात्मानं पूजयन्नचरत्। तथा पूजयतो हिरण्यगर्भस्य सकाशादुदकमुत्पन्नम्। तदानीमर्चतो मत्तः कमभूदिति अवोचत्। तेनोदकस्य अर्कनाम निष्पन्नमित्यर्थः (सायणः, ऋ०१.१९.४)।

३३. पविः* पवी रथनेमिर्भवति – यद्विपुनाति भूमिम्। (५.५; १२.३०)

३४. धन्वन्* धन्वान्तरिक्षम् (निघं॰ १.३.५) – धन्वन्त्यस्मादापः। (५.५)

३५. सिनम्* सिनमन्नं भवति (निघं॰ २.७.८) – सिनाति भूतानि। (५.५; ११.३१)

३६. चित्* पशुनामेह भवत्युदात्तः, चित्तास्त्वयि भोगाः, चेतयस इति वा। (५.५)

---

३३. **'पवि'** रथचक्र (की परिधि) का नाम है, क्योंकि वह चलता हुआ भूमि को उखाडता[1] है [√पूञ् पवने[2] (९.१०)+इ[3] > पवि]।[4]

३४. **'धन्वन्'** यह शब्द अन्तरिक्ष का वाचक है, क्योंकि इससे जल गिरता है [√धवि गत्यर्थः (१.३९३)+कनिन्[5] > धन्व्+अन् > धन्वन्[6]]।[7]

३५. **'सिनम्'** शब्द अन्न (भोग्यपदार्थ) का वाचक है, क्योंकि वह प्राणियों को बन्धन में डालता है [√षिञ् बन्धने (५.२)+नक्[8] > सिन]।[9]

३६. उदात्तवान् 'चित्' शब्द पशुवाचक होता है। गौ आदि पशुओं में दुग्धादि भोग्यपदार्थ सञ्चित होते हैं, इसलिए पशुओं का नाम **'चित्'** है [√चिञ् चयने (५.५)

---

१. विपुनाति = विदलयति, विपूयो मुञ्ज इत्यत्र यथा।
२. पवते गतिकर्मा (निघं॰२.१४.१०८)।
३. अच इः (उणा॰४.१४०)। पुनातीति पविः, वज्रं हीरकं वा (दया॰, तत्रैव)।
४. पविः वाङ्नाम (निघं॰१.११.१५), वज्रनाम (निघं॰२.२०.५)। पवयः = वज्रसमाना दृढाश्चक्रविशेषाः (सायणाः, ऋ.१.३४.२)। पविषु = सुशिक्षितासु वाक्षु (दया॰, ऋ॰१.११६.१०)।
५. कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः (उणा॰१.१५६)। धन्वति गच्छतीति धन्वा, बाणक्षेपणं वा (दया॰, तत्रैव)।
६. यद्वा √'धन धान्ये' (३.२१), अनेकार्थत्वादर्थनार्थः। क्वनिप्। धन्यते अर्थ्यतेऽवकाशप्रदानाय देवतात्वात् स्वं स्वमभीष्टं वा (देव॰, नि॰नि॰१.३.५)।
७. अधि धन्वन् = धनुषि (निरु॰९.१८)। धन्वना = धनुषा (दुर्गः, निरु॰ ९.१७; सायणो दयानन्दश्च, ऋ॰२.२४.८)। धन्वेति मरुदेश उच्यते (स्कन्दः, ऋ॰६.३४.४)। धन्वनि जलवर्जितप्रदेशे [मरुदेशे] (सायणः, ऋ॰१.११६.४; १.३८.७)। बहुसिकतस्य स्थलस्य (दया॰, ऋ॰१.११६.४); धन्व = धनुर्वेदम् (दया॰, ऋ॰६.१२.५)।
८. इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उणा॰३.२)। सिनोति बध्नातीति सिनः, काणो वा (दया॰, तत्रैव)।
९. सीयतेऽनेनेति वा, अन्नेन हि भृत्यादयो बध्यन्ते (देव॰, नि॰नि॰२.७.८)। सिनम् = बन्धनम् (दया॰, ऋ॰२.३०.२)। हन्तुं बन्धकं वज्रनिमित्तबन्धनम् (वेंकटः, ऋ॰ २.३०.२)।

३७. द्युम्नम्* द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा। (५.५)

द्वितीयः पादः [खण्डम् – १]

३८. पवित्रम्* पवित्रं पुनातेः, मन्त्रः पवित्रमुच्यते। रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते। आपः पवित्रमुच्यन्ते।[1] अग्निः पवित्रमुच्यते। वायुः पवित्र-

---

/ √चित सञ्चेतने (१०.१४४)+क्विप् > चित्]। अथवा चेतना (ज्ञान) देने वाले का नाम **'चित्'** है[2] [√चिती संज्ञाने (१.३२)+क्विप् > चित्]।[3]

३७. **द्युम्न** शब्द "द्युत दीप्तौ" (१.४९३) धातु से उपपन्न होता है, वह यश और अन्न का वाचक है [√द्युत्+नक्[4] > द्युम्+न > द्युम्न]।[5]

३८. **'पवित्र'** शब्द "पूञ् पवने" (९.१०) धातु से व्युत्पन्न होता है [√पूञ्+इत्र[6] > पव्+इत्र > पवित्र]। मन्त्र **पवित्र** कहलाते हैं, क्योंकि (जप, ध्यान, यज्ञ आदि में विनियुक्त) मन्त्र (के ज्ञान) से मनुष्यों का अन्तःकरण पवित्र होता है। सूर्य की रश्मियाँ भी **'पवित्र'** कहलाती हैं, क्योंकि वे भी पवित्र होती हुई सबको पवित्र करती हैं। आपः (जल) भी **'पवित्र'** कहलाते हैं, क्योंकि वे शुद्धिकारक हैं। अग्नि भी **'पवित्र'** कहलाता है, क्योंकि यह सुवर्णादि धातु आदियों को पवित्र करता है। वायु भी **'पवित्र'**

---

१. पवित्रम् उदकनाम (निघं॰१.१२.८२)।
२. चित् = या विद्याव्यवहारस्य चेतयमाना वाग् विद्युद् वा (दया॰, यजु॰४.१९)। चितः = चेतयन्ति संजानन्ति ये ते चितः [मनुष्याः कपालानि वा] (दया॰, यजु॰१.१८)।
३. चित् = निपातो नाम च। निपातोऽनुदात्तः। "चिदित्येषोऽनेककर्मा" (निरु॰१.४) इत्यादिना व्याख्यातः। ...नाम तु चिनोतेश्चेतयतेर्वा क्विपि चिदिति भवति। चिता भोगैः क्षीरादिभिः, चिद्रूपा वा सोमक्रयणी (गौः) उच्यते (देव॰, नि॰नि॰४.२.३१)।
४. इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उणा॰३.२)। सिनोति बध्नातीति सिनः, काणो वा (दया॰, तत्रैव)।
५. द्युम्नम् धननाम (निघं॰ २.१०.१३)। द्युम्नम् = यशो वान्नं वा धननाम वा (स्कन्दः, ऋ॰ १.१०३.३)। प्रकाशमयं ज्ञानम् (दया॰, ऋ॰ १.९.८)। धर्म्यं यशः (दया॰, ऋ॰७.२५.३)।
६. पुवः संज्ञायाम्, कर्तरि चर्षिदेवतयोः (अष्टा॰३.२.१८५-१८६)।

मुच्यते। सोमः पवित्रमुच्यते। सूर्यः पवित्रमुच्यते। इन्द्रः पवित्रमुच्यते। (५.६)

३९. तोदः* तोदस्तुद्यतेः (५.६)।

[खण्डम् – २]

४०. अरिः अरिरमित्रः – ऋच्छतेः। ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव। (५.७)

४१. स्वञ्चाः* स्वञ्चाः सु अञ्चनः। (५.७)

कहलाता है, क्योंकि उससे सभी प्राणी जीवित होते हैं। सोम भी **'पवित्र'** कहलाता है, क्योंकि उसके सेवन से शरीरादि की पवित्रता (निरोगता) प्राप्त होती है। सूर्य भी **'पवित्र'** कहलाता है, क्योंकि वह भी अत्यन्त निर्मल होता है और सबको शुद्ध करता है। इन्द्र (जीवात्मा या परमात्मा) भी **'पवित्र'** कहलाता है, क्योंकि वह स्वभावतः शुद्ध होता है।[1]

३९. **'तोद'** शब्द "तुद व्यथने"[2] (६.१) धातु से उपपन्न होता है [√तुद्+अच् / घञ् > तोद]। यह शब्द कूप, बिल, गृहस्थ, यजमान, शिक्षक, पशु आदि का वाचक है।[3]

४०. **'अरि'** शब्द अमित्र (शत्रु) का वाचक है, क्योंकि यह "ऋ गतिप्रापणयोः" (१.६७०) धातु से निष्पन्न होता है। क्योंकि शत्रु की ओर विजय के लिए गमन किया जाता है [√ऋ+इ[4] > अरि]।[5] इसी गमन क्रिया के कारण ईश्वर भी **'अरि'** कहलाता है; क्योंकि सभी मुमुक्षु, विवेकी आदि ईश्वर की ओर गमन करते हैं अथवा सभी प्राणी आदि उसकी आधीनता को प्राप्त होते हैं [पूर्ववत्]।

४१. सुष्ठु सुन्दर गतिवाला अग्नि आदि **'स्वञ्चाः'** कहलाते हैं [सु+√अञ्चु

---

१. पवित्रवन्तः=रश्मिवन्तो माध्यमिका देवगणाः(निरु०१२.३२)। पवित्रम्=पवनसाधनं दशापवित्रम् (सायणः, ऋ०८.१.१५)।
२. अत्र √तुद-धातुः प्रेरणे, खनने, विदीर्णे इत्यादिष्वर्थेषु प्रयुक्तः।
३. तुद्यते तपसा पीड्यत इति तोदो यजमानः(सायणः,ऋ०६.१२.१)। तुद्यमानोऽश्वः(वेंकटः, ऋ०६.१२.३)। तोदः=तोदकः, प्रेरयिता(स्क०म०, निरु०५.१५)। शत्रूणां हिंसकः, शत्रूणां हन्ता(सायणदयानन्दौ, ऋ०४.१६.११)। तोदस्य=शिक्षकस्य स्वामिनः(सायणः,ऋ० १.१५०.१)। तुदति अश्वादीन् पशून् प्रेरयति अनेनेति कशादिस्तोदः।
४. अच इः (उणा०४.१४०)।
५. अरिः=सर्वोऽपि यजमान इयर्ति गच्छति अनुष्ठेयं कर्म प्राप्नोतीति अरिर्यजमानः(सायणः, ऋ०१.९.१०)। अरणशीलो वायुः(सायणः, ऋ०८.७२.१६)। ऋच्छति गृह्णात्यन्यायेन

४२. शिपिविष्टः* शिपिविष्टो विष्णोर्नाम भवति (५.७)।**[खण्डम् —३]** (औपमन्यवमते) शेपः इव निर्वेष्टितः। (यास्कमते) शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवति (आदित्यः)। (५.८)

४३. वर्पस्* वर्प इति रूपनाम (निघं० ३.७.३) – वृणोतीति सतः। (५.८)

गतौ याचने च (१.६०२)+असुन् > स्वञ्चाः]।[1]

४२. 'शिपिविष्टः' यह विष्णु का नाम है। (औपमन्यव के मत में—) शेप के समान (शिश्न = वीर्य की शक्ति सम्पूर्ण शरीर में जैसे व्यापक होती है, वैसे ही) जगत् में व्यापक होने से विष्णु का नाम **'शिपिविष्ट'** है [शेप+वेष्ट > शिपि[2]+विष्ट > शिपिविष्ट]। (परन्तु यास्क के मत में तो—) सूर्यरश्मियों का नाम 'शिपि' है, उन शिपियों (रश्मियों) से आवेष्टित तेजस्वी विष्णु (आदित्य) ही **'शिपिविष्ट'** कहलाता है [शिपि+विष्ट > शिपिविष्ट]।[3]

४३. 'वर्पः' यह रूप का नाम है, आच्छादित होने से रूप का नाम **'वर्पस्'** है [√वृङ् सम्भक्तौ (९.४२) / √वृञ् वरणे (५.८)+पुट् असुन्[4] > वर्+प् अस् > वर्पस्]।[5]

सुखानि च यः [शत्रुः](दया०, ऋ०१.९.१०)।
१. स्वञ्चाः=याभिस्सुष्ठ्वञ्चन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति वा ते [हरितः= अङ्गुलयः](दया०, ऋ० ४.६.९)। स्वञ्चम्= यः सुष्ठ्वञ्चति जानाति प्रापयति वा, तम् [परमात्मानम्](दया०, ऋ०६.१५.१०)। सुष्ठ्वञ्चन्तं प्राप्तशरीरात्मबलेन युक्तम् [युवानम्](दया०, ऋ०६.५८.४)।
२. औपमन्यवमते शेपः, शिपिः इत्येतौ समानार्थकौ इति भावः।
३. शिपिविष्टाय=शिपिष्वाक्रोशत्सु प्राणिषु व्याप्त्या प्रविष्टाय(विष्णवे=परमेश्वराय) (दया०, यजु०२२.२०)। शिपिषु पदार्थेषु प्रविष्टः(विष्णुः=धनञ्जयः) (दया०, यजु०८.५५)। शिपिषु पशुषु पालकत्वेन विष्टाय प्रविष्टाय वैश्यप्रभृतये(दया०, यजु०१६.२९)।
४. वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च(उणा०४.२०२)। व्रियते स्वीक्रियते तत् 'वर्पः' रूपम् (दया०, तत्रैव)।
५. वर्पः=वारकं तेजः रूपं वा सर्वैर्वरणीयं धनं वा(सायण०, ऋ०३.५८.९)। वर्पांसि= रूपनामैतत्। सामर्थ्याच्चान्तर्निहितमत्वर्थम्, रूपवन्त्यसुरकुलानि(स्कन्दः, ऋ०६.४४.१४)।

[खण्डम् – ४]

४४. आघृणिः* आघृणिरागतहृणिः। (५.९)

४५. पृथुज्रयाः* पृथुज्रयाः पृथुजवः। (५.९)

[खण्डम् – ५]

४६. दीधितयः* दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति (निघं० २.५.२१) –धीयन्ते कर्मसु। (५.१०)

---

४४. **'आघृणि'** का अर्थ है आगत हृणि[१] अर्थात् दीप्ति व क्रोध को प्राप्त हुआ [आङ् + √घृ क्षरणदीप्त्योः (३.१४) + नि[२] (कित्) / √घृणु दीप्तौ (८.७) + इन्[३] (कित्) > आघृणि]।[४]

४५. **'पृथुज्रयाः'** का अर्थ है पृथुजव अर्थात् (प्रथित) अत्यधिक तीव्र गतिवाला [पृथु ज्रयो यस्य सः, वेगेनान्यान् अभिभविता महाजव इत्यर्थः। √ज्रि अभिभवे (१.६७८) + असुन् > ज्रय् + अस् > ज्रयस्]।[५]

४६. **'दीधिति'** यह अंगुलियों का नाम है, क्योंकि वे कर्मों में धारण की जाती हैं, व्यापृत होती हैं [√धि धारणे (६.११५) यङ्लुगन्तात् + क्तिच् > दीधि + ति > दीधिति]।[६]

---

१. घृणिः (हृणिः) ज्वलतो नामधेयः (निघं० १.१७.१०)। क्रोधनाम (निघं० २.१३.३)।
२. घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः (उणा० ४.५३)। जिघर्ति क्षरति दीप्यते वा स 'घृणिः', किरणो वा (दया०, तत्रैव)। √घृ क्षरणदीप्त्योः (३.१४) + नि > घृणिः।
३. इगुपधात् कित् (उणा० ४.१२१)।
४. समन्तात् घृणयो दीप्तयो यस्य सः [पूषाः = सर्वपदार्थपोषक ईश्वरः] (दया०, ऋ० १.२३.१३, १४)। समन्तात् पशुविद्याप्रकाशक [विद्वज्जन] (दया०, ऋ० ६.५३.९)।
५. पृथुज्रयाः = पृथुस्तीव्रो ज्रयो वेगो यस्य सः [सर्वबलाध्यक्षो राजा] (दया०, ऋ० ३.४९.२) [पृथु + ज्रय > पृथुज्रय]।
६. दीधितयः रश्मिनामानि (निघं० १.५.६)। [दी] धीयन्ते विधीयन्ते प्रेष्यन्ते रसाहरणादिकर्म स्वादित्येन, धार्यते वा वर्षार्थमुदकम् एभिरादित्येन (देव०, नि०नि० १.५.६) [दीधीङ् + क्तिच् > दीधिति]। दीधितम् = विधानम् (निरु० ३.४)। दीधितिः = स्तुतिः दीप्तिर्वा (सायणः, ऋ० ३.४.३)।

४७. अरणी अरणी प्रत्यृत एने अग्निः। समरणाज्जायत इति वा। (५.१०)

४८. अथर्युम्* (अथर्युम्) अतनवन्तम्। (५.१०)

[खण्डम् – ६]

४९. काणुका* काणुका कान्तकानीति वा, क्रान्तकानीति वा, कृतकानीति वा, इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा, कणेघात इति वा, कणेहतः कान्तिहतः। (५.११)

---

४७. इन दो (अरणि संज्ञक काष्ठविशेषों) में अग्नि प्रतिगत अर्थात् पहुंचा हुआ, व्याप्त होता है, इसलिए इनका नाम **'अरणि'** है [√ऋ गतिप्रापणयोः (१.६९०) + अनि[१] > अरणि]। दो काष्ठविशेषों के परस्पर समरण अर्थात् संघर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है, अत एव इनका नाम **'अरणि'** है [सम्यक्तया अरणाद् अरणिः। √ऋ + अनि > अरणि]।

४८. निरन्तर व अत्यधिक तीव्रगतिशील को **'अथर्युम्'** कहते हैं [√अत सातत्यगमने (१.३१) + असुन् > अतस् = अतनम्, गमनम्। अतस् + यु (मत्वर्थे) > अथर् + यु > अथर्यु]।[२]

४९. काणुका शब्द का एक अर्थ है— कान्तक अर्थात् सोम व सोमयुक्त पात्रविशेष इन्द्र को प्रिय होने से, उसका नाम **'काणुका'** है [√कमु कान्तौ (१.३०२) + क्त > कान्त + क > कान्तक > काणुक]। दूसरा अर्थ है— क्रान्तक अर्थात् उक्थ्यपात्र (ग्रहविशेष) में सोम ऊपर तक पूरा भरा जाता है, अतः उसका नाम **'काणुका'** है [√क्रमु पादविक्षेपे (१.३१९) + क्त > क्रान्त + क > क्रान्तक > काणुक]। तीसरा अर्थ है— कृतक अर्थात् सोम ऋत्विजों के द्वारा संस्कृत होता है, इसलिए सोम का नाम **'काणुका'** है (याज्ञिकपक्ष में)। अथवा कृत्रिम (नैरुक्त पक्ष में, जैसे चन्द्रमा का प्रकाश अपना स्वयं का नहीं होता है, कृतक है = सूर्य के द्वारा प्रकाशित है) [√डुकृञ् करणे (८.१०) + क्त > कृत + क > कृतक > काणुक]। (यह शब्द इन्द्र का भी विशेषण है, क्योंकि) इन्द्र सोम का (कान्त) प्रेमी होता है, इसलिए इन्द्र का भी नाम **'काणुक'** है [कान्तक > काणुका]। इन्द्र सोम को पीने की इच्छा (= कामना, कान्ति, कणे) पूर्ण (=

---

१. अर्तिसृधृधम्यम्यश्यवितॄभ्योऽनिः (उणा० २.१०४)।
२. अथर्यति गतिगर्मा (निघं० २.१४)। अथर्युम् = अहिंसां कामयमानम् [गृहपतिम्] (दया०, ऋ० ७.१.१)।

[खण्डम् – ७]

५०. अध्रिगुः* अध्रिगुर्मन्त्रो भवति— गव्यधिकृतत्वाद्, अपि वा प्रशासनमेवाभिप्रेतं स्यात् तच्छब्दवत्त्वाद्। अग्निरप्यध्रिगुरुच्यते — अधृतगमनः। इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते । (५.११)

५१. आङ्गूषः* आङ्गूषः स्तोमः, आघोषः। (५.११)

घात, हत) होने तक पीता है[1], इसलिए भी इन्द्र का नाम **'काणुक'** है [कणेघात > काणुक]।

५०. मन्त्र का नाम **'अध्रिगु'** है, क्योंकि मन्त्र वेदवाणी में अधिकृत होता है अथवा गो = गाय या पृथिवी के विषय का प्रतिपादन करने वाले मन्त्र का नाम **'अध्रिगु'** है [गवि इति अधिगु > अध्रिगु]। गो = भूखण्ड पर अधिकृत राजा वा शासनकर्म का नाम भी **'अध्रिगु'** है, क्योंकि उस अर्थ का प्रतिपादक वचन 'अध्रिगु' शब्द वाला है [पूर्ववत्]। अधृतगमन (अनवरुद्ध, सतत गमन) वाला, तेजोयुक्त होने से अग्नि का भी नाम **'अध्रिगु'** है [√धृङ् अवस्थाने (६.१२१)+क्रिन्[2] > ध्+रि > ध्रि = स्थितिः, निरुद्धम्। न+ध्रि > अध्रि = अनवरुद्धम्। √गाङ् गतौ (१.६८१)+कु > गु = गमनम्। अध्रिः अनिरुद्धं गुः गमनं यस्मिन् सोऽग्निः अध्रिगुः]। इसी अधृतगमन के कारण इन्द्र का भी नाम **'अध्रिगु'** है [पूर्ववत्]।[3]

५१. आघोष अर्थात् घोषणापूर्वक उपदेश करने वाले अथवा करने योग्य या ऊँचे स्वर में गाने योग्य स्तोम (वेद) का नाम **'आङ्गूष'** है [आङ्+√घुषिर्विशब्दने (१०.१९५)+घञ् > आङ्[4]+घोष्+अ > आङ्+गूष्+अ > आङ्गूष]।[5]

---

१. कणेमनसी श्रद्धाप्रतिघाते (अष्टा०१.४.६५)।
२. अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उणा०४.६५) इति क्रिन्, स च बाहुलकाद् डिद्।
३. अध्रिगुः = सत्यगतिः [राजा] (दया०, ऋ०६.४५.२०)। अध्रिगू = अधिकगन्तारौ [वायुविद्युतौ] (दया०, ऋ०५.७३.२)। अध्रिगो = योऽधॄन् मन्त्रान् गच्छति जानाति, सत्सम्बुद्धौ [विद्वज्जन] (दया०, ऋ०३.२१.४)। योऽधॄन् धारकान् गच्छन्ति, तत्सम्बुद्धौ (दया०, ऋ०५.१०.१)।
४. ङकारस्य लोपाभावः, छान्दसत्वात्।
५. अङ्गशब्दः शरीरावयववचनः। उष दाहे। अङ्गान्योषति दहतीति अङोषोऽन्धकूपः। स हि सम्बाधत्वात् पीडयत्यङ्गानि, अङ्गोष एवाऽऽङ्गूषः। छान्दसत्वादोकारस्य ऊकारः। अङ्गूषे भव आङ्गूषः सोमः। अथवा आघोष्यतेऽसाविति आघोषः स्तोमः। आघोष एवाङ्गूषः। छान्दसौ वर्णागमव्यत्ययौ (स्कन्दः, ऋ०१.१०५.१९)। आङ्गूषः = अङ्गेषु भवा प्रशंसा (दया०,

[खण्डम् – ८]

५२. आपान्तमन्युः* (आपान्तमन्युः) आपातितमन्युः। (५.१२)

५३. तृपलप्रभर्मा (तृपलप्रभर्मा) तृप्रप्रहारी क्षिप्रप्रहारी सृप्रप्रहारी सोमो वेन्द्रो वा। (५.१२)

५४. धुनिः* धुनिर्धूनोतेः। (५.१२)

---

५२. **'आपान्तमन्यु'** का अर्थ है आपातितमन्यु अर्थात् क्रोधयुक्त या संस्कार से उत्पन्न दीप्तिवाला [आङ्+√पत्लृ गतौ (१.५८४)+णिच्+क्त > आपातित = आपूरितः, आपातितो स्वभावतः प्राप्तो मन्युः क्रोधो[1] यस्मिन् स इन्द्रः आपातितमन्युः। आपातितो मन्युः = दीप्तिः[2] येन स सोमः आपातितमन्युः। आपतितस्य आपान्तभावेन आपान्तमन्युः]।

५३. तृपलप्रभर्मा का अर्थ है तृप्रप्रहारी = क्षिप्रप्रहारी, सृप्रप्रहारी सोम या इन्द्र। सोमपान करने वाला शीघ्र प्रहार करने वाला होता है और इन्द्र भी शीघ्र प्रहार करने वाला होता है, इसलिए सोम व इन्द्र का नाम **'तृपलप्रभर्मा'** है [तृप्र, क्षिप्र, सृप्र इत्येते रक्प्रत्ययान्ताः, एतेषां स्थाने तृपलादेशः, प्र+ √हृञ् हरणे (१.६४०)+मनिन् > प्रहर्मन् > प्रभर्मन्[3]; तृपल+प्रभर्मन् > तृपलप्रभर्मन्]।[4]

५४. धूनिशब्द ''धूञ् कम्पने'' (५.९) धातु से उपपन्न होता है। कम्पाने वाला (शूर-वीर आदि) **'धूनि'** कहलाता है [√धूञ्+नि[5] > धूनि]।[6]

ऋ०५.७४.८)। आङ्गूषम् = विज्ञानं स्तुतिसमूहं वा। अत्र बाहुलकादगिधातोरौणादिक ऊषन् प्रत्ययः। अङ्गूषाणां विदुषामिदं विज्ञानमयं स्तुतिः समूहो वा। तस्येदम् इत्यण् [√अगि गतौ (१.८८)+ऊषन् (उणा०४.७७) > अङ्गूष+अण् > आङ्गूष] (दया०, ऋ० १.६२.१; अपि च द्र०ऋ०१.११७.१०)। युद्धं प्राप्तं शत्रुम् (दया०, ऋ०१.६१.२)। विद्याशास्त्रबोधम् (दया०, यजु०३४.१६)। आङ्गूषैः = समन्ताद् घोषैः (दया०, यजु०३३.७६)।
१. मन्युः क्रोधनाम (निघं०२.१३.१०)।
२. मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः (निरु०१०.२९)।
३. हृग्रहोर्भश्छन्दसि (वा०८.२.३५) इति हस्य भत्वम्।
४. प्रभर्मेति प्रपूर्वत्वाद् भरतेभार्वे मनिन् प्रत्ययः। अभिषवग्रावभिस्तृपलं क्षिप्रं प्रभर्मा प्रहरणं यस्मिन् स तृपलप्रभर्मा। इन्द्रपक्षे तृपलप्रभर्मा तृपलं क्षणं क्षिप्रं दृढं चोच्यते कर्तरि मनिन्। तेनायमर्थः — तृपलं क्षिप्रं दृढं वा शत्रुषु प्रहरतीति क्षिप्रप्रहारी (स्क०म०, निरु०५.१२)।
५. सृवृषिभ्यां कित् (उणा०४.५०) इति निप्रत्ययः।
६. धुनिम् = मेघम् (निरु०१०.३२)। धुनयः नदीनाम (निघं०१.१३.७)। धुन्वन्ति कम्पयन्ति तीरवृक्षादीनि, कम्पन्ते वा स्वयं गमनशीलत्वात् (देव०, तत्रैव)। धुनिः = कम्पमानः, योऽजि-

५५. शिमी * शिमीति कर्मनाम (निघं०२.१.२४) – शमयतेर्वा, शक्नोतेर्वा। (५.१२)

५६. ऋजीषी ऋजीषी सोमः – यत् सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तद् ऋजीषम् – अपार्जितं भवति। तेनर्जीषी सोमः। (५.१२)

५७. धानाः धाना भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति, फले हिता भवन्तीति वा। (५.१२)

---

५५. 'शिमि' शब्द 'कर्म' का नाम है, क्योंकि यह शब्द णिजन्त ''शमु उपशमे'' (४.९१) धातु से निष्पन्न होता है। अभीष्ट फल को सिद्ध कर प्रसन्न करने वाला होने से कर्म का नाम **'शिमी'** है [√शम्+णिच्+इन्+ङीष्[1] > शम्+ई > शिमी]। ''शक्लृ शक्तौ'' (५.१६) धातु से भी 'शिमी' शब्द निष्पन्न होता है। कर्म से अभीष्ट सिद्ध हो सकता है, इसलिए कर्म का नाम 'शिमी' है [√शक्+इन्+ङीष् > शिम्+ई > शिमी]।[2]

५६. 'ऋजीषी' सोम का नाम है। रस निचोड़ने पर जो अवशिष्ट रसहीन भाग रह जाता है, वह **'ऋजीष'** कहलाता है, क्योंकि वह अपार्जित अर्थात् अपवर्जित वा त्याज्य, त्यक्त होता है। ऋजीषवाला होने से सोम का नाम **'ऋजीषी'** है [√अर्ज अर्जने (१.१३४)+इषन्[3] > ऋज्+ईष > ऋजीष+इन् (मत्वर्थः) > ऋजीषिन्]।[4]

५७. भाष्ट्र (भट्ठी) में भुने जाने के कारण यव, चना आदियों का नाम **'धानाः'** है [√डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०)+न[5]+टाप् > धानाः[6]]। (भुनने के पश्चात् अतिदाह के भय से भ्राष्ट्र से उतारकर) फलक (पात्रविशेष) पर डाले जाते हैं अथवा फलक (तवा) पर भुने जाने के कारण भी यवादियों का नाम **'धानाः'** है [पूर्ववत्]।

तेन्द्रियः स चञ्चलः [मरणं प्राप्तो जीवः] (दया०, यजु०३९.७)। धुनयः=रजोवृक्षादीन् कम्पयितारः [वायवः] (दया०, ऋ०१.६४.५)। धुनिम्=कम्पन्तम् [दस्युम्=बलात्कारिणं चोरम्] (दया०, ऋ०२.१५.९)। धुनीनाम्=कम्पनक्रियावतीनां भूम्यादीनाम् (दया०, ऋ०५.८७.३)।

१. सर्वधातुभ्य इन् (उणा०४.११९), कृदिकारादक्तिनः (ग०सू०४.१.४५)।
२. शिमीवतः=कर्मवतः (निरु०१४.२५)। शिमीवद्भिः=हविष्प्रदानादिकर्मवद्भिः (सायणः, ऋ०१.१४१.१३)।
३. अर्जेर्ऋज च (उणा०४.२९)।
४. ऋजीषी वज्री (ऋ०५.४०.४)। ऋजीषिणम्=ऋजूनां सरलानां धार्मिकाणां जनानामीषितुं शीलम् [इन्द्रं=राजानम्] (दया०, ऋ०६.४२.२)। ऋजीषिणम्=प्रशस्तमुपार्जनं विद्यते यस्मिँस्तम् [मरुतां गणम्] (दया०, ऋ०१.६४.१२)। ऋजीषिन्=ऋजीषि सबलत्वं यस्यास्ति तत्सम्बुद्धौ (दया०, ऋ०३.४३.५)। ऋजुधर्मयुक्त (दया०, ऋ०६.२०.२) [ऋजु+√ईष गतिहिंसादानेषु (१.४०६)+णिनि (ताच्छील्ये) > ऋज+ईष्+इन् > ऋजीषिन्]।
५. धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उणा०३.६)। धानाः=धीयन्ते यासु ता दीप्तयः (दया०, तत्रैव)।
६. नित्यं स्त्रीलिङ्गबहुवचनान्तः।

५८. बब्धाम् [1]आदिनाभ्यासेनोपहितेनोपधामादत्ते, बभस्तिरत्तिकर्मा। (५.१२)

५९. प्रतिमानानि प्रतिमानानि यैः प्रतिमिमते। (५.१२)

६०. श्मशा* श्मशा शु अश्नुत इति वा, श्माश्नुते इति वा। (५.१२)

---

५८. ('बब्धाम्' रूप की निष्पत्ति में भक्षणार्थक[2] भस्धातु के) आरम्भ में अभ्यास अर्थात् द्वित्वजन्य[3] वर्ण को उपहित (उपस्थित) करके [√भस्+शप्+तस् (लोटि) > भस् भस्+तस् > बभस्+ताम्[4]] उपधा (अकार) का आदान (लोप[5]) करने पर [बभ्स्+ताम् > बभ्+धाम्[6] > बब्[7]+धाम् >] **'बब्धाम्'** (खावें) रूप बनता है।

५९. जिनसे प्रतिमान (उपमान) करते हैं, उन्हें **'प्रतिमान'** कहते हैं [प्रति+√माङ् माने शब्दे च (३.६)+ल्युट् (अन) > प्रतिमान]।[8]

६०. शु अर्थात् शीघ्र व्याप्त हो जाने के कारण नदी व नहर का नाम **'श्मशा'** है [शु+√अशूङ् व्याप्तौ संघाते च (५.१८)+अच् > शु+अश्+अ+टाप् > श्वश्+आ > श्मश्+आ > श्मशा]। 'श्म' अर्थात् शरीर में व्याप्त व संगृहीत होने से नाड़ियों का नाम **'श्मशा'** है [श्म+√अश्+अच्+टाप् > [9]श्मशा]।[10]

---

१. इत्थम्भूतलक्षणे (अष्टा०२.३.२१) इत्युपलक्षितार्थे तृतीया।
२. भसथः अत्तिकर्मा (निघं०२.८.८)। पाणिनीयधातुपाठ में भर्त्सन (निन्दा करना) और दीप्ति अर्थ में पठित है – √'भस भर्त्सनदीप्त्योः' (३.१७)।
३. श्लौ (अष्टा०६.१.१०)।
४. लोटो लङ्वत्, तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (अष्टा०३.४.८५, १०१)।
५. घसिभसोर्हलि च (अष्टा०६.४.१००)।
६. झलो झलि (अष्टा०८.२.२६) इति सस्य लोपः, झषस्तथोर्धोऽधः (अष्टा०८.२.४०) इति तस्य धत्वम्।
७. झलां जश् झशि (अष्टा०८.४.५२) इति भस्य जश्त्वम्।
८. प्रतिमानम्=प्रतिमीयते परिणीयते प्रतिक्रियते येन तत् [स्वः=सुखम् अन्तरिक्षम् वा] (दया०, ऋ०१.५२.१२)। सादृश्यं परिमाणं वा (दया०, ऋ०१.३२.७)।
९. शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् (वा०६.१.९४)।
१०. श्रीनिवासमते (?) तु स्वशब्दोपपदाद् अश्नोतेः पूर्ववदच्। स्वं शासतीति श्मशा, (सकारस्य शकारः) वकारस्य मकार (देव०,नि०नि०४.२.४६)।

तृतीयः पादः [खण्डम् – १]

६१. उर्वशी* उर्वश्यप्सरा – उरु अभ्यश्नुते, उरुभ्यामश्नुते, उरुर्वा वशोऽस्याः। (५.१३)

६२. अप्सरस् अप्सरा अप्सारिणी। अपि वा अप्स इति रूपनाम

---

६१. उर्वशी शब्द अप्सरा (विद्युत्, स्त्री) का वाचक है। विद्युत् जल (मेघ) में पूर्णतया व्याप्त होती है और स्त्री गृहकार्यों में पूर्णतया व्याप्त होती है, इसलिए विद्युत् और स्त्री का नाम **'उर्वशी'** है [उरु+(अभि)√अशूङ् व्याप्तौ संघाते च (५.१८)+इण्+ङीष् > उरु+अश्+ई > उर्वशी]। दो उरुओं (विस्तृत पदार्थों) से व्यापक होने से **'उर्वशी'** नाम है, क्योंकि विद्युत् धनात्मक और ऋणात्मक शक्तियों से व्याप्त होती है तथा स्त्री ज्ञान और कर्मों से व्याप्त होती है[1] [पूर्ववत्]। जिसका वश अत्यधिक होता है, वह **'उर्वशी'** कहलाती है। विद्युत के वश में बहुत से पदार्थ विद्यमान रहते हैं व चलते हैं और स्त्री के वश में सम्पूर्ण गृहकार्य रहता है, अत एव उनका नाम 'उर्वशी' है [उरु+वश+ङीप् > उर्+वश्+ई > उर्वशी]।[2]

६२. 'अप्सरा' का अर्थ है 'अप्सारिणी' अर्थात् अप (जल, कर्म[3]) में विचरने वाली। विद्युत् जल (मेघ) में विचरती है और स्त्री गृहकर्मों में विचरती है। अतः विद्युत् एवं स्त्री का नाम **'अप्सरा'** है [अप्सु जलेषु कर्मसु वा सर्तुं शीलं यस्याः सा। अप्+√सृ गतौ (१.६६९)+असि[4] > अप्सरस्]। अथवा अप्स रूप का नाम है, क्योंकि अप्सशब्द

---

१. 'उरु' शब्द को कुछ लोग 'ऊरु' समझकर 'दो जाँघ' अर्थ करते हैं। पर वह प्रामादिक एवं अशास्त्रीय है। क्योंकि 'ऊरु'(जांघ) के अर्थ में 'उरु' का प्रयोग कहीं मिलता नहीं है।

२. उर्वशी = ययोरूणि बहूनि सुखान्यश्नुवते सा यज्ञक्रिया। उर्वशीति पदनामसु पठितम् (निघं० ५.५.२५)। उर्विति बहुनामसु पठितम् (निघं० ३.१.१), तस्मिन्नुपपदे अशूङ्धातोः 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' (वा० ३.३.९४), ततः शार्ङ्गरवाद्यन्तर्गतत्वान् ङीन् (अष्टा० ४.१.७३) (दया०,यजु० ५.२)। यया उरूणि बहूनि सुखानि अश्नुवते सा यज्ञक्रिया (दया०,यजु० ५.५)। उरवो बहवो वशे भवन्ति यया सा वाणी (दया०, ऋ० ५.४१.१९)। उर्वश्याः = विशेष-विद्यायाः (दया०, ऋ० ७.३३.११)। उर्वशी = बहुवशकर्त्री प्रज्ञा (दया०, ऋ० ५.४१.१९)।

३. अपः कर्मनाम (निघं० २.१.१)।

४. अप्सराः (उणा० ४.२३८)।

(निघं० ३.७.६)— अप्सातेः, अप्सानीयं भवत्यादर्शनीयम्। व्यापनीयं वा, स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः। 'यदप्स' इत्यभक्षस्य, 'अप्सो नाम' इति व्यापिनः, तद्रा भवति रूपवती। तदनयात्तमिति वा। तदस्यै दत्तमिति वा। (५.१३)

६३. अप्सः* अप्स इति रूपनाम (निघं० ३.६.७) – अप्सातेः, अप्सानीयम्

नञ्पूर्वक ''प्सा भक्षणे'' (२.४८) धातु से सिद्ध होता है अर्थात् जो खाने (स्पर्श करने) योग्य नहीं है, केवल दिखने योग्य है, वह **'अप्स'** कहलाता है [नञ्+√प्सा+क > अप्स]। स्पष्टरूप से दिखने के लिए रूप पदार्थों में व्यापक होता है, इसलिए रूप का नाम **'अप्स'** है, ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है। 'यदप्स' (यजु० २०.१७) इस मन्त्र में अभक्ष्य (अस्पर्श्य) का वाचक एवं 'अप्सो नाम' (यजु० १४.४) इस मन्त्र में व्यापक का वाचक 'अप्स' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसलिए अप्सशब्द रूप का वाचक है। (रूपार्थक 'अप्स' शब्द से मत्वर्थ रप्रत्यय होकर) उससे युक्त अर्थात् रूपवती का नाम **'अप्सरा'** है [अप्स+र+टाप् > अप्सरा]। वह रूप जिसके द्वारा प्राप्त किया गया है, उसका नाम **'अप्सरा'** है। विद्युत् तथा स्त्री इन दोनों में रूप प्राप्त (विद्यमान) होने से दोनों का नाम 'अप्सरा' है [अप्स+√रा (आ) दाने (२.५०)+असि > अप्सरस्]। अथवा वह रूप जिसको दिया गया है, वह **'अप्सरा'** कहलाती है [अप्स+√रा दाने (२.५०)+असि > अप्सरस्]।[1]

६३. 'अप्स' यह रूप का नाम है, क्योंकि अप्सशब्द नञ्पूर्वक ''प्सा भक्षणे'' (२.४८) धातु से सिद्ध होता है अर्थात् जो खाने (स्पर्श करने) योग्य नहीं है, केवल देखने योग्य है, वह **'अप्स'** कहलाता है [नञ्+√प्सा+क > अप्स]। स्पष्ट रूप से दिखने के लिए रूप पदार्थों में व्यापक होता है, इसलिए रूप का नाम **'अप्स'** है, ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है। 'यदप्स' (यजु० २०.१७) इस मन्त्र में अभक्ष्य (अस्पर्श्य) का वाचक एवं 'अप्सो नाम' (यजु० १४.४) इस मन्त्र में व्यापक का वाचक 'अप्स' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसलिए अप्सशब्द रूप का वाचक है।[2]

---

१. अपसरति विरुद्धं गच्छतीति अप्सराः(विद्युत्)। उपसर्गान्त्यलोपः। अथवाप्सु जलेषु प्राणेषु वा सरन्तीति अप्सरसः किरणा वा। अथवा न प्सान्ति भक्षयन्ति रक्षां कुर्वन्तीति अप्स-रसः, प्रत्ययस्य रुट्(धातोर्ह्रस्वत्वं च)। नित्यबहुवचनान्तः स्त्रीलिङ्गश्च (दया०, उणा० ४.२३८)।

२. अप्सः = न विद्यते परपदार्थस्याप्सो भक्षणं यस्य, सः [सज्जनः] (दया० यजु० १५.३)। उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः। यथा हसनस्वभावा स्त्री हसनस्वभावात् दन्तानात्मनो दर्शयत्येवम् उषा आत्मनोऽन्तर्भूतानि सर्वद्रव्याणां रूपाणि विवृणुते। शार्वरेण तमसा दिग्धानि सर्वद्रव्याणि स्वेन प्रकाशकोदकेन धौतानीव करोति (दुर्गः, निरु० ३.५)।

भवत्यादर्शनीयम्। व्यापनीयं वा स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः। 'यदप्स' इत्यभक्षस्य, 'अप्सो नाम' इति व्यापिनः। (५.१३)

[खण्डम् – २]

६४. द्रप्सः द्रप्सः सम्भृतः प्सानीयो भवति। (५.१४)

६५. पुष्करम्* पुष्करमन्तरिक्षम् (निघं०१.३.१३) – पोषति भूतानि। उदकं पुष्करं – पूजाकरं, पूजयितव्यम् वा। इदमपीतरत् पुष्कर-मेतस्मादेव, पुष्करं वपुष्करं वा। (५.१४)

---

६४. घटादि में एकत्रित शुद्ध जल पीने योग्य होता है, अतः जल का नाम **'द्रप्स'** है। कुछ लोग 'द्रप्स' का अर्थ वीर्य करते हैं, क्योंकि वह अन्नादि पदार्थों से सम्भृत (संगृहीत) रस होता है और वह स्त्रीयोनि के द्वारा भक्षणीय (सेवनीय) होता है, अतः वीर्य का नाम **'द्रप्स'** है [सम्यग् भृत इति भ्रः— √'भृञ् भरणे' (१.६३९)+क > भ्रः। प्सानीय इति प्सः – √'प्सा भक्षणे' (२.४८)+क > प्सः। भ्रश्चासौ प्सश्चेति भ्रप्सः, भकारस्य दकारे द्रप्सः]।[1]

६५. **'पुष्कर'** अन्तरिक्ष का नाम है, क्योंकि वह अवकाशप्रदान एवं उदकदान आदि उपकारों से सभी भूतों का पोषण व धारण करता है[2] [√पुष पुष्टौ (१.४६६)+करन्[3] > पुष्कर]। 'उदक' का भी नाम **'पुष्कर'** है। क्योंकि वह पूजाकर अर्थात् सत्कारादि करने में विनियुक्त होता है और स्वयं अन्नवत् पूजनीय होता है[4] [√पूज पूजायाम् (१०.१११)+करन्[3] > पूज्+कर > पुष्कर]। यह जो दूसरा कमल

---

१. द्रप्सः = द्रुतं सरति गच्छतीति द्रप्सः, पृषोदरादिः। द्रुतं गच्छन् [द्रुत+√सृ > द्रप्स] (सायणः, ऋ० ८.९६.१३)। द्रप्सम् = सोमरसं विप्रुड्लक्षणम्। यद्वा द्रप्सः द्रुतगामित्वाद् द्रप्स आदित्य उच्यते। स आदित्यः पृथिवीं च दिवं च गच्छति समानं योनिमन्तरिक्षं लक्षीकृत्य। सम्यक्चरन्तं तं द्रप्सम् आदित्यमुद्दिश्य (सायणः, ऋ० १०.१७.११)। हर्षकारी रसः, 'दृप हर्षणमोहनयोः' (४.८५) इत्यस्मादौणादिकः सः प्रत्ययः किच्च (उणा०३.६६), 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्या-न्यतरस्याम्' (अष्टा० ६.१.५८) अनेनाऽमागमः (दया०, यजु०१.२६)। दृप्यन्ति संहृष्यन्ते बलानि सैन्यानि वा यैस्ते (इन्दवः = सोमाद्यौषधिगणाः)। अत्र 'दृप हर्षणमोहनयोः' इत्यस्माद् बाहुलकात् करणकारके औणादिकः सः प्रत्ययः (दया०, ऋ०१.१४.४)। द्रप्सः= यज्ञपदार्थसमूहः (दया०, यजु०७.२६)। दुष्टानां विमोहनम् (दया०, ऋ०६.४१.३)।

२. पुषिरत्रान्तर्णीतण्यर्थः, पोषयति भूतानि अवकाशप्रदानेन उदकदानाद्युपकारेण च... पोषयति भूतानि (इति पुष्कम्, पुष्+क), पुष्कोपपदाद् रातेः आतोऽनुपसर्गे कः (अष्टा०३.२.३) (देव०, नि०नि०१.३.१३)।

३. पुषः कित् (उणा०४.४)।

४. आपो वै सर्वा देवताः (ऐ०ब्रा०२.१६)।

६६. पुष्पम् पुष्पं पुष्पतेः। (५.१४)

६७. वयुनम्* वयुनं वेतेः, कान्तिर्वा प्रज्ञा वा। (५.१४)

[खण्डम् – ३]

६८. वाजपस्त्यम्* वाजपस्त्यं वाजपतनम्। (५.१५)

पुष्प का वाचक पुष्कर शब्द है, वह भी इसीकारण अर्थात् पूजाकर (सरोवरादि की शोभा को बढ़ाने वाला) और पूजनीय (श्लाघनीय) होने से **'पुष्कर'** संज्ञक है [पूर्ववत्]। यह कमलपुष्प वपु (शरीर) की भी शोभा को बढ़ाने वाला होता है अथवा 'वपुः रूपनाम' (निघं० ३.७.४), अतः वपुष्कर अर्थात् रूप (शोभा) को बढ़ाने वाला होता है, इसलिए उसका नाम **'पुष्कर'** है [वपुष्+कर > वपुष्कर > पुष्कर]।

६६. **'पुष्प'** शब्द ''पुष्प विकसने'' (४.१६) धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि वह विकसित होता है [√पुष्प्+अच् > पुष्प]।[1]

६७. **'वयुनम्'** शब्द ''वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु'' (२.४१) धातु से निष्पन्न होता है। इसके अर्थ हैं कान्ति (इच्छा आदि) और प्रज्ञा[2] (बुद्धि) [√वी+उनन्[3] > वयुन]।[4]

६८. 'वाजपस्त्यम्' का अर्थ है 'वाजपतनम्' अर्थात् वाज (ज्ञान, अन्न, बल) का पतन (प्राप्ति) होता है जिससे, वह सोमादि **'वाजपस्त्यम्'** कहलाते हैं [वाजोऽन्नम् (निघं० २.७.२), पस्त्यो गृहम् (निघं० ३.४.६), एतदन्नाद्यमस्माकमिति मन्यमाना यस्मिन् देवा पतन्ति तम्; सोम उच्यते (द्र० देव०, नि० नि० ४.२.४९)।[5]

---

१. पुष्पम् = पोषितुं योग्यम् [विषयुक्तं शरीरावयवम्] (दया०, ऋ०१.१९१.१२)।

२. वयुनम् प्रशस्यस्य नाम (निघं० ३.८.१०), प्रज्ञानाम (निघं० ३.९.१०), [कान्तिनाम] (निघं०४.२.४८)।

३. अजियमिशीङ्भ्यश्च (उणा० ३.६१)। उणादिरीत्या तु अज गतिक्षेपणयोः(१.१३९) धातोरुनन् प्रत्ययः वी चादेशः। वेतेस्तु बाहुलकाद् उनन्। उभयथाप्यर्थः समानः।

४. वयुनानि = प्रज्ञानानि (निरु० ८.२०; ९.१५)। वयुनम्=कर्म प्रज्ञानं वा (दया०, ऋ० ५.४८.२)।

५. वाजपस्त्यः = हविर्लक्षणम् अन्नं गृहं यस्य स वाजपस्त्यः, तत्रैव हविर्लभ्यते तत्रैव निवस-तीत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ० ६.५८.२)। वाजानि अन्नानि पस्त्ये गृहे यस्य सः (दया०, ऋ०६.५८.२)।

६९. वाजगन्ध्यम्* वाजगन्ध्यं गध्यत्युत्तरपदम्। (५.१५)
७०. गध्यम्* गध्यं गृह्णातेः। (५.१५)
७१. गधिता (गधिता) गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा। (५.१५)
७२. कौरयाणः* कौरयाणः कृतयानः। (५.१५)
७३. तौरयाणः* तौरयाणस्तूर्णयानः। (५.१५)

---

६९. 'वाजगन्ध्यम्' शब्द में (पूर्वपद पूर्ववत् वाजशब्द ही है, परन्तु) उत्तरपद में 'गध्यति' अर्थात् 'गन्ध्य' शब्द होने से सोमवाचक **'वाजगन्ध्यम्'** शब्द सिद्ध हुआ है [वाज+√गन्ध अर्दने (१०.१५२) [इह तु मिश्रणार्थः][१]+अचो यत्[२] (अष्टा० ३.१.९७) > वाजगन्ध्य]।[३]

७०. **'गध्यम्'** शब्द "ग्रह उपादाने" (९.६४) धातु से उपपन्न होता है, जिसका अर्थ 'ग्रहण करने योग्य, मिश्रण के योग्य' है [√ग्रह्+यक्[४]> गध्+य > गध्य]।[५]

७१. **'गधिता'** (गृहीता) शब्द "गध मिश्रणे" (दिवादि० क्वाचित्कः) धातु से व्युत्पन्न होता है [√गध्+इट् क्त > गधिता]।

७२. 'कौरयाण' का अर्थ है 'कृतयान' अर्थात् कृतं यानं प्रयाणं शत्रून् प्रति येन, सः = जो शत्रुओं के प्रति प्रस्थान कर चुका है, वह **'कौरयाण'** कहलाता है [कृतयान > कुरुयाण > कौरयाण[६]]।

७३. **'तौरयाण'** का अर्थ है 'तूर्णयान' अर्थात् शीघ्रता से गमन करने वाला [तूर्णं त्वरितं यानं गमनं यस्य, सः। तूर्णयान > तौर्णयान]।

---

१. गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा (निरु० ५.१५)।
२. गृह्यतेर्गन्ध्यादेशो ण्यच्चेति केचिदिति देवराजयज्वा (नि०नि० ४.२.५०)।
३. वाजगन्ध्यम् = बलकरसाधुगन्धोपेतं सोमम् (दया०, ऋ० ९.९८.१२)।
४. अघ्न्यादयश्च (उणा० ४.११३)।
५. गध्यम् = ग्रहीतव्यम्, अत्र वर्णव्यत्ययेन रेफलोपो हस्य धः (दया०, ऋ० ४.१६.११)। गध्यस्य = अभिकाङ्क्षितुं योग्यस्य (दया०, ऋ० ६.१०.६) [√गृधु अभिकाङ्क्षायाम् (४.१३२) + यक् > गध्यम्]।
६. प्रज्ञादिभ्यश्च (अष्टा० ५.४.३८) इति स्वार्थिकोऽण्।

७४. अह्रयाणः* अह्रयाणोऽह्रीतयानः। (५.१५)
७५. हरयाणः* हरयाणो हरमाणयानः। (५.१५)
७६. आरितः* (आरितः) प्रत्यृतः स्तोमान्। (५.१५)
७७. व्रन्दी* व्रन्दी व्रन्दतेर्मृदूभावकर्मणः। (५.१५)

[खण्डम् – ४]

७८. वना (वना) वनानीति वा, वधेनेति वा। (५.१६; ८.३)

---

७४. **'अह्रयाण'** का अर्थ है 'अह्रीतयान' अर्थात् 'लज्जा रहित गमन वाला' [अह्रीतम् अलज्जितं यानं गमनं यस्य, सः। अह्रीतयान > अह्रयाण; ह्रीतेत्यस्य स्थाने 'ह्र' इत्यादेशः]।[१]

७५. **'हरयाण'** का अर्थ है 'हरमाणयान' अर्थात् शत्रुओं के जीवन, ऐश्वर्यादि का हरण करने वाला अथवा चलते हुए या चमकते हुए यान (गमन) वाला [हरमाणयान > हरयाण]।

७६. **'आरितः'** का अर्थ है 'प्रति-ऋ तः' अर्थात् प्रत्येक स्तोमादि कर्मों के प्रति अवश्य ही गमन करने वाला, पहुँचने वाला [√ऋ गतिप्रापणयोः (१.६७०)+यङ्लुक् > अर् ऋ+इट् क्त > आ रुक् ऋ+इत > आ र् र्+इत > आरित]।[२]

७७. **'व्रन्दी'** शब्द मृदुभाव (मृदुता) अर्थवाले "व्रन्द् (व्रदि)" धातु से निष्पन्न होता है [√व्रदि मृदुभावे (नैरुक्तधातु)+इनि[३] > व्रन्द्+इन् > व्रन्दिन्]।[४]

७८. **'वना'** शब्द का अर्थ 'वनानि' अर्थात् 'उदक' (निघं० १.१२.९) है अथवा मेघों के वध के द्वारा (गिरने वाला उदक) [वध > वन]।[५]

---

१. अह्रयाणम् = विगतलज्जं प्रकाशितम् [बन्धुम्]। अत्र नञ्पूर्वाद् ह्रीधातोर्बाहुलकादौणादिक आनच् प्रत्ययः [उणा० २.९०] (दया०, ऋ० १.६२.१०)।
२. द्र० देव०, नि०नि० ४.२.५७। आरितः = समन्तात् प्राप्तः [शमादिगुणकर्मयुक्तो जनः] (दया०, ऋ० २.२१.३)।
३. गमेरिनिः (उणा० ४.६) इति बाहुलकाद् वन्दतेरपि इनिः।
४. व्रन्दिनः = निन्दिता व्रन्दा मनुष्यादिसमूहा विद्यन्ते येषां तान् [मायिनः = शत्रून्] (दया०, ऋ० १.५४.४)।
५. वधवचनो वा सामर्थ्याद् वनशब्दः (स्कन्दः, ऋ० १.५४.५)। वनं रश्मिनाम (निघं० १.५.८)। वनानि = याचनीयानि (दया०, ऋ० ३.९.२)।

७९. निष्षपी* निष्षपी स्त्रीकामो भवति – विनिर्गतसपाः। (५.१६)

८०. सपः सपः सपतेः स्पृशतिकर्मणः। (५.१६)

८१. तूर्णाशम्* तूर्णाशमुदकं भवति – तूर्णमश्नुते । (५.१६)

८२. क्षुम्पम्* क्षुम्पम् अहिच्छत्रकं भवति – यत्क्षुभ्यते । (५.१६)

---

७९. **'निष्षपी'** का अर्थ 'स्त्रीकामनावाला (व्यभिचारी)' होता है, क्योंकि उसका जननांग निकला हुआ, उत्तेजित हुआ होता है [निर्गतः सपः निष्षपः, सोऽस्यास्तीति निष्षपी]।

८०. **'सप'** शब्द 'स्पर्श करना' अर्थवाली ''सप'' धातु[1] से निष्पन्न होता है [सपति स्पृशति स्त्रीयोनिम्, समवैति संगच्छते वा स्त्रीयोन्येति सपः शेपः। √सप्+अच् > सप]।[2]

८१. **'तूर्णाशम्'** शब्द उदक का वाचक होता है, क्योंकि वह शीघ्र फैलनेवाला होता है, अथवा मिट्टी, आटा आदियों को शीघ्र ही पिण्डीभाव (संघात) करने वाला होता है [तूर्णिः[3] क्षिप्रम् आशो व्याप्तिर्यस्य, सः। √अशूङ् व्याप्तौ संघाते च (५.१८)+घञ् > आश, तूर्णि+आश > तूर्ण+आश > तूर्णाश]।

८२. **'क्षुम्पम्'** शब्द सांप की केंचुली अथवा वर्षाकाल में गोबर आदियों के ऊपर उत्पन्न कुकुरमुत्ता का वाचक होता है, क्योंकि वह पकड़ते ही टूटती है [√क्षुभ संचलने (१.५०२)+प[4] > क्षुम्+प > क्षुम्प]।

---

१. पाणिनीये धातुपाठे तु समवायेऽर्थेऽयं धातुरधीतः – सप समवाये (१.२८४)।

२. पसः प्रजननमुच्यते। तथाहि अध्वर्यूणां सौत्रामणीमन्त्रेषु प्रयोगो दृश्यते – ''आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः'' (तै०ब्रा० २.६.५.६) इति। पस एवाद्यान्त्याक्षरविपर्ययेण सपमित्युच्यते (स्कन्दः, ऋ० १.१०४.५) [पस > सप]।

३. तूर्णिः क्षिप्रनाम (निघं०२.१५.१२); तूर्णि=त्वरमाणः (निरु०७.२७)।

४. पानीविषिभ्यः पः (उणा०३.२३)।

[खण्डम् – ५]

८३. अङ्ग अङ्गेति क्षिप्रनाम – अञ्चितमेवाङ्कितं भवति।(५.१७; द्र० ४.३)

८४. निचुम्पुणः* निचुम्पुणः सोमः – निचान्तपृणः, निचमनेन प्रीणाति (५.१७)।

[खण्डम् – ६]

समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते – निचमनेन पूर्यते। अवभृथोऽपि

---

८३. 'अङ्ग' यह शब्द क्षिप्रवाची[1] निपात है, क्योंकि 'अञ्चित' (अञ्च) ही अङ्कित (अङ्क) होकर 'अङ्ग' (अङ्गित) शब्द बनता है [√अञ्चु गतौ याचने च (१.६०२)+अच् > अञ्च > अङ्क > अङ्ग]।

८४. **'निचुम्पुण'** शब्द का अर्थ 'सोम' है, क्योंकि वह निश्चितरूप से अथवा नियत अर्थात् विधिविहित भक्षण से तृप्त, आनन्दित करने वाला है [नितरां चान्तो भक्षितः पृणः प्रीणयिता। नि+√चमु अदने (१.३१७)+क्त > निचान्त, √पृण प्रीणने (६.४१)+क > पृण; निचान्त+पृण > निचुम्+पुण > निचुम्पुण]। निश्चित अर्थात् विहित भक्षण करने से आनन्दित करता है, अत एव सोम का नाम **'निचुम्पुण'** है [निचमनेन निश्चितपानेन प्रीणाति तर्पयतीति। नि+√चम्+ल्युट् > निचमनम्; निचमन+√प्री+न[2] > निचुम्+पु+न > निचुम्पुण]। समुद्र का भी नाम **'निचुम्पुण'** है, क्योंकि वह जल से परिपूर्ण होता है [निचम्यते पीयते इति निचमनं जलम् – नि+√चम्+ल्युट् > निचमनम्; निचमन+√पूरी आप्यायने (४.४२)+डुणक् > निचुम्+पूर्+उण > निचुम्+प्+उण > निचुम्पुण]। अवभृथ (इष्टिविशेष) भी **'निचुम्पुण'** कहलाता है, क्योंकि इस इष्टि में मन्त्र मन्द (उपांशु) ध्वनि से बोले जाते हैं [नीचैः+√क्वण शब्दे (१.३०३)+क > नीचैः+क्वण्+अ > निचुम्+कुण्+अ > निचुम्+पुण्+अ > निचुम्पुण]। अवभृथेष्टि में अर्थात् इष्टि के सम्पन्न होने पर सोमलिप्त पात्रों को सयजमान ऋत्विक् लोग पानी में रखते हैं, छोड़ते हैं, इसलिए भी इस इष्टि का नाम **'निचुम्पुण'** है [नीचैः+√डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०)+क > निचुम्+पुण्+अ > निचुम्पुण]।[3]

---

१. अङ्गेति सामान्याऽऽह्वानमुच्यते (उवटः, ऋ० १०.४२.३)। अङ्गेति अभिमुखीकरणार्थो निपातः (सायणः, ऋ०१.१.६)।

२. धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उणा०३.६) इति बाहुलकाद् इहापि नप्रत्ययः।

३. 'निचुम्पुणः' = ''वीणास्थूणाहूणभ्रूणक्षूणतूणतृणघृणादयः'' (स०कं० – २.२.१२३) इति निचान्तनियमनीचैःशब्दोपपदेभ्यः प्रीणातिपृणातिपृणोतिभ्यो णक्प्रत्ययो धातूनां पुभाव उपपदानां निचुम्भावश्च निपात्यते। नीचैरुपपदाद् दधातेर्वा पूर्ववन्निपातनम् (देव०, नि०

निचुम्पुण उच्यते— नीचैरस्मिन् क्वणन्ति, नीचैर्दधतीति वा। (५.१८)

८५. पदिः* पदिर्गन्तुर्भवति— यत्पद्यते। (५.१८)

[खण्डम् – ७]

८६. मुक्षीजा मुक्षीजा मोचनाच्च सयनाच्च ततनाच्च। (५.१९)

८७. पादुः* पादुः पद्यतेः। (५.१९)

८८. बुसम्* बुसमित्युदकनाम (निघं० १.१२.२०)— ब्रवीतेः शब्दकर्मणः;

---

८५. 'पदि' का अर्थ 'गमनशील' (पक्षी, पथिक आदि) होता है, क्योंकि यह शब्द ''पद गतौ'' (४.५८) धातु से निष्पन्न होता है [√पद्+इन्[1] > पदि]।

८६. पक्षियों को जाल (पाश) से मुक्त किया जाता है, इसलिये जाल का नाम **'मुक्षीजा'** है [√मुच्लृ मोचने (६.१३९)+सीज[2]+टाप् > मुक्षीजा]। पक्षियों को जिससे बान्धा (पकड़ा) जाता है, उस जाल को **'मुक्षीजा'** कहते हैं [√षिञ् बन्धने (५.२)+सीज+टाप् > मुक्+सीज+आ > मुक्षीजा]। पक्षियों को पकड़ने के लिए जिसे बिछाया (फैलाया) जाता है, उसे **'मुक्षीजा'** कहते हैं [√तनु विस्तारे (८.१)+सीज+टाप् > मुक्+सीज+आ > मुक्षीजा]।[3]

८७. 'पादु' शब्द ''पद गतौ'' (४.५८) धातु से व्युत्पन्न होता है, अतः सदा गतिशील सूर्यादि का नाम 'पादु' है [√पद्+उण् > पादु]।

८८. 'बुसम्' यह 'उदक' (जल) का वाचक है, क्योंकि वह ध्वन्यर्थक ''ब्रूञ्'' धातु से उपपन्न होता है। मेघ से गिरते समय और पृथिवी पर बहते समय शब्द करता

नि०४.२.६२)। निचुम्पुण = धैर्येण शब्दविद्याऽध्यापकः! नितरां चोपति मन्दं मन्दं चलति, तत्सम्बुद्धौ। अत्र चुपधातोर्बाहुलकादुणः प्रत्ययो मुमागमश्च....निचुम्पुणेति पदनामसु पठितम् (निघं०४.२.६२), अनेन प्राप्तज्ञानो मनुष्यो गृह्यते (दया०, यजु०३.४८; अपि च द्र० यजु०२०.१८)। निचुम्पुणः = नित्यं कमनीयः [पतिः] (दया०, यजु०८.२७), निश्चिताऽऽनन्दयुक्तः [वरुणः = वरप्रापको विद्वान्] (दया०, यजु० २०.१८)।

१. सर्वधातुभ्य इन् (उणा० ४.११९)।

२. उणादयो बहुलम् (अष्टा० ३.३.१)।

३. मुक्ष्या = मुञ्चाया जायते सा मुक्षीजा (दया०, ऋ० १.१२५.२) [मुक्षी+√जनी प्रादुर्भावे (४.४०)+ड+टाप् > मुक्षी+ज्+अ+आ > मुक्षीजा]।

भ्रंशतेर्वा; यद् वर्षन् पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत् प्रत्यादत्ते। (५.१९)

चतुर्थः पादः [खण्डम् – १]

८९. वृकः* वृकश्चन्द्रमा भवति— विवृतज्योतिष्को वा, विकृतज्योतिष्को वा, विक्रान्तज्योतिष्को वा (५.२०); **[खण्डम् – २]**
आदित्योऽपि वृक उच्यते— यदावृङ्क्ते। **[खण्डम् – ३]**
श्वापि वृक उच्यते— विकर्तनात्। (५.२१, द्र० ६.२६) (वृकी)— वृद्धवाशिन्यपि वृकी उच्यते। (५.२१)

है, अतः जल का नाम **'बुसम्'** है [√ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (२.३७)+स[1] > बु+स > बुस]। ''भ्रंशु अधःपतने'' (१.५०६) धातु से भी 'बुसम्' शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि जो (सूर्य) मेघों को छिन्न-भिन्न करता हुआ जल को नीचे गिराता है और किरणों से पुनः नीचे से ऊपर ग्रहण करता है [√भ्रंश्+स > बु+स > बुस/√भ्रंस्[2]+अच् > बुस्+अ > बुस]।[3]

८९. 'वृक' का अर्थ 'चन्द्रमा' होता है, क्योंकि वह विवृतज्योतिष्क होता है अर्थात् चन्द्रमा की ज्योति (प्रकाश) रात्रि में प्रतिदिन वृद्धि-ह्रास के साथ कलाओं में स्पष्ट दीखती है, जिससे तिथियों का बोध होता है, इसलिए चन्द्रमा का नाम **'वृक'** है [विवृतज्योतिष्क > वृ (तज्योतिष्) क > वृक]। 'विकृतज्योतिष्क' अर्थात् चन्द्रमा की ज्योति सूर्यादि की ज्योति के समान उष्ण न होकर, उसके विपरीत (विकृत) शीतल होती है, अत एव चन्द्रमा का नाम **'वृक'** है [विकृतज्योतिष्क > वि-कृ (तज्योष्) क > व्-ऋ-क > वृक]। 'विक्रान्तज्योतिष्क' अर्थात् रात्रि में नक्षत्रादियों की ज्योतियों की अपेक्षा

---

१. स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् (उणा० ३.६६)।

२. √भ्रंसु अवस्रंसने, √भ्रंशु अधःपतने (१.५०४, ५०६) इति समानार्थकौ धातू।

३. बुसम् = विपूर्वात् स्नातेः (२.४५) 'आतश्चोपसर्गे' (अष्टा०३.१.१३६) इति कप्रत्यये उपसर्गेकारस्योकारो बाहुलकाद् भवति, धातोर्नकारलोपोऽपि बाहुलकादेव। विशेषेण स्नात्यनेनेति बुसम्। तद्धि प्रथमं शौचसाधनम्। भ्रंशतेर्वा पचाद्यचि पृषोदरादित्वाद् ऊहनीयं रूपम्। पूर्ववदर्थः। यद्वा √बुस उत्सर्गे (४.१०९) 'गेहे कः' (अष्टा०३.१.१४४) इति बाहुलकादस्मादपि भवति। बुस्यते उत्सृज्यते मेघैरिति बुसम् (देव०, नि०नि०१.१२.२०)।

९०. उरणः उरण ऊर्णावान् भवति। (५.२१)

९१. ऊर्णा ऊर्णा पुनर्वृणोतेः, ऊर्णोतेर्वा। (५.२१)

चन्द्रमा की ज्योति विशिष्ट क्रान्त (पृथिवी पर्यन्त गमन करने वाली) होती है, इसलिए भी चन्द्रमा का नाम **'वृक'** है [विक्रान्तज्योतिष्क > वि-क्र् (न्तज्योतिष्) क > व् – र् – क > वृक]। आदित्य (सूर्य) भी 'वृक' कहलाता है, क्योंकि वह अन्धकार को चारों ओर से भलीभान्ति नष्ट (दूर) करता है [√वृजी वर्जने (२.२२)+घञ् > वृग > वृक]। श्वा (जंगली कुत्ता या भेडिया) भी 'वृक' कहलाता है, क्योंकि वह अपने तीक्ष्ण दान्तों से अन्य प्राणियों को काटता है [वि+ √कृती छेदने (६.१४४)+ड > वि + क् + अ > वृ + क > वृक]। ऊँची ध्वनि से शब्द करने (दहाड़ने) के स्वभाव वाली शेरनी आदि जंगली हिंस्र स्त्रीपशु[१] का नाम 'वृकी' है [वृद्धम् उच्चैः वाश्यते शब्दं करोतीति। √वाशृ शब्दे (४.५२)+इन्[२]+ङीप् > वृक+ई > वृकी]।[३]

९०. **'उरणः'** का अर्थ 'ऊन वाला' (मेष आदि) है [ऊर्णा+न (मत्वर्थः) > उर+न > उरण]।[४]

९१. ऊर्णाशब्द तो ''वृञ् वरणे'' (५.८) धातु से निष्पन्न होता है। शीतकाल में लोग ऊन (से निर्मित कम्बल आदि) को चाहते हैं अथवा ऊन शीत का निवारण करता है, अतः इसका नाम **'ऊर्णा'** है [√वृ+नक्[५] > वुर्+न > उर्+न+टाप् > ऊर्णा]। ''ऊर्णुञ् आच्छादने'' (२.३२) धातु से भी ऊर्णाशब्द उपपन्न होता है। शरीर का आच्छादक होने से **'ऊर्णा'** नाम है [√ऊर्णुञ्+ड[६] > ऊर्ण्+अ+टाप् > ऊर्णा]।

---

१. भेडिनी वाचक वृकीशब्द तो श्ववाची वृकशब्द के निर्वचन से सिद्ध होगा। अतः यहाँ तद्भिन्न 'हिंस्रपशु' अर्थ लेना ही उचित है।
२. सर्वधातुभ्य इन् (उणा॰४.११९)।
३. वृकः वज्रनाम (निघं॰२.२०.७), स्तेननाम (निघं॰ ३.२४.१४)। वृको लाङ्गलं भवति– विकर्तनात् (निरु॰ ६.२६)। वृकः= √वृक आदाने (१.७२), धनादीनामादाता (सायणः, ऋ॰२.२३.७) [√वृक्+क > वृक्+अ > वृक]; वज्रः(दया॰,यजु॰२१.३८)। वृकाः= आरण्याः श्वानः (सायणः,ऋ॰१०.९५.१४)। वृकम्=स्तेनम् (दया॰, ऋ॰ ७.३८.७); विद्युतम् (दया॰,ऋ॰१.१०५.११)। वृकस्य=यो वृश्चति छिन्नत्ति, तस्य [पशुविशेषस्य] (दया॰, यजु॰ १९.९२), व्याघ्रस्य (दया॰, यजु॰ ३३.५१)। वृकीः=स्तेनस्त्री (दया॰, ऋ॰ १.११७.१८)।
४. उरणम्=आच्छादकम् [दुर्जनम्] (दया॰, ऋ॰२.१४.४)।
५. इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उणा॰३.२) इति बाहुलकाद् वृणोतेरपि नक्।
६. ऊर्णोतेर्डः (उणा॰५.४७)।

९२. जोषवाकम्* जोषवाकमित्यविज्ञातनामधेयम् – जोषयितव्यं भवति। (५.२१)

[खण्डम् – ४]

९३. कृत्तिः* कृत्तिः कृन्ततेः,यशो वान्नं वा। इयमपीतरा कृत्तिरेतस्मादेव सूत्रमयी, उपमार्थे वा। (५.२२)

९४. श्वघ्नी* श्वघ्नी कितवो भवति – स्वं हन्ति। (५.२२)

---

९२. **'जोषवाकम्'** शब्द 'अविज्ञात (अस्पष्टता)' का वाचक होता है, क्योंकि वह जानने योग्य होता है [जोषमित्यव्ययपदं तूष्णीभावे मौने, अथवा √जुष परितर्कणे (१०.२६१)+घञ् > जोषम्, √वच परिभाषणे (२.५६)+घञ् > वाकः, जोषं जोषयितव्यं वाचानभिधेयं मनसैव विभावनीयं वाको वादो यस्मिन् तद् जोषवाकम् अपरितर्कणीयम् अनिर्वचनीयं वचनं जपः]।[१]

९३. 'कृत्तिः' शब्द ''कृती छेदने'' (६.१४४) धातु से सिद्ध होता है, इसका अर्थ 'यश' अथवा 'अन्न' है। यश अप्रसिद्धि आदि को काटता (दूर करता) है अथवा शत्रुओं की दुर्भावनाओं को छिन्न-भिन्न करता है। अन्न क्षुधा (भूख) को दूर करता है अथवा आवश्यकता से अधिक खाने व दुरुपयोग करने से आयु को क्षीण करता है, इसलिए यश और अन्न का नाम **'कृत्ति'** है [√कृत्+क्तिन् (कर्तरि) > कृत्ति]। यह जो दूसरी सूत्रमयी कन्था (गुदड़ी) वाचक **'कृत्ति'** शब्द है, वह भी उसी छेदनार्थक कृतीधातु से सिद्ध होता है, क्योंकि यह भी वस्त्र के खण्डों से ही निर्मित होती है (पूर्ववत्)। पहनने योग्य चर्म को मृतपशु से काटा जाता है, इसलिए चर्म का नाम **'कृत्ति'** है। उसके स्थान पर उस जैसा ही पहने जाने के कारण वस्त्रखण्ड (कन्था) भी उपमार्थ से **'कृत्ति'** कहलाता है [कृत्तिः इव कृत्तिः]।[२]

९४. 'श्वघ्नी' शब्द कितव (जुआरी) का वाचक है, क्योंकि वह अपने स्व (धनादि) का दाव पर लगा कर नाश करता है [स्व+ √हन हिंसागत्योः (२.२)+णिनि[३]

---

१. 'जोषम्' शब्द को √जुषी प्रीतिसेवनयोः (६.८) धातु से निष्पन्न करने पर 'जोषवाकम्' का अर्थ 'प्रीतिकरं वचनम्' (दया॰, ऋ॰ ६.५९.४) होगा। 'जुषते कान्तिकर्म' (निघं॰२.६.९) से निष्पत्ति मानने पर 'इच्छा व कामना युक्त वाणी' अर्थ होगा।
२. कृत्तिः गृहनाम (निघं॰ ३.४.१३)। कृत्तिवासः=कृत्तिश्चर्म, तद्वद् दृढानि वासांसि धृतानि येन सः(दया॰,यजु॰ ३.६१)।
३. कर्मणि हनः (अष्टा॰ ३.२.८६)।

९५. स्वम् स्वं पुनराश्रितं भवति। (५.२२)

९६. कितवः कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः, कृतवान् वाशीर्नामकः। (५.२२)

[खण्डम् – ५]

९७. दूढ्यः (दूढ्यः) दुर्धियः पापधियः। (५.२३,२)

९८. ऊर्मिः ऊर्मिरूर्णोतेः। (५.२३)

> स्व+हन्+इन् > श्व+घ्निन् > श्वघ्निन्]।[1]

९५. स्वामी के आश्रित होने से धनादि का नाम 'स्व' है [√श्रीञ् सेवायाम् (१.६३८)+ड्व > श्र्+व > श्+व > स्व]।

९६. जुआरी परस्पर कहते रहते हैं कि — 'कि तव अस्ति, किं तव अस्ति...' (दाव पर लगाने के लिए तुम्हारे पास क्या है ?.... और क्या है?) इस शब्दानुकरण से **'कितव'** शब्द बना है [किं+तव > किंतव > कितव]। जुआरी के साथी मित्र अपनी कामना प्रकट करते रहते हैं कि — कृतवान् (कृतकार्यः, कृतकृत्यः भूयाः) अर्थात् जीत की पाशे ही करें (गिरायें, डालें), अत एव **'कितव'** नाम है [√डुकृञ् करणे (८.१०)+क्तवतु > कि+तवत् > कितवत् > कितव]।

९७. 'दूढ्य' की व्याख्या ५.२ (नि० सं० १३) में की गयी है।

९८. 'ऊर्मिः' शब्द ''ऊर्णुञ् आच्छादने'' (२.३२) धातु से व्युत्पन्न होता है। लहरें तीरों अथवा जल के मध्यस्थ पदार्थों को आच्छादित करती हैं, इसलिए उनका नाम **'ऊर्मि'** है [√ऊर्णुञ्+मि[2] > ऊर्+मि > ऊर्मि]।[3]

---

१. श्वघ्नीव=या शुनो हन्ति, तद्वत् (दया०, ऋ० २.१२.४)। यथा वृकी शुनः श्वादीन् मृगान् कृन्तन्ती तथा [उषाः] (दया०, ऋ० १.९२.१०)

२. अर्त्तेरू च (द०उणा० १.१४) इति बाहुलकाद् ऊर्णोतेरपि मिप्रत्ययः।

३. ऊर्मिभिः=प्रापकैः प्रकारैस्तरङ्गैर्वा। अत्र अर्त्तेरुच्च (उणा० ४.४४) इति ऋधातोर्मिः प्रत्ययः उकारादेशश्च (दया०,ऋ० १.९५.१०)। ऊर्मिम्=उषसं जलवीचिं वा (दया०,ऋ० १.९५.१०)। बोधम् (दया०, यजु० १७.९९)। ऊर्मिः= ज्ञाता [राजा] (दया०, यजु० १०.२)।

९९. नौः नौः प्रणोत्तव्या भवति, नमतेर्वा। (५.२३)

[खण्डम् – ६]

१००. पिपर्ति,पपुरिः पिपर्ति पपुरिरिति पृणातिनिगमौ वा प्रीणातिनिगमौ वा (५.२४)

१०१. कुटस्य* (कुटस्य) कृतस्य कर्मणः। (५.२४)

१०२. चर्षणिः* (चर्षणिः) चायिताऽऽदित्यः। (५.२४)

---

९९. नाव पारगमन के लिए प्रेरणीय होती है, अत एव **'नौ'** नाम है [√नुद प्रेरणे (६.२)+डौ[1] > न्+औ > नौ]। ''णम् प्रह्वत्वे शब्दे च'' (१.७०८) धातु से भी **'नौ'** शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह भारवश इधर-उधर झुकती रहती है [√नम्+डौ[1] > न् +औ > नौ]।[2]

१००. **'पिपर्त्ति'** और **'पपुरि'** ये दोनों निगम के शब्द ''पॄ पालनपूरणयोः'' (३.४) धातु से निष्पन्न हैं [√पॄ+तिप् (लट्) > पिपर्त्ति; √पॄ+किन् (लिड्वत्) > पपुरिः]।[3] ''प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च'' (९.२) धातु से भी वे दोनों पद उपपन्न होते हैं [√प्रीञ्+तिप् (लटि छान्दसरूपम्) > पिपर्त्ति, √प्रीञ्+किन् > पपुरिः]।[4]

१०१. **'कुटस्य'** का अर्थ है 'कृतस्य (किये गये का)' [कृतशब्दस्य कुटभावः। कृञर्थात् कुटेः[5] कप्रत्ययः इत्यन्ये (देव०, नि०नि० ४.२.७०)]।[6]

१०२. **'चर्षणि'** का अर्थ है 'चायिता' (द्रष्टा)[7] है [√चायृ पूजानिशामनयोः (१.६२०)+अनि > चाय्+अनि > चर्ष्+अनि > चर्षणि]।[8]

---

१. ग्लानुदिभ्यां डौः (उणा० २.६५)।

२. नौ वाङ्नाम (निघं० १.११.४५)।

३. उदोष्ठ्यपूर्वस्य (अष्टा० ७.१.१०२) इत्युत्वम्।

४. पपुरि=पालकं पुष्टिकरम् [श्रवः=अन्नं श्रवणं वा] (दया०, ऋ० ६.४६.५)। पपुरिम्= पुष्टम् [पुत्रम्] (दया०, ऋ० १.१२५.४)। पपुरिः=प्रपूरको विद्वान् (दया०, ऋ० १.१६.४)।

५. √कुट कौटिल्ये (६.७५), √कुट छेदने (१.१६७) इति पाणिनिः।

६. कुट कौटिल्ये इत्यस्य कुटो यज्ञविभ्रंश उच्यते। स हि श्रुतिविहितात् ऋजोर्मार्गाद् अपेतश्च, तस्य; अथवा कुटिलचित्तः कुटः शठः पुमान्, तस्य; अथवा कुटशब्दः कृतशब्दपर्यायः, कृतस्य (स्कन्दः,ऋ० १.४६.४)। कुटस्य=कुटिलस्य मार्गस्य सकाशात् (दया०, ऋ० १.४६.४)।

७. 'विचर्षणिः, विश्वचर्षणिः' इति पश्यतिकर्माणौ (निघं० ३.११.६-७)।

८. √चक्षिङ्+अनि > चक्ष्+अनि > चर्ष्+अनि > चर्षणिः=द्रष्टा। 'कृषेरादेश्च चः'

१०३. शम्बः* शम्ब इति वज्रनाम[१] – शमयतेर्वा, शातयतेर्वा। (५.२४)

१०४,१०५. केपयः*, कपूयम् केपयः कपूया भवन्ति। कपूयमिति पुनाति कर्म कुत्सितम्, दुष्पूयं भवति। (५.२४)

[**खण्डम् – ७**]

१०६. पृथक् पृथक् प्रथतेः। (५.२५)

१०७. ईर्मः* ईर्म इति बाहुनाम (निघं॰ ४.१.१४) – समीरिततरो भवति। (५.२५)

---

१०३. 'शम्ब' शब्द 'वज्र' का नाम है।[१] वज्र शत्रुओं को शान्त करता है, इसलिए उसका नाम **'शम्ब'** है [√शमु उपशमे (४.९१)+बन्[२] > शम्ब]। शत्रुओं का वध करने के कारण भी वज्र का नाम **'शम्ब'** है [√शद्लृ शातने (+णिच्)+बन् > शम्+बन् > शम्ब]।

१०४,१०५. **'केपयः'** का अर्थ है 'कपूय' अर्थात् (कपूयमस्त्येषु इति ते कपूयाः) पापकर्मों के दुष्फल को हटाने का प्रयत्न करने वाले पापी लोग [कपूय+अच् (मत्वर्थीयः) > कपूय > केपय]। **'कपूयम्'** शब्द तो कुत्सित (पाप) कर्म को पवित्र (दुष्फलरहित) करने का प्रयास करता है, पर वह तो (दुष्पूय) पवित्र होना असम्भव है [कुत्सित+√पूञ् पवने (९.१०)+क्यप् > क+पू+य > कपूय]।

१०६. पृथक् शब्द ''प्रथ विस्तारे'' (१.५१६) धातु से निष्पन्न होता है, एकत्रित (संयुक्त) वस्तुओं की अपेक्षा अलग-अलग (बिखरी हुई) वस्तुएँ फैली हुई होती हैं, अतः उस अलगपन को **'पृथक्'** कहते हैं [√प्रथ्+अजि[३] > पृथ्+अज् > पृथक्]।

१०७. **'ईर्म'** यह बाहु वाचक पद है, क्योंकि यह अन्य अवयवों की अपेक्षा

(द॰उणा॰१.४) इत्यनिः [√कृष्+अनि > चृष्+अनि > चर्षणि]। चर्षणयः=मनुष्यनाम (निघं॰२.३.८), चरणवन्तः चरणशीलाः [√चर् (षुक्)+अनि > चर् (ष्)+अनि > चर्षणि (द्र॰देव॰, नि॰नि॰२.३.८)। मनुष्या ऋत्विग्रूपाः (सायणः, ऋ॰१.१८४.४)। सर्वव्यवहारविचक्षणा मनुष्याः (दया॰, ऋ॰ ६.२५.७)।

१. वज्रनामसु (निघं॰२.२०) शम्बशब्दो न पठितः, पुनरपि प्रसंगतो वज्रवाचको भवति।

२. शमेर्बन् (उणा॰४.९५)।

३. प्रथेः कित्संप्रसारणं च (उणा॰१.१३७)।

१०८. तूतुम् आकृषे* (तूतुम् आकृषे) तूर्णम् उपाकुरुषे। (५.२५)

१०९. अंसत्रम्* अंसत्रम् अंहसस्त्राणम्, धनुर्वा कवचं वा। (५.२५)

११०. कवचम् कवचं कु अञ्चितं भवति, काञ्चितं भवति, कायेऽञ्चितं भवतीति वा। (५.२५)

अधिक सञ्चालित या लम्बा होता है [√ईर गतौ कम्पने च (२.८)+मक्[१] > ईर्म]।[२]

१०८. 'तूतुम् आकृषे' का अर्थ है — 'तूर्णम् उपाकुरुषे' अर्थात् शीघ्र ही उपगत होकर सम्पन्न करते हो, उपयुक्त होते हो [तूर्ण — तूतुशब्दौ समानार्थकौ; (उपार्थगर्भितः) आ+कृ+उ+थास् > आ+कृ+से > आकृषे]।

१०९. प्रहारों (या पापों) से रक्षा करने वाला **'अंसत्रम्'** कहलाता है, जिसका अर्थ धनुष अथवा कवच होता है [√अम गतिशब्दसम्भक्तिषु (१.३१४)+हुक्+असुन्[३] > अम् ह्+अस् > अंहस् पापं प्रहरणं वा, ततः त्रायत इति अंहस्त्रम्; अंहस्+√त्रैङ् पालने (१.६३२)+क > अंह्-अस्+त्र > अं-स् अ+त्र > अंसत्र]।[४]

११०. कवच शरीराङ्गों की आकृति के अनुकूल टेढ़ा (वक्र) किया हुआ होता है, अत एव उसका नाम **'कवच'** है [कु+√अञ्चु गतिपूजनयोः (१.११५)+क > कव्+ अच्+अ > कवच]। का ईषत् अञ्चितम् अर्थात् यथाङ्ग थोड़ा मुड़ा हुआ है, इसलिए **'कवच'** नाम है [का+√अञ्च्+क >कव्+अच्+अ > कवच]। काय अर्थात् शरीर में संयुक्त व धारित होता है, इसलिए भी **'कवच'** नाम है [काय+√अञ्च्+क > कव्+अच् +अ > कवच]।

---

१. इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् (उणा॰१.१४५)। ईर्त्ते गच्छति कम्पते वा तत् ईर्मं व्रणं वा (दया॰, तत्रैव)।

२. अर्त्तेः ईर्मा इति रूपम् (सायणः, ऋ॰ ५.७३.३)। तु॰ ईर्मान्तासः (निरु॰४.१३; नि॰सं॰४७)। ईर्म, ईर्मा=इह (यहाँ) [अस्मिन्नर्थेऽव्ययौ]। ईर्मा=प्राप्तव्यं ज्ञातव्यं वा [वपुः= सुरूपम्] (दया॰, ऋ॰५.७३.३)। प्रेरकः [सज्ञनः] (दया॰, ऋ॰४.२७.२)।

३. अमेर्हुक् च (उणा॰४.२१४)।

४. अंसं बाहुं त्रायते इति अंसत्रं कवचमित्यपि व्युत्पाद्यते [अंस+त्रै+क > अंसत्र]। अंसत्रम् = अंसत्राणमंसोपलक्षितस्य कृत्स्नशरीरस्य त्रायकं रक्षकं॰ (सायणः, ऋ॰८.१७.१४)। अंसत्रा=अंसान् गत्यादीन् रक्षतस्तौ (दया॰, ऋ॰४.३४.९)।

[खण्डम् – ८]

११११. द्रोणम् द्रोणं द्रुममयं भवति। (५.२६)

११२. आहावः आहाव आह्वानात्। (५.२६)

११३. आवहः आवह आवहनात्। (५.२६)

११४. अवतः* अवतोऽवातितो महान् भवति। (५.२६)

११५. अश्मचक्रम् अश्मचक्रम् अशनचक्रम्, असनचक्रमिति वा। (५.२६)

---

१११. 'द्रोण' द्रुममय (काष्ठमय) होता है अर्थात् काष्ठ से निर्मित कलशविशेष, रथादि **'द्रोण'** कहलाते हैं [√द्रु गतौ (१.६७७)+न[१] > द्रोण]।[२]

११२. जल पिलाने के लिए जलकुण्ड के पास पशु बुलाए जाते हैं, अतः जलकुण्ड को **'आहाव'** कहते हैं [आङ्+√ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च (१.७३३)+अप् > आ+हु+अ > आहाव[३]]।

११३. ओह्यतेऽस्मिन्नुदकम् अर्थात् जिस कुण्ड (न्याँद) आदि में जल भर दिया जाता है अथवा जल पिलाने हेतु पशु जहाँ ले जाये जाते हैं, उस जलकुण्ड को **'आवह'** कहते हैं [आङ्+√वह प्रापणे (१.७३०)+अप् > आवह]।

११४. कूप अत्यधिक नीचे को (गहराई तक) खुदा (गया) हुआ होता है, अतः कूप का नाम **'अवत'** है [अव+√अत सातत्यगमने (१.३१)+अच् > अवत]।[४]

११५. **'अश्मचक्रम्'** का अर्थ है **'अशनचक्रम्'** अश्मानि अशनानि व्यापनशीलानि चक्राणि अर्थात् व्यापनशील चक्र, चक्ररूपी शस्त्रविशेष [√अशूङ्

---

१. कॄवॄजॄसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित् (उणा० ३.१०)।
२. द्रोणे=गन्तव्ये मार्गे; परिमाणे (दया०, ऋ० ६.२.८; ६.३७.२)। द्रोणम्=द्रवन्ति येन विमानादियानेन, तत् (दया०, ऋ० ६.४४.२०)।
३. निपानमाहावः (अष्टा० ३.३.७४) इति वृद्धिसम्प्रसारणे निपात्येते।
४. अवत कूपनाम (निघं० ३.२३.७)।

११६. कोशः* कोशः कुष्णातेः– विकुषितो भवति। अयमपीतरः कोश एतस्मादेव। (५.२६)

११७. सञ्चयः सञ्चय आचितमात्रो महान् भवति। (५.२६)

११८. काकुदम्* काकुदं तालु इत्याचक्षते – जिह्वा कोकुवा, सास्मिन् धीयते, जिह्वा कोकुवा कोकूयमाना वर्णान् नुदतीति वा। (५.२६)

व्याप्तौ० (५.१८)+मनिन्[१] > अश्मन्; अश्मन्+चक्र > अश्मचक्र]। दूसरा अर्थ है – **'असनचक्र'** – असनानि क्षेपणीयानि तीक्ष्णानि चक्राणि अर्थात् प्रक्षेप करने योग्य (तीक्ष्ण) चक्र [√असु क्षेपणे (४.९९)+मनिन्[१] > अस्मन्; अस्मन्+चक्र > अश्मचक्र]।

११६. **'कोश'** शब्द "कुष निष्कर्षे" (९.५०) धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि वह अन्दर खोखला (खाली किया हुआ जैसा) रहता है [√कुष्+अच् > कोष > कोश]। यह जो लोकप्रसिद्ध धनसंग्रहस्थल का वाचक **'कोश'** शब्द है, वह भी इसी कुषधातु से सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें से संग्रहीत धनादि निकाला जाता है [पूर्ववत्]।[२]

११७. कोश (धनागार, शस्त्रागार आदि) का एक नाम **'सञ्चय'** भी है, क्योंकि वह धनादि के सञ्चित (एकत्रित) करने से बड़ा खजाना बन जाता है [मात्राभिर्वित्तैराचितः पूर्णः इति आचितमात्रः[३]। सम्+√चिञ् चयने (५.५)+अच् > सञ्चय]।

११८. काकुद को तालु ऐसा कहते हैं, क्योंकि जिह्वा का ही अपर नाम 'कोकुवा' है, वह कोकुवाख्य जिह्वा वर्णों के उच्चारण के लिए जिसमें धारण (स्थापित) की जाती है, उस तालु को **'काकुद'** कहते हैं [कोकुवा+√डुधाञ् धारणपोषणयोः

---

१. सर्वधातुभ्यो मनिन् (उणा० ४.१४६)।
२. कोशः मेघनाम (निघं० १.१०.३०)। कोशः–क्रोशतेः शब्दकर्मणः (१.५९५) पचाद्यचि (अष्टा० ३.१.१३४) पृषोदरादित्वात् (अष्टा० ६.३.१०९) रेफलोपः, कोशः। मेघो हि गर्जितलक्षणं शब्दं करोति। कुप्यतेर्वा वृद्ध्यर्थात् (४.१२२) अस्मिन्नेवार्थे पकारस्य शकारः, इषुमात्रमवर्द्धतेत्युक्तम् (२८)। क्रोशतिश्छादनार्थ इति माधवः, पूर्ववदवच्छादयत्यसौ कृत्स्नं नभः। जलस्य कोशस्थानीयत्वात् कोश इत्यन्ये। यद्वा 'कु शब्दे' (२.३५), 'कुदापाभ्यः शः' (स०क० २.३.१३९) इति श्रीभोजदेवः। कौति गर्जितशब्दं करोति कोशः (देव०, निघं० तत्रैव)। चर्ममयेन रज्वा बद्धेन येन कूपादुदकमुत्तार्यते, स कोशः इत्युच्यते (स्कन्दः, ऋ० १.८७.२)।
३. राजदन्तादिषु परम् (अष्टा० २.२.३१) इति मात्राशब्दस्य परप्रयोगः।

११९. कोकुवा कोकुवा कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः। (५.२६)
१२०. जिह्वा* जिह्वा जोहुवा। (५.२६)
१२१. तालु तालु तरतेस्तीर्णतममङ्गम्, लततेर्वा स्याद् लम्बकर्मणो विपरीताद्, यथा तलम्, लतेत्यविपर्ययः। (५.२६)

(३.१०)+क > कोकुवा+ध्+अ > काकु+ध > काकुद]।[1] जिह्वा का नाम कोकुवा इसलिए है कि वह पुनः पुनः शब्द (स्पर्श) करती हुई वर्णों को प्रेरित (अभिव्यक्त) करती है, इसलिए जिह्वा का नाम **'कोकुवा'** है अर्थात् यङ्लुगन्त ''कु शब्दे'' (२.३५) धातु और ''नुद प्रेरणे'' (६.२) धातुओं के योग से 'काकुद' शब्द निष्पन्न होता है [√कोकु+√नुद्+क > कोकु+नुद > काकु+द > काकुद]।[2]

११९. **'कोकुवा'** शब्द शब्दार्थक ''कु'' धातु के यङ्लुगन्त धातु से निष्पन्न होता है [√कु शब्दे (२.३५)+यङ्लुक्+अच्+टाप् > कोकु+अ+आ > कोकुवा[3]]।

१२०. जोहुवा शब्द से 'जिह्वा' पद निष्पन्न होता है अर्थात् पुनः पुनः हूयतेऽस्यामनया वा शब्दान्नादिकमिति, रसादिकमादत्ते इति वा सा जिह्वा — जिसमें शब्द, अन्नादि का होम (स्थापन) किया जाता है अथवा जिससे अन्न, रस आदि का ग्रहण किया जाता है, उसे **'जिह्वा'** कहते हैं [√हु दानादानयोः आदाने च (३.१)+यङ्लुक् + अच् +टाप् > जोहुवा > जिह्वा]।[4]

१२१. तालु शब्द ''तॄ प्लवनसन्तरणयोः'' (१.६९६) धातु से उपपन्न होता है, क्योंकि वह मुखान्तर्गत के अवयवों में उत्तीर्णतम अर्थात् उन्नत अवयव है, इसलिए

---

१. 'काकुत्, जिह्वा' इति वाङ्नामनी (निघं०१.११.२८,२९)।
२. काकुदं तालु, काकुर्जिह्वा, साऽस्मिन्नुद्यते (म०भा०पस्पशा०)।
३. न धातुलोप आर्धधातुके (अष्टा०१.१.४) इति गुणे निषिद्धे उवङ्।
४. जिह्वा वाङ्नाम (निघं०१.११.२९)। 'शेवायह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः' (उणा०१.१५४) इति निपातिताः। 'लिह आस्वादने' (२.६), वप्रत्यये, अस्यादेर्जकारो निपात्यते। लेढ्यास्वादयत्यनया ग्रन्थविषयावसारान्। यद्वा आह्वयतेः(१.७३४) जुहोतेः(३.१) वायं यङ्लुगन्तस्याच्, सम्प्रसारणम् 'अभ्यस्तस्य च' (अष्टा०६.१.३३) इति, सप्रसारणे च 'न धातुलोप आर्द्धधातुके' (अष्टा०१.१.४) इति गुणनिषेधादुवङादेशे रूपम्। जोहवीति पुनः पुनराह्वयति शब्दं करोति रसान् वादत्ते जुहोत्यस्यात्मनि। जोहुवा सति ओकारस्येकारादेशे उकारलोपे च जिह्वा (देव०, नि०नि०१.११.२९)। जुहोति शब्दमन्नं वा यया सा (दया०,यजु०१.३०), जुहोति गृह्णाति यया सा (दया०,यजु०१९.८८), जयति यया सा जिह्वा, इन्द्रियं वा, धातोर्हुक् (दया०, उणा०१.१५४)।

१२२. तलम् लततेर्वा स्याद् लम्बकर्मणो विपरीताद्। (५.२६)
१२३. लता लततेर्वा स्याद् लम्बकर्मणः। (५.२६)

[खण्डम् – ९]

१२४. सिन्धुः* सिन्धुः स्रवणाद्। (५.२७; ९.२६)
१२५. सूर्मि सूर्मि कल्याणोर्मि। (५.२७)
१२६. वीरिटम्* वीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह,पूर्वं वयतेः उत्तरम् इरतेः।

उसका नाम **'तालु'** है [√तॄ+ञुण्[1] > तार्+उ > तालु]। लम्बार्थक लतधातु (नैरुक्तधातु) से भी वर्णविपर्यय करके तालुशब्द सिद्ध होता है, क्योंकि वह कण्ठ, ओष्ठादि स्थानों की अपेक्षा लम्बा (विस्तृत) होता है, इसलिए **'तालु'** नाम है [√लत्+ञुण् > तल्+उ > तालु]। यह वर्णविपर्यय ऐसे ही हुआ है, जैसे इसी धातु के वर्णविपर्यय करने से 'तल' शब्द बना है और विना विपर्यय के सीधा 'लता' शब्द।

१२२. लम्बार्थक ''लत'' धातु (नैरुक्तधातु) के वर्णविपर्यय करने से 'तलम्' (हस्तादि का तल प्रान्त, हथेली) शब्द बनता है [√लत्+अच् > तल्+अ > तल]।

१२३. लम्बार्थक ''लत'' इस नैरुक्तधातु से 'लता' शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह लम्बायमान (वृक्षादि का आश्रित) और विस्तृत फैलने वाली होती है [√लत्+अच्+ टाप् > लता]।

१२४. जलप्रवाह के कारण नदी का नाम 'सिन्धु' है [(√स्रु=)√स्यन्दू प्रस्रवणे (१.५११)+उ[2] > सिन्धु]।[3]

१२५. सुन्दर तरंगों से युक्त स्रोत (प्रवाह, नाली) का नाम 'सूर्मि' है [सु+ऊर्मि > सूर्मि]।

१२६. तैटीकि आचार्य ने वीरिट को अन्तरिक्ष का ही वाचक माना है (यास्क ने तो अन्तरिक्ष और गण का वाचक माना है, तैटीकि के मत में दो निर्वचन इसप्रकार

---

१. त्रो रश्च लः (उणा०१.५)।
२. स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च (उणा०१.११)।
३. सिन्धवः नदीनाम (निघं०१.१३.२१)। सिन्धूनाम् = स्यन्दमानानाम् (निरु०१०.५)।

वयांसीरन्त्यस्मिन्, भांसि वा (५.२७)। [**खण्डम् – १०**]
वीरिटम् अन्तरिक्षं– भियो वा भासो वा ततिः (५.२८), [वीरीटे= गणे (५.२८)]

१२७. विश्पतिः (विश्पती) सर्वस्य [=विश्वस्य] पातारौ पालयितारौ वा। (५.२८; ४.२६; १२.२९)

१२८. नियुतः* नियुतो नियमनाद्वा नियोजनाद्वा। (५.२८)

हैं –) वीरिटशब्द का पूर्वभाग "वय गतौ" (१.३२०) धातु से निष्पन्न होता है और उत्तरभाग "ईर गतौ" (२.८) धातु से निष्पन्न होता है अर्थात् पक्षी जिसमें गमन करते हैं, उस अन्तरिक्ष को **'वीरिट'** कहते हैं [√वय्+इण् (डित्)[1] > व्+इ > विः=पक्षी; √ईर् +इ टक् > ईरिटम्। ईरिटम्=गमनम्; वीनां पक्षिणाम् ईरिटमस्मिन्निति – वि+ईरिट > वीरिट]। अथवा वयो=भांसि = नक्षत्रादीनि ज्योतींषि ईरते गच्छन्त्यस्मिन्निति वीरिटम् अन्तरिक्षम् अर्थात् जिसमें प्रकाशशील नक्षत्रादि गमन करते हैं, उसे **'वीरिट'** कहते हैं [वि+√ईर्+इटक् > वीरिट / भास्+ईर्+इटक् > वि (आदेशः)+ईरिट > वीरिट]। (यास्क के मत में ये भी निर्वचन हैं –) वीरिटशब्द अन्तरिक्षवाची है, क्योंकि जिसमें (निरालम्बन के कारण) भय फैला रहता है, उस अन्तरिक्ष को **'वीरिट'** कहते हैं [भी+ रिट् (आगमः) √तनु विस्तारे (८.१)+ड > वी (आदेशः)+रि त्+अ > वी+रि ट्+अ > वीरिट]। सूर्य, नक्षत्रादि का प्रकाश जिसमें फैला हुआ होता है, उस अन्तरिक्ष का नाम **'वीरिट'** है [भास्+रिट् √तन्+ड > वी+रि त्+अ > वी+रि ट्+अ > वीरिट]। [वीरिट शब्द का अर्थ गण (समुदाय) भी होता है, क्योंकि सैनिकादियों का समुदाय भयकारक होता है [भी+रिट् √तन्+ड > वीरिट]।

१२७. सब का पाता (रक्षक) या पालयिता (पालक) का नाम 'विश्पति' है [विश्व+पति > विश्पति; द्र० ४.२६]।

१२८. नितरां यमनाद् अर्थात् रथ में जुड़े हुए अश्व निश्चितरूप से नियन्त्रित किये जाते हैं, इसलिए अश्व का **'नियुत्'** नाम है [नि+√यम उपरमे (१.७१०)+उति[2] (डित्) > नि+य्+उत् > नियुत्]। रथ में अश्व निश्चितरूप से जोडे जाते हैं, इसलिए

---

१. वातेर्डिच्च (उणा० ४.१३५)।
२. मृग्रोरुतिः (उणा० १.९४)। बाहुलकाद् डित्।

१२९. अच्छ* अच्छाभेः, आप्तुमिति शाकपूणिः। (५.२८)

१३०. सृणिः* सृणिरङ्कुशो भवति– सरणाद्। (५.२८)

भी **'नियुत्'** नाम है [नि+√युजिर् योगे (७.७)+उति > नि+युज्+उत् > नि+य्+उत् > नियुत्]।[1]

१२९. 'अच्छ' यह निपातशब्द 'अभि' (आभिमुख्यादि) के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु शाकपूणि आचार्य तो इसे 'प्राप्त करने के लिए' इस अर्थ का वाचक मानते हैं।[2]

१३०. **'सृणि'** का अर्थ 'अङ्कुश' होता है[3], क्योंकि यह "सृ गतौ" (१.६६९) धातु से निष्पन्न होता है [√सृ+नि[4] / क्निन्[5] > सृणि]।

---

१. नियुतो वायोः(निघं०१.१५.१०)। निपूर्वात् 'यु मिश्रणे अमिश्रणे च'(२.२६) इत्यस्मात् क्विप्। नियुवन्ति मिश्रयन्ति तृणपर्णादीनि, आत्मानं रथेन वा०(देव०तत्रैव)। नियुतः = अस्माभिर्नियमिता वा नियुक्ता वा, उच्चारिता इत्यर्थः(उवटसायणौ, ऋ०१०.२६.१)। नियुतम्=नित्यं युक्तम् [वज्रं शस्त्रास्त्रसमूहम्](दया०, ऋ०१.१२१.३), असङ्ख्यातम् [धनम्](दया०, ऋ०१.१३८.३), निश्चयेन मिश्रणामिश्रणकर्तारः[मनुष्याः](दया०, यजु०२७.२४), नितरां मिश्रितामिश्रितान् वाय्वादिगुणान्(दया०,यजु०३३.७०), नियुज्यन्ते ये तान् निश्चितान् शमादिगुणान्, अत्र कर्मणि क्विप्(दया०,यजु०७.७)।
२. अच्छ अभेः स्थाने, अभिवद स्तुहीत्यर्थः(स्कन्दः, ऋ०१.३८.१३), आप्तुम् अनुभवितुमित्यर्थः (स्कन्दः, ऋ०१.४१.६), आप्तुं यष्टुमित्यर्थः(स्कन्दः, ऋ०१.१०५.१४)। अच्छ=श्रेष्ठार्थे (दया०, यजु०३.२५), सम्यग्रीत्या (दया०, यजु०४.२०), निश्शेषार्थे (दया०, ऋ०१.१३०.१)।
३. द्विविधा सृणिर्भवति भर्ता च हन्ता च(निरु०१३.५)। सृणि के दो अर्थ होते हैं – १. भर्ता (धर्ता) अर्थात् अङ्कुश से हाथी का धारण (नियन्त्रण) किया जाता है, उसे *'सृणि'* कहते हैं और २. हन्ता(छेदक) अर्थात् घासादि को काटने वाली दराती आदि को 'सृणि' कहते हैं। सृणिशब्दोऽङ्कुशवाची, तेनायुधमात्रं लक्ष्यते(सायणः, ऋ०४.२०.५), सृणिरङ्कुशः, अङ्कुशवद् वक्रो लवित्रः(सायणः, ऋ०१०.१०१.३)। सृण्यः = सर्वक्लेश-हन्त्र्यः [योगवृत्तयः](दया०, ऋ०भा०भू०उपासना, यजु०११.६८)।
४. सृवृषिभ्यां कित्(उणा०४.५०)।
५. जनिदाच्युसृ ...इत्वन्त्वन्त्नण्क्रिन्०(उणा०४.१०५)। सरतीति सृणिः, चन्द्रोऽङ्कुशो वा (दया०, तत्रैव)।

१३१. अङ्कुशः अङ्कुशोऽञ्चतेः, आकुचितो भवतीति वा। (५.२८)

इति पञ्चमोऽध्यायः



१३१. अङ्कुशशब्द ''अञ्चु गतिपूजनयोः'' (१.११५) धातु से व्युत्पन्न होता है। हाथी को नियन्त्रित करने हेतु उसके शिर पर जिसे चलाया जाता है, उसे **'अङ्कुश'** कहते हैं [√अञ्च्+उशच्[1] > अङ्कुश]। आङ्पूर्वक √कुच सम्पर्चनकौटिल्यप्रतिष्टम्भ-विलेखनेषु (१.५९६) धातु से भी अङ्कुशशब्द व्युत्पन्न होता है, क्योंकि वह कुटिल (टेढ़ा) होता है अथवा यह हाथी की स्वतन्त्रता का प्रतिष्टम्भक (अवरोधक) होता है [आङ्+√कुच्+ उशच् (डित्) > अङ्+क्+उश > अङ् +कुश > अङ्कुश]।[2]

१. सानसिवर्णसिपर्णसितण्डुलाङ्कुश० (उणा०४.१०८)।
२. अङ्कुशः=अङ्कुशवच्छत्रून्नियच्छतीति बाहुः अङ्कुशः (वेंकटः, ऋ० ८.१७.१०)। अत्राङ्कुश-शब्देन प्रेरकत्वगुणयोगात् स्तुतिरुच्यते (सायणः, ऋ०१०.४४.९)। अक्षा एवाङ्कुशिनः अङ्कुशवन्तः। अङ्कुशवन्तो यथा पुष्पफलहस्तिशिरःप्रभृतीनाम् आक्रष्टारो दुःखयितारश्च भवन्ति, एवं द्यूतकारिणाम् आक्रष्टारो दुःखयितारश्चेत्यर्थः (उवटः, ऋ०१०.३४.७)।

अथ षष्ठोऽध्यायः

प्रथमः पादः [खण्डम् – १]

१. आशुशुक्षणिः* आशुशुक्षणिः आशु इति च, शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः, क्षणिरुत्तरः, क्षणोतेः। आशु शुचा क्षणोतीति वा। सनोतीति वा। ...आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तात्, चिकीर्षितज उत्तरः, अ शुशोचयिषुरिति। (६.१)

२. क्षणिः क्षणिः....क्षणोतेः। (६.१)

१. 'आशुशुक्षणि' इस शब्द में 'आशु' और 'शु' ये दोनों ही शब्द क्षिप्रार्थक (शीघ्रतावाचक) हैं। इनसे उत्तर विद्यमान क्षणि शब्द [''क्षणु हिंसायाम्'' (८.३) धातु से निष्पन्न होता है। जो शीघ्रातिशीघ्र अन्धकार व प्रदाह्य पदार्थादि को नष्ट करता है, वह अग्नि **'आशुशुक्षणि'** कहलाता है [आशु+शु+ √क्षण्+इन्[1] > आशुशुक्षणि]। जो शीघ्र ही अपनी दीप्ति (ज्वाला, तेज) से नष्ट करने वाला है, उसका नाम **'आशुशुक्षणि'** है [आशु+शुच्+ √क्षण्+इन् > आशु+शु+क्षणि > आशुशुक्षणि]। जो शीघ्र ही पाक, दाह, प्रकाशन आदि कार्यों में अपनी उष्णता को प्रदान करता है, वह अग्नि **'आशुशुक्षणि'** कहलाता है[2] [आशु+शुच्+√षणु दाने (८.२)+इन् > आशु+शुक्+सन्+इ > आशु+शुक्षण्+इ > आशुशुक्षणि]। ......आ उपसर्ग पूर्वक सनन्त शुच् धातु से भी **आशुशुक्षणि** शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है आशुशोचयिषुः (आ-दिदीपयिषुः) अर्थात् चारों ओर से सर्वविध दीप्ति (तेजस्विता) को चाहने वाला यजमानादि [आ+√शुच् (अन्तर्भावितण्यर्थः)+सन्+अनि[3] > आ+शुशुच्+स+अनि > आशुशुक्षनि > आशुशुक्षणि]।[4]

२. क्षणिशब्द ''क्षणु हिंसायाम्'' (८.३) धातु से उपपन्न होता है। हिंसक व नाशक का नाम **'क्षणि'** है [√क्षण्+इन्[1] > क्षणि]।

१. सर्वधातुभ्य इन् (उणा० ४.११९)।
२. आशु शुचं शोकं सनोति ददाति शत्रुभ्यो दाहादिना इत्याशुशुक्षणिः (सायणः, ऋ० २.१.१)।
३. अर्तिसृधृधम्यम्यश्यवितृभ्योऽनिः (उणा० २.१०४)।
४. शीघ्रं शीघ्रं दुष्टान् क्षिणोति हिनस्ति यः [अग्निः= न्यायाधीशो राजा] (दया०, यजु० ११.२७)।

३. शुक् शुक् शोचतेः। (६.१)

४. शुचिः शुचिः शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः, अयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव। निष्षिक्तमस्मात् पापकमिति नैरुक्ताः। (६.१)

[खण्डम् — २]

५. आशाः* आशा दिशो भवन्ति (निघं० १.६.२) — आसदनाद्, आशा उपदिशो भवन्ति — अभ्यशनात्। (६.१)

---

३. **शुक्** शब्द ''शोचतिः ज्वलतिकर्मा'' (निघं० १.१६.५) धातु से व्युत्पन्न है। जिसका अर्थ है 'ज्वलनम्' [√शुच्+क्विप् > शुच् > शुक्]।[१]

४. ज्वलनार्थक ''शुच्'' धातु से **'शुचि'** शब्द उपपन्न होता है। यह दीप्त्यर्थक है [√शुच्+इन् (कित्)[२] > शुचि]। जो लोक में प्रसिद्ध शुद्ध्यर्थक शुचिशब्द है, वह भी इसी शुच् धातु से उपपन्न होता है [पूर्ववत्]। निरुक्त की प्रक्रिया के अनुसार तो **'शुचि'** वह कहलाता है, जिससे पाप (मलिनता) निकल गया है। जिसका राग, द्वेषादि मल नष्ट हो जाता है, वह तेजोयुक्त होता है [(निर्+) √सिच क्षरणे (६.१४३)+इन् (कित्)[२] > शुच्+इ > शुचि]।[३]

५. **'आशा'** शब्द दिशाओं का वाचक है[४], क्योंकि वे प्रत्येक प्रदेशादि के प्रति आसन्न (समीप से प्राप्त) हैं अथवा सब स्थानों में समीपतः विद्यमान हैं [आङ्+ √सद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (१.५९३)+ड+टाप् > आ+स्+अ+आ > आसा > आशा]।[५] **'आशा'** शब्द उपदिशाओं का भी वाचक है, क्योंकि वे मुख्यदिशाओं को अभिलक्षित कर उन्हीं में व्याप्त होती हैं [आङ् (अभ्यर्थे)+ √अशूङ् व्याप्तौ संघाते च (५.१८)+ अच् / घञ्+टाप् > आ+अश / आश+आ > आशा]।[६]

---

१. शोचन्ति विचारयन्ति यया सा प्रदीप्तिः, सूर्यस्येव प्रदीप्तिर्वा (दया०,यजु० ३८.१८)।
२. इगुपधात् कित् (उणा० ४.१२१)।
३. शुचये=पवित्रकरायाऽऽषाढाय (दया०, यजु० २२.३१)।
४. आशाः दिङ्नाम (निघं० १.६.२)।
५. आङ्पूर्वात् √शद्लृ शातने (१.५९४) इत्ययमत्र गत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद् धातूनाम्। पूर्ववद् डः। तं तमर्थं प्रत्यागमनाद् (देव०नि०नि० १. ६.२)।
६. आशाशब्द इच्छावचनः (स्कन्दः,ऋ० १.३९.३)। आशाः कामाः (सायणः,ऋ० ५.१०.६)। प्राप्तीच्छा (दया०, ऋ० १.१६२.७)

६. काशिः* काशिर्मुष्टिः — प्रकाशनात्। (६.१)

७. मुष्टिः मुष्टिर्मोचनाद्वा, मोषणाद्वा, मोहनाद्वा। (६.१)

८,९. रोदसी*, रोधसी रोदसी रोधसी, द्यावापृथिव्यौ — विरोधनाद्। (६.१; ११.४९; १२.४६)

---

६. काशिशब्द मुष्टि (मुट्ठि) का वाचक है, क्योंकि इस (मुष्टि) में क्या है ? ऐसा पूछने पर इसे खोलकर दिखाया जाता है अथवा लोग इसे शीघ्र ही खोल देते हैं, इसीलिए मुष्टि का नाम 'काशि' है [√काशृ दीप्तौ (१.४३०)+इन्[१]> काशि]।[२]

७. मुष्टि नाम मोचन से है अर्थात् इसमें क्या है? ऐसा पूछे जाने पर जिसे खोल दिया जाता है अथवा धनादि का दान जिससे दिया जाता है अथवा बद्ध मुष्टि को शीघ्र ही छोड़ दी जाती है या छुड़ायी जाती है, वह **'मुष्टि'** है [मुच्यतेऽसौ इति कर्मणि, मुच्यतेऽनयेति करणे वा। √मुच्लृ मोचने (६.१३९)+क्तिच् +मुच्+ति > मुष्+ति > मुष्टि]। जिससे चुराया जाता है, उसका नाम **मुष्टि** है [मुष्यतेऽनयेति करणे। √मुष स्तेये (१.४५८)+क्तिच्[३] > मुष्टि]। पता नहीं इस मुट्ठी में क्या है ? ऐसा जिसे देखकर दूसरा व्यक्ति मोहित (अज्ञानी) हो जाता है अथवा जिसे देख कर दूसरा व्यक्ति भयभीत (किं कर्तव्य विमूढ) हो जाता है या जिसके बन्धन से दूसरा मोहित (आशङ्कित) हो जाता है, इस विमोहन के कारण ही उसका नाम **'मुष्टि'** है [√मुह वैचित्ये (४.८७)+क्तिच्[३] > मुह्+ति > मुष्+ति > मुष्टि]।[४]

८,९ रोदसी का अर्थ है रोधसी अर्थात् द्युलोक और पृथिवीलोक। विरोधन अर्थात् इन दोनों लोकों में विविध प्रकार के सभी पदार्थ व प्राणी स्थित होने से इनका नाम **'रोधसी'** एवं **'रोदसी'** है [√रुधिर् आवरणे (७.१)+असुन् > रोधस् > रोदस्; रोदस्+औ > रोदसी]।[५]

---

१. सर्वधातुभ्य इन् (उणा० ४.११९)।
२. काशिः=न्यायविनयादिशुभगुणप्रदीप्तिः (दया०, ऋ० ३.३०.५)। प्रकाशो लोके प्रसिद्ध एव (सायणस्तत्रैव)। काशिना=आकाशवता पात्रेण (वेंकटः, ऋ० ७.१०४.८)।
३. तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च (अष्टा० ७.२.९) इति इटोऽभावः।
४. मुष्टिम्=मुष्ट्या धनग्राहकं राज्यम् ...राष्ट्रं मुष्टिः [शत० ब्रा० १३.२.९.७] (दया०,यजु०२३.२४)। राष्ट्रं मुष्टिः (तै० ब्रा० ३.९.७.५)।
५. रोदसी=रुद्रस्य पत्नी (निरु० ११.४९; १२.४६)। द्यावापृथिवीवचनो रोदसीशब्दः सर्वत्राद्युदात्तः (सायणः, ऋ० १.१६७.४)। अतोऽन्तोदात्तरोदसीशब्दो रुद्रपत्नीवचनः। अहोरात्राविव (दया०, ऋ० १.१८५.३), राजप्रजाव्यवहारौ (दया०,ऋ० ३.३८.८)। प्रकाशाप्रकाशयोर्भूमिसूर्ययोः (दया०, ऋ० १.९६.४)।

१०. रोधः रोधः कूलं – निरुणद्धि स्रोतः। (६.१)

११. कूलम् कूलं रुजतेर्विपरीतात्। (६.१)

१२. लोष्टः लोष्टः (रुजतेः) अविपर्ययेण (६.१)

१३. कुणारुम्* (कुणारुम्) परिक्वणनं मेघम्। (६.१)

[खण्डम् – ३]

१४. अलातृणः* अलातृणोऽलमातर्दनः, मेघः। (६.२)

---

१०. **रोधः** कूल (नदी के तटों) का नाम है, क्योंकि यह जलप्रवाह को रोके रखता है [√रुधिर् आवरणे (७.१) + असुन् > रोधस्]।

११. कूल शब्द तो "रुजो भङ्गे" (६.१२६) धातु के विपरीत अर्थात् वर्णविपर्यय होने से सिद्ध होता है। नदी के तट वक्र बने हुए होते हैं, अतः उनका नाम **'कूल'** है [√रुज् + क > जुर् + अ > कुल् + अ > कूल् + अ > कूल]।

१२. लोष्ट शब्द विना वर्णविपर्यय के रुजधातु से ही सिद्ध होता है। लोष्ट अर्थात् मृत्पिण्ड शीघ्र ही टूट जाता है व विकीर्ण (बिखरने) के स्वभाववाला होता है, अत एव उसका नाम **'लोष्ट'** है [√रुज् + क्त > लुष् + त > लोष्ट]।[1]

१३. **'कुणारुम्'** का अर्थ है परिक्वणन अर्थात् गर्जना करने वाले मेघ को [√क्वण शब्दे (१.३०३) + आरु[2] > क्वणारु]।

१४. **'अलातृण'** का अर्थ है अलमातर्दनः अर्थात् जल से परिपूर्ण मेघ शीघ्र टूटने योग्य होता है [अलं पर्याप्तमातर्दनं हिंसा यस्य, बहूदकत्वात्। अलम् + आङ् + √तृदिर् हिंसानादरयोः (७.८) + युच् / ण[3] > अल + आ + तृद् + अन / ण > अलातृण]।[4]

---

१. लोष्टपलितौ (उणा० ३.९२)।
२. शॄवन्द्योरारुः (अष्टा० ३.२.१७३) इत्यारुप्रत्ययश्छान्दसत्वादिहापि भवति। क्वण शब्दे इत्यस्माद् धातोरौणादिक आरुः प्रत्ययः (दया०, यजु० १८.६९)।
३. बहुलमन्यत्रापि (उणा० २.७९) इति युच्। वीणास्थूणाहूणभ्रूणक्षूणतूणतृणघृणादयः (स०कं० २.२.१२३)।
४. अलातृणः = योऽलं तृणाति सः [इन्द्रः = परमैश्वर्यप्रापको राजा] (दया०, ऋ० ३.३०.१०)।

१५. वलः* वलो वृणोतेः। (६.२)

१६. व्रजः* व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे। (६.२)

१७. [गौः गौः एषा माध्यमिका वाक् ।] (६.२)

१८. हन्तोः (हन्तोः) हननाद्। (६.२)

१९. वाणी* (वाणी) आपो वा वहनाद्, वाचो वा वदनाद्। (६.२)

---

१५. वलशब्द "वृञ् वरणे" (५.८) धातु से उपपन्न होता है। मेघ आकाश को आच्छादित करता है, अतः उसका नाम **'वल'** है [√वृञ् + अप्[1] > वर् + अ > वल]।[2]

१६. मेघ अन्तरिक्ष में गमन करता है, इसलिए उसका नाम **'व्रज'** है [√व्रज गतौ (१.१५४) + घ[3] > व्रज]।[4]

१७. [**गौः** यह माध्यमिक वाणी (मेघों व बिजली की गर्जना) का वाचक है]।

१८. **'हन्तोः'** शब्द 'हनन (प्रहार) करने के लिए' के अर्थ में प्रयुक्त होता है [√हन हिंसागत्योः (२.२) + तोसुन् (तुमुन्नर्थे) > हन्तोः]।

१९. जल मेघ से पृथिवी के ऊपर (वहनाद्) बरसने के कारण वृष्टिजल का नाम **'वाणी'** है [√वह प्रापणे (१.७३०) + डाणिञ् + ङीष् > व् + आणि + ई > वाणि + ई > वाणी]। (वदनाद्) बोलने के कारण वाक् का भी नाम **'वाणी'** है [√वद व्यक्तायां वाचि (१.७३५) + डाणिञ् + ङीष् > व् + आणि + ई > वाणी]।[5]

---

१. ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (अष्टा० ३.३.५८)।
२. वलः मेघनाम (निघं० १.१०.४)। √वल संवरणे (१.३३१) अस्मात् 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (अष्टा० ३.३.११८) इति घः। व्रियतेऽनेन दिश आकाशश्च मेघः, पर्वतेनापि स्वशरीरेण भूमिराकाशश्च संव्रियते (देव०, तत्रैव)। वलः = वरः स्वबलेनावरकः शत्रूणाम्, यद्वा भिक्षूणां धनादिप्रदानेनावरिता (सायणः, ऋ० ८.२४.३०)। वलम् = वक्रगतिम् (दया०, ऋ० ४.५०.५)।
३. गोचरसञ्चरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च (अष्टा० ३.३.११९)।
४. व्रजो मेघनाम (निघं० १.१०.११)। व्रजम् = व्रजन्ति जानन्ति जना येन तं सत्सङ्गम्, व्रजन्ति विद्वांसो यस्मिन् सन्मार्गे, तम् (दया०, यजु० १.२६), व्रजन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति आपो यस्माद् यस्मिन् वा, तं व्रजं मेघम् (दया०, यजु० १.२५); गोस्थानम् (दया०, यजु० १२.८४); व्रजः = यो व्रजति गच्छति सः [इन्द्रः = विद्वज्जनः] (दया०, ऋ० ३.३०.१०)।
५. वाणी वाङ्नाम (निघं० १.११.१२)। वाणी = वननीयौ प्रशस्यौ अश्वौ (सायणः, ऋ० १.११९.५)। उपदेशकाविव, 'इञ् वधादिभ्यः' इति शब्दार्थाद् वण्धातोरिञ् (दया०, ऋ० १.११९.५)।

२०. पुरुहूतम् (पुरुहूतं) बहुभिराहूतम्, उदकं भवति। (६.२)

[**खण्डम् – ४**]

२१. मूलम् मूलं मोचनाद्वा, मोषणाद्वा, मोहनाद्वा। (६.३)

२२. अग्रम् अग्रम् आगतं भवति। (६.३)

---

२०. **'पुरुहूतम्'** बहुत प्राणियों से आहूत अर्थात् प्रार्थित होने से यह 'उदक' (जल) का नाम है [पुरु + (आ+) √ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च (१.७३३) + क्त > पुरु + हू + त > पुरुहूत]।[१]

२१. उखाड़े जाने के कारण अथवा अंकुरादि को छोड़ने (उत्पन्न करने) के कारण जड़ को **'मूल'** कहते हैं [मुच्यते उत्पाट्यते, मुञ्चति वाङ्कुरादीन् इति मूलम्। √मुच्लृ मोचने (६.१३९) + क्ल[२] > मू (आदेशः) + ल > मूल]। चोरों के समान ही भूमि के अन्दर छिपी हुई होकर जल-आहारादि का ग्रहण करती है, इसलिए भी जड़ का नाम **'मूल'** है [√मुष स्तेये (१.४५८) + क्ल[२] > मू + ल > मूल]। सम्पूर्ण वृक्षादि को प्रकट करती है, पर स्वयं अप्रकट होती है, वृक्षादि का आधारभूत होती हुई भी स्वयं अज्ञात होती है, वृक्ष की वृद्धि के लिए भूमि के अन्दर स्वयं का भी विस्तार करती है, और क्या-क्या प्रयत्न करती है, यह भी सामान्यतया ज्ञात नहीं होता है, इत्यादि अज्ञातों के कारण भी जड़ का नाम **'मूल'** है [√मुह वैचित्ये (४.८७) + क्ल[२] > मू + ल > मूल]।[३]

२२. आगत(आगे बढे हुए व विद्यमान या समीप आए हुए) को **'अग्र'** (= उत्तम, श्रेष्ठ, पुरतः, पूर्वम्, प्रत्यक्षम् , मुखम्, उपरिभागः) कहते हैं [आङ् + √गम्लृ गतौ (१.७०९) + रन्[४] > आ + ग् + र् > अ + ग्र > अग्र]।[५]

---

१. पुरुहूतः=पुरुभिर्बहुभिर्विद्वद्भिः शूरवीरैर्वा हूतः स्पर्धितो वा [इन्द्रः=सेनापतिः](दया०, ऋ०१.१००.६)। पुरुहूत=बहुभिर्विद्वद्भिः पूजित [इन्द्र=परमात्मन्](दया०, ऋ०१.६६.२)।
२. मूशक्यविभ्यः क्लः(उणा०४.१०९) बाहुलकाद् मुच्यादिभ्योऽपि क्लः प्रत्ययो भवति। मवते बध्नातीति मूलम्, मूली इति प्रसिद्धम्(दया०तत्रैव)।
३. मूलम्=पादम्(सायणः, ऋ०१०.८७.१०)। वृद्धिहेतुकम्(दया०, यजु०१.२५)।
४. वृधिवपिभ्यां रन्(उणा०२.२८) इति बाहुलकाद् गमेरपि रन् ,स च डित्।
५. ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०(उणा०२.२९) इति अगिधातोः रनि सत्यपि अग्रमिति सिद्ध्यति। बाहुलकाद् नलोपः। यत्र गावो गत्वाऽतिष्ठन् सः अग्रम् उच्यते(वेंकटः, ऋ०३.३१.६)।

२३. सललूकम्*, सररूकम्* सललूकं संलुब्धं भवति, पापकमिति नैरुक्ताः। सररूकं वा स्यात्, सर्त्तेरभ्यस्तात्। (६.३)

२४. तपुषिः* तपुषिस्तपतेः। (६.३)

२५. हेतिः* हेतिर्हन्तेः। (६.३)

२६. कत्पयम् (कत्पयं) सुखपयसम्, सुखम् अस्य पयः। (६.३)

---

२३. प्राचीन नैरुक्त आचार्यों का मत है कि – (संलुब्धम्) धर्मज्ञानशून्य महामूढ़ पापी का नाम **'सललूक'** है [सम् + √लुभ विमोहने (६.२२) + ऊक[१] (क्तार्थे, डिच्च) > सल् + ल् + ऊक > सललूक]। (यास्कमत–) सररूक अर्थात् अधर्ममार्ग पर कुटिलतापूर्वक गमनशील का नाम **'सललूक'** है। यह शब्द सृधातु के द्वित्व से निष्पन्न होता है । [√सृ गतौ (१.६६९) + ऊक[१] > सर् + ऊक > (टेर्द्वित्वं छान्दसिकम्–) स् अर् अर् + ऊक > सररूक > सललूक]।[२]

२४. तपुषिशब्द ''तप सन्तापे'' (१. ७११) धातु से निष्पन्न होता है। वज्र सन्तापशील होने से उसका नाम **'तपुषि'** है [√तप् + उषिन् > तपुषि]।[३]

२५. हेति शब्द ''हन हिंसागत्योः''(२.२) धातु से सिद्ध होता है । जिससे (वज्र से) मारा जाता है, उसका नाम **'हेति'** है [√हन् + क्तिन्[४] > ह इ + ति > हेति]।[५]

२६. 'कत्पयम्' का अर्थ है 'सुखपयसम्' अर्थात् कं[६] सुखमस्य पयः स मेघः– जिसका जल सुखकर (शुद्ध व मधुर) होता है, उस मेघ का नाम **'कत्पयम्'** है

---

१. उलूकादयश्च(उणा०४.४२)।
२. सललूकम्=सम्यग् लुब्धम् [हेतिं=वज्रम्](दया०, ऋ०३.३०.१७)।
३. क्रोधनाम तपुषिशब्दः(स्कन्दः, ऋ०१.४२.४)। तपुषी क्रोधनाम(निघं०२.१३.८)। तपुषिम् =श्रेष्ठानां सन्तापकारिकां सेनाम्(दया०, ऋ०१.४२.४)। प्रतप्तम् [हेतिम्=वज्रम्] (दया०, ऋ०६.५२.३)। तपुस्(निरु०६.११) प्रातिपदिकात् 'लुगकारेकाराश्च वक्तव्याः' (वा०४.४.१२८) इति इकारप्रत्ययेऽपि तपुषिरिति भवति।
४. ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च(अष्टा०३.३.९७)।
५. हेतिम्=वधात्(निरु०९.१५)। हेतिः वज्रनाम(निघं०२.२०.३)। हन्तेर्हिनोतेर्वा 'ऊतियूति०' इति क्तिनि हन्तेर्नकारस्येत्वम्, हिनोतेर्गुणश्च निपात्यते। हन्यन्तेऽनेन शत्रवः, गम्यतेऽनेन जयः, वद्र्ध्यते वैश्वर्यम्(देव०, नि०नि०२.२०.३)। हेतिः= हननहेतुः कपोतः (सायणः, ऋ०१०.१६५.२,३)। वज्रघोषः(दया०, यजु०१५.१९), वृद्धिः(दया०,यजु०१५.१८)। सुखवर्धकं वज्रम्(दया०, ऋ०१.१०३.३)। हेतीनाम् =विद्युताम्(दया०,यजु०१५.१२)।
६. कम् इति सुखनाम(निघं०३.६.२०)।

२७. विस्रुहः* विस्रुह आपो भवन्ति – विस्रवणात्। (६.३)
२८. वीरुधः* वीरुध ओषधयो भवन्ति – विरोहणात्। (६.३)
२९. नक्षद्दाभम्* नक्षद्दाभमश्नुवानदाभम्, अभ्यशनेन दभ्नोतीति।(६.३)

[कम् + पयस् > कत् + पय > कत्पय]।[१]

२७. विविधरूप से स्रवणशील होने के कारण जल का नाम **'विस्रुह्'** है [वि + √स्रु गतौ (१.६७३) + क्विप् > वि + स्रु + हुक्[२] > विस्रुह्]।[३]

२८. विविध प्रकार के रोगों को रोकने (नष्ट करने) के कारण अथवा विशेष गुणों से उत्पन्न होने के कारण औषधियों का नाम **'वीरुध्'** है [वि + √रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च[४] (१.५९८) + क्विप् > विरुह् > वीरुध् > वीरुत्]।[५]

२९. **'नक्षद्दाभम्'** का अर्थ है– नक्षद् अश्नुवानो व्याप्नुवन् दभ्नोति विनाशयतीति अर्थात् व्याप्त होने वाले व समीप आने वाले का नाश करने वाला अथवा व्याप्त होकर, समीप जाकर मारने वाला [√नक्षति व्याप्तिकर्मा[६] (निघं० २.१८.२) + शप् + शतृ > नक्ष् + अत् > नक्षद् + दभ्नोति वधकर्मा[७] (निघं० २.१९.१) + अण्[८] > नक्षद्दाभ् + अ > नक्षद्दाभ]।[९]

---

१. कत्पयम् = कतिपयम् [मेघम्], अत्र 'छान्दसो वर्णलोपो वा' इतीलोपः (दया०, ऋ० ५.३२.६)। तुलना– कत् = क्व (निरु० ६.२७)। कदा, अत्र 'छान्दसो वर्णलोपो वा' इत्याकारलोपः (दया०, ऋ० १.३८.१)। कत् चन = कदाचन (सायणः, ऋ० १.७४.७)। कत् चित् = कदाचित् (वेंकटः, ऋ० ३.५८.४), किञ्चित् (सायणदयानन्दौ, ऋ० २.२७.१४)।
२. तुकः स्थाने हुक् आदेशश्छान्दसः ।
३. विस्रुहः = विसरन्ति विशेषेण गच्छन्ति ताः [आपः] (दया०, ऋ० ६.७.६)।
४. धातूनामनेकार्थत्वाद् इह रुहिधातुरवरोधार्थेऽपि ग्राह्यः।
५. वि + √रुधिर् आवरणे (७.१) + क्विप् > विरुध् > वीरुत् इत्यपि भवति। वीरुत्सु = सत्तारचनाविशेषेण निरुद्धेषु कार्यकारणद्रव्येषु। वीरुध इति पदनामसु पठितम् (निघं० ४.३.९) (दया०, ऋ० १.६७.५)।
६. नक्ष गतौ (१.४४२)इति पाणिनिः। नक्षतिर्गतिकर्म (निरु० ३.२०)।
७. √दम्भु दम्भने (५.२३) इति पाणिनिः।
८. कर्मण्यण् (अष्टा० ३.२.१)।
९. नक्षद्दाभम् = नक्षतां प्राप्तानां दोषाणां हिंसितारम् [परमात्मानम्] (दया०, ऋ० ६.२२.२)।

३०. दाभम् दभ्नोतीति (दाभम्)। (६.३)
३१. अस्कृधोयुः* अस्कृधोयुः अकृध्वायुः, कृध्विति ह्रस्वनाम। (६.३)
३२. कृधु* कृध्वति ह्रस्वनाम (निघं० ३.२.६) – निकृत्तं भवति। (६.३)
३३. निशृम्भाः* निशृम्भा निश्रथ्यहारिणः। (६.३,४)

---

३०. नाश करने वाले का नाम **'दाभम्'** है [√दभ्नोति वधकर्मा (निघं० ३.१९.१) + घञ् > दाभ]।

३१. **'अस्कृधोयुः'** का अर्थ है 'अकृध्वायुः' अर्थात् जिसकी आयु अल्प नहीं, अपितु बड़ी है, दीर्घायु व चिरस्थायी; क्योंकि कृधु का अर्थ ह्रस्व, छोटा होता है [न विद्यते कृधु ह्रस्वमायुर्यस्य सः। न + कृधु + आयु > अ + कृधु+आयु > अकृध्वायु > अस्कृध्वोयु; धातोस्सुट् आकारस्य च ओकारश्छान्दसः]।[१]

३२. **'कृधु'** शब्द ह्रस्व व अल्प का वाचक है, क्योंकि वह बड़े व दीर्घ से कटा हुआ भाग होता है [√कृती छेदने (६.१४४) + कु[२] > कृत् + उ > कृध् + उ > कृधु]।[३]

३३. 'निशृम्भाः' का अर्थ है 'निश्रथ्यहारिणः' अर्थात् अविश्रामहरणाः जिसमें से शिथिलता, रुकावट निकल गया है, निरन्तर तेज व दृढ़ गति से ले जाने वाले **'निश्रम्भ'** कहलाते हैं [नि + √श्रथि शैथिल्ये (१.२८) / √श्रथ दौर्बल्ये (१०.२९३) + घञ् > निश्रन्थ = शैथिल्यराहित्यम्। निश्रन्थेन हरन्तीति निश्रृम्भाः।

---

१. अस्कृधोयु = न कृधु अस्कृधु दीर्घम्, तदायुर्यस्य तद् अस्कृधोयु दीर्घकालावस्थायि। मम पुत्राः पौत्राश्च करिष्यन्तीत्यर्थः। अथवा अस्कृधोय्विति दधातेर्वा दानार्थस्य धेट् पाने इत्यस्य वा एतद्रूपम्। अकृतधानम् (इत्यर्थो भवति)। अन्यैर्यजमानैरदत्तपूर्वं युवाभ्यां वा अपीतपूर्वमित्यर्थः। किं पुनस्तत्? सोमलक्षणमन्नम्। अस्माभिरुपकल्पितमिति वाक्यशेषः (स्कन्दः, ऋ० ६.६७.११)। अविच्छिन्नं भवति...अह्रस्वमनल्पम् (सायणः, तत्रैव)। यः आत्मनः कृधु ह्रस्वत्वं नेच्छति विद्यार्थिजनः; अत्र 'सुपां सुलुग्०' इति सुलोपः (दया०, तत्रैव)। अस्कृधोयुः = ... अथवा अन्यथा व्युत्पाद्यते – अस्कृ इत्येतत् तावत् करोते रूपं, न कृन्ततेः। धोशब्दस्तु दधातेर्वा दानार्थस्य। अकृतदानो यादृशो न कस्मैचिदपि त्वया दत्तपूर्व इत्यर्थः। अकृतपानो वा अभूतपूर्वो वा केनचिदित्यर्थः। किञ्च यो अस्कृधोयु-र्दीर्घायुर्जरावर्जितः सर्वान् सर्वैश्च गुणैस्तद्वान् तद्वतः पुत्रमाहरेति समानम् (स्क०म०, निरु० ६.३)।
२. पृभिदिव्यधिगृधिधृषिहृषिभ्यः (उणा० १.२३) इति कुप्रत्ययः।
३. कृधुना = ह्रस्वेनाल्पेन [वचसा = ज्ञानेन] (दया०, ऋ० ४.५.१४)। कृधुकर्णः = कृधुकर्णो मन्द्रश्रवणेन्द्रियो बधिरः स्थावरपिपीलिकपुत्तिकादिरपि (उवटसायणौ, ऋ० १०.२७.५)।

[खण्डम् – ५]

३४. बृबदुक्थः* बृबदुक्थो महदुक्थः,वक्तव्यमस्मा उक्थमिति बृबदुक्थो वा। (६.४)

३५. ऋदूदरः* ऋदूदरः सोमः – मृदूदरः, मृदुरुदरेष्विति वा। (६.४)

३६. पुलुकामः* पुलुकामः पुरुकामः। (६.४)

निश्रन्थ + √हृञ् हरणे (१.६४०) + ड > निश्रन्थ + हृ + अ > निशृम् (आदेशः) + भ् + अ > निशृम्भ]।[१]

३४. 'बृबदुक्थ' का अर्थ है महान् स्तुति वाला अर्थात् स्तुतियोग्य देवता आदि। इस (देवता आदि) के लिए स्तुति कहनी (करनी) चाहिए, अतः वह स्तुत्य देवता **'बृबदुक्थ'** कहलाता है [बृहद् -शब्दस्य हस्य बत्वे बृबद् भवति। √वच परिभाषणे (२.५६) + थक्[२] > उच् + थ > उक्थ। बृबद् बृहद् वक्तव्यं वा उक्थं स्तुतिर्यस्य सः बृबदुक्थः, तम् स्तुत्यार्हम्]।[३]

३५. **'ऋदूदर'** शब्द सोम का वाचक है, क्योंकि सोम का उदर (मध्यभाग) मृदु होता है अथवा सोमरस का सेवन करने पर वह उदर में मृदु (हल्का) होता है या उदर में मृदुता (हल्का पन) लाता है, इसलिए भी सोम का नाम **'ऋदूदर'** है [मृदु उदरमस्येति मृदूदरः > (मकारस्य लोपे सति) ऋदूदर]।[४]

३६. **'पुलुकामः'** का अर्थ है—पुरुकामः अर्थात् बहुत कामना वाला [पुरुर्बहुः कामो यस्य स पुरुकामः > पुलुकामः[५]]।

---

१. निश्रृम्भा इति निःश्लथया दृढया गत्या ये हरन्ति प्रापयन्ति ते निशृम्भाः शीघ्रगामिनः, अथवा श्रमणं श्रृम्– सम्पदादित्वात् क्विप्, सम्प्रसारणञ्च छान्दसत्वात्। निहता श्रृम् यैस्ते निशृमः। √भा दीप्तौ; निश्रृमश्च भाः दीप्ताश्च निशृम्भाः अमवर्जिताश्च दीप्ताश्चेत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ० ६.५५.६)। निशृम्भाः = नित्यं सम्बद्धारः [अश्वाः] (दया०, ऋ० ६.५५.६)।

२. पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् (उणा० २.७)।

३. बृबन्महद् उक्थं शस्त्रं (स्तुतिमन्त्रविशेषः) यस्य (स्तुतौ) स बृबदुक्थ्यः,तम् स्तुत्यार्हम्।

४. ऋदूदराः = मृदूदरे सोमो येषां ते ऋदूदराः (सायणः, ऋ० ३.५४.१०)। ऋत् सत्यम् उदरे येषां ते [कवयः = मेधाविजनाः] (दया०, ऋ० ३.५४.१०); ऋदूदरः = मृदूदरः [वैद्यः] (दया०, ऋ० २.३३.५)।

५. कपिलकादीनां संज्ञाछन्दसोर्वा रो लमापद्यत इति वक्तव्यम् (वा० ८.२.१८)।

३७. असिन्वती असिन्वती असङ्खादन्त्यौ। (६.४)

३८. कपनाः* कपनाः कम्पनाः, क्रिमयो भवन्ति। (६.४)

३९. भाऋजीकः* भाऋजीकः प्रसिद्धभाः। (६.४)

४०. रुजानाः* रुजाना नद्यो भवन्ति (निघं० १.१३.८) – रुजन्ति कूलानि। (६.४)

---

३७. **'असिन्वती'** का अर्थ है– असङ्खादन्त्यौ अर्थात् विना चबाते हुए (खाने वाला अग्नि का विशेषण है) [√षिञ् बन्धने (५.२) इति धातुरिह सङ्खादने (चबाना) अर्थे प्रयुक्तः, √सि + श्नु + शतृ (लट्) + ङीप् > सि + नु + अत् + ई > सिन्वती > न + सिन्वती + औ > असिन्वती[१]]।

३८. **'कपनाः'** का अर्थ है 'कम्पनाः' अर्थात् ये दोनों ही शब्द घुन कीड़े के नाम हैं [√कपि चलने (१.२६१) + युच्[२] > कम्प् + अन > कम्पन > कपन[३]]।[४]

३९. **'भाऋजीकः'** का अर्थ है – प्रसिद्ध (अप्रतिहत) दीप्ति वाला (अग्नि) [√भा दीप्तौ (२.४४) + क्विप् > भाः। √ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु (१.१०७) + ईकन्[५] > ऋजीकः। ऋजीका भा दीप्तिर्यस्य स भाऋजीकः। अथवा, ऋजुका अकुटिला अप्रतिहता भा दीप्तिर्यस्य सोऽग्निः ऋजुकभाः > (पृषोदरादित्वात्) भाऋजीक]।[६]

४०. 'रुजानाः' शब्द नदियों का वाचक है, क्योंकि वे किनारों (तटों) को तोड़ती हैं [√रुजो भङ्गे (६.१२६) + श + शानच् (व्यत्ययेन) > रुज् + अ + आन > रुजान[७]]।

---

१. वा च्छन्दसि (अष्टा० ६.१.१०२) इति पूर्वसवर्णदीर्घैकादेशः।

२. बहुलमन्यत्रापि (उणा० २.७९) इति युच्।

३. बाहुलकाद् नुमो लोपः, आगमशास्त्रमनित्यम् (परि० ११८) इति वा नुम् न भवति।

४. कपना वायुगतयः (दया०, ऋ० ५.५४.६)।

५. ऋजेश्च (उणा० ४.२३)।

६. भाऋजीकः = भाभिर्विद्यादीप्तिभिर्ऋजुः सरलः [सुशिक्षको जनः] (दया०, ऋ० ३.१.१२)। भाऋजीकम् = भासु दीप्तिषु सरलम् [अग्निम्] (दया०, ऋ० ३.१.१४)। भाति प्रकाशयति या सा भाः सभाकान्तिर्वा, तां योऽर्जयते तम् [दूतम्] (दया०, ऋ० १.४४.३)।

७. आगमशासनस्यानित्यत्वादिह 'आने मुक्' (अष्टा० ७.२.८२) इति न भवति।

४१. जूर्णिः* जूर्णिर्जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, दूनोतेर्वा। (६.४)
४२. ओमना* (ओमना) अवनाय। (६.४)

द्वितीयः पादः [खण्डम् — १]

४३. उपलप्रक्षिणी* उपलप्रक्षिणी उपलेषु प्रक्षिणाति, उपलप्रक्षेपिणी वा। (६.५)। **[खण्डम् — २]**

---

४१. जूर्णिशब्द ''जुङ् गतौ'' (क्षीरतरङ्गिणी — १.६८२, ''जवति गतिकर्मा'' —(निघं० २.१४.१०५) धातु से निष्पन्न होता है। सेना शत्रुओं में क्रोध के साथ अप्रतिहत गति से चली जाती है, इसलिए सेना का नाम **'जूर्णि'**[1] है [√जु+नि[2] > जूर् (आदेशः)+नि > जूर्णि]। √द्रु गतौ (१.६७७) धातु से भी **'जूर्णि'** शब्द सिद्ध होता है (अर्थ पूर्ववत् है) [√द्रु+नि > जूर्+नि > जूर्णि]। ''दु उपतापे'' (५.१०) धातु से भी **'जूर्णि'** शब्द बनता है, क्योंकि सेना शत्रुओं को दुःखी (हिंसित) करती है [√दु+नि > जूर् +नि > जूर्णि]।

४२. **'ओमना'** का अर्थ है — अवनाय अर्थात् रक्षा व तृप्ति के लिए [√अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्ति० (१.३९६) + मनिन्[3] + ङे > अ ऊठ् + मन् + आ[4] > ओमना]।

४३. उपलों (पात्रविशेष या प्रस्थरमय शर्करा, रेत) में सत्तू बनाने हेतु यवादि धान्यों को हिंसित करने (भूनने) वाली स्त्री का नाम **'उपलप्रक्षिणी'** है [उपल + प्र + √क्षि हिंसायाम् (५.३०) / √क्षीष् हिंसायाम् (९.३९) + णिनि[5] + ङीप् > उपल + प्र + क्ष् + इन् + ई > उपलप्रक्षिणी]। अथवा सत्तू बनाने के लिए चक्की के उपलों (पत्थरों) में भुने हुए यवादि धान्यों का प्रक्षेप करती (पीसती) है, अतः उस स्त्री का नाम **'उपलप्रक्षिणी'** है [उपल + प्र + √क्षिप प्रेरणे (४.१५) + णिनि + ङीप् >

---

१. जूर्णिः क्रोधनाम (निघं० २.१३.९)। क्षिप्रनाम (निघं० २.१५.६)।
२. वीज्याज्वरिभ्यो निः (उणा० ४.४९)।
३. सर्वधातुभ्यो मनिन् (उणा० ४.१४६)।
४. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा० (अष्टा० ७.१.३९)।
५. सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (अष्टा० ३.२.७८)।

उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका। (६.६)
४४. कारुः* कारुः कर्त्ता स्तोमानाम्। (६.६)
४५. ततः तत इति सन्ताननाम — पितुर्वा पुत्रस्य वा। (६.६)
४६. नना* नना नमतेः — माता वा, दुहिता वा। (६.६)
४७. उपसि* उपसि उपस्थे। (६.६)

उपल + प्र + क्ष् + इन् + ई > उपलप्रक्षिणी]। उपलप्रक्षिणी का अर्थ है सत्तू बनाने वाली।[1]

४४. **'कारु'** का अर्थ स्तुतियों का कर्ता, स्तुति करने वाला या मधुरभाषी [√डुकृञ् करणे (८.१०) + उण्[2] > कार् + उ > कारु]।[3]

४५. **'ततः'** यह शब्द सन्तान का वाचक है, क्योंकि यह पिता या पुत्र दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। [सन्तन्यतेऽस्माद् इति पिता, सन्तन्यतेऽसाविति ततः पुत्रः। √तनु विस्तारे (८.१) + क्त (अपादाने कर्मणि वा) > तन् + त > तत]।[4]

४६. ननाशब्द ''णम प्रह्वत्वे शब्दे च'' (१.७०८) धातु से उपपन्न होता है। यह शब्द माता और दुहिता (पुत्री) का वाचक है, क्योंकि जिसके प्रति सन्तान सदा नम्र होती हैं अथवा जो माता सन्तान के प्रति दुग्धपानादि कराने के लिए झुकती है, उस माता का नाम **'नना'** है। जो पुत्री आदि माता आदि के प्रति सदा विनम्र होती है, उस पुत्री आदि का भी नाम **'नना'** है [√नम् + नक्[5] > न + न + टाप् > नना]।

४७. **'उपसि'** का अर्थ है 'उपस्थे' अर्थात् ऊपर समीप में स्थित व विद्यमान अन्तरिक्ष में [उप + √स्था गतिनिवृत्तौ (१.६६२) + क्विप् > उप + स्था > उप + स् > उपस् / उप + √आस उपवेशने (२.११) + क्विप् > उप + स् > उपस्]।

---

१. उपलेषु वालकासु प्रक्षिणोति यवान् हिनस्ति भृज्जतीति, यद्वा दृषदादिषूपलेषु भृष्टान् यवान् हिनस्ति चूर्णयतीति, अथवा धानासक्तुकरम्भादीनां वा कारिका वा, असौ (सायणः, ऋ० ९.११२.३)।
२. कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उणा० १.१)।
३. कारुः स्तोतृनाम (निघं० ३.१६.३)। कारू=कर्तारौ (निरु० ८.१२)।
४. ततः=विस्तृतः [सूर्यः]। अत्र 'तनिमृङ्भ्यां किच्च' (उणा० ३.८८) अनेन तन्प्रत्ययः किच्च (दया०, ऋ० १.८३.५)।
५. इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उणा० ३.२)।

४८. प्रकलविद्* प्रकलविद् वणिग् भवति – कलाश्च वेद प्रकलाश्च। (६.६)

४९. अभ्यर्धयज्वा* अभ्यर्धयज्वा अभ्यर्धयन् यजति। (६.६)

५०. क्षोणस्य* क्षोणस्य क्षयणस्य। (६.६)

---

४८. प्रकलविद् का अर्थ वणिक् (व्यापारी, वैश्य) होता है, क्योंकि वह कलाओं (उपयोगी पदार्थों के मान, उन्माद, प्राप्त्युपाय, वर्धन, संरक्षण आदियों) को और प्रकलाओं (प्रतिमान=सूक्ष्ममान, उपकलाओं, प्रविभागों अर्थात् पदार्थों के गुणदोष, संख्यान, रत्नपरीक्षणादियों) को जानता है, इसलिए वैश्य का नाम **'प्रकलविद्'** है [कलाश्च प्रकलाश्चेति कलाप्रकलाः, ताः वेत्तीति प्रकलाविद् > प्रकलविद्[1]। प्रकल + √विद ज्ञाने (२.५७) + क्विप्[2] > प्रकलविद्]।[3]

४९. 'अभ्यर्द्धयज्वा' का अर्थ है 'अभ्यर्द्धयन् यजति' अर्थात् अभिवर्द्धयन् यजति । अत्यधिक दान देता हुआ यजन करने वाले का नाम **'अभ्यर्द्धयज्वा'** है [अभ्यर्द्धयतीति अभ्यर्द्धः। अभि + √ऋधु वृद्धौ (४.१३१) + णिच् + अच् > अभि + अर्द्ध > अभ्यर्द्ध। यजतीति यज्वा। √यज देवपूजा० (१.७२८) + ङ्वनिप्[4] > यज्वन्। अभ्यर्द्धश्चासौ यज्वा च > अभ्यर्द्धयज्वा]।[5]

५०. **'क्षोणस्य'** का अर्थ है 'क्षयणस्य' (निवसितुम्, चतुर्थ्यर्थे षष्ठी[6] [√क्षि निवासगत्योः (६.११६) + ल्युट्[7] > क्षि + अन > क्षयण > क्ष उ[8] ण > क्षोण]।[9]

---

१. ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम् (अष्टा० ६.३.६२) इति ह्रस्वः।
२. सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविद० (अष्टा० ३.२.६१)।
६. प्रकलवित् = यः प्रकृष्टं कलनं संख्यां वेत्ति सः [इन्द्रः = राजा] (दया०, ऋ० ७.१८.१५)।
४. सुयजोर्ङ्वनिप् (अष्टा० ३.२.१०३) इतीह वर्तमानेऽपि ङ्वनिप्।
५. ऋधु वृद्धौ, यजतिर्दानार्थकः। अल्पान् अपि रसान् अभिवर्द्धयन् मरुद्भ्यो यजति यः सोऽभ्यर्द्धयज्वा, अथवा अभिगतं प्राप्तं देवेभ्यो लब्धमित्यर्थः। अभिगतं च तदर्धं च अभ्यर्धम्, कस्यार्धम्? हविषः। यो यजते सोऽभ्यर्द्धयज्वा (स्कन्दः, ऋ० ६.५०.५)। स्तोतॄन् अभ्यर्द्धयन् समृद्धान् कुर्वन् यो यजति धनेन पूजयति तादृशः (सायणः, तत्रैव)। आभिमुख्यस्यार्द्धे सङ्गन्ता [पूषा = मेघः] (दया०, तत्रैव)।
६. व्यत्ययो बहुलम् (अष्टा० ३.१.८५)।
७. कृत्यल्युटो बहुलम् (अष्टा० ३.३.११३) इति कर्तरि ल्युट्।
८. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अष्टा० ६.३.१०८)।
९. टुक्षु शब्दे (२.२९) इत्यस्येदं रूपम्, चतुर्थ्यर्थे षष्ठी (स्कन्दः, ऋ० १.११७.८)। क्षोणाय यो दृष्टिराहित्येन गन्तुमशक्तः सन् एकस्मिन्नेव स्थाने निवसति, तस्मै (सायणः, तत्रैव)। क्षोणस्य = अध्यापकस्य (दया०, तत्रैव)।

[खण्डम् – ३]

५१. पाथस्* पाथोऽन्तरिक्षम्, पथा व्याख्यातम्। उदकमपि पाथ उच्यते, पानात्। अन्नमपि पाथ उच्यते, पानादेव। (६.७)

५२. सवीमनि* सवीमनि प्रसवे। (६.७)

५३. सप्रथाः* सप्रथाः सर्वतः पृथुः। (६.७; ९.३२)

---

५१. 'पाथस्' शब्द अन्तरिक्ष का वाचक है।[1] इसकी व्युत्पत्ति 'पथिन्' (निरु० २.२८) शब्द के समान ही जानना चाहिए अर्थात् 'पत्यते पद्यते पन्थ्यते गम्यते पक्ष्यादिव्योमगामिभिरिति **पाथः**' [√पत्लृ गतौ (१.५८४)/ √पद गतौ (४.५८)/ √पथि गतौ (१०.४४) + असुन्[2] > पत् / पद् / पन्थ् + अस् > (उपधाया अकारस्य नकारस्य वा आकारे सति) पात् / पाद् / पाथ् + अस् > (तकारदकारयोर्थे कृते)[3] पाथस्]। उदक (जल) का भी नाम **'पाथः'** है, क्योंकि वह पीया जाता है [√पा पाने (१.६५९) + थुक् + असुन्[2] > पा-थ् + अस् > पाथस्]। अन्न का भी नाम **'पाथस्'** है, क्योंकि वह खाया[4] जाता है [पा पाने धातोः पूर्ववत्]।[5]

५२. **'सवीमनि'** का अर्थ है प्रसव (उत्पन्न) होने पर या प्रेरणा, आज्ञा, अनुशासन, ऐश्वर्य होने पर [√षु प्रसवैश्वर्ययोः (१.६७४) + इमनिच्[6]]।[7]

५३. सर्वतः पृथु अर्थात् सब ओर से विस्तृत (प्रथनशील, मोटा, बड़ा) या प्रसिद्ध होने से (अग्नि आदि का नाम) 'सप्रथस्' (अग्नि, कीर्तिमान्) है [सर्वतस् + √प्रथ

---

१. पाथोनदीभ्यां ड्यण् (अष्टा० ४.४.१११) – पाथोऽन्तरिक्षम् (काशिका तत्रैव)। अन्तरिक्षैक-देशलक्षणं स्थानम् (सायणः, ऋ० १.११३.८)।
२. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४.१९०)।
३. पतस्थ च (उणा० ४.१२)।
४. पाधातुरिहाभ्यवहारार्थकः।
५. पाथः = पाति शरीरमात्मनञ्च येन तदन्नम्। 'अन्ने च' (उणा० ४.२०६) अनेन पातेरन्नेऽसुन्प्रत्ययः थुडागमश्च (दया०, यजु० २.१७)।
६. हृभृधृसृस्तृश्रृभ्य इमनिच् (उणा० ४.१४९)।
७. सवीमनि = यः सूयते संसारस्तस्मिन् [प्रसविते संसारे] (दया०, यजु० ४.२५)। आज्ञायाम् (दया०, यजु० ३३.१७)। महैश्वर्ये (दया०, ऋ० ४.५३.३)।

५४. विदथानि* विदथानि वेदनानि। (६.७, द्र० १.७; ३.१२)

[**खण्डम् – ४**]

५५. श्रायन्तः* (श्रायन्तः) समाश्रिताः। (६.८)

५६. ओजस्* ओज ओजतेर्वा, उब्जतेर्वा। (६.८)

प्रख्याने (विस्तारे च) (१.५१६) + असुन्[१] > स + प्रथ् + अस् > सप्रथस्]।[२]

५४. विदथानि का अर्थ है 'वेदनानि' (वेदितव्यानि कर्माणि) अर्थात् विज्ञान या जानने योग्य कर्म [√विद ज्ञाने (२.५७) + अथ[३] > विद् + अथ > विदथ]।[४]

५५. **'श्रायन्तः'** का अर्थ है 'समाश्रिताः' (समन्तादाश्रिताः) चारों ओर से आश्रय ली हुई (सूर्यकिरणें) [√श्रिञ् सेवायाम् (१.६३८) + शप् + शतृ (भूते लट्) > श्रै[५] + अ + अत् > श्रायन्त् + जस् > श्रायन्तः]।

५६. **'ओजस्'** शब्द वृद्ध्यर्थक ''ओजति'' इस नैरुक्त धातु[६] से निष्पन्न होता है — ओजयति शरीरादिकं वर्धयतीति ओजः। वर्द्धतेऽनेन शरीरमैश्वर्यादिकं वा, व्यायामादिना वर्द्धते इति वा ओजः [√ओज् + असुन् > ओजस्]। ''उब्ज आर्जवे'' (६.२०) धातु से भी **'ओजस्'** शब्द निष्पन्न होता है — उब्जन्त्यनेन बलवत्सन्निधौ हि

---

१. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४.१९०)।
२. सप्रथः = सर्वतः पृथु गृहम् (वेंकटः, ऋ० १.२२.१५)। समनप्रथनाः सर्वतः पृथुभूता वा यूयम् (सायणः, ऋ० ९.७४.१)। समानप्रख्यातिः, विस्तृतविज्ञानेन सहितः (दया०, ऋ० ६.१५.३)। यः प्रथेन विद्याविस्तारेण सह वर्तते सः (सप्रथः) (दया०, ऋ० १.४५.७)। प्रथसा प्रख्यया सह वर्तमानः [विद्वज्जनः] (दया०, यजु० १८.५४)। प्रथसा विस्तृतेन जगता सह वर्तमानः [मित्रः = जगदीश्वरः] (दया०, ऋ० ३.५९.७) [सह+प्रथस् > सप्रथस्]। प्रथस् = कीर्तिः, सप्रथस् = कीर्तिमान्।
३. रुविदिभ्यां ङित् (अथः) (उणा० ३.११५)।
४. विदथ इति यज्ञनाम (निघं० ३.१७.५)। इह च तदवयवभूतेषु सवनेषु वर्तते। यज्ञावयवभूतानि प्रातःसवनमाध्यन्दिनसवनतृतीयसवनानि (स्कन्दः०, ऋ० ६.५१.२)। वेदितुं योग्यानि कर्मोपासनाज्ञानानि (दया०, ऋ० ६.५१.२)। ज्ञायते हि यज्ञः, लभते हि दक्षिणादिरत्र, विचार्यते हि विद्वद्भिः, भावयत्यनेन फलम् (इति विदथः) (देव० निघं० ३.१७.५)।
५. अत्र गुणे प्राप्ते व्यत्ययेन वृद्धिः (दया०, यजु० ३०.४१)।
६. ओजतेर्वा वृद्ध्यर्थस्य (दुर्गः, निरु० ६.८)

५७. आशीः* आशीराश्रयणाद्वा, आश्रपणाद्वा। अथेयमितराशीराशास्तेः। (६.८)

[**खण्डम् – ५**]

५८. अजीगः* (अजीगः) अगारीः। जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा, गृणातिकर्मा वा, गृह्णातिकर्मा वा। (६.८)

ऋजवो भवन्ति भीत्या, न्यग्भावयत्यनेन वा शत्रून् (देव०, नि०नि० २.९.१) [√उब्ज् + असुन्[१] > उज् + अस् > ओजस्]।[२]

५७. 'आशीः' शब्द आङ्पूर्वक ''श्रिञ् सेवायाम्'' (१.६३८) से सिद्ध होता है। दूधादि का आश्रय लिया (पान किया) जाता है, अतः दूध आदि का नाम **'आशीः'** है [आङ् + √श्रिञ् + क्विप् > आ + शीर्[३] > आशीर्]। आङ्पूर्वक ''श्रा पाके'' (२.४६) धातु से भी **'आशीर्'** शब्द व्युत्पन्न होता है, क्योंकि दूध पकाया (उबाला) जाता है [आङ् + √श्रा + क्विप् > आङ् + शीर्[३] > आशीर्]। यह जो लोक में प्रसिद्ध शुभेच्छार्थक 'आशीः' शब्द है, वह तो ''आङः शासु इच्छायाम्'' (२.१२) धातु से उपपन्न होता है [आङ् + √शास् + क्विप् > आ + शिर्[४] + व् > आशीर्]।[५]

५८. **'अजीगः'** का अर्थ है 'अगारीः' अर्थात् खाता है या स्तुति करता है अथवा ग्रहण करता है। यह शब्द जिगर्ति (गृ) इस जुहोत्यादि में गणनीय नैरुक्त धातु से निष्पन्न होता है। इस धातु का अर्थ १. निगलना (√गृ निगरणे — ६.११९), २. शब्द व स्तुति करना (√गृ शब्दे — ९.२९) और ३. ग्रहण करना है [√गृ + शप् + सिप् (लङ्) > अट् + गर् गर् + स्[६] > अ + ज + गर् > अजीगर् > अजीगः]।[७]

---

१. उब्जेर्बले बलोपश्च (उणा० ४.१९४)।
२. ओज उदकनाम (निघं० १.१२.४३), बलनाम (निघं० २.९.१)। ओजसा = बलेन (निरु० ६.८; ९.२५; १०.१३)। ओजो नामाष्टमो धातुः (सायणः, ऋ० ५.५७.६)।
३. अपस्पृधेथामानृचुरानृ....आशीराशीर्ताः (अष्टा० ६.१.३५) इति निपातनम्।
४. क्वौ च शास इत्वं भवतीति वक्तव्यम् (वा० ६.४.३४)। ततः सस्य रुत्वे र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (अष्टा० ८.२.७६)।
५. आशिषः अध्येषणाकर्मा (निघं० ३.२१.४)। अश्नोतेर्लेट्। 'सिब्बहुलं लेटि' (अष्टा० ३.१.३४), इट्, 'लेटो डाटौ' (अष्टा० ३.४.९४) (देव०, तत्रैव)।
६. रात् सस्य (अष्टा० ८.२.२४)।
७. अजीगः = जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा गृह्णातिकर्मा वाऽन्यत्र, इह तु सामर्थ्यात् गतिकर्मणा इदं रूपम्। त्रीनपि लोकान् प्रति गच्छतीत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ० १.९२.६); ०अस्मान् अन्यांश्च

५९. मूराः (मूराः) मूढाः। (६.८)

६०. अमूर* (अमूर) अमूढ! (६.८)

६१. शशमानः* शशमानः शंसमानः। (६.८)

६२. देवाच्या* देवाच्या देवान् प्रति अक्तया। (६.८)

---

५९. **'मूराः'** का अर्थ 'मूढाः' (मूर्ख, अज्ञानी) है [√मुह वैचित्र्ये (४.८७)+क्त > मुह्+त > मुढ्+ध > मुढ्+ढ > मू+ढ > मूढ > मूर+जस् > मूराः]।

६०. **'अमूर'** का अर्थ है – 'हे अमूढ'! अर्थात् हे ज्ञानवान् [न+मूर > अमूर+सु (सम्बोधने) > अमूर]।[१]

६१. **'शशमानः'** का अर्थ है – 'शंसमानः' अर्थात् स्तुति करता हुआ अथवा स्तुतिशील[२]। शंसेः (√शंसु स्तुतौ – १.४८३) लटि पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः। यद्वा ''शश प्लुतगतौ'' (१.४८१), 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (अष्टा० ३.२.१२९) (देव०, नि०नि० ३.१४.२२) [√शंस्+चानश् > (सार्वधातुकापित्वाद् ङित्वेनानुनासिकलोपः) शस्+मुक्+आन > शशमान]।[३]

६२. **'देवाच्या'** का अर्थ है 'देवान् प्रति अक्तया' अर्थात् देवताओं की ओर उत्तम गति (प्रवृत्ति) से या अभिमुख होने से अथवा देवताओं से याचना (प्रार्थना) करने से अथवा देवता की स्तुति करने से [देवान् प्रति अञ्चिता इति देवाची (प्राची, प्रतीची इत्यादिवत्), तया देवाच्या। देव+√अञ्चु गतौ याचने च [=अव्यक्ते शब्दे]

सर्वानेव मनुष्यान् प्रति गच्छतीत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ० ६.६५.१)। उद्गिरति स्वमुखात् निर्गमयति। स्वकीयेन प्रकाशेन तमो निःसार्य पुनरुत्पन्नानीव करोतीत्यर्थः (सायणः, ऋ० १.११३.४)। उद्गारयति=प्रकाशयति, 'गॄ निगरणे' इत्यस्मात् ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् (सायणः, ऋ० ६.४७.३)। अन्धकारं निगिलति, 'गॄ निगरणे' इत्यस्माद् 'बहुलं छन्दसि' इति शपः स्थाने श्लुः, तुजादीनामिति दीर्घश्च (दया०, ऋ० १.९२.६)।

१. अमूर=अमूढ, सर्वज्ञ! यद्वा अमूर अप्रतिहतगते हे! (सायणः, ऋ० ४.४.१२)। अमूरः= अमूढः अकृपणः (दुर्गः, निरु० ११.२)।

२. शशमानः अर्चतिकर्मा (निघं० ३.१४.२२)।

३. शशतिः उद्योगकर्मा (वेंकटः, ऋ० २.२०.३)। शशमानस्य=अधर्ममुल्लङ्घतः (दया०, ऋ० ४.२२.८), शशमानाय=अधर्ममाप्लुत्य धर्मं प्राप्नुवते (दया०, ऋ० १.१४१.१०), शशमानासः=शत्रुबलस्योल्लङ्घकाः (दया०, ऋ० ४.१६.१५), शशमानेषु=भोगाभ्यासोल्लङ्घनेषु (दया०, ऋ० ३.१८.४)।

६३. कृप् (कृपा) कृप् कृपतेर्वा, कल्पतेर्वा। (६.८)

[खण्डम् – ६]

६४. विजामाता* विजामातुरसुसमाप्ताज्जामातुः। विजामातेति शश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते। असुसमाप्त इव वरोऽभिप्रेतः। (६.९)

६५. जामाता जामाता जा=अपत्यम्, तन्निर्माता। (६.९)

(१.६०२)+क्विन्[१] > देव+अच्[२] > देव+च्[३] > देवा[४]+च्+ङीप्[५] > देवाच्[६]+ई+टा > देवाची+आ > देवाच्या]।[७]

६३. 'कृप्' (=दयाकर्म या सामर्थ्य) शब्द 'कृपति' (कृप्) इस वैदिक धातु[८] से व्युत्पन्न होता है [√कृप्+क्विप् > कृप्]। कल्पते अर्थात् ''कृपू सामर्थ्ये'' (१.५१२) धातु से भी व्युत्पन्न होता है [√कृप्+क्विप् > कृप्]।[९]

६४. विगता जामातृगुणा यस्मात् स विजामाता अर्थात् दामाद बनाने (कन्या देने) योग्य गुण (धनवत्ता को छोड़कर अन्य विद्यावत्ता, संस्कार, रूपवत्ता, सदाचार आदि) जिससे विगत (समाप्त) हो गये हों, ऐसा निर्गुण व्यक्ति पर्याप्त धन से निर्धन कन्या को खरीद कर दामाद बनता है, ऐसे व्यक्ति को **'विजामाता'** कहते हैं। ऐसे क्रीतापति व्यक्ति को यास्ककालीन दाक्षिणात्य लोग प्रायः, सदा 'विजामाता' ही कहते हैं। दामादपन के गुणों से हीन जैसा वर ही यहाँ विजामाता से अर्थ अभिप्रेत है [असुसमाप्तार्थे विः। वि+जामाता > विजामाता]।

६५. जामाता शब्दस्थ 'जा' का अर्थ 'अपत्य' होता है और 'माता' का अर्थ 'निर्माता' है अर्थात् उस अपत्य (सन्तान) का निर्माता ही **'जामाता'** (दामाद) कहलाता

---

१. ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च (अष्टा० ३.२.५९)।

२. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (अष्टा० ६.४.२४) इति नलोपः।

३. अचः (अष्टा० ६.४.१३८) इत्यकारलोपः।

४. चौ (अष्टा० ६.३.१३८) इति दीर्घः।

५. उगितश्च (अष्टा० ४.१.६)।

६. विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये (अष्टा० ६.३.९१) इति टेः 'अद्रि' आदेश इह न भवति आर्षत्वात् प्रत्ययपरत्वाद् वा।

७. देवाच्या=या देवान् अञ्चति तया [प्रशंसया] (दया०, ऋ० १.१२७.१)।

८. कृपयन् (ऋ० १०.९८.७; निरु० २.१२)

९. कृपा=कल्पते समर्थयति यया तया [विद्यया] (दया०, ऋ० १.१२७.१)।

६६. स्यालः स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः। स्यात् लाजान् आवपतीति वा। (६.९)

६७. लाजाः लाजा लाजतेः। (६.९)

६८. स्यम् स्यं शूर्पम् – स्यतेः। (६.९)

६९. शूर्पम् शूर्पम् अशनपवनम्, शृणातेर्वा। (६.९)

है [जा + √मा माने (२.५५) + तृन् / तृच्[1] > जामातृ]।[2]

६६. निदानग्रन्थकार आचार्यों के अनुसार पत्नी का भाई (साला) पत्नी के संयोग (रिश्ते) से पति के लिए अत्यन्त समीप वाला होता है, सामीप्यता को प्राप्त करता है, इसलिए उसका नाम **'स्यालः'** है [√सद्लृ विशरणगति-अवसादनेषु (१.५९३)+ ड्यालच् > सद् + याल > स् + याल > स्याल]। स्य अर्थात् शूर्प (सूप) से लाजों (भुने हुए धान, चावल) को विवाहाग्नि में अपनी भगिनी से डलवाता है, आहुति दिलवाता है, इसलिए भी उसका नाम **'स्यालः'** है [स्यात् + लाज > स्या + ल > स्याल]।

६७. **'लाजाः'** शब्द ''लाज भर्जने'' (१. १४८) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि वे धान भुने हुए होते हैं [√लाज् + घञ् > लाज + जस्[3] > लाजाः]।

६८. 'स्य' यह शब्द शूर्प (छाज) का वाचक है, क्योंकि यह ''षो अन्तकर्मणि'' (४. ३८) धातु से सिद्ध होता है। जो धान्यों में विद्यमान भूसे आदि का निवारण करता है, उसका नाम **'स्य'** है [स्यति प्रक्षिपति तुषानिति स्यम्। √षो अन्तकर्मणि (४.३८) + क्यप् > सा + य > स् + य > स्य / √सो + श्यन् + श[4] > स्[5] + य + अ > स् + य > स्य]।

६९. अशन (अन्न) का शोधक (शुद्धि करने वाला) होने से **'शूर्प'** नाम है [अश्यते भुज्यते इति शू = अन्नम्। √अश भोजने (९.५४) + कू > अश् + ऊ > अशू

---

१. नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षतृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ (उणा॰२.९७)।
२. 'जायां कन्यां माति मिनोति मिमीते मार्जयति वेति जामाता' इत्यपि व्युत्पत्तिः।
३. 'लाजाः' इति नित्यपुल्लिङ्गो नित्यबहुवचनान्तश्च शब्दः–'लाजाः पुंभूम्नि चाक्षताः' (अमर॰ २.९.४७)।
४. बाहुलकाद् औणादिकः अथवा अनुपसर्गाल्लिम्प....सातिसाहिभ्यश्च (अष्टा॰३.१.१३८) इति वा छान्दसः।
५. ओतः श्यनि (अष्टा॰७.३.७१)।

तृतीयः पादः [खण्डम् – १]

७०. सोमानम्* सोमानं सोतारम्। (६.१०)

७१. कक्षीवान् कक्षीवान् कक्ष्यावान्, अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्। (६.१०)

> शू, तस्य पवनं शोधकमिति शूर्पः। शू + प > शू– रुक् (आगमः) + प > शूर् + प > शूर्प / √अश् + √पूङ् पवने (१.६९३) + अच् > अश् + पू + अ > अशपू + अ > अशूप् + अ > शूप् + अ > शूर्प]। ''शॄ हिंसायाम्'' (९.१७) इस धातु से भी **'शूर्प'** शब्द उपपन्न होता है, क्योंकि इससे तुष (छिलका, भूसा आदि) का दूरीकरण किया जाता है अथवा शुद्धि के समय क्षुद्र क्रिमियों की हिंसा होती है [शीर्यते निस्तुषीक्रियतेऽनेनेति। √शॄ + प[1] > (बाहुलकादुत्वे रपरत्वे) शुर् + प > शूर्प[2]]।[3]

७०. **'सोमानम्'** का अर्थ है 'सोतारम्' अर्थात् अभिषोता (सोम का अभिषव करने वाला) है [√षुञ् अभिषवे (५.१) + मनिन् > सोमन्, तं सोमानम्/सोमं करोति अभिषुणोति इत्यन्तर्णीतण्यर्थात् सोमात् + शप् + शानच् > सोम + अ + आन > सोमानः, तं सोमानम्]।[4]

७१. 'कक्षीवान्' का अर्थ है – 'कक्ष्यावान्'। कक्ष्याः का अर्थ है क्रियाशील अंगुलियाँ (द्र॰ निरु॰३.९), उनसे सम्पन्न होने वाली क्रियाएँ भी 'कक्ष्याः' कहलाती हैं। तद्वान् अर्थात् उत्तम कर्मों को करने वाला पुरुषार्थी व्यक्ति 'कक्ष्यावान्, **कक्षीवान्'** कहलाता है [कक्ष्या + मतुप् > कक्ष्यावान् > कक्षीवान्]। अथवा लोक में प्रचलित मनुष्य की काँख (बगल) या भुजाएँ (स्कन्ध) भी 'कक्ष्या' का अभिप्राय ले सकते हैं। इससे

---

१. सुशॄभ्यां निच्च (उणा॰३.२६)।
२. र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (अष्टा॰८.२.७६)।
३. √शूर्प माने (१०.७९) + घञ् > शूर्पः इत्यपि निष्पत्तिः (द्र॰ न्यासः ६.२.१२२)।
४. य सवत्यैश्वर्यं करोतीति तं यज्ञानुष्ठातरम् (दया॰,ऋ॰१.८१.१)। सुनोति निष्पादयत्योषधिसारान् विद्यासिद्धींश्च येन तम् [विद्वज्जनम्] (दया॰,यजु॰३.२८)।

७२. औशिजः औशिजः उशिजः पुत्रः। (६.१०)

७३. उशिज्* उशिग् वष्टेः कान्तिकर्मणः। (६.१०)

[खण्डम् – २]

७४. अघम् अघं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्गः, आहन्तीति। (६.११)

तद्वान् या सुबाहु मनुष्य कक्ष्यावान् कहलाता हुआ **'कक्षीवान्'** कहलाता है [पूर्ववत्]।[1]

७२. उशिक् का पुत्र (प्रकाशज, संकल्पज, विद्वान् का पुत्र) **'औशिज'** कहलाता है [उशिज्+ अण् > औशिज]।[2]

७३. **'उशिक्'** शब्द कान्त्यर्थक ''वश'' (कान्तौ – २.७२) धातु से उत्पन्न होता है [√वश्+इजि[3] > उश्+इज् > उशिज्]।[4]

७४. **'अघम्'** शब्द आङ्पूर्वक ''हन हिंसागत्योः'' (६.२) धातु से उपसर्ग को ह्रस्व होकर उपपन्न होता है, क्योंकि पाप मनुष्य के यश, आयु आदि को मारता है अथवा मनुष्य के द्वारा नाश करने योग्य होता है [आभिमुख्येन समन्ताद्वा हन्तीति। आङ् + √हन्

---

१. कक्षीवान्=बह्व्यः कक्षयो विद्याप्रदेशा विदिताः सन्ति यस्य सः(दया०,ऋ०१.१२६.२)। सर्वसृष्टिकक्षा विद्यन्ते यस्मिन् सः [ईश्वरः](दया०,ऋ०१.१२६.२)। कक्षीवन्तः=कक्ष्या अश्वसम्बन्धिनी रज्जुः। 'कक्ष्या रज्जुरश्वस्य'(निरु०२.२) इति यास्केनोक्तत्वात्, ताभिस्तद्वन्तः। यद्वा, अङ्गिरसः पुत्राः सर्वेऽपि कक्षीवन्तः। अथवा, कक्षीवदनुचराः सर्वेऽपि छत्रिन्यायेन कक्षीवन्तः(सायणः,ऋ०१.१२६.४)। कक्षीवन्तम्=याः कक्षासु कराङ्गुलिक्रियासु भवाः शिल्पविद्यास्ताः प्रशस्ता विद्यन्ते यस्य तम्।.... अत्र कक्षाशब्दाद् 'भवे छन्दसि' इत यत्, ततः प्रशंसायां मतुप्, कक्ष्यायाः संज्ञायां मतौ सम्प्रसारणं कर्तव्यम् (वा०६.१.३७) अनेन वार्त्तिकेन सम्प्रसारणम्,'आसन्दीवद्'०(अष्टा०८.२.१२) इति निपातनात् मकारस्य वकारादेशः(दया०,ऋ०१.१८.१)। कक्षीवन्तम्=कक्षेषु विद्याध्ययनकर्मसु साध्वी नीतिः कक्षा, सा बह्वी विद्यते यस्य विद्यां जिघृक्षोस्तम्...(दया०,यजु०३.२८)।

२. औशिजाय=मेधाविपुत्राय। उशिज इति मेधाविनाम [निघं०३.१५.१९](दया०,ऋ०१.११२.११)। य उशिजि प्रकाशे जातः, स उशिक्, तस्य विद्यावतः पुत्रः इव(दया०,ऋ०१.१८.१)। कमनीयस्य पुत्रः(दया०, ऋ०१.११९.९)। विद्याकामस्य पुत्रः(दया०,ऋ०१.१२२.५)।

३. वशः कित्(उणा०२.७२)। वष्टि यं कामयते, यः काम्यते वा स उशिक् अग्निर्घृतं वा (दया०,तत्रैव)।

४. उशिक् कान्तिकर्मा(निघं०२.६.१२)। उशिजः मेधाविनाम(निघं०३.१५.१९)। उशिक्=सर्वस्य कान्तः कामयिता वा हविषां स्तुतीनां च मेधावी(उवटः,ऋ०१०.४५.७)। उशिजः=मेधाविनः(दया०,यजु०१२.२८)।

७५. तपुः तपुस्तपतेः। (६.११)

७६. चरुः* चरुर्मृच्चयो भवति, चरतेर्वा – समुच्चरन्त्यस्मादापः। (६.११)

७७. क्रव्याद् क्रव्यादे क्रव्यमदते। (६.११)

७८. क्रव्यम् क्रव्यं विकृत्ताज्जायते इति नैरुक्ताः। (६.११)

+ड[1] > अ+ह्+अ > अ+घ्+अ > अघ]।[2]

७५. 'तपुः' शब्द ''तप सन्तापे'' (१.७११) धातु से निष्पन्न होता है । तप्यमान का नाम **'तपुः'** (क्रोध) है [√तप्+उसि[3] > तपुस्]।[4]

७६. मिट्टी के सञ्चय (एकत्रीकरण) से निर्मित होने से पात्रविशेष का नाम **'चरु'** है [√चिञ् चयने (५.५)+डरु[5] > च्+अरु > चरु]। ''चर गतौ भक्षणे च'' (१.३७६) धातु से भी 'चरु' शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि अग्नि के ऊपर रखने से उसके अन्दर विद्यमान जल बाष्प के रूप में ऊपर उड़ जाता है (अथवा जिससे भक्षण किया जाता है) इसलिए उसे **'चरु'** कहते हैं– चर्यते भक्ष्यतेऽनेनेति 'चरुः' [√चर्+उ[6] > चरु]।[7]

७७. **'क्रव्यादे'** का अर्थ है 'क्रव्यम् अदते' अर्थात् कच्चा मांस खाने वाले (सिंहादि) के लिए [क्रव्य+ √अद भक्षणे (२.१) +विट्[8] > क्रव्य+अद् > क्रव्याद्, तस्मै]।[9]

७८. विकृत्त अर्थात् प्राणियों के शरीर को काटने से प्राप्त होने के कारण मांस का नाम **'क्रव्य'** है, ऐसा नैरुक्ताचार्यों का मत है [√कृती छेदने (६.१४४)+तव्य >

---

१. अन्येष्वपि दृश्यते(अष्टा०३.२.१०१) इति डः। ततः पृषोदरादित्वात् आङो ह्रस्वत्वं, धातोश्च घत्वं भवति ।

२. अघानि=आहन्तॄण्यायुधानि(सायणः, ऋ०७.८३.५)।

३. अर्त्तिपॄवपियजितनिघनितपिभ्यो नित्(उणा०२.११९) इति बाहुलकात्तपेरपि उसिः।

४. तपुषी क्रोधनाम(निघं०२.१३.८)।

५. अर्त्तेररुः(उणा०४.८०) इत्यरोरिह बाहुलकाद् डित्वम्।

६. भृमृशीङ्तॄचरित्सरितनिघनिमिमस्जिभ्य उः(उणा०१.७)। चरति चर्यतेऽग्निना भक्ष्यत इति चरुः यज्ञपाको वा(दया०,तत्रैव)।

७. चरुः मेघनाम(निघं०१.१०.१२)। ओदनो हि चरुः(शत०४.४.२.१)। इमे लोकाश्चरुः पञ्चबिलः(मै०सं०१.४.९; काठ०सं०३२.६)।

८. क्रव्ये च(अष्टा०३.२.६९)।

९. शवों के कच्चे मांस को जलाने(खाने) से या वहन करने से अग्नि का नाम 'क्रव्याद्'

७९. अनवायम्* अनवायम् अनवयवम्, यदन्ये न व्यवेयुरद्वेषस इति वा। (६.११)

८०. किमीदिने* किमीदिने किमिदानीमिति चरते, किमिदं किमिदमिति वा पिशुनाय चरते। (६.११)

८१. पिशुनः पिशुनः पिंशतेः–विपिंशतीति। (६.११)

कृत् + तव्य > कृ + व्य > क्रव्य / √डुकृञ् करणे (८. १०) + तव्य > कृ + तव्य > कृ + अव्य > क्रव्य]।

७९. **'अनवायम्'** का अर्थ 'अनवयवम्' है अर्थात् अवयव (भाग) रहित, निरंश (सम्पूर्ण, निरन्तर) [अनवयवम् > अनवायम् (आदेशः)]। जो अन्य अद्वेषी (सज्जन) लोग अवरोध न करें, न रोकें अर्थात् उनके द्वारा अनुमोदित हो, वह **'अनवाय'** कहलाता है [नास्ति व्यवायोऽस्य तद् अव्यवायम्। अव्यवायम् > अनवायम्]।

८०. किमीदिने का अर्थ है – 'किमिदानीम्' अब क्या है? कहाँ, किसमें क्या दोष है ? ऐसा विचारता हुआ घूमने वाला (पिशुन) चुगलखोर **'किमीदिन्'** कहलाता है, उसके लिए किमीदिने [किम् इदानीम् > (इस वाक्य के स्थान पर आदेश हुआ है– किमीदिन्]। किम् इदम्? किम् इदम्? अर्थात् यह क्या? वह क्या? कुछ नहीं ऐसा कहता हुआ घूमने वाला (पिशुन) चुगलखोर, (सुजनता का विरोधी, धूर्त) **'किमीदिन्'** कहलाता है [किमिदं किमिदम् > (इस वाक्य के स्थान पर आदेश है–) किमीदिन्]।[1]

८१. पिशुनशब्द "पिश अवयवे" (६.१४६) धातु से निष्पन्न होता है। विपिंशतीति पिशुनः अर्थात् जो सज्जनों में फूट डालता है, सत्कार्यों में विघ्न डालता है, उस चुगलखोर का नाम **'पिशुन'** है [√पिश् + उनन्[2] > पिशुन]।[3]

या 'क्रव्यवाहन' है। अथ येन (अग्निना) पुरुषं दहन्ति स क्रव्याद् (शत० १.२.१.४)। क्रव्यादे = पृष्ठमांसादिने परोक्षाक्रोशक इत्यर्थः। लोकेऽपि यः परोक्ष आक्रोशति च उच्यते पृष्ठमांसानि खादतीति (स्क०म०, निरु० ६.११)।

१. किमीदिना = किमीदिनानि किमिदं किमिदमिति जिघांसया वर्तमानानि भवन्ति (सायणः, ऋ० ७.१०४.२३)।

२. क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् (उणा० ३.५५) इत्युनन्।

३. पिशुनम् = विरुद्धसूचकम् [पुरुषम्] (दया०, यजु० ३०.१३)।

[खण्डम् – ३]

८२. पाजः* पाजः पालनात्। (६.१२)

८३. प्रसितिः प्रसितिः प्रसयनात्, तन्तुर्वा जालं वा। (६.१२)

८४. अमवान्* (अमवान्) अमात्यवान्, अभ्यमनवान्, स्ववान् वा। (६.१२)

---

८२. 'पाजस्' यह अन्न (निघं० २.७) और बल का नाम (निघं० २.९.२) है। कैसे? पालन (रक्षण) करने के कारण बल का नाम 'पाजस्' है [√पाल रक्षणे (१०.७६) + असुन्[1] > पाल् + अस् > पाज् + अस् > पाजस्]।[2]

८३. प्रकृष्टतया (विशेषतया) बन्धन का कारण होने से तन्तु (धागा, रस्सी, फन्दा) का अथवा जाल का नाम **'प्रसिति'** है [प्र + √षिञ् बन्धने (५.२) + क्तिन् > प्रसिति]।[3]

८४. **'अमवान्'** का अर्थ है सहायवान् [सहार्थक अमा + मतुप् > अम + मत् > अमवत्]। अमात्यवान् अर्थात् मन्त्री आदि से युक्त राजा अर्थ भी है [अमात्य + मतुप् > अम + मत् > अमवत्]। अभ्यमनवान् अर्थात् अभिमुख विद्यमान शत्रु आदियों को औषधियुक्त बाणादि अस्त्रों से रोगग्रस्त करने वाला राजा भी **'अमनवान्'** कहलाता है [अभि + √अम रोगे (१०.१८९) + ल्युट् > अभ्यमन + मतुप् > अम + मत् > अमवत्]। स्ववान् अर्थात् आत्मज्ञान व आत्मबल वाला या धन-धान्यवाला **'अमवान्'** कहलाता है [स्व +मतुप् > अम (आदेशः) + मत् > अमवत्]।[4]

---

१. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४.१९०)।

२. 'पालनात्' यह अर्थनिर्देश है, न कि धातुनिर्देश, ऐसा मानें तो औणादिक प्रक्रिया के अनुसार √पा रक्षणे (२.४९) धातु से असुन्-प्रत्यय और जुट्-आगम होकर निष्पन्न होता है – 'पातेर्बले जुट् च' (उणा० ४.२०४) [√पा+जुट् असुन् > पा+ज् अस् > पाजस्]।

३. प्रसितिः = स्यतेरिदं रूपम्। स्यातिश्चोपसृष्टा विमोचने हत्वा हताः शत्रवो यत्र विमुच्यते सा प्रसितिः संग्रामभूमिः, सा हताद्धतैः शत्रुभिराकीर्णा (स्क०म०, निरु० ४.१७)।

४. अमवन्तः = अमशब्द आत्मपर्यायः। आत्मवन्तः यत्नवन्त इत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ० १.३८.७)। अमानां रोगाणां गमनागमनबलानां वा सम्बन्धो विद्यते येषान्ते। अत्र सम्बन्धार्थे मतुप्। अम रोगे, अम गत्यादिषु च इत्यस्माद् 'हलश्च' इति करणाधिकरणयोर्घञ्। अमन्ति रोगं प्राप्नुवन्ति, यद्वाऽमन्ति गच्छन्ति आगच्छन्ति बलयन्ति यैस्तेऽमाः [रुद्रियासः = वायवः] (दया०, ऋ० १.३८.७)। अमवत् = अमः प्रशस्तो बोधः सम्भागो यस्मिंस्तम् [स्वः = सुखम्] (दया०, ऋ० १.५२.९)। अमवत्सु = अमाः प्रशस्तानि गृहाणि विद्यन्ते येषु [स्थानेषु] (दया०, ऋ० ६.६६.६)।

८५. इभेन (इभेन) इराभृता गणेन, गतभयेन हस्तिनेति वा। (६.१२)

८६. तृष्वी तृष्वीति क्षिप्रनाम (निघं० २.१५.१०) – तरतेर्वा, त्वरतेर्वा। (६.१२)

८७. तपिष्ठैः तपिष्ठैस्तप्ततमैः, तृप्ततमैः प्रपिष्टतमैरिति वा। (६.१२)

८८. अमीवा* अमीवा अभ्यमनेन व्याख्यातः। (६.१२)

---

८५. **'इभेन'** का अर्थ है इराभृत् (अन्नधारक, अन्नवाहक) समूह के द्वारा [इराभृत् > इभ]। अथवा इतं गतं भयं यस्य स इतभयः (गतभयः) = जिसका भय समाप्त हो गया है अर्थात् निर्भय हाथी, सैनिक आदि का नाम **'इभ'** है [इतभय > इभ]।

८६. 'तृष्वी' यह शब्द क्षिप्र (शीघ्र) का वाचक है। कैसे ? क्योंकि यह ''तृ प्लवनसन्तरणयोः'' (१.६९६) धातु से निष्पन्न होता है । फलप्राप्ति के विघ्नों को जिससे तरा जाता है, समाप्त किया जाता है, उसे **तृषु** (पु.) या **तृष्वी** (स्त्री.) कहते हैं [√तृ+षुक्[१] > तृ+षु > तृषु+ङीष्[२] > तृष्वी]। ''जित्वरा सम्भ्रमे'' (१.५२५) धातु से भी 'तृष्वी' शब्द निष्पन्न होता है । फलप्राप्ति के लिए क्रियमाण शीघ्रतारूपी यत्न को ही **'तृष्वी'** कहते हैं [√त्वर्+षुक् > तृ+षु > तृषु+ङीष् > तृष्वी]।[३]

८७. **'तपिष्ठ'** के ये अर्थ हैं – १. अत्यधिक सन्तप्त [√तप सन्तापे (१.७११)+अच् > तप+इष्ठन् > तपिष्ठ; अथवा तपस्+इष्ठन् > तप्+इष्ठ > तपिष्ठ]। २. अत्यधिक तृप्त [√तृप तृप्तौ (४.८४)+ अच्+इष्ठन् > तपिष्ठ]। ३. अत्यधिक पिसा हुआ (बारूद आदि) [प्रपिष्ठ > तपिष्ठ]।

८८. **'अमीवा'** शब्द 'अभ्यमन' (अभ्यमनवान् = दुःख देने वाला) से व्याख्यात हो जाता है अर्थात् √अम रोगे (१०. १८९) धातु से ही अमीवा शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि अमीवा (क्रिमिविशेष) भी दुःखदायक होता है [√अम्+ईव[४] > अमीव

---

१. मस्जीषोः षुक् (स०कं०२.१.१०८) इति बाहुलकात् षुक्प्रत्ययः धातोस्तृभावश्च (देव०, नि०नि०२.१५.१०)।
२. वोतो गुणवचनात् (अष्टा० ४.१.४४)।
३. तृषु=क्षिप्रं सततं यथाकालमित्यर्थः (उवटः, ऋ० १०.७९.५)। तृष्वीम्=पिपासिताम् [मृगीम्] (दया०, ऋ०४.४.१)।
४. अमेरीवः (स०कं०२.३.१३७)।

८९. दुर्णामा दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा। (६.१२)

९०. क्रिमिः क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति, क्रमतेर्वा स्यात् सरणकर्मणः, क्रामतेर्वा। (६.१२)

९१. दुरितम् (दुरितानि) दुर्गतिगमनानि। (६.१२)

९२. अप्वा* अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते, व्याधिर्वा,भयं वा।(६.१२)

+ टाप् > अमीवा]।[१]

८९. 'दुर्णामा' का अर्थ है पापनामा (दुष्टस्वभाव) वाला कीड़ा है अथवा पाप (दूषित) स्थान (में उत्पन्न होने) वाला है। जिसका उपशमन करना या जिसे पकड़ना अत्यधिक कठिन है, उसका नाम 'दुर्णामा' है [दुःखेन नमति उपशाम्यति निदानीक्रियते इति दुर्णामा। दुर्+ √णम प्रह्वत्वे शब्दे च (१.७०८)+अच्+टाप् > दुर्णामा]।

९०. क्रव्य (मांस) में आसक्ति वाला होने से कीड़े का नाम **'क्रिमि'** है [क्रव्य+ √जिमिदा स्नेहने (४.१२९)+डिन् > क्रि+म्+इ > क्रिमि]। सरणार्थक ''क्रमु'' धातु से भी **'क्रिमि'** शब्द उपपन्न होता है, क्योंकि कीड़ा गतिशील संक्रमणशील होता है [√क्रमु सरणकर्मा (नैरुक्तधातुः)+डिमिन् > क्र्+इमि > क्रिमि]। ''क्रमु पादविक्षेपे'' (१.३१९) धातु से भी **'क्रिमि'** शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि कीड़ा निर्बल शरीरों पर आक्रमण करने वाला होता है [पूर्ववत्]।

९१. जिससे दुर्गति प्राप्त होती है, ऐसे दुष्कर्मादि का नाम **'दुरित'** है [दुर्गतिरीयते प्राप्यते येन तद् दुरितम्। दुर्+√इण गतौ (२.३८)+क्त > दुरित]।[२]

९२. **'अप्वे'** शब्द के अर्थ हैं – १. व्याधि और २. भय, क्योंकि इससे बींधा (पीड़ित) हुआ प्राणी नष्ट हो जाता है [अप+√वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु (२.४१)+वन् > अप्+(धातोर्लोपः)+व+टाप् > अप्वा, सम्बोधने अप्वे]।[३]

---

१. अमीवाः=रोगान् हिंसितव्यान् (स्क०म०, निरु०१२.४४)। अमीवाः=आभिमुख्येनागमन-परागमनपराः (सायणः, ऋ० ३.१५.१)।
२. दुरितम्=दुःखायेतं प्राप्तम् [पापम्] (दया०, ऋ०१.१२५.७)। दुरिता=दुःखप्रापकाणि कर्माणि फलानि वा (दया०, ऋ० ५.३.११)। दुःखेन नेतुं योग्यानि [स्थानानि] (दया०,ऋ० १.९९.१)।
३. अपपूर्वाद् √वेतेर्धातोरन्तर्णीतण्यर्थाद् 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अष्टा०३.२.१०१) इति डप्रत्यये 'अप' इत्यस्यान्त्यलोपश्छान्दसः, टाप्। अपवाययति अपगमयति सुखं प्राणांश्चेत्यर्थः।

९३. अमतिः* अमतिरमामयी मतिरात्ममयी। (६.१२)

९४. (श्रुष्टिः) श्रुष्टी * श्रुष्टीति क्षिप्रनाम, आशु अष्टीति। (६.१२)

[खण्डम् – ४]

९५. नासत्यौ नासत्यौ चाश्विनौ। सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः। सत्यस्य प्रणेताराावित्याग्रायणः। नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा। (६.१३)

---

९३. 'अमतिः' का अर्थ है अमामयी अर्थात् आत्ममयी मति, आत्मस्वरूप वाली बुद्धि, आत्मचिन्तन को ही **'अमति'** कहते हैं [अमाशब्द आत्मार्थकः, अमामयी मतिः > अमामतिः > अमति]।[1]

९४. श्रुष्टि यह शब्द शीघ्रार्थक है। शीघ्र व्याप्त होने वाले का नाम **'श्रुष्टि'** है [आशु, शु इति क्षिप्रनामनी (निघं॰२.१५.१५-१६)। शु + √अशूङ् व्याप्तौ (५.१८) + क्तिन् > शु + अश् + ति > शु + अष्टि > श्रुष्टि + ङीष् > श्रुष्टी]।[2]

९५. दोनों अश्विनिकुमार सत्य ही बोलते हैं, कभी भी असत्य नहीं बोलते हैं, इसलिए वे दोनों **'नासत्य'** कहलाते हैं, ऐसा और्णवाभ आचार्य मानते हैं[3] [सत्सु साधू भवौ वा सत्यौ[4], न सत्यौ असत्यौ, न असत्यौ नासत्यौ। न + न + सत्य > नासत्य]। सत्य के उन्नेता, व्यवहर्ता, प्रचारक व नेतृत्व करने वाले होने से दोनों अश्विनियों का नाम

'शेवायह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः' (उणा॰१.१५४) इति वन्प्रत्यये वेतेर्लोपः अपशब्दस्यान्तलोपश्च निपात्यते (देव॰, नि॰नि॰४.३.४८)। आप्नोति यया सा अप्वा, कण्ठस्थानं वा [धातोर्ह्रस्वत्वम्] (दया॰,उणा॰१.१५४)। अप्वे = याऽपवाति शत्रुप्राणान् हिनस्ति, तत्सम्बुद्धौ [शूरवीरे! राजस्त्रि क्षत्रिये]। अत्रापपूर्वाद् वातेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (अष्टा॰३.२.१७८) इति क्विप्, अकारलोपश्छान्दसः(दया॰,यजु॰१७.४४) [अप + √वा गतिगन्धनयोः (२.४३) + क्विप् > अप् + वा + टाप् > अप्वा]।

१. आत्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्वा अमतिः (देव॰, नि॰नि॰४.३.४९)। अमतिम् = अविद्यमाना मतिर्विज्ञानं सुखं वा यस्यामविद्यायां दरिद्रायां वा तां सुरूपं वा (दया॰, ऋ॰१.५३.४)। सुन्दरं रूपम्। अमतिरिति रूपनाम [निघं॰३.७.५] (दया॰,ऋ॰७.४५.३)।

२. श्रुष्टिश्रुष्टीशब्दौ समानार्थकौ।। श्रुष्टिम्=श्रुष्टिशब्दोऽत्र दूतवचनः, न क्षिप्रवाची (स्कन्दः,ऋ॰ १.६७.१-२)। शु आशु अश्नुते कर्माणि व्याप्नोतीति श्रुष्टिर्यजमानः। क्षिप्रेण कर्मणामनुष्ठातेत्यर्थः..... एवंभूतं यजमानम् (सायणः, ऋ॰१.६७.१-२)। शु आशु अश्नुते व्याप्नोतीति श्रुष्टिर्यज्ञफलरूपं सुखम् (सायणः, ऋ॰१.६९.७-८)। श्रुष्टिः = श्रोतव्या विद्या (दया॰, ऋ॰१.१७८.१)।

३. महर्षि पाणिनि का भी मत यही है — 'नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या' (अष्टा॰ ६.३.७४)।

४. तत्र साधुः, भवे च्छन्दसि (अष्टा॰४.४.९८,१००)।

९६. पुरन्धिः* पुरन्धिर्बहुधीः। तत्कः? पुरन्धिर्भगः, पुरस्तात् तस्यान्वादेश इत्येकम्। इन्द्र इत्यपरम्, स बहुकर्मतमः, पुरां च दारयितृतमः।वरुण इत्यपरम्, तं प्रज्ञया स्तौति। (६.१३, द्र॰१२.३०)

९७. रुशद्* रुशदिति वर्णनाम, रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। (६.१३; २.२०)

'नासत्य' है, ऐसा आग्रायण आचार्य का मत है अथवा सत्यमिति उदकनाम (निघं॰ १.१२.७१)। सत्य (उदक या यज्ञ) के प्रणेता होने से भी उन दो का नाम **'नासत्य'** है [√नृ नये (९.२६) + ड[1] > नः = नेता; सत्यस्य नौ = नेतारौ > न + सत्य[2] > ना + सत्य > नासत्य]। नासिका में उत्पन्न व प्रवाहित होने के कारण प्राणापानों का नाम **'नासत्य'** है [नासिकायां भवौ नासत्यौ। नासिका + यत्[3]> नासत् (आदेशः) + य > नासत्य]।

९६. **'पुरन्धि'**का अर्थ है 'बहुधीः' (अत्यधिक बुद्धिमान्)। वह कौन है? भग ही पुरन्धि है, क्योंकि मन्त्र में (भगं.....पुरन्धिम् — ऋ॰ ७.३९.४) पूर्व में स्थित भगशब्द के विशेषण के रूप में उसी भग का पुनः कथन किया गया है, ऐसा एक मत है [पुरु + धी > पुरम् + धि > पुरन्धि]। दूसरा मत यह है कि **'पुरन्धि'** शब्द इन्द्र का वाचक (अन्वादेश या विशेषण) है, क्योंकि वह अन्य देवों की अपेक्षा से अत्यधिक कर्मशील होता है [धीः कर्मनाम— निघं॰२.१.२१)। पुरु बहु धियः कर्माणि यस्य सः पुरुधीः बहुकर्मा। पुरु + धी > पुरम् + धि > पुरन्धि]। और वह इन्द्र पुरों (बादलों व शत्रुओं के पुरों नगरों) का अतिशयरूप से दारयिता (नाशक) है, इसलिए भी इन्द्र का नाम **'पुरन्धि'** है [पुर् + √दॄ विदारणे (९.२२) + डिच् > पुर्-अम् (आगमः) + द् + इ > पुरम् + ध् + इ > पुरन्धि]। 'वरुण' का नाम **'पुरन्धि'** है, ऐसा अन्य मत है, क्योंकि मन्त्रों में देखा जाता है कि स्तुतिकर्ता प्रज्ञापूर्वक उसकी स्तुति करता है [धीरिति प्रज्ञानाम (निघं॰ ३.९.७)। पूर्वी बह्वी धीः प्रज्ञा यस्य स वरुणः पुरन्धिः। पुरु + धीः > पुरन्धिः]।[4]

९७. 'रुशद्' की व्याख्या निरु॰२.२० में की गई है, वहीं देखें।

---

१. अन्येभ्योऽपि दृश्यते (वा॰ ३.२.१०१)।

२. राजदन्तादिषु परम् (अष्टा॰२.३.३१) इति सत्यस्य परनिपातः। ततो नकारस्य दीर्घत्वं छान्दसम्।

३. शरीरावयवाच्च (अष्टा॰ ४.३.५५) इति यत्।

४. पुरन्धी द्यावापृथिवीनाम (निघं॰ ३.३०.२)। पुरन्ध्या = स्तुत्या (निरु॰ १२.३०)। पुरन्धिर्योषेति, योषित्येव रूपं दधाति, तस्माद् रूपाणी युवतिः प्रिया भावुका (शत॰ १३.१.९.६)। पुरन्धिः = पुरां धारको राज्यभावः (दया॰, ऋ॰ ४.३४.२)। पुरन्ध्या = पुरं पूर्णां विद्यां ध्यायति या, तया [कन्यया] सह (दया॰, ऋ॰ २.१.३)।

[खण्डम् – ५]

९८. रिशादसः* (रिशादसः) रेशयद् आसिनः। (६.१४)
['रेशयदारिणः' इति क्वचित्]

९९. आप्यम् आप्यमाप्नोतेः। (६.१४)

१००. सुदत्रः* सुदत्रः कल्याणदानः। (६.१४)

---

९८. **'रिशादसः'** का अर्थ है 'रेशयद् आसीनः' अर्थात् हिंसक शत्रुओं के असिता (क्षेप्ता, दण्डयिता) [√रिश हिंसायाम् (६.१२९) + श + शतृ (लट्) > रिशत् > रिशात् + √असु क्षेपणे (४.९९) + विच्[1] > रिशादस्, बहुवचने – रिशादसः]। पाठान्तर का अर्थ है – 'रेशयदारिणः' अर्थात् रिशानां रेशयानां (णिजर्थे) आदसितारः – शत्रुओं के नाशक [√रिश् + क[2] > रिशः, आङ् + √दसु उपक्षये (४.१०३) + विच्[1] > आदस्; रिश + आदस् > रिशादस् > रिशादसः]।[3]

९९. **'आप्यम्'** शब्द ''आप्लृ व्याप्तौ'' (५.१५) धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है – प्राप्तव्य [√आप् + यत्[4] (अर्हार्थे) > आप्य]।[5]

१००. **'सुदत्र'** का अर्थ है – 'सुदान = कल्याणदान' अर्थात् कल्याणकारी, पवित्र या पर्याप्त दान देने वाला [सु + √डुदाञ् दाने (३.९) + कत्रन् > सु + द् + अत्र > सुदत्र / सु + √दा + ष्ट्रन् > सु + द + त्र > सुदत्र]।[6]

---

१. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अष्टा० ३.२.७५)।
२. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अष्टा० ३.१.१३५)।
३. रिशादसः = रिशाः शत्रवः, तेषाम् अत्तारः (सायणः, ऋ०१.१८६.८) [रिश + √अद भक्षणे (२.१) + असुन् > रिशादस्]। रिशानां हिंसकानां रोगाणां वा अदस उपक्षयितारः (दया०, ऋ०१.२६.४), रिशा रोगा अदसोऽत्तारो यैस्ते (दया०, ऋ०१.१९.५)। रिशान् शत्रून् रोगान् वा समन्ताद् दस्यन्त्युपक्षयन्ति ये, तत्सम्बुद्धौ (दया०, ऋ०१.३९.४)।
४. पोरदुपधात्, अर्हे कृत्यतृचश्च (अष्टा० ३.१.९८; ३.३.१६९)।
५. आप्यम् = आप्तव्यम्। यदस्माभिरर्थिभिर्मनुष्यैः देवेभ्य आप्तव्यं तद् देवानां मध्ये यस्मात् तवैवास्ति, नान्यस्य कस्यचिदित्यर्थः। अथवा आप्यमिति आपिशब्दस्य ज्ञातिवचनस्य [आपिः पिता०ऋ०१.३१.१६] भावप्रत्ययान्तस्य रूपम्। यस्मादस्ति तव देवेषु आपित्वं ज्ञातित्वम्। यस्मात् तव देवा ज्ञातयः। ज्ञातित्वाच्च तदीयानि धनानि त्वां ददतमनुमन्यन्त इत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ०१.३६.१२)। आसन्नतमो बन्धुर्भवतीत्यर्थः। आप्यमिति स्वार्थिकस्तद्धितः (सायणः, ऋ०७.१५.१)।
६. दत्रम् हिरण्यनाम (निघं० १.२.१४)।

१०१. सुविदत्रः सुविदत्रः कल्याणविद्यः। (६.१४; ७.९)

१०२. आनुषक्* आनुषगिति नामानुपूर्व्यस्य – अनुषक्तं भवति। (६.१४)

१०३. तुर्वणिः* तुर्वणिस्तूर्णवनिः। (६.१४)

१०४. गिर्वणस्* गिर्वणा देवो[1] भवति – गीर्भिरेनं वनयन्ति। (६.१४)

---

१०१. **'सुविदत्र'** का अर्थ है – 'सुविद्यः अर्थात् कल्याणकारी उत्तम विद्या वाला' [सु + √विद ज्ञाने (२.५७) + कत्रन्[2] > सु + विद् + अत्र > सुविदत्र]।[3]

१०२. **'आनुषक्'** यह पद 'आनुपूर्व्य' (क्रम, निरन्तर, नियमपूर्वक या अनुगत का नाम(वाचक) है, क्योंकि यह अनुषक्त (सम्बद्ध) होता है [अनु + √षञ्ज सङ्गे (१.७१३) + क्विप् > अनु + सज् > आनु + षक् > आनुषक्]।[4]

१०३. **'तुर्वणि'** का अर्थ है – 'तूर्णवनि' अर्थात् शीघ्र देने वाला या सेवन करने वाला [तूर्ण + √वन सम्भक्तौ (१.३१२) + इन्[5] > तुर् + वन् + इ > तुर्वणि]।[6]

१०४. **'गिर्वणस्'** शब्द देव (विद्वान्) का वाचक है, क्योंकि वाणियों से उनकी स्तुति की जाती है या वाणियों से उनसे याचना की जाती है [गिर् + √वन सम्भक्तौ (१.३१२) / √वनु याचने (८.८) + णिच् + असुन्[7] > गिर् + वन् + अस् > गिर्वणस्]।

---

१. देवशब्देनात्र प्रशस्तैर्गुणैः स्तोतुमर्हो विद्वान् गृह्यते (दया०, ऋ०१.५.७)।
२. सुविदेः कत्रन् (उणा० ३.१०८)। सुष्ठु विद्यते तत् 'सुविदत्रम्' कुटुम्बं वा (दया०, तत्रैव)।
३. सुविदत्रं धनं भवति (निरु० ७.९)। निर्वचनादिकं तत्रैवाग्रे द्रष्टव्यम्।
४. आनुषक् = अनुक्रमेण सक्तं परस्परं सम्बद्धम्, अनुषक्तं संततं यथा भवति (सायणः, ऋ० १.१३.५; १.७२.७)। य आनुकूल्येन सचति समवैति सः [क्रियाविज्ञनः] (दया०, ऋ० ३.४१.२)। आनुकूल्येन वर्तमानः [विद्वज्जनः] (दया०, ऋ० ३.११.१)।
५. सर्वधातुभ्य इन् (उणा० ४.११९)।
६. तुर्वणिः = ०यद्वा तुर्विता शत्रूणां हिंसिता, एवंभूत इन्द्रः (सायणः, ऋ०१.६१.११)। यस्तुरः शीघ्रकरान् वनति सम्भजति सः [इन्द्रः = सेनाध्यक्षः] (दया०, ऋ०१.६१.११)। शीघ्रानन्ददाता (दया०, ऋ०१.५६.३)। तुर्वणे = तुर्वितुं हिंसितुम् (सायणः, ऋ० ६.४६.८)।
७. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४.१९०)।

[खण्डम् – ६]

१०५. असूर्ते* (असूर्ते) असुसमीरिताः, वातसमीरिताः (माध्यमिका देवगणाः)। (६.१५)

१०६. सूर्ते* (सूर्ते) सुसमीरिते। (६.१५)

१०७. अम्यक्* (अम्यक्) अमाक्तेति वा, अभ्यक्तेति वा। (६.१५)

१०८. यादृश्मिन्* (यादृश्मिन्) यादृशे। (६.१५)

---

१०५. **'असूर्ते'** का अर्थ है– 'असुसमीरित' अर्थात् वायु के द्वारा प्रेरित माध्यमिक मेघादि देवगण [असु + √ईर गतौ कम्पने च (२.८) + क्त + जस् > असु + ईर् + त[1] + शे[2] > असू[3] + र् + त + ए > असूर्ते]।[4]

१०६. **'सूर्ते'** का अर्थ है – 'अच्छी तरह प्रेरित व सुविस्तृत अन्तरिक्षलोक' [सु + ईर् + क्त + जस् > सू + र् + त + ए > सूर्ते]।

१०७. **'अम्यक्'** का अर्थ है 'अमा अक्ता' अर्थात् मेरे (आत्मा के) प्रति प्राप्त अध्यात्मविद्या [मा = मां प्रति अञ्चिता = प्राप्तेति अम्यक्। मा + √अञ्चु गतिपूजनयोः (१.११५) + क्विप् > मि + अच् > अ (अडागमः) + मि + अच् > अम्यच्] अथवा 'अमा इति गृहनाम' (निघं० ३.४.११), शत्रुओं के निवास या स्थान के प्रति गया हुआ अस्त्रविशेष (ऋषि = वज्र) या शक्ति का नाम **'अम्यक्'** [अमा + √अञ्च् + क्विप् > अमि + अच् > अम्यक्]। शत्रुओं के अभिमुख, समक्ष गया हुआ अस्त्रविशेष का नाम **'अम्यक्'** है [अभि + √अञ्च् + क्विप् > अमि + अच् > अम्यक्]।[5]

१०८. **'यादृश्मिन्'** का अर्थ है 'यादृशे' अर्थात् जिसप्रकार के कार्य व मनोरथ (कामना) में [यादृश् इत्यस्मात् असर्वनाम्नोऽपि ङेः स्थाने स्मिन् आदेशः सस्य च लोपश्छान्दसः। यादृश् + ङि > यादृश् + स्मिन् > यादृश् + मिन् > यादृश्मिन्]।

---

१. इट् का अभाव छान्दस है।
२. सुपा सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (अष्टा० ७.१.३९)।
३. उकार-ईकारयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घैकादेशश्छान्दसः।
४. असूर्ते = सरणवर्जिते (सायणः, ऋ० १०.८२.४)। अप्राप्ते परोक्षे [रजसि लोके]। अत्र सृधातोः क्तान्तं निपातनम् – 'नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानि छन्दसि' (अष्टा० ८.२.६१) इत्यनेन निपातनम् (दया०, यजु० १७.२८)। [नञ् + √सृ + क्त > असूर्त]।
५. अमिं सरलां गतिम् अञ्चति गच्छति [इति अम्यक्] (दया०, ऋ० १.१६९.३)।

[खण्डम् – ७]

१०९. अग्रिया* (अग्रिया) अग्रगमनेनेति वा, अग्रगरणेनेति वा, अग्रसम्पादिन इति वा। अपि वा अग्रमित्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत। (६.१६)

११०. चनः चन इत्यन्ननाम। (६.१६)

---

१०९. **'अग्रिया'** का अर्थ है 'आगे-आगे रहने वाली गति से अर्थात् अग्रगामी से' [अग्र + घ[1] > अग्र् + इय् अ > अग्रिय + टा > अग्रिय + आ[2] > अग्रिया / अग्र + √या प्रापणे (२.४२) + क > अग्रि + य् + अ > अग्रिय + आ (तृतीयैकवचनस्यादेशः पूर्ववत्) > अग्रिया]। अग्रे गरणं भोजनमर्हतीति अग्रियः, तेनाग्रिया। सर्वप्रथम या श्रेष्ठ भोजन करने के योग्य का भी नाम **'अग्रिय'** है [अग्रमर्हतीति अग्रियः। अग्र + यत्[3] > अग्रि + य > अग्रिय / अग्र + घन्[4] > अग्रिय]। सर्वप्रथम कार्य को सम्पन्न करने वाले का भी नाम **'अग्रिय'** है। अग्र शब्द से सम्पदिन अर्थ में घप्रत्यय होकर भी अग्रिय शब्द निष्पन्न होता है [अग्रत्वसम्पादिनोऽग्रियाः, (पूर्ववत्)]। अथवा अग्रशब्द से अनर्थक (स्वार्थिक) 'या' प्रत्यय होकर भी अग्रिय निष्पन्न होता है [अग्र एव अग्रियः। अग्र + या > अग्रि + या > अग्रिया]।[5]

११०. 'चनः' यह अन्न का वाचक है। जो पकाया जाता है, उसका नाम **'चनः'** है [पच्यत इति पचनः – चनः। √डुपचष् पाके (१.७२२) + असुन्[6] > पचनस् > चनस्[7] / चम्यते भक्ष्यत इति चनः, √चमु अदने (१.३१७) + असुन्[6] > चम् + अस् > चन् + अस् > चनस्]।[8]

---

१. (अग्रात्) घच्छौ च (अष्टा० ४.४.११७) इति भवार्थे घः।
२. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेया० (अष्टा० ७.१.३९)।
३. छन्दसि च (अष्टा० ५.१.६७) इत्यर्हार्थे यत्।
४. पात्राद् घंश्च (अष्टा० ५.१.६८) इत्यग्रशब्दादपि अर्हार्थे छान्दसो घन्।
५. अग्रियशब्द के ये अर्थ हैं – मुख्य, प्रमुख, प्रधान, श्रेष्ठ, पूज्य, उत्तम आदि। अग्रियः = अग्रे भवः, ऋषीणां प्रमुखः श्रेष्ठ इत्यर्थः। घच्छौ च (अष्टा० ४.४.११७) इत्यग्रशब्दाद् भवार्थे घच् (सायणः, ऋ० १०.१२०.८)। द्र० दया०, ऋ० १.१३.१०।
६. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४.१९०)।
७. वेदे सान्तः, लोके तु 'चन' इत्यदन्त।
८. चनः भक्ष्यभोज्यलेह्यचूष्याख्यान्नम्। अत्र 'चायतेरन्ने ह्रस्वश्च' (उणा० ४.२०१) अनेनासुन् प्रत्ययो नुडागमश्च (दया०, ऋ० १.२६.१०)। अन्नं हविर्लक्षणम् (सायणः, ऋ० १.३.६)।

१११. पचता (पचता) पचतिर्नामीभूतः[=पचतानि, पक्वानि], अपि वा मेदसश्च पशोश्च सात्त्वं द्विवचनं स्यत्। यत्र ह्येकवचनार्थः प्रसिद्धं (तत्र) तद् (एकवचनं) भवति। (६.१६)

११२. शुरुधः* शुरुध आपो भवन्ति – शुचं संरुन्धन्ति। (६.१६)

११३. अमिनः* अमिनोऽमितमात्रो महान् भवति, अभ्यमितो वा। (६.१६)

---

१११. **'पचता'** यह शब्द पच्धातु का नामपद (सुबन्त) है, न कि तिङन्तपद। इसके अर्थ विशेष्य के अनुसार पक्वानि, पक्वौ, पक्वम् आदि होते हैं अथवा यह 'पचता' प्रयोग मेद और पशु इन दो द्रव्य सम्बन्धी द्विवचन (पचतौ) का वाचक भी हो सकता है। जहाँ एकवचन (पचतः) का अर्थ सम्भव है, वहाँ भी उस एकवचन अर्थ में एकवचनान्त (पचता) का प्रयोग होता है। [√डुपचष् पाके (१.७२२) + अतच्[१] > पच् + अत > पचत + जस् / औ / सु > पचत + आ[२] > पचता]।

११२. **'शुरुधः'** का अर्थ जल होता है, क्योंकि शुच् (प्रकाश, ताप या दुःख) को रोकता है, निवृत्त करता है। जलयुक्त मेघ प्रकाश को रोकते हैं और जल ताप को दूर कर शान्ति प्रदान करता है और जल के बरसने से अन्न उत्पन्न होता है, जिससे दुर्भिक्षादि दुःख दूर होते हैं [√शोचति ज्वलतिकर्मा (निघं०१.१६.५)/ √शुच शोके (१.१११) + क्विप्[३] > शुच्। शुचं रोधतीति शुरुधः। शुच् + √रुधिर् आवरणे (७.१) + क्विप्[३] > शुच् + रुध् > शु + रुध् > शुरुध् + जस् > शुरुधः]।[४]

११३. अपरिमित मात्रा वाले महान् का नाम **'अमिनः'** है [न + √माङ् माने (३.६) + नक्[५] > अ + मि + न > अमिन]। जो किसी से भी हिंसित, दुःखित या

---

१. भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्यिभ्योऽतच् (उणा०३.११०) इत्यतच् प्रत्ययः कर्मणि भूते च भवति। भूतेऽपि दृश्यन्ते (अष्टा०३.३.२)।
२. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेया० (अष्टा०७.१.३९)।
३. क्विप् च (अष्टा०३.२.७६)।
४. शुरुधः=इह तु सामर्थ्याद् धनानि। तान्यपि हि शुचं मनोदुःखम् उपभोगसाधनाभावकृतं संरन्धन्तीति (स्कन्दः, ऋ०६.४९.८)। शुरुधश्चन्द्राग्राः। शुचं संरुन्धन्ति यानि धनानि चायनीयाग्राणि अभिपूजितागमनानि। धर्म्य आगमो येषाम् (दुर्गः, नि०१२.१८)। ये शूरून् हिंसकान् सूर्यकिरणान् दधति धरन्ति ते (दया०, ऋ०१.१६९.८); याः शु शीघ्रं रुध्नन्ति ताः (दया०, ऋ० ३.३८.५)। शुरुमन्धकारहिंसकं तेजो दधाति स सूर्यः (दया०, ऋ०६.३.३)।
५. इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उणा०३.२) इति नक् कर्मणि भूते च।

११४. जज्झतीः जज्झतीरापो भवन्ति, शब्दकारिण्यः। (६.१६)

११५. अप्रतिष्कुतः* अप्रतिष्कुतोऽप्रतिष्कृतः, अप्रतिस्खलितो वा। (६.१६)

अभिभूत नहीं होता है, वह भी **'अमिन'** कहलाता है [अनभिहिंसितः केनचिदपीति अमिनः। न + √मिनाति, √मिनोति वधकर्माणौ (निघं० २.१९.३१, ३२) + नक्[१] > अ + मि + न > अमिन]।[२]

११४. 'जज्झती' शब्द जल का वाचक है, क्योंकि झरने से गिरते समय या नदी में बहते समय जल 'जज्झ-जज्झ' इसप्रकार का शब्द करता है। इसलिए जल का नाम **'जज्झती'** है [जज्झ + क्विप्[३] > जज्झ इस नामधातु[४] से – जज्झ + शप् + शतृ (लट्) > जज्झत् + ङीप् + जस् > जज्झतीः[५]]।

११५. 'अप्रतिष्कुतः' का अर्थ है – अप्रतिष्कृतः अर्थात् वीरता में या उपकार में जिसका कोई प्रतीकार (विरोध) न किया जा सके, वह व्यक्ति अथवा मांगने पर याचक से 'नहीं है' ऐसा प्रतिवचन जो कभी नहीं बोलता अर्थात् प्रतिकूलशब्दरहित व्यक्ति ही **'अप्रतिष्कुतः'** कहलाता है [नञ् + प्रति + सुट् √कृञ् हिंसायाम् (५.७) / √डुकृञ् करणे (८.१०) + क्त (कर्मणि) > अ + प्रति + स् कृ + त > अप्रति + ष् कु + त > अप्रतिष्कुत]। जिसका संग्राम में स्खलन, पतन व पराजय नहीं होता है, ऐसे अप्रतिहतविजेता का भी नाम **'अप्रतिष्कुतः'** है [नञ् + प्रति + √स्खल सञ्चलने (१.३६५) + क्त > अप्रति + स्खल् + त > अप्रति + स्कु + त > अप्रतिष्कुत]।[६]

---

१. इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उणा०३.२) इति नक् कर्मणि भूते च।
२. अमिनः=अमतेर्गत्यर्थादौणादिक इनच्, सर्वत्र गन्ता। यद्वा कान्त्यर्थात्, सर्वैः काम्यमानः (सायणः, ऋ०१०.११६.४)।
३. सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्येके (वा०३.१.११) इत्यनेनानुकरणात्मकाद् जज्झशब्दादाचारार्थे क्विप्।
४. सनाद्यन्ता धातवः (अष्टा०३.१.३२)।
५. नुमोऽभावश्छान्दसः। सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा० (अष्टा०७.१.३९) इति पूर्वसवर्णः।
६. अप्रतिष्कुतः=स्कुञ् आप्रवणे, आप्रवणमागमनं प्रवतेर्गत्यर्थत्वात्। अन्येनाप्रतिगतोऽप्रतिष्कुतः (स्कन्दः, ऋ०१.७.६)। प्रतिशब्दरहितः, यद्यद् अस्माभिर्याच्यते, तत्र सर्वत्र नेति प्रतिशब्दं नोच्चारयति। अतोऽस्मद्विषये कदाचिदपि अप्रतिस्खलितः (सायणः, ऋ०१.७.६)। अप्रतिष्कुतम्=स्कु इति सौत्रो धातुः स्तम्भने वर्तते। शत्रुभिरप्रतिरोधनीयम् (सायणः, ऋ०८.९३.१२) असञ्चलितोऽविस्मृतो वा [इन्द्रः] (दया०, ऋ०१.७.६)। अकम्पितो दृढः [मनुष्यगणः] (दया०, ऋ०५.६.१३)। इतस्ततो लोकान्तरस्याऽभितो भ्रमणरहितम् [अग्निम्] (दया०, ऋ०३.२.१४)। [न+प्रति+स्कुञ् / स्कु+क्त > अप्रति+स्कुत > अप्रतिष्कुत इत्यपि व्युत्पत्तिर्विज्ञेया]।

११६. शाशदानः* शाशदानः शाशाद्यमानः। (६.१६)

चतुर्थः पादः [खण्डम् – १]

११७. सूप्रः* सृप्रः सर्पणात्। इदमपीतरत् सृप्रमेतस्मादेव, सर्पिर्वा तैलं वा। (६.१७)

११८. करस्नौ* करस्नौ बाहू (निघं॰२.४.७)–कर्मणां प्रस्नातारौ। (६.१७)

---

११६. **'शाशदान'** का अर्थ है – 'शाशाद्यमानः' अर्थात् बार-बार दमन करता हुआ या करने वाला [√शद्लृ शातने (१.५९४, ६.१३७) + यङ्लुक् + शानच् (कर्मणि लट्) > शाशद् + आन > शाशदान]।[1]

११७. सृप्रशब्द ''सृप्लृ गतौ'' (१.७०९) धातु से उपपन्न होता है, सरकने वाले का नाम **'सृप्र'** है [√सृप्+रक्[2] > सृप्र]। यह जो दूसरा लोक में प्रसिद्ध घी एवं तेल का वाचक **'सृप्र'** शब्द है, वह भी इसी धातु से उपपन्न होता है, क्योंकि द्रवीभूत होने से घी या तेल भी सरकते हैं [पूर्ववत्]।[3]

११८. **'करस्नौ'** शब्द बाहुओं का वाचक है, क्योंकि ये कर्मों को सम्पन्न करने वाली होती हैं [कराणां कर्मणां स्नौ प्रस्नातारौ निर्वर्तयितारौ करस्नौ। कर + √ष्णा शौचे (२.५४) + क > कर+स्न् + अ > करस्न]।

---

१. शाशदानः = पुनः पुनरसुरान् तत्पुराणि च शातयन् (स्कन्दः, ऋ॰१.३३.१३)। अतिशयेन शीयते शातयति छिनत्ति यः सः [इन्द्रः=सूर्यः] (दया॰, तत्रैव)। शाशदाना = शाशाद्यमाना। 'शाशदानः शाशाद्यमानः' इति यास्कः। स्पष्टतां गच्छन्तीत्यर्थः (सायणः, ऋ॰१.१२४.६)। अतीव सुन्दरी [विदुषी स्त्री] (दया॰, तत्रैव)। व्यवहारेष्वतितीक्ष्णमाचरन्ती [देवी=विदुषी स्त्री] (दया॰, ऋ॰१.१२३.१०)।

२. स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपि......शुभिभ्यो रक् (उणा॰२.१३)।

३. सृप्रदानुम् = सर्पणशीलदानयुतम्। अविच्छेदेन धनानि प्रयच्छन्तमित्यर्थः (सायणः, ऋ॰ १.९६.३)।

११९. सुशिप्रम्* सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम्। (६.१७)

१२०. हनुः हनुर्हन्तेः। (६.१७)

१२१. नासिका नासिका नसतेः। (६.१७)

---

११९. सुशिप्र शब्द की व्युत्पत्ति सृप्र के समान समझना चाहिए। सुन्दर रूप (मुखाकृति) वाले का नाम या शिरस्त्राण वाले का नाम **'सुशिप्र'** है। [प्रशस्ते शिप्रे हनू नासिके वा शोभनं शिरस्त्राणं (शिर के कवच आदि) वा यस्य स सुशिप्रः। सु + √सृप्लृ गतौ (१.७०९) + रक् > सु + सृप् + र > सु + शिप् + र > सुशिप्र]।[1]

१२०. 'हनु' शब्द ''हन हिंसागत्योः'' (२.२) धातु से निष्पन्न होता है। भक्ष्यपदार्थ जबड़ों के बीच में चबाया (हिंसित किया) जाता है, इसलिए जबड़ों का नाम **'हनु'** है अथवा कपोलों पर थप्पड़ मारा जाता है, इसलिए कपोलों का भी नाम **'हनु'** है [√हन् + उ[2] > हनु]।[3]

१२१. नासिका शब्द गति, प्राप्ति और नमन अर्थ वाली ''नस्'' धातु[4] से बनता है। नासिका झुकी हुई होती है और गन्ध को प्राप्त करने वाली होती है, इसलिए नाक का नाम **'नासिका'** है [√नस् + ण्वुल् > नास् + अक + टाप् > नासक + आ > नासिका / √नस् + ण > नासा + क (स्वार्थिक)[5] > नासक + टाप् > नासिका]।

---

१. सुशिप्र! = 'शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः' (ऋ॰ ५.५४.११) इति प्रयोगदर्शनात् शिरस्त्राणवचनो वेह शिप्रशब्दः। सुहनो! सुनस! सुशिरस्त्राण! वेत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ॰ १.१०१.१०)। शिरः पाति रक्षतीति शिप्रः [शिरस् + √ पा रक्षणे (२.४९) + रक् > शि+प्+र > शिप्र]। शोभनं शिप्रं ज्ञानं प्रापणं वा यस्य, तत्सम्बुद्धौ (दया॰, ऋ॰१.९.३)। सुशोभितमुखावयव [इन्द्र = अप्तजन] (दया॰, ऋ॰७.२४.४)। सुशिप्रः = शोभनानि शिप्राणि सेवनानि यस्मिन् सः। अत्र शेवृधातोः पृषोदरादिनेष्टसिद्धिः (दया॰, ऋ॰ २.२१.६) [सु + √ शेवृ सेवने (१.३३८) + रक् > सु + शेव् + र > सु + शिप् + र > सुशिप्र]। शिप्रे = सर्वसुखप्रापिके द्यावापृथिव्यौ। शिप्रे इति पदनामसु पठितम् (निघं॰४.१०.११) (दया॰, ऋ॰१.१०१.१०)।

२. शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनि॰ (उणा॰१.१०)।

३. हनू = मुखपार्श्वे (सायणः, ऋ॰४.१८.९); कपोलप्रान्तौ (सायणः, ऋ॰ १०.१५२.३)।

४. नसते गतिकर्मा (निघं॰२.१४.७६)। नसन्त आप्नोतेः नमतेर्वार्थे वर्तते (देव॰, नि॰नि॰ ४.१.२२)।

५. नासा एव नासिका। केऽणः (अष्टा॰७.४.१३) इति ह्रस्वत्वे 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' (अष्टा॰ ७.३.४४) इतीत्वम्।

१२२. धेना* धेना दधातेः। (६.१७)

१२३. रंसु* रंसु रमणीयेषु – रमणात्। (६.१७)

१२४. द्विबर्हाः* द्विबर्हा द्वयोः स्थानयोः परिवृढो मध्यमे च स्थाने उत्तमे च। (६.१७)

---

१२२. धेना (=जिह्वा) शब्द ''डुधाञ्'' धातु से व्युत्पन्न होता है। जिह्वा पर अन्नादि भक्ष्यपदार्थों का धारण किया जाता है या वर्णोच्चारण की क्रिया में विभिन्न स्थानों में धारित होती है, इसलिए जिह्वा का नाम **'धेना'** है [√धा+न[1] > धि+न > धेन+टाप् > धेना / √धा+शप्+शानच् (लट्) > दधा+आन > ध्+एन[2] > धेन+टाप् > धेना]।[3]

१२३. **'रंसु'** का अर्थ है – 'रमणीयेषु' (रमणीय शरीर, द्युलोक, अग्निहोत्र आदियों में), क्योंकि यह शब्द ''रम्'' धातु से उपपन्न होता है [√रमु क्रीडायाम् (१.५९२)+ विच्[4] > रम् / रमणीय > रम् (आदेशः), तेषु रंसु]।

१२४. **'द्विबर्हा'** का अर्थ है दो स्थानों अर्थात् मध्यम (अन्तरिक्ष) लोक में विद्युत् के रूप से और उत्तम (द्यु) लोक में आदित्य के रूप से परिवृढ (परिव्याप्त) इन्द्रादि [द्वयोःपरिवृढः > द्विबर्हाः, द्वि+ √बृह वृद्धौ (१.४८८)+असुन्[5] > द्वि+बर्ह्+अस् > द्विबर्हस्]।[6]

---

१. धेट इच्च (उणा॰३.११) इति बाहुलकाद् दधातेरपि नप्रत्ययः।
२. अभ्यासलोपः प्रत्ययस्य चैनादेशश्च छान्दसौ।
३. धेना वाङ्नाम (निघं॰१.११.३९)। धीयते पीयते आस्वाद्यते प्राणेन, धयति प्राणमिति वा धेना (देव॰, नि॰नि॰१.११.३९)। धयन्ति पिबन्ति यस्मात् स धेनः समुद्रः, धेना नदी वा (दया॰, उणा॰ ३.११) [धेट् पाने (१.६४३)+न > धा+न > धि+न > धेन]। अन्नं वै धेनाः (शत॰७.५.२.११)। धेना बृहस्पतेः [पत्नी]। (तै॰आ॰३.९.१)।
४. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अष्टा॰३.२.७५)।
५. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा॰४.१९०)।
६. द्विबर्हाः=यो द्वाभ्यां विद्याशिक्षाभ्यां प्रतापप्रकाशाभ्यां वा वर्धयति सः (दया॰, ऋ॰ १.७१.६)। द्वयोर्व्यवहारपरमार्थयोर्वर्धकः (दया॰, ऋ॰१.११४.१०)। द्वाभ्यां विद्याविनयाभ्यां वृद्धः (दया॰, ऋ॰४.५.३)। या द्वाभ्यां रात्रिदिनाभ्यां बृहयति वर्धयति (दया॰, ऋ॰ ५.८०.४)। द्वाभ्यां विद्याविनयाभ्यां बर्हे वर्धनं यस्य सः [सभेशो राजा] (दया॰, ऋ॰७.८.६)।

१२५. बर्हस् बर्हाः परिवृढः। (६.१७)

१२६. अक्रः* अक्र आक्रमणात्। (६.१७)

१२७. उराणः* उराण उरु कुर्वाणः। (६.१७)

[खण्डम् – २]

१२८. स्तियाः* स्तिया आपो भवन्ति – स्त्यायनात्। (६.१७)

---

१२५. **'बर्हा'** का अर्थ है परिबृढ अर्थात् चारों ओर फैला हुआ, बढ़ा हुआ [√बृह वृद्धौ (१.४८८)+असुन् > बर्हस्]।

१२६. युद्धकाल में शत्रुओं के द्वारा दुर्ग पर आक्रमण किया जाता है, इसलिए दुर्ग का नाम **'अक्र'** है [आङ्+√क्रमु पादविक्षेपे (१.३१९)+ड[1] > अ+क्र्+अ > अक्र]। अथवा, शत्रुओं के द्वारा जिस पर कभी भी आक्रमण नहीं किया जा सकता है, ऐसे अभेद्य दुर्ग का नाम **'अक्र'** है [नञ्+ √क्रम्+ ड > अ+क्र्+अ > अक्र]।[2]

१२७. 'उराणः' का अर्थ है– 'उरु कुर्वाणः' अर्थात् छोटे को बड़ा अथवा अल्प को अधिक करता हुआ या अधिक कर्मों को करने वाला, अधिक क्रियाशील [उरु+ √डुकृञ् करणे (८.१०)+शानच् (लट्) > उर+कृ+आन > उर+आन > उराण]।[3]

१२८. जल का नाम 'स्तिया' है, क्योंकि यह 'स्त्यै'(जुड़ना या जोड़ना) धातु से निष्पन्न है। हिम के रुप में घनीभूत जल का नाम **'स्तिया'** है अथवा जल में अन्य पदार्थों को संयुक्त करने का गुण रहता है, इसलिए भी जल का नाम **'स्तिया'** है। वृष्टि के द्वारा जल अन्न एवं नदी, समुद्रादि जलाशयों को बढ़ाने वाला होता है, इसलिए भी

---

१. अन्योभ्योऽपि दृश्यते (अष्टा॰३.२.१०१)।
२. अक्रः=केनापि प्रकारेण क्रमितुमयोग्यः (दया॰, ऋ॰३.१.१२)। अन्यैरक्रान्तः [विद्वज्जनः]। अत्र पृषोदरादिनेष्टसिद्धिः (दया॰, ऋ॰१.१४३.७)।
३. उराणः=अल्पमपि हविः उरु बहु कुर्वाणः [अग्निः] (सायणः, ऋ॰४.७.८)। य उरु बहु अनिति स उराणः, अत्र वर्णव्यत्ययेनोकारस्य स्थानेऽकारः (दया॰, ऋ॰३.१९.२)। य उरून् बहून् अनिति प्राणयति सः [सूर्यः] (दया॰, ऋ॰४.६.३) [उरु+√ अन प्राणने (२.६३)+अच् > उर+अन्+अ > उराण]। उराणाः=उरु स्तोत्रं कुर्वाणाः स्तोतारो वयम् (सायणः, ऋ॰७.७३.३)।

१२९. स्तिपाः* स्तिपा स्तियापालनः, उपस्थितान् पालयतीति वा।(६.१७)

१३०. जवारु* जवारु जवमानरोहि, जरमाणरोहि, गरमाणरोहीति वा। (६.१७)

जल का नाम **'स्तिया'** है [√स्त्यै शब्दसंघातयोः (१.६५०) + विच्[1] > स्त्या[2] > स्तिया]।[3]

१२९. 'स्तिपा' का अर्थ 'स्तिया (जल) का रक्षक' नदी, तालाब, कूप आदि। जो जल की आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर लोगों की रक्षा करते हैं, उनका नाम **'स्तिपा'** है [स्तिया + √पा रक्षणे (२.४९) > विच्[1] > स्तिया + पा > स्ति + पा > स्तिपा]। प्यास आदि से उपस्थित लोगों की रक्षा करने के कारण कूपादि का नाम **'स्तिपा'** है [स्थित + √पा + विच्[2] > स्थि + पा > स्ति + पा > स्तिपा]।[4]

१३०. **'जवारु'** का अर्थ है 'जवमानरोहि' अर्थात् शीघ्रता से आकाश की ओर आरोहण करने वाला सूर्य [जवमान + आङ् + √रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च (१.५९८) + डु > जव (आदेशः) + आ + र् + उ > जवारु]। दूसरा अर्थ है – 'जरमाणरोहि' अर्थात् रात या अन्धकार को जीर्ण करता हुआ उदीयमान सूर्य [जरमाण + आ + √रुह् + डु > जव + आ + र् + उ > जवारु]। तीसरा अर्थ है – 'गरमाणरोहि' अर्थात् रसादियों को निगलता हुआ आकाश के मध्य में पहुंचने वाला सूर्य [गरमाण + आ + √रुह् + डु > जव + आरु > जवारु]।

---

१. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अष्टा॰३.२.७५)।
२. आदेच उपदेशेऽशिति (अष्टा॰६.१.४५) इत्यात्वम्। ततो धातोर्मध्य इत्वागमः पृषोदरादित्वात् (अष्टा॰६.३.१०९)।
३. स्तियानाम् = स्त्यै शब्दसंहननयोरित्यस्य स्तिय आदेशो भवति। स्त्यानानाम्। आपो हि मलं घ्नन्ति, स्वयं च करकादिभावेन संहन्यन्ते (स्कन्दः, ऋ॰६.४४.२१)। संहतानां स्थावर-जङ्गमानां प्राण्यप्राणिनाम् (दया॰, तत्रैव)।
४. स्तिपा = स्त्यायन्त इति स्तयो गृहाः, तान् पात इति स्तिपौ (सायणः, ऋ॰७.६६.३) [√ ष्टै वेष्टने (१.६५६) + कि > स्ता + इ > स्त् + इ > स्ति; स्वाश्रितान् जनान् स्तायति वेष्टते परितो रक्षतीति स्तिर्गृहम्। स्ति + √ पा रक्षणे (२.४९) + विच् > स्तिपा]। स्तिपाः = पृषोदरादिः। पस्त्यं गृहम्। तस्य रक्षकः। यद्वा, उपस्थितान् ज्योतिष्टोमादीन् यागान् पालयतीति स्तिपाः। अस्मदीयानां यज्ञानां पालयिता (सायणः, ऋ॰१०.६९.४)। स्तिपाः = स्तियाः पातीति विच्। स्तियापाः सन् स्तिपाः। यद्वा, उपस्थितपाः सन् अनेकवर्ण-लोपादिना स्तिपाः। अग्निरुच्यते। स ह्याहुतिद्वारेण पालयिता, अङ्गभावौपगमनेन चोपस्थितानां कर्तव्यतया ज्योतिष्टोमादीनाम् (देव॰, नि॰नि॰४.३.७८)।

१३१, १३२. जरूथम्*, गरूथम् जरूथं गरूथम् – गृणातेः। (६.१७)

१३३. कुलिशः* कुलिश इति वज्रनाम (निघं॰ २.२०.१२) – कूलशातनो भवति। (६.१७)

१३४. स्कन्धः स्कन्धो वृक्षस्य – समास्कन्नो भवति, अयमपीतरः स्कन्ध एतस्मादेव – आस्कन्नं काये। (६.१७)

१३१, १३२. **'जरूथम्'** शब्द **'गरूथम्'** (स्तुति, स्तोत्र, सूक्त) का वाचक है, क्योंकि यह ''गृणाति अर्चतिकर्मा'' (निघं॰ ३.१४.६) धातु से निष्पन्न है [√गृ + ऊथन्[1] > गर् + ऊथ > जरूथ]।[2]

१३३. **'कुलिश'** यह वज्र (कुल्हाडी, तलवार[3], बसूला आदि) का नाम (वाचक) है, क्योंकि यह कूलों (मेघ और पर्वतों) को नदी के किनारों के समान काट देता है [√कूल आवरणे (१.३५२) + अच् > कूल। कूलानां मेघपर्वतानामुन्नतभागानां शातनो ध्वंसयितेति कुलिशः। कूल + (अन्तर्भावितण्यर्थे) √शद्लृ शातने (१.५९४) + ड[4] > कुलि[5] + श् + अ > कुलिश / कूल + √शो तनूकरणे (४.३६) + क[6] > कुलि + श् + अ > कुलिश]।

१३४. **'स्कन्ध'** शब्द वृक्ष की शाखा का नाम है, क्योंकि शाखा वृक्ष से दृढतया सम्पृक्त (संयुक्त) रहती है [√स्कन्दिर् गतिशोषणयोः (१.७०६) + असुन्[7] > स्कन्द् + अस् > स्कन्ध् + अस् > स्कन्धस्] यह जो दूसरा लोक में प्रसिद्ध शरीरावयव कन्धे का वाचक **'स्कन्ध'** शब्द है, वह भी इसी आस्कन्नता अर्थात् शरीर में दृढतया संयुक्त होने से ही **'स्कन्ध'** कहलाता है (पूर्ववत्)।

---

१. जॄवृञ्भ्यामूथन् (उणा॰२.६) इति बाहुलकाद् गृणातेरपि ऊथन् प्रत्ययः। जीर्यति वयोहीनो भवति स जरूथः, मांसं वा (दया॰, तत्रैव) [जॄ वयोहानौ (१०.२३८) + ऊथन् > जरूथ]। जॄधातुः स्तुत्यर्थकोऽपि विद्यते – जरते अर्चतिकर्मा (निघं॰३.१४.७)। अतो जॄधतोरूथन्यपि नार्थभेदः।
२. जरूथम् = जरावस्थां प्राप्तं जीर्णं काष्ठम्; जरावस्थया युक्तम् [जीर्णं मेघम्] (दया॰, ऋ॰ ७.१.७; ७.९.६)।
३. कुलिशेन = ॰इह तु आयुधसामान्याद्वा कुठारे प्रयुक्तः, कुठारेण (स्कन्दः, ऋ॰१.३२.५)। अतिशितधारेण खड्गेन (दया॰, तत्रैव)।
४. अन्येष्वपि दृश्यते (अष्टा॰३.२.१०१) इत्यपिनान्येभ्योऽपि धातुभ्यो डः।
५. पृषोदरादित्वात् (अष्टा॰ ६.३.१०९) इत्वह्रस्वौ भवतः ।
६. आतोऽनुपसर्गे कः (अष्टा॰३.२.३) ।
७. स्कन्देश्च स्वाङ्गे (उणा॰४.२०७) इत्यनेनासुन्प्रत्ययो धश्चागमः । अकारान्ते तु घञ् – अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (अष्टा॰३.३.१९)।

१३५. तुञ्जः* तुञ्जस्तुञ्जतेर्दानकर्मणः। (६.१७)

[**खण्डम् — ३**]

१३६. बर्हणा* बर्हणा परिबर्हणा। (६.१८)

[**खण्डम् — ४**]

१३७. घ्रंसः* घ्रंस इत्यहर्नाम (निघं०१.९.६)— ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः। (६.१९)

---

१३५. **'तुञ्ज'** (= दान, भेंट) शब्द "तञ्जति दानकर्मा"[1] (निघं० ३.२०.९) धातु से व्युत्पन्न होता है [√तुञ्ज + घञ्[2] > तुञ्ज्]।[3]

१३६. **'बर्हणा'** का अर्थ है 'परिबर्हणा' अर्थात् सभी ओर से वृद्धि को प्राप्त होना या हिंसित होना (वृद्धि या हिंसा, ब्रह्म या संहारक) [√बृह वृद्धौ (१.४८८) / √बर्ह हिंसायाम् (१०. १३२) + ल्युट् / युच्[4] > बर्ह् + अन > बर्हण + सु / टा > बर्हण + आ[5] > बर्हणा]।[6]

१३७. **'घ्रंसः'** यह शब्द दिन का वाचक है, क्योंकि दिन में सूर्य की उष्णता के कारण रस ग्रसे (सूख) जाते हैं, सूर्य के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं अथवा दिन में प्रायः सभी प्राणियों के द्वारा रसों का भक्षण (ग्रहण) किया जाता है, इसलिए दिन का नाम **'घ्रंस'** है [√ग्रसु अदने (१.४२०)/ √ग्रस ग्रहणे (१०.२२०)+घञ् > ग्रस्+अ > घ्रंस्[7]+अ > घ्रंस]।[8]

---

१. √तुजि पालने हिंसायाम् (१.१५१), √तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु (१०.३५) इति पाणिनिः।
२. भावे (अष्टा० ३.३.१८)।
३. तुञ्जः वज्रनाम (निघं०२.२०.१३)।
४. बहुलमन्यत्रापि (उणा० २.७९)।
५. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेया० (अष्टा०७.१.३९)।
६. बर्हणा=सर्वसुखप्रापिकया क्रियया। 'बर्हणा इति पदनामसु पठितम्' (निघं०४.३.८३), अनेन प्राप्त्यर्थो गृह्यते (दया०, ऋ०१.५२.११)। बर्हणाः=युद्धोत्साहेन वर्धमानाः परकीयाः सेनाः (सायणः, ऋ०३.३४.५)।
७. घत्वनुमौ पृषोदरादित्वात् (अष्टा० ६.३.१०९)।
८. घ्रंसम्=अहर्नामेदम्। अहः सामर्थ्याद् ग्रीष्मान्तर्वर्ती, तत् (स्क०म०, निरु० ६.३६)।

१३८. ऊधस्* ऊध उद्धततरं भवति, उपोनद्धमिति वा। स्नेहानुप्रदान-सामान्याद् रात्रिरप्यूध उच्यते (निघं०१.७.२०)। (६.१९)

१३९. ततनुष्टिः* (ततनुष्टिम्) तितनिषुं धर्मसंतानादपेतम्, अलंकरिष्णुम्, अयज्वानम्। (६.१९)

---

१३८. प्रसवकाल में अपेक्षाकृत अधिक उन्नत व विकसित (उभरा हुआ) होने के कारण थन को **'ऊधस्'** कहते हैं [उद् + हत + तर > उद्धततर > ऊधस् (आदेशः)] उदर से आबद्ध (संयुक्त) होने के कारण भी थन का नाम **'ऊधस्'** [उप + उद् + √णह बन्धने (४.५५) + क्त > उपोनद्ध > ऊधस् (आदेशः)]। जिसप्रकार थन दूधरूपी स्निग्ध पदार्थ प्रदान करता है, उसीप्रकार रात ओसरूपी (शीतरूपी) स्निग्ध प्रदान करती है, इसी सामान्यतावश रात का भी नाम **'ऊधस्'** है [ऊधस् > ऊधस्]।[1]

१३९. 'ततनुष्टि' का अर्थ है — 'तितनिषुः' अर्थात् धर्मपालन की परम्परा (नैरन्तर्य) से हटकर भोग व भोग के साधन (धनादि) का विस्तार करने के इच्छुक व्यक्ति। जो कि यज्ञादि पवित्रकर्मों को छोड़कर अपने व गृहादि वस्तुओं के अलंकरण में अर्थात् धनादि के अपव्यय में लीन कामुक व्यक्ति **'ततनुष्टि'** कहलाता है [√तनु विस्तारे (८.१) / √तनु श्रद्धोपकरणयोः [हनन इत्येके] (१०.२६६) + सन् + क्तिच् (कर्तरि) > तितनिष् + ति > तितनिष्टि > ततनुष्टि[2] / ततात् पूर्वैश्च पूर्वतनैश्चानुष्ठिताद् धर्मसन्तानादग्निहोत्रादेर्नुन्नोऽपेतः, अयजनशील आत्ममण्डनपरः। तन् + क्त > ततम्; √नुद प्रेरणे (६.२) + क्त > नुन्नम्; √वश कान्तौ (२.७२) + क्तिच् > उश् + ति > उष्टि; तत + नुन्न + उष्टि > तत + न् + उष्टि > ततनुष्टि]।[3]

---

१. ऊधः रात्रिनाम (निघं०१.७.२०)। ऊधनि=सोमलक्षणरसानुप्रदानसामान्याद् यज्ञोऽत्र ऊध उच्यते, तत्र (स्कन्दः, ऋ०१.५२.३)। ऊधः=ऊधः स्थानीयमन्तरिक्षम्। यद्वा... ऊधः स्थानीयं यज्ञम् (सायणः, ऋ०१.१४६.२)। उद्धतं मेघम्... ऊध इव पयस आश्रयभूतं मेघम् (सायणः, ऋ०७.१०१.१) उषसम्, ऊधरित्युषर्नामसु पठितम् (निघं०१.८) (दया०, ऋ०१.६४.५)। बाहुलकाद् वहति यत् इति ऊधः, गवादेर्दुग्धस्थानं वा। [वह प्रापणे (१.७३०)] धातोः [असुन् - प्रत्यये] सम्प्रसारणे कृते दीर्घत्वं धकारश्चान्तादेशः (दया०, उणा०४.१९४)।
२. पृषोदरादित्वाद् अभ्यासस्य अत्वम् इत्वाभावो वा, इटश्च स्थाने उट्त्वम्।
३. ततनुष्टिम्='तनिमृङ्भ्यां किच्च' (उणा० ३.८८) इति तनोतेः तन्प्रत्ययः, नुदेर्निष्ठायां नुन्नं नुष्टिभावः। यद्वा ततशब्दस्य ततन्भावः, वशेर्बाहुलकात् कर्तरि क्तिचि सम्प्रसारण उष्टिः। तद्धर्मसन्तानादग्निहोत्रादेः कर्मणो नुन्नः प्रेरितः, ततनं भोगसन्तानं वष्टि ततनुष्टिः, नलोपाभावः (देव०, नि०नि० ४.३.८४)।

१४०. तनूशुभ्रम् तनूशुभ्रं तनूशोभयितारम्। (६.१९)

१४१. कवासखः (कवासखः) यस्य कपूयाः सखायः। (६.१९)

१४२. इलीबिशः* (इलीबिशस्य) इलाबिलशयस्य। (६.१९)

[खण्डम् — ५]

१४३. कियेधाः* कियेधाः कियद्धा इति वा, क्रममाणधा इति वा। (६.२०)

---

१४०. **'तनूशुभ्रम्'** का अर्थ है — अपने शरीर को आभूषणादियों से अलंकृत करने वाला, विविध भागों से संयुक्त करने वाला अधार्मिक (भौतिकवादी, भोगविलासी) [तनू + √शुभ दीप्तौ (१.५०१) / √शुभ शोभार्थे (६.३३) + णिच् + रक्[1] > तनू + शुभ्र > तनूशुभ्र]।[2]

१४१. जिसके कुत्सित व असाधु पुरुष मित्र हैं, वह **'कवासखः'** कहलाता है [कवाः कपूयाः (कुत्सिताः, असाधवः) सखायो यस्य सः। कु + सखि > कव[3] + सखि > कवासख]।[4]

१४२. [इला पृथिवीनाम (निघं०१.१.१५), वाङ्नाम (निघं०१.११.३), अन्ननाम (निघं०२.७.१३), गोनाम (निघं०२.११.७)]। इलायाः पृथिव्या बिले गर्भे शयो वासः स्थितिर्विद्यते यस्य, तज्जलम् 'इलाबिलशयम् — **इलीबिशम्**' अन्नहेतुभूतमुदकम्, तस्य [इला + बिल + शय > इली + बि + श > इलीबिश]। इला उदकं यस्य बिले गर्भे शयः स्थितिर्वर्तते, स मेघः 'इलाबिलशयः — **इलीबिशः**', तस्य [पूर्ववत्]। इला वाक् ज्ञानम् उच्चारणशक्तिर्वा यस्य बिले अन्तः शयो विद्यते, स मनुष्यः इलाबिलशयः — **'इलीबिशः'** [पूर्ववत्]। इला अन्नं जलं वा यस्याः बिले गर्भे शयः स्थितिर्वर्तते, सा पृथिवी इलाबिलशया **इलीबिशा** [पूर्ववत्]। इला अन्नं यस्य बिले गर्भे (कारणरूपेण) शयः तदुदकमपि इला- बिलशयम् — **इलीबिशम्** [पूर्ववत्]।

१४३. कियद् अर्थात् (शत्रुओं के लिए) अविज्ञायमान अपरिमित, अनूह्य बल, गुण आदि को धारण करने वाला वीरपुरुष कियद्धा कहलाता हुआ '**कियेधा**' कहलाता

---

१. स्फायितञ्चिवञ्चि..... शुभिभ्यो रक् (उणा० २.१३)
२. तनुशुभ्रम् = शुभ्रा शुद्धा तनुर्यस्य, तम् [विद्वज्जनम्] (दया०, ऋ०५.३४.३)।
३. कवं चोष्णे (अष्टा० ६.३.१०६) इति कवादेशः सखिशब्दे परतश्छान्दसत्वाद् बोध्यम्।
४. कवासखः = कविः सखा यस्य [मघवा = धनवान् मनुष्यः] (दया०, ऋ०५.३४.३)।

१४४. भूमिः* भूमिर्भ्राम्यतेः। (६.२०)

१४५. विष्पितः* विष्पितो विप्राप्तः। (६.२०)

[खण्डम् — ६]

१४६. तुरीपम्* (तुरीपम्) तूर्णापि। (६.२१)

है [कियत् + √डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०) + विच्[1] > किय इ[2] + धा > कियेधा]। सामने से आक्रमण करता हुआ शत्रुओं के बल का धारण (निवारण) करने वाला पराक्रमी पुरुष क्रममाणधा होता हुआ '**कियेधा**' कहलाता है [क्रममाण + √धा + विच् > किये (आदेशः) + धा > कियेधा]।[3]

१४४. भूमिशब्द ''भ्रमु चलने'' (१.५८९) / ''भ्रमु अनवस्थाने'' (४.९५) धातु से निष्पन्न होता है। जो सर्वत्र सदा निरन्तर भ्रमण करता है, गतिशील होता है या भ्रमण (गति) कराता है, वे अग्नि, वायु, चक्रवात, चञ्चल, दरिद्र आदि **'भूमि'** कहलाते हैं [√भ्रम् + इन् (कित्)[4] > भूम् + इ > भूमि]।[5]

१४५. **'विष्पितः'** का अर्थ है — 'विप्राप्त' अर्थात् विशेषरूप से प्राप्त, विस्तृत (व्यापक) होने से सर्वत्र अनायास प्राप्त अथवा विपरीततया अर्थात् प्रतिकूलतया या विविधरूप से प्राप्त दुःखादि का भी नाम **'विष्पितः'** है [वि + प्र + √आप्लृ व्याप्तौ (५.१५) + क्त > वि + प्राप् + त > वि + ष्पि + त > विष्पित]।

१४६. **'तुरीपम्'** का अर्थ है — 'तूर्णापि' अर्थात् शीघ्र प्राप्त होने योग्य या शीघ्र व्याप्त होने का स्वभाव वाला जल [तूर्ण + √आप् + कन् (तच्छीलार्थे) > तूर्ण + आप् + अ > तुर् + ईप् + अ > तुरीप]।[6]

---

१. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अष्टा०३.२.७५)।
२. 'पृषोदरादीनि०' इति तस्यस्थान इकारः (दया०, ऋ०१.६१.६)।
३. कियेधाः = य कियतो धरति सः [सूर्यः]। अत्र पृषोदरा० (अष्टा०६.३.१०८) इति तस्थाने इकारः (दया०, ऋ०१.६१.६)।
४. भ्रमेः सम्प्रसारणञ्च (उणा०४.१२२)।
५. भृमिम् = भ्राम्यन्तं मेघम्। यद्वा भृम्याख्यो वीणाविशेषः, तम् (सायणः, ऋ०२.३४.१)।
६. तुरीपम् = तारकं शीघ्रकारी। अत्र तुरधातोः [√तुर त्वरणे — ३.१९] बाहुलकादौणादिक ईपप्रत्ययः (दया०, ऋ०३.४.९)। तुरीपम् = यस्तुरः सद्यः आप्नोति तम् [रायस्पोषं = धनस्य पुष्टिम्] (दया०, यजु०२७.२०) [तुर + √आप्लृ + कन् > तुरीप]। तीर्णं रक्षकम् [धनम्] (दया०, ऋ० १.१४२.१०)। तुरीपाय = नौकानां पालकाय (दया०, यजु०२२.२०) [तूर्ण + √पा रक्षणे (२.४९) + क > तुरी + प् + अ > तुरीप]।

१४७. रास्पिनः* रास्पिनो रास्पी – रपतेर्वा रसतेर्वा। (६.२१)
१४८. ऋञ्जतिः ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा। (६.२१)
१४९. ऋजुः ऋजुरित्यप्यस्य (ऋञ्जतेः एव) भवति। (६.२१)
१५०. प्रतद्वसू* प्रतद्वसू प्राप्तवसू। (६.२१)

---

१४७. **'रास्पिनः'** का अर्थ 'रास्पी' अर्थात् बहुत शब्द करने वाला जल, वक्ता, उपदेशक, स्तोता, बालक आदि हैं। यह शब्द ''रप व्यक्तायां वाचि'' (१.२८५) धातु से निष्पन्न होता है [√रप् + घञ् > राप् + अ > रास् + अ > रास्प + इन् (मत्वर्थे) > रास्पिन्]। ''रस शब्दे'' (१.४७२) धातु से भी **'रास्पिन्'** शब्द व्युत्पन्न होता है [√रस् + घञ् > रास् + पुट् + अ > रास् + प् + अ > रास्प + इन् > रास्पिन्]।[1]

१४८. **'ऋञ्जतिः'** (ऋजिधातु) प्रसाधन (अलंकार करना, सजाना, आत्मसात् करना, सिद्ध करना) अर्थ में प्रयुक्त होता है। ''ऋजि भर्जने'' (१.१०८) यह भर्जनार्थक धातु वेद में प्रसाधनार्थक है।[2]

१४९. 'ऋजु' यह शब्द भी इसी प्रसाधनार्थक ''ऋञ्ज्'' धातु से ही व्युत्पन्न होता है। सत्य सदा सुसज्जित, व्यवस्थित होता है, इसलिए सत्य का नाम **'ऋजु'** है [√ऋञ्ज् + कु[3] > ऋज् + उ > ऋजु]।[4]

१५०. 'प्रतद्वसू' का अर्थ है 'प्राप्तवसू'। जिन दो अश्वों ने यागादियों में सोम के ऋजीष और धाना रूपी धन को प्राप्त कर लिया है, उन दो अश्वों को **'प्रतद्वसु'** कहते हैं [प्राप्त + वसु > प्रत + दुक् + वसु > प्रतद् + वसु > प्रतद्वसु + औ > प्रतद्वसू]।[5]

---

१. रास्पिनस्य = आदातुमर्हस्य [आयोः = जीवनस्य] (दया०, ऋ०१.१२२.४)।
२. ऋञ्जन्ति = मध्येन गच्छन्तः प्रकाशनेनालङ्कुर्वन्तीत्यर्थः (वेंकटः, ऋ०३.४३.६)। ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्माऽन्यत्र, इह तु सामर्थ्यात् गत्यर्थोऽन्तर्णीतण्यर्थश्च। निगमयन्ति नियतेन मार्गेण गमयन्ति। यदाश्वैः रथेन वा गच्छन्तीत्यर्थः (स्कन्दः, ऋ०१.३७.३)। ऋञ्जती = प्रसाधयन्ती स्वतेजसा स्वात्मानमलंकुर्वती प्रसिद्धिं प्राप्नुवाना वा (सायणः, ऋ०१.१७२.२)।
३. अर्जिदृशिकम्यमिपंसिबाधाम् ऋजिपशितुक्दीर्घहकारश्च (उणा०१.२७)। उणादौ तु 'अर्ज प्रतियत्ने' (१०.१९४) धातोः कुप्रत्यये ऋजादेशेन सिद्धः। अर्जयति सञ्चिनोति गुणानिति 'ऋजुः' कोमलो वा (दया०, तत्रैव)।
४. ऋञ्जन् = प्रार्जयति (निरु० ३.५)
५. प्रतद्वसू = विस्तीर्णधनौ (सायणः, ऋ०८.१३.२७)

[खण्डम् – ७]

१५१. शकटम् शकटं शकृदितं भवति, शनकैस्तकतीति वा, शब्देन तकतीति वा। (६.२२)
१५२. चोष्कूयमाणः (चोष्कूयमाणः) ददद्। चोष्कूयमाण इति चोष्कूयतेश्चर्करीतवृत्तम्। (६.२२)
१५३. वामम्* (वामम्) वननीयम्। (६.२२,३१; ४.२६; ११.४६)
१५४. सुमत्* सुमत् स्वयम् इत्यर्थः। (६.२२)

---

१५१. रथ या बैलगाड़ी अश्व या बैल के मल (गोबर) से लिप्त होते हैं, अतः उनका नाम 'शकट' है [शकृत् + √इण् गतौ (२.३८) + क्त > शक् + इ + त > शक् + अ + ट > शकट]। (शनकैः = शनैः) भारादि के कारण बैलगाड़ी धीरे–धीरे चलती है, इसलिए उसका नाम **'शकट'** है [शनकैः + √तक गतिकर्मा[1] (निघं०२.१४.६८) + ड > शक + त् + अ > शकट]। शब्द करता हुआ चलने के कारण रथ या गाड़ी का नाम **'शकट'** है [शब्द + √तक् + अच् > श + कत् + अ > शकत > शकट]।

१५२. **'चोष्कूयमाण'** का अर्थ है 'ददद्' अर्थात् पुनः पुनः या अधिक देता हुआ[2]। यडन्त ''स्कुञ्'' (आप्रवणे- ९.६) धातु से यह शब्द सिद्ध होता है।[3] [√स्कुञ् + यङ् > चोष्कूय + शानच् (लट्) > चोष्कूय + मुक् + आन > चोष्कूयमान]।[4]

१५३. **'वामम्'** की व्याख्या पहले ४.२६ पर की गयी है।

१५४. **'सुमत्'** का अर्थ है – 'स्वयम्' [यह निपात है]।[5]

---

१. तक हसने (१.८२) इति हसनार्थो धातुरिह गत्यर्थोऽनेकार्थत्वाद् धातूनाम्।
२. स्कुञ् आप्रवणे (९.६) इति धातुरिह दानार्थकोऽनेकार्थत्वाद् धातूनाम्।
३. चर्करीतसंज्ञा यङ्लुगन्त की है। पर यहाँ यास्काचार्य ने यङन्त के लिये भी उसी संज्ञा का प्रयोग किया है।
४. चोष्कूयते = व्युदस्यति निराकरोति (स्कन्दः, ऋ०६.४७.१६)। रक्षणार्थं पुनः पुनराह्वयति (सायणः, तत्रैव)। भृशमाह्वयति (दया०, तत्रैव)।
५. सुमत् = शोभनम् (सायणः, ऋ० ८.८७.४)। सुष्ठु माद्यन्ति हृष्यन्ति यस्मिन्, तत् [बहिः = गृहम्] (दया०, ऋ०१.१४२.७) [सु + √मद् > सुमद्]। यः सुष्ठु मन्यते जानाति (दया०, ऋ०१.१६२.७)।

१५५. दिविष्टिषु* दिविष्टिषु दिव एषणेषु। (६.२२)

[खण्डम् – ८]

१५६. स्थूरः स्थूरः समाश्रितमात्रो महान् भवति। (६.२२)

१५७. अणुः अणुरनु स्थवीयांसम्, उपसर्गो लुप्तनामकरणः, यथा – सम्प्रति। (६.२२)

---

१५५. जिन यज्ञ, स्तुति आदि क्रियाओं से द्युलोक (स्वर्लोक) की इच्छा वा प्राप्ति होती है, उन्हें **'दिविष्टि'** कहते हैं [दिव् + √इषु इच्छायाम् (६.६१) /√ इष गतौ (४.१९) + क्तिन् (करणे) > दिव् + इष्टि > दिविष्टि]।[1]

१५६. **'स्थूरः'** का अर्थ महान् [बड़ा, मोटा, अवयवी (पूर्ण), बहुत] होता है, क्योंकि इसमें सभी मात्राएँ (अवयव, अंश) होते हैं [समाः सर्वा मात्रा आश्रिताः स्थिता यस्मिन् स 'स्थूरः' (स्थूलः)। √ष्ठा गतिनिवृत्तौ (१.६६२) + ऊरन्[2] > स्थ् + ऊरन् > स्थूर]।

१५७. स्थवीयांसम् = बड़े व स्थूल के पश्चात् व अधीन होने के कारण 'अनु' को ही **'अणु'** (सूक्ष्म, छोटा, पतला, अवयव) कहते हैं। अनु उपसर्ग से विहित स्वार्थिक प्रत्यय (नामकरण)[3] का लोप करने (एवं णत्व करने) से अणु शब्द सिद्ध होता है।[4] जैसे सम् एवं प्रति दोनों उपसर्गों (सम्प्रति) से स्वार्थिक अण्[5] प्रत्यय होकर 'साम्प्रतम्' सिद्ध होता है। पर उसी तद्धितान्त (प्रत्ययान्त) के अर्थ में 'सम्प्रति' शब्द (लुप्तनामकरण) भी प्रयुक्त होता है।

---

१. दिविष्टयः = दिवमिच्छन्त्यः प्रजा ऋत्विजोऽपि (सायणः, ऋ० ७.७४.१)। दिविष्टिषु = यजनीयदिवसेषु (सायणः, ऋ० १.८६.४)। दिवो गमनेषु निरालम्बगमनेषु (सायणः, ऋ० १.१३९.४; द्र० दया० अपि)। दिवो दिव्या इष्टयो येषु पठनपाठनाख्येषु यज्ञेषु, तेषु (दया०, ऋ० १.४५.७)। दिव्या इष्टयः सङ्गतानि कर्माणि सुखानि वा येषु व्यवहारेषु, तेषु (दया०, ऋ० १.८६.४)। दिविष्टिषु = दिव्यासु दृष्टिषु (दया०, ऋ० १.१४१.६)। प्रकाशे स्थितासु क्रियासु (दया०, ऋ० ४.४७.१)। आकाशमार्गेषु (दया०, ऋ० १.१३९.४)।
२. स्थः किच्च (उणा० ५.४)।
३. न्याय्यमेतत् नाम स्यात् येन करणेन स नामकरणः प्रत्ययः। स लुप्तो यस्य स लुप्तनामकरणः (लुप्तप्रत्ययः)। जो उपसर्ग होता हुआ भी नाम (संज्ञा) के रूप में प्रयुक्त होता है, क्योंकि उसमें नाम को सम्पन्न करने वाला प्रत्यय लुप्त रहता है, इसलिए वह प्रत्यय नामकरण कहलाता है।
४. अब यह 'अणु' शब्द उपसर्ग नहीं है, अपितु नाम (संज्ञा) है।
५. प्रज्ञादिभ्यश्च (अष्टा० ५.४.३८)।

१५८. कुरुङ्गः कुरुङ्गो राजा बभूव – कुरुगमनाद्वा, कुलगमनाद्वा। (६.२२)

१५९. कुरुः* कुरुः कृन्ततेः। (६.२२)

१६०. क्रूरम् क्रूरमित्यप्यस्य (=कृन्ततेः) भवति। (६.२२)

१६१. कुलम् कुलं कुष्णातेः – विकुषितं भवति। (६.२२)

---

१५८. 'कुरुङ्ग' का अर्थ 'राजा' होता है। क्योंकि वह कुरुओं (क्रूर शत्रुओं), के प्रति जाता है (चढ़ाई करता है), इसलिए राजा का नाम **'कुरुङ्ग'** होता है [कुरु + √गम्लृ गतौ (१.७०९) + खच् (डित्) > कुरु + मुम् + ग् + अ > कुरुङ्ग]। शत्रुओं के कुलों (घर, राज्य व समुदायों) पर आक्रमण करने के कारण भी राजा का नाम **'कुरुङ्ग'** है [कुल + √गम् + खच् (डित्) > कुर + मुम् + ग् + अ > कुरुङ्ग]।[1]

१५९. 'कुरु' शब्द "कृती छेदने" (६.१४४) धातु से व्युत्पन्न है। जो शत्रुओं को काटता है, मार डालता है, वह **'कुरु'** कहलाता है [√कृत् + कु[2] > कृ + उ > कुर् + उ > कुरु]।[3]

१६०. **'क्रूरम्'** शब्द भी इसी "कृती छेदने" (६.१४४) धातु से ही सिद्ध होता है [√कृत् + रक्[4] > क्रू + र > क्रूर]।[5]

१६१. **'कुलम्'** शब्द "कुष निष्कर्षे" (९.५०) धातु से उपपन्न होता है, क्योंकि सजातीय समूह विस्तीर्ण होता है [√कुष् + डुलच् > क् + उल > कुल / √कुष् + क > कुल् + अ > कुल]।

---

१. कुरून् जेतुं गच्छति, कुलं गच्छतीति वा कुरुङ्गः। 'डोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति गमेर्डः। पृषोदरादिः (सायणः, ऋ० ८.४.१९)
२. कृग्रोरुच्च (उणा० १.२४)।
३. कुरवः ऋत्विङ्नाम (निघं० ३.१८.२)। कृ विक्षेपे (६.११८)। कृग्रोरुच्च (उणा० १.२४) इति कुप्रत्ययः। विक्षिपन्त्यहानि कर्माणि। यद्वा करोतेर्बाहुलकादुत्वम्, कुर्वन्ति कर्माणि (देव०, तत्रैव)।
४. कृतेश्छः क्रू च (उणा० २.२१)।
५. संग्रामो वै क्रूरम् (शत० १.२.५.१९)।

पञ्चमः पादः [खण्डम् – १]

१६२. अमत्रः* अमत्रोऽमात्रो महान् भवति, अभ्यमितो वा। (६.२३; ५.१)

१६३. ऋचीषमः* (ऋचीषमः) ऋचा समः। (६.२३)

---

१६२. अमत्रशब्द का अर्थ है – अमात्र अर्थात् जिसकी कोई मात्रा (अल्पत्व) नहीं है, वह महान् या बड़ा **'अमत्र'** कहलाता है [नञ् + मात्रा > अ + मत्र > अमत्र]। अथवा अभिमुख (प्रत्यक्ष या ज्ञात) होने पर भी महान् (बड़ा) होने से जिसे माप नहीं सकते, वह अभ्यमित भी **'अमत्र'** कहलाता है [नञ् + √माङ् माने (४.३३) + क्त > अ + मित > अ + मत्र (आदेशः) > अमत्र]। या अभ्यमित अर्थात् संमुख होने पर भी किसी भी शत्रु से हिंसित (पराजित) न होने वाला अनभिहिंसित वीरपुरुष **'अमत्र'** कहलाता है [नञ् + √मीङ् हिंसायाम् (४.२७) / √मीञ् हिंसायाम् (९.४) + अत्रन्[1] > अ + म् + अत्र > अमत्र]।[2]

१६३. **'ऋचीषमः'** का अर्थ है – ऋचा के अनुरूप स्तुति या ऋचा के समान अर्थ का प्रकाशक [√ऋच स्तुतौ (६.१९) + इन् (कित्)[3] > ऋचि + ङीष् > ऋची; ऋच्या समः ऋचीषमः। ऋची + सम > ऋचीषम]।[4]

---

१. अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् (उणा० ३.१०५) बाहुलकादिह डित्।

२. अमत्रम् = पात्रम्, अमा अस्मिन्नदन्ति (निरु० ५.१)। अमत्रः = युद्धादिषु गमनकुशलः, मात्रया इयत्तया रहितो वा (सायणः, ऋ० १.६१.९)। ज्ञानवान् ज्ञानहेतुर्वा [इन्द्रः] (दया०, तत्रैव)।

३. इगुपधात् कित् (उणा० ४.१२१)। ततः 'कृदिकारादक्तिनः' (ग० सू० ४.१.४५) इति ङीष्।

४. ऋचीषम = हे स्तुत्या सम! यद्वा, √ईष गतिहिंसादर्शनेषु (१.४०६), अस्माद् अमप्रत्ययः। सर्वैर्गन्तव्य दर्शनीय वा। उक्तगुणोपेत! (सायणः, ऋ० ८.९२.९)। ऋचीषमः = ऋचा दीप्त्या सम इन्द्रः (सायणः, ऋ० ८.३२.२६)। स्तुत्या समः स्तुतिभिरभिमुखीकरणीयः [इन्द्रः] (सायणः, ऋ० ८.९०.१)। ऋचीषमम् = ऋचा स्तुत्या समम्। यद्यप्यरिच्छिन्नस्तथापि स्तुतिर्यावन्मात्रं विषयीकरोति, तत्सम इत्यर्थः (सायणः, ऋ० ८.६८.६)। ऋचीषमाय = ऋच्यन्ते स्तूयन्ते ये त ऋचीषास्तान् अतिमान्यान् करोति, तस्मै [इन्द्राय]। अत्र ऋचधातोर्बाहुलकादौणादिकः कर्मणीषन्प्रत्ययः (दया०, ऋ० १.६१.१) [√ऋच स्तुतौ (६.१९) + ईषन् > ऋचीषाः। ऋचीष + √मा माने (२.५५) + ड > ऋचीष + म् + अ > ऋचीषम]।

१६४. अनर्शरातिम्* अनर्शरातिम् अनश्लीलदानम्। (६.२३)

१६५. अश्लीलम् अश्लीलं पापकम् – अश्रिमद्विषमम्। (६.२३) [क्वचिद्- अश्रीमद्विषमम् इति पाठः]

१६६. अनर्वा* अनर्वाऽप्रत्यृतोऽन्यस्मिन्। (६.२३; ४.२७)

१६७. मन्द्रजिह्वम् मन्द्रजिह्वं मन्दनजिह्वम्, मोदनजिह्वमिति वा। (६.२३)

---

१६४. 'अनर्शराति' का अर्थ है – जो अश्लील (पापयुक्त) दान नहीं करता, प्रत्युत् उत्कृष्ट दान करता है, श्री का हरण न करने वाला दान करता है, ऐसा पुण्यदाता **'अनर्शराति'** कहलाता है [अनर्शा अनश्लीला निष्पापा रातिर्दानं यस्य, स अनर्शरातिः, तम्। न + अर्श + √रा दाने (२.५०) + क्तिन् > अ + अर्श + राति > अनर्शराति]।

१६५. **अश्लीलम्** का अर्थ है – 'पापकम्', क्योंकि वह धर्मादि का आश्रय लिया हुआ नहीं होता है, अश्रि अर्थात् विषम, अधर्मयुक्त, अनाश्रयणीय व अकृत्यकर्म [नञ् + √श्रिञ् सेवायाम् (१.६३८) + क्विप् > अश्रि > अश्री + र(मत्वर्थः) > अश्रीर > अश्लील[1]]। अथवा जो श्री अर्थात् शुभ सम्पदा या गुण आदि को नहीं लाता है, ऐसा पापकर्म **'अश्लील'** कहाता है [न श्रियं लातीति अश्लीलम्। न + श्री + √ला आदाने (२.५१) + क > अ + श्री + ल् + अ > अश्रील > अश्लील]।

१६६. जो अन्यों पर आश्रित नहीं है, अन्यों के पास नहीं जाता है, अपितु स्वतन्त्र (स्वाश्रय) होता है, वह **'अनर्वा'** कहलाता है [नञ् + √ऋ गतिप्रापणयोः (१.६७०) + वनिप्[2] > अ + नुट् + अर् + वन् > अन् + अर्वन् > अनर्वन्]।

१६७. 'मन्दनजिह्व' अर्थात् जिसकी वाणी[3] सन्तुष्ट (प्रसन्न) करने वाली है, ऐसे मधुरभाषी का नाम **'मन्द्रजिह्व'** है [√मदि स्तुतिमोदमद० (१.१२) + रक् > मन्द्रा + जिह्वा > मन्दजिह्व]। 'मोदनजिह्व' अर्थात् जिसकी वाणी हर्षित करने वाली है, उसका नाम **'मन्द्रजिह्व'** है [√मुद हर्षे (१.१५) इत्यस्मिन्नर्थे मदिः, शेषं पूर्ववत्]।[4]

---

१. कपिलकादीनां संज्ञाछन्दसोर्वा रो लमापद्यते (वा० ८.२.१८)

२. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अष्टा० ३.७.७५) इति वनिप्।

३. जिह्वा वाङ्नाम (निघं० १.११.२९)।

४. मन्द्रजिह्वम् = हविषां प्रदानेन देवानां मादयित्री जिह्वा यस्य सः, तम् (सायणः, ऋ० ५.२५.२)।

१६८. असामि* असामि सामि प्रतिषिद्धम्। (असामि) असुसमाप्तम्। (६.२३)

१६९. सामि सामि स्यतेः। (६.२३)

[खण्डम् – २]

१७०. गल्दया* गल्दा धमनयो भवन्ति – गलनम् आसु धीयते। (गल्दया) गालनेन। (आगल्दा) आगलना। (६.२४)

---

१६८. सामि (समाप्ति) का प्रतिषेध (असमाप्ति, अनन्त) ही **'असामि'** कहाता है [असामि = असुसमाप्तम् = कदापि समाप्तिर्न विद्यते यस्य। नञ् + सामि > असामि]। अथवा सामि का अर्थ है — आधा, जो सामि (आधा) नहीं है, पूर्ण है, वह **'असामि'** (सम्पूर्ण) कहाता है [पूर्ववत्]।[1]

१६९. **'सामि'** शब्द ''षो अन्तकर्मणि'' (४.३८) धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ 'समापन' है [√सो + मि[2] > सामि]।[3]

१७०. **'गल्दाः'** का अर्थ है— धमनियाँ (रक्तनाड़ियाँ या ज्ञानतन्तु), क्योंकि इनमें स्रवणशील, अन्नादियों का निचोड़भूत रस (रक्त) धारित होता है, बहता है [√गल स्रवणे (१०.१६८) + क्विप् > गल् + √डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०) + क + टाप् > गल्धा > गल्दा]। 'गल्दया' का अर्थ है 'गालनेन' अर्थात् क्षारणेन, प्रदानेन, पूरणेन, तृप्तेन [√गल् + दन्[4] + टाप् > गल्दा, तया]। आगल्दा = आगलना।

---

१. असामिभिः = क्षयरहिताभिः रीतिभिः। अत्र 'षै क्षये' (१.६५२) इत्यस्माद् बाहुलकाद् औणादिको मिप्रत्ययः (दया०, ऋ०१.३९.९)। असामि = सम्पूर्णम् [सुखम्]। सामीति खण्डवाची, न सामि असामि (दया०, ऋ०१.३९.९)।
२. नियो मिः (उणा०४.४४) इति बाहुलकात् स्यतेरपि मिप्रत्ययः।
३. षै क्षये (१.६५२) इत्यस्माद् बाहुलकाद् औणादिको मिप्रत्ययः (दया०, ऋ०१.३९.९)। जो क्षीण (खण्ड़ित) होता है, वह 'सामि' (आधा टुकड़ा) कहाता है [सै + मि > सामि]।
४. अब्दादयश्च (उणा०४.९९)।

[खण्डम् – ३]

१७१. जल्हवः* (जल्हवः) ज्वलनेन हीनाः। (६.२५)

[खण्डम् – ४]

१७२. बकुरः* बकुरो भास्करः, भयङ्करः, भासमानो द्रवतीति वा। (६.२५); (बकुरेण) ज्योतिषा वोदकेन वा। (६.२६)

१७३. वृकः* वृको लाङ्गलं भवति – विकर्तनात्। (६.२६, द्र० ५.२०,२१)

---

१७१. **'जल्हवः'** का अर्थ है ज्वलन (अग्निकर्म, अग्निहोत्र, यज्ञ आदि) को त्यागने वाले या निस्तेज (मनुष्य) [√ज्वल दीप्तौ (१.५४५) + क्विप् > ज्वल्। ज्वलं जहातीति जल्हु। ज्वल् + √ओहाक् त्यागे (३.८) + कु[1] > ज्वल् + हा + उ > जल् + ह् + उ > जल्हु + जस् > जल्हवः]।

१७२. 'बकुरः' का अर्थ है 'ज्योति (सूर्य) या जल'। सूर्य और जल दोनों ही भास्कर होते हैं, क्योंकि सूर्य प्रकाशकर (प्रकाश का उत्पादक) होता है और जल तेजस्कर (जीवन देने वाला) होता है। भास्कर होने से इन दोनों का नाम **'बकुर'** है [√भासृ दीप्तौ (१.४१५) + क्विप् > भास्; भास् + √डुकृञ् करणे (८.१०) + डुरन् > भ + क् + उर > भकुर > बकुर]। रुद्ररूप की अवस्था में अग्नि और जल दोनों ही भयङ्कर होते हैं, अत एव इनका नाम **'बकुर'** है [भय + √कृ + डुरन् > भ + क् + उर > भकुर > बकुर]। भासित होते हुए गतिशील होने से अग्नि और जल का नाम **'बकुर'** है [भासमान + √द्रु गतौ (१.६७७) + अच् > भ + द् र् उ + अ > ब + द् उ र् + अ > बदुर > बकुर]।

१७३. **वृकः** का अर्थ लाङ्गल (हल) होता है, क्योंकि हल भूमि को उखाड़ता (फाड़ता) है [वि + √कृती छेदने (६.१४४) + ड > वि-कृत् + अ > वृ - कृत् + अ > वृ-क् + अ > वृक्]।

---

१. मृगय्वादयश्च (उणा०१.३७)।

१७४. लाङ्गलम् लाङ्गलं लङ्गतेः, लाङ्गूलवद्वा। (६.२६)

१७५. लाङ्गूलम् लाङ्गूलं लगतेः, लङ्गतेः, लम्बतेर्वा। (६.२६)

१७६. बेकनाटाः* बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति – द्विगुणकारिणो वा, द्विगुणदायिनो वा, द्विगुणं कामयन्त इति वा। (६.२६)

---

१७४. **'लाङ्गलम्'** शब्द "लगि गत्यर्थः" (१.८८) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि हल चलाया जाता है अथवा इससे अन्नादि प्राप्त किये जाते हैं [√लङ्ग् + कल्[1] > लाङ्ग् + अल > लाङ्गल]। लाङ्गूल (पूँछ) के समान अवयव वाला होने से भी हल का नाम **'लाङ्गल'** है [लाङ्गूल > लाङ्गल]।

१७५. **'लाङ्गूल'** शब्द "लगे संगे" (१.५३५) धातु से उपपन्न होता है, क्योंकि पूँछ शरीर के पिछले भाग में लगा हुआ होता है [√लग् + ऊलच्[2] > लाङ्ग् + ऊल > लाङ्गूल]। "लगि गत्यर्थः" (१.८८) धातु से भी **'लाङ्गूल'** शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि पूँछ मक्खी, मच्छर आदि के निवारण के लिए चारों ओर हिलती हुई पीछे-पीछे चलती है [√लङ्ग् + ऊलच् > लाङ्ग् + ऊल > लाङ्गूल]। "लबि अवस्रंसने च" (१.२६३) धातु से भी **'लाङ्गूल'** शब्द व्युत्पन्न होता है, क्योंकि पूँछ लम्बी होती है और पीछे लटकी हुई होती है [√लम्ब् + ऊलच् > लङ्ग् + ऊल > लाङ्ग् + ऊल > लाङ्गूल]।

१७६. **'बेकनाटाः'** का अर्थ 'सूदखोर, ब्याज का व्यापार करने वाले' है, क्योंकि वह 'द्विगुणकारी' अर्थात् अपने धन को दुगना बनाने के लिए यत्न करते रहते हैं [द्विगुण-कारिन् > वि-क > बिक > बेक। नटन्ति नृत्यन्ति आनन्दन्तीति नाटाः। √नट नृतौ (१.२०३) + घञ् (कर्तरि) > नाट। बेकाश्चामी नाटाश्चेति बेकनाटाः। बेक + नाट > बेकनाट / द्वौ स्याताम् एकस्येति, द्वौ एकस्य स्थाने प्राप्येति वा नटन्ति नाटयन्तीति वा बेकनाटाः, द्वि + एक + नट् / √नाट भासार्थः भाषार्थो वा (१०.२२४) + अण् > व् + एक + नाट् + अ > ब्[3] + एक + नाट > बेकनाट]। दुगना करने के लिए ऋण देने वाले अथवा वापस दुगना लेने वाले **'बेकनाटाः'** कहाते हैं [द्विगुणाय ददति, द्विगुणमाददतीति वा। द्विगुणद > विकुनद > बिकनाद > बेक - नाट / द्विगुणाद > बेकनाट]। दुगने की कामना वाले **'बेकनाटाः'** कहाते हैं [द्विगुणं

---

१. लङ्गेर्वृद्धिश्च (उणा॰१.१०८)।
२. खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ (उणा॰४.९१)।
३. हिन्दी में भी द्वि (दो) के स्थान पर 'ब' हो जाता है। जैसे– बत्तीस, बयालीस, बावन आदि।

[खण्डम् – ५]

१७७. अभिधेतन (अभिधेतन) अभिधावत। (६.२७)

१७८. मत्स्याः मत्स्या मधौ उदके स्यन्दन्ते, माद्यन्तेऽन्योऽन्यं भक्षणायेति वा। (६.२७)

१७९. जालम् जालं जलचरं भवति, जले भवं वा, जले शयं वा। (६.२७)

कामयन्तीति। द्विगुण + √कमु कान्तौ (१.३०२) + अण् > द्विगुण-काम > वि-क > वेक > बेक + नाट > बेकनाट]।[1]

१७७. **'अभिधेतन'** का अर्थ 'अभिधावत' है अर्थात् तेजी से दौड़ो या चलो [अभि + √धावु गतिशुद्ध्योः (१.३९७) + त (लोटि मध्यमबहुवचनम्) > अभि + धे + तन[2] > अभिधेतन]।

१७८. मधु अर्थात् उदक (जल)[3] में घूमने, तैरने (जलचर होने) के कारण मछली का नाम **'मत्स्य'** है [मधु + √स्यन्दते गतिकर्मा[4] (निघं॰२.१४.५) + ड > मध् + स्य् + अ > मत्स्य]। बड़ी मच्छली छोटी मछली को खाने के लिए प्रसन्न (उद्यत) रहती हैं, इसलिए मछली नाम **'मत्स्य'** है [√मदी हर्षे (४.९८) + स्य[5] > मत्स्य]।

१७९. जल में विचरण (मछलियों को फसाने) के कारण **'जाल'** नाम है। जल में रहने के कारण और जल में शयन के कारण भी **'जाल'** नाम है [जल + अण् (चरति, भवे शयने वार्थे) > जाल]।

---

१. बेकनाटान् = अनेन कुसीदिनो वृद्धिजीविनो वार्धुषिका उच्यन्ते। कथं तद्व्युत्पत्तिः? वे इत्यपभ्रशो द्विशब्दार्थे। एकं कार्षापणम् ऋणिकाय प्रायच्छन् द्वौ मह्यं दातव्य.... नयेन दर्शयन्ति, ततो द्विशब्देनैकशब्देन च नाटयन्तीति बेकनाटाः। तान् (सायणः, ऋ॰८.६६.१०)।
२. तप्तनप्तनथनाश्च (अष्टा॰ ७.१.४५) इति तस्य तनादेशः। धातोः स्थाने 'धे' इत्यादेशश्छान्दसः।
३. मधु उदकनाम (निघं॰१.१२.११)।
४. स्यन्दू प्रस्रवणे (१.५११) इति पाणिनिः।
५. ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्य॰ (उणा॰४.२) इति स्यन् वा, जनिदाच्युसृवृमदि॰ (उणा॰४.१०५) इति स्यो वा प्रत्ययः।

१८०. अंहुरः* अंहुरोंऽहस्वान्, अंहूरणम् इत्यप्यस्य भवति। (६.२७)
१८१. बतः* बत इति निपातः खेदानुकम्पयोः। (६.२७)
[**खण्डम् – ६**] बतो बलातीतो भवति, दुर्बलः। (६.२८)
१८२. लिबुजा लिबुजा व्रततिर्भवति– लीयते विभजन्तीति। (६.२८)
१८३. व्रततिः व्रततिर्वरणाच्च, सयनाच्च, ततनाच्च। (६.२८)

---

१८०. कल्याण व सुख का विघात करने वाले पापकर्म का नाम **'अंहु'** है। और तद्वान् पापी का नाम **'अंहुर'** है। अंहस्वान् और अंहुरण शब्द भी 'पापी' के ही नाम हैं [आङ् + √हन हिंसागत्योः (२.२) + कु[१] > आ + हन् + उ > अ + न्ह + उ > अंहु + र (मत्वर्थीयः) > अंहुर।

१८१. **'बत'** यह शब्द खेद (मानसिक दुःख, पश्चात्ताप) और दया अर्थ में प्रयुक्त होने वाला निपात (अव्युत्पन्न) है। अथवा 'बलाद् अतीतो रहितः' अर्थात् बलरहित, दुर्बल का नाम **'बत'** है [बल + अतीत > ब + त > बत]।

१८२. **'लिबुजा'** शब्द व्रतति (लता, बेल) का वाचक है, क्योंकि वह वृक्षादियों का आश्रय लेती हुई उन से आश्लिष्ट रहती है [√लीङ् श्लेषणे (४.२९) + √भज सेवायाम् (१.७२४) + डुजच् > लि + भ् + उज > लि + ब् + उज + टाप् > लिबुजा]।

१८३. लता (बेल) का नाम **'व्रतति'** इसलिए है कि – यह समीपस्थ वृक्षादि का वरण करती है या आच्छादित करती है [√वृञ् वरणे (५.८) / √वृञ् आवरणे (१०.२३७) + ततिन् > व्र + तति > व्रतति]। लता समीपस्थ वृक्षादियों में दृढतया बध जाती है, इसलिए उसका नाम **'व्रतति'** है [√षिञ् बन्धने (५.२) + ततिन् > व्र (आदेशः) + तति > व्रतति]। लता समीपस्थ वृक्षादियों में सम्पूर्णतया फैल जाती है, इसलिए उसका नाम **'व्रतति'** है [प्र + √तनु विस्तारे (८.१) + क्तिन् > व्र + तन् + क्ति > व्र + त + ति > व्रतति]।[२]

---

१. मृगय्वादयश्च (उणा॰१.३७)।
२. व्रतमाचरतीति व्रततिः, विस्तरः; *'व्रतती'* लता वा (दया॰, उणा॰४.६०) [व्रत + अति (आचारार्थे) > व्रतति]।

१८४. वाताप्यम्* वाताप्यमुदकं भवति – वात एतदाप्याययति। (६.२८)
१८५. चाकन् (चाकन्) चायन् इति वा,कामयमान इति वा। (६.२८)
१८६. वायः वायो वेः पुत्रः। वेति च य इति च चकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यद्, असुसमाप्तश्चार्थः। (६.२८) [वने न वायो न्यधायि चाकन् (ऋ॰१०.२९.१)]

---

१८४. **'वाताप्यम्'** शब्द 'वृष्टिजल' का वाचक है, क्योंकि वह पूर्वदिशा सम्बन्धी वात (वायु, मानसून) से बढ़ता [वातेनाप्याय्यत इति। वात + आङ् + √ओप्यायी वृद्धौ (१.३२८) + ड > वात + आ + प्य् + अ > वाताप्य]।[१]

१८५. **चाकन्** शब्द का अर्थ 'चायन्' है अर्थात् इधर-उधर देखता हुआ [√चायृ पूजानिशामनयोः[२] (१.६२०) + शतृ (लट्) > चायन् > चाकन्]। चाहता हुआ, इच्छा करता हुआ अर्थ में भी **'चाकन्'** शब्द प्रयुक्त होता है [√चक तृप्तौ (१.५३२) + शतृ > चकन् > चाकन् / √कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (१.३११)+ यङ्लुक्+ क्विप् > चाकन्]।[३]

१८६. **'वायः'** पद का अर्थ है वि (पक्षि) का पुत्र (बच्चा, शावक) है। अर्थात् यह सुसंगत एवं सार्थक एक पद है। परन्तु पदपाठकार शाकल्य आचार्य तो 'वा' और 'यः' के रूप में छेद कर दो पद मानते हैं, जो कि उचित नहीं है । क्योंकि यहाँ दो शब्द मानने पर उनमें से स्वतन्त्रभूत 'यः' शब्द (यद्वृत्त) से उत्तर तिङन्त 'न्यधायि' को प्राप्त सर्वनिघात का प्रतिषेध हो जायेगा। जिससे यह 'न्यधायि' तिङन्त पद उदात्तवान् होने लगेगा। जबकी यह सर्वानुदात्त पद है। दो पद मानने पर दूसरा दोष यह भी है कि – यहाँ मन्त्र में 'वा' और 'यः' पदों का अन्वय तथा अर्थ (विकल्प, समुच्चय; जो) की संगति न लगने के कारण निरर्थक होंगे और 'तद्' शब्द के अध्याहार के विना 'यद्' शब्द का अर्थ अपूर्ण ही रहता है। इसलिए 'वायः'को दो पद न मानकर एक पद मानना ही सुसंगत है और मन्त्रार्थ की पूर्णता होने से सार्थक भी है।

---

१. वाताप्याय = वातेनाप्यतेऽधस्तान्निपात्यत इति वाताप्यमुदकम्। तस्य प्रदानाय (सायणः, ऋ॰१०.१०५.१)। वाताप्यम् = वातेन प्राप्तव्यम्। वाततुल्येन शीघ्रकारिणा त्वया पातव्यमित्यर्थः। एवंविधं सोमम् (सायणः, ऋ॰१.१२१.८)। वातेन शुद्धेन वायुनाऽप्तुं योग्यम् (दया॰, तत्रैव)।
२. शम आलोचने (१०.१६४)। शमोऽदर्शने (१.५६४)।
३. चाकन् = अत्यर्थं कामयते। कनतिः कान्तिकर्मा (निघं॰२.६.१७)। अस्मात् यङ्लुगन्तात् लङि छान्दसोऽडभावः। बहुलादेव वा छान्दसस्तुजादित्वात् अभ्यासदीर्घः (सायणः, ऋ॰

१८७. रथर्यति* रथर्यतीति सिद्धस्तत्प्रेप्सू, रथं कामयत इति वा।(६.२८)

षष्ठः पादः [खण्डम् – १]

१८८. असक्राम्* (असक्राम्) असंक्रमणीम्। (६.२९)

१८७. **'रथर्यति'** यह शब्द 'तत्प्रेप्सु' अर्थात् उस (रथ) की प्राप्ति चाहने वाला रथाभिलाषी। इस अर्थ में 'रथर्यति' शब्द प्रसिद्ध है अथवा 'रथ की कामना करने वाला' इस अर्थ में भी 'रथर्यति' सिद्ध होता है [रथमात्मानमिच्छति, रथं कामयते वेति रथर्यति। रथ + क्यच्[1] > रथर् + य > रथर्य + शप् + तिप् > रथर्यति]।[2]

१८८. **'असक्राम्'** का अर्थ है— 'असंक्रमणीम्' अर्थात् संक्रमण (वियोग, दूरगमन) न करने वाली को या वियुक्त न होने वाली को अथवा असमान गति वाली को [सम् + √क्रमु पादविक्षेपे (१.३१९) + ड > सम् + क्रम् + अ > स[3] + क्र + अ + टाप् > सक्रा; न + सक्रा > असक्रा, ताम् / समान + √क्रम् + विट्[4] > स + क्र > सक्र; नञ् + सक्र + टाप् + अम् > असक्राम्]।[1]

१.१४८.२)। हविरादि कामयसे। 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु' (१.३११) अस्माद् यङ्लुगन्ताच्छान्दसे लङि सिपि रूपमेतत्। कमेर्वा पूर्ववत्। सिपि 'मो नो धातोः' (अष्टा० ८.२.६४) इति नत्वम् (सायणः, ऋ० १०.१४८.४)। चङ्कन्यते काम्यते इति चाकन्। 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु' इत्यस्य यङ्लुगन्तस्य क्विबन्तं रूपम्। 'वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' इति नुगभावः। दीर्घोऽकितः (अष्टा० ७.४.८३) इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वं च। सायणाचार्येणेदं भ्रमतो मित्संज्ञकस्य ण्यन्तस्य च कनी धातो रूपमशुद्धं व्याख्यातम् (दया०, ऋ० १.३३.१४)। कामयसे। अत्र कनीदीप्तिकान्तिगतिष्वित्यस्माल्लङो मध्यमैकवचने बहुलं छन्दसीति शपः स्थाने श्लुः, श्लाविति द्वित्वं 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इत्यडभावः, संयोगान्तसलोपश्च (दया०, ऋ० १.१७४.५)।

१. सुपः आत्मनः क्यच् (अष्टा० ३.१.८)। क्यचि च (अष्टा० ७.४.३३) इति प्राप्तस्य ईत्वस्य स्थाने रेफागमः पृषोदरादित्वात्।

२. रथर्यति गतिकर्मा (निघं० २.१४.९३)। रथं हर्यति इच्छतीति रथर्यतीत्यपि व्युत्पत्तिः [रथ + √हर्य गतिकान्त्योः (१.३४४) + तिप् > रथर्यति]। हर्यति कान्तिकर्मा (निघं० २.६.१०), गतिकर्मा (निघं० २.१४.७७)। रथर्यतः = प्राप्नुतः (वेंकटसायणौ, ऋ० ८.१०१.२)।

३. समो मकारस्य लोपश्छान्दसः।

४. जनसनखनक्रमगमो विट् [छन्दसि, उपसर्गेऽपि] (अष्टा० ३.२.६७)। ततः 'विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अष्टा० ६.४.४१)। तस्याकारस्य लोपश्छान्दसः। समानस्य छन्दस्यमूर्ध० (अष्टा० ६.३.८३) इति सभावः।

१८९. आधवः* आधव आधवनात्। (६.२९)

१९०. अनवब्रवः* अनवब्रवोऽनवक्षिप्तवचनः। (६.२९)

[खण्डम् – २]

१९१. काणः काणोऽविक्रान्तदर्शनः [विक्रान्तदर्शनः] इत्यौपमन्यवः। कणतेर्वा स्यादणूभावकर्मणः। कणतिः शब्दाणूभावे भाष्यतेऽनुक-

१८९. आधवन अर्थात् कम्पाने वाला, उत्तेजक व प्रेरक होने से **'आधव'** नाम है [आङ् + (अन्तर्णीतण्यर्थः) √धुञ् कम्पने (५.९) / √धूञ् कम्पने (५.९) / √धू विधूनने (६.१०६) + अच् > आ + धव् + अ > आधव]।[2]

१९०. **'अनवब्रवः'** का अर्थ है 'अनवक्षिप्तवचनः' अर्थात् अप्रतिहतवचनः, जिसकी वाणी कभी निरर्थक नहीं होती, सार्थक ही होती है [उच्यत इति ब्रवो वचनम्। √ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (२.३७) + अप्[3] > ब्रवः। अवक्षिप्तोऽर्थाद् भ्रष्टो ब्रवो यस्य स अवब्रवः[4] निरर्थकवचनः; न अवब्रवः अनवब्रवः सार्थकवचनः]।[5]

१९१. 'काणः' का अर्थ है 'अविक्रान्तदर्शन' अर्थात् अपूर्ण, मन्द दृष्टि वाला। 'विक्रान्तदर्शन' के रूप में भी पदच्छेद किया जाता है, जिसका अर्थ है विगत या वक्र (विकृत) दृष्टि वाला, अथवा जिसके दोनों नेत्रों की दर्शनशक्ति एक में ही विक्रान्त (विकट, तीव्र, एकत्रित) हो गयी है वह **'काणः'** है। ऐसा औपमन्यव आचार्य का मत है [√कण निमीलने (१०.१८४) + णिच् > काणि + अच् > काण]। (यास्क का मत है कि—) अणूभावार्थक कण धातु से भी **'काणः'** शब्द निष्पन्न होता है। क्योंकि शब्दाणूभाव अर्थात् 'धीरे— धीरे बोलना' इस अर्थ में प्रयुक्त होती है, जैसे अनुकणति (मन्दस्वर से बोलता है)[√कण् + घञ् > काणः]। जैसे न्यून परिमाणवालेको 'कणः'

१. असक्रम् = या सहनं क्रामति ताम् [इषम् = अन्नं विज्ञानं च] (दया०, ऋ० ६.६३.८)।

२. आधवे = अन्तरिक्षे (वेंकटः, ऋ० १.१४१.३); समन्तात् प्रक्षेपणे (दया०, तत्रैव)।

३. ऋदोरप् (अष्टा० ३.३.५७)। तस्य च 'छन्दस्युभयथा' (अष्टा० ३.४.११७) इति सार्वधातुकत्वादिह वच्यादेशो न भवति।

४. प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्यः (वा० २.२.२४)।

५. अनवब्रवः = अनिन्दितवचनः (सायणः, ऋ० १०.८४.५)।

णतीति। मात्राणूभावात् कणः, दर्शनाणूभावात् काणः। (६.३०)

१९२. कणः कणतिः शब्दाणूभावे भाष्यतेऽनुकणतीति। मात्राणूभावात् कणः। (६.३०)

१९३. विकटः विकटो विक्रान्तगतिरित्यौपमन्यवः। कुटतेर्वा स्याद् विपरीतस्य – विकुटितो भवति। (६.३०)

१९४. सदान्वे* (सदान्वे) सदानोनुवे शब्दकारिके। (६.३०)

१९५. शिरिम्बिठः* शिरिम्बिठो मेघः – शीर्यते बिठे। बिठमन्तरिक्षम्,

---

कहते हैं (यथा – छोटे-छोटे धान्यों को 'कणः'[1] कहते है), वैसे ही न्यून दर्शनशक्ति वाले को भी **'काणः'** कहा जाता है [कण > काण]।[2]

१९२. 'मन्दध्वनि से बोलना' अर्थ में ''कण'' धातु प्रयुक्त होती है, जैसे – 'अनुकणति' (गुनगुनाता है)। अल्प परिमाणवाले छोटे टुकड़े को **'कणः'** कहते हैं [√कण् + अच् > कण]।

१९३. उपमन्यु के अनुयायियों के मत में **'विकट'** का अर्थ 'विक्रान्तगति' अर्थात् विकृत या भयानक गतिवाला है [वि + √कटी गतौ (१.२१२) + अच् > विकट]। (यास्क के मत में तो) विपरीतार्थक कुट धातु से **'विकट'** शब्द व्युत्पन्न होता है, क्योंकि वह कुटिल, विपरीत आचरणवाला होता है [वि + √कुट कौटिल्ये (६.७५) + अच् > वि + कुट् + अ > विकट]।

१९४. **'सदान्वे'** का अर्थ है – हे सदानोनुवे अर्थात् दुर्भिक्ष में निरन्तर अत्यधिक हाहाकारादि शब्द करने वाला [सदा + √नु स्तुतौ (२.२७) (इह तु शब्दकरणे) + यङ्लुक् + अच् > सदा + नोनुव + टाप् > सदा + न्व (आदेशः) + आ > सदान्वा > (सम्बोधने) सदान्वे]।

१९५. **'शिरिम्बिठ'** का अर्थ 'मेघ' है, क्योंकि वह मेघ बिठ में शीर्ण (हिंसित, छिन्न-भिन्न) होता है। (बिठ का अर्थ क्या है?) बिठ का अर्थ अन्तरिक्ष है

---

१. तुलना – कणान् अत्तीति कणादः।
२. काणे = हे कुत्सितशब्दकारिणि। कुत्सितदर्शने वा (सायणः, ऋ० १०.१५५.१)।

बीरिटेन व्याख्यातम् (द्र० निरु० ५.२७)। अपि वा शिरिम्बिठो भारद्वाजः। (६.३०)

१९६. पराशरः* पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे। इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते - पराशातयिता यातूनाम्। (६.३०)

१९७. क्रिविर्दती* क्रिविर्दती विकर्त्तनदन्ती। (६.३०)

[अन्तरिक्ष के नामों (निघं० १.३) में बिठ शब्द अपठित है। पुनः बिठ का अर्थ अन्तरिक्ष कैसे है?] बीरिट के समान ही बिठ का अर्थ समझना चाहिए। तैटीकि आचार्य ने बीरिट को अन्तरिक्ष का वाचक माना है– ''बीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह'' (निरु० ५.२७)। [शीर्यते हिंस्यते बिठेऽन्तरिक्ष इति शिरिम्बिठः। √शॄ हिंसायाम् (९.१७) + इ[1] > शिरि; शिरि + बिठ > शिरि + मुम् + बिठ > शिरिम्बिठ]। बल को धारण करने वाले मन का नाम 'भरद्वाज' है[2], उससे उत्पन्न उत्कट संकल्प का नाम 'भारद्वाज' है । यह भारद्वाज (तीव्र संकल्प) ही आसुरीभावों का हनन करता है। इसलिए इस भारद्वाज का नाम **'शिरिम्बिठ'** है [शिरिः हननं बिठस्य असुरगणस्य कृतं येन स शिरिम्बिठः। √शिरि + बिठ > शिरिम्बिठ]।

१९६. दुर्गुणों के विनाशक, अत्यन्त वृद्ध वसिष्ठ के यहाँ उत्पन्न व्यक्ति **'पराशर'** कहाता है [परा + √शॄ हिंसायाम् (९.१७) + अप् > पराशर]। इन्द्र भी **'पराशर'** कहाता है, क्योंकि वह शत्रुओं का परितः हनन करता है [परा परितोऽसुराणां शातयिता विनाशक इति वा परान् शत्रून् शृणातीति वा पराशरः। परा + √शॄ + अप् > पराशर]।[3]

१९७. **'क्रिविर्दती'** का अर्थ है – 'विकर्तनदन्ती' अर्थात् छेदन, हिंसन करने वाले तीक्ष्ण दांतों से युक्त [कृणोति हिनस्ति विकृन्तत्यनेनेति क्रिविः।[4] √कृञ् हिंसायाम्

---

१. कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च (उणा० ४.१४४) इति इप्रत्ययः, स च कित्।
२. मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्त्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मात् मनो भरद्वाज ऋषि (शत० ८.१.१.९)।
३. पराशरः = दुष्टानां हिंसकः [राजा] (दया०, ऋ० ७.१८.२१)।
४. क्रिविः कूपनाम (निघं० ३.२३.८)। क्रिविः = कूपसदृशोऽयं पार्थिवोऽग्निः (वेंकटः, ऋ० ५.४४.४); प्रजापालनकर्ता (दया०, तत्रैव)।

१९८. करूळती* करूळती कृत्तदती। (६.३०) [**खण्डम् – ३**]
तत्कः करूळती? भगः, पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम्। पूषेत्यपरं, सोऽदन्तकः- ''अदन्तकः पूषा'' इति च ब्राह्मणम्। (६.३१)

१९९. वामम्* वामं वननीयं भवति। (६.३१,२२; ४.२६; ११.४६)

२००. आदुरिः आदुरिरादरणात्। (६.३१)

(५.७) / √कृती छेदने (६.१४४) + क्विन्[1] > कृ / √कृत् + वि > क्रि (आदेशः) + वि > क्रिविः। क्रिविर्दन्तो यस्याः सा क्रिविर्दती। क्रिवि + दन्त > क्रिवि + दतृ[2] + ङीप् > क्रिवि + दत्र् + ई > क्रिवि + र्दत् + ई > क्रिविर्दती]।[3]

१९८. 'करूळति' का अर्थ है — 'कृत्तदती' अर्थात् जिसके हिंसक दान्त नहीं हैं या कटे हुए हैं, ऐसा अहिंसक व शान्त देव **'करूळती'** कहाता है, [कृत्ता दन्ता यस्य स करूळती; कृत्तदन्तस्य स्थाने 'करूळती' इत्यादेशः[4]]। करूळती (दन्तहीन देव) कौन है? कुछ आचार्यों का मत है कि 'भग' करूळती है, क्योंकि मन्त्र[5] में इससे पूर्व 'भग' का उल्लेख हैं, इसलिए भग का ही विशेषण है। अन्य आचार्यों का मत है 'पूषा' करूळती (अदन्तक) है। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों[6] में कहा गया है कि — ''अदन्तकः पूषा''।[7]

१९९. **'वामम्'** की व्याख्या निरु॰४.२६ पर की गयी है। वहीं देखें।

२००. देव, विद्वान् आदियों का आदर करने वाले यजमानादि का नाम **'आदुरि'** है, अथवा आदरणीय या शत्रुओं के विदारक राजादि का भी नाम **'आदुरि'** है [आङ् + √दृङ् आदरे (६.१२०) + इ[8] > आ + दर् + इ > आ + दुर् + इ > आदुरि]।

---

१. कृविघष्विच्छविस्थाविकिकीदिवि (उणा॰४.५७)। अननुनासिकत्वाद् इकारलोपाभावः।
२. स्त्रियां संज्ञायाम् (अष्टा॰५.४.१४३) इति समासान्तो दत्रातेशः। ततः उगितश्च (अष्टा॰ ४.१.६) इति ङीप्।
३. क्रिविर्दती = क्रिविर्हिंसनमेव दन्ता यस्याः सा [विद्युत्] (दया॰, ऋ॰१.१६६.६)।
४. ततः 'सुपां सुलुक्॰'(अष्टा॰७.१.३९) इति सोर्लुक्।
५. वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती (ऋ॰४.३०.२४)।
६. शत॰ब्रा॰१.७.४.७; गो॰ब्रा॰२.१.२; कौ॰ब्रा॰६.१३; तै॰सं॰२.६.८.५।
७. करूळती = यः करूनूढा कामयते स करूळतः, सोऽस्यास्तीति। जिसके कारीगरों की कामना करने वाला विद्यमान वह (दया॰, ऋ॰४.३०.२४)।
८. अच इः (उणा॰४.१४०)।

२०१. दनस्* (दनः) दानमनसः। (६.३१)

२०२. शरारुः* (शरारुः) संशिशरिषुः। (६.३१)

२०३. इदंयुः इदंयुरिदं कामयमानः। अथापि तद्वदर्थे(मत्वर्थे) भाष्यते। (६.३१)

[**खण्डम् – ४**]

२०४. कीकटाः* कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः। कीकटाः किंकृताः, किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा। (६.३२)

---

२०१. 'दनः' का अर्थ है — 'दान करने की इच्छा वाला' [दानाय मनो यस्य स दनः। दान + मनस् > द + नस् > दनस्]।[1]

२०२. **'शरारु'** का अर्थ है — सम्यक्तया मारने की इच्छा (स्वभाव) वाला [√शॄ हिंसायाम् (९.१७) + आरु[2] > शर् + आरु > शरारु]।

२०३. **'इदंयु'** का अर्थ है — इदं (अभीष्ट वस्तु) को चाहने वाला (यथा — सुम्नयुः, देवयुः, अध्वर्यु आदि) [सुम्नं सुखमिच्छतीति सुम्नयुः। सुम्न + क्यच्[3] > सुम्नय + उ[4] > सुम्नयु]। मत्वर्थ में भी युप्रत्यय होता है (यथा— धनयुः = धनवान्, अश्वयुः = अश्ववान्, रथयु आदि) [धन + यु > धनयु]।

२०४. **'कीकट'** नाम अनार्यों या उनके निवासभूत देश का है। अनार्यों में गाय जैसे पवित्र प्राणी का क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं है या किं कृतं = क्या किया? कुछ नहीं किया, सब कुछ निष्फल हो गया है अथवा किंकृत अर्थात् कुत्सितं कर्म करने वाले कुकर्मियों (किंकरों) का नाम **'कीकट'** है [किंकृत > कीकट (आदेशः)]। यज्ञ, याग, योग आदि धार्मिक क्रियाओं से क्या लाभ है? कुछ भी नहीं, ऐसी मानसिकता है जिनकी, वे भी **'कीकट'** कहाते हैं [किंक्रियाभिः > कीकट]।

---

१. दनः = अदमयः। दमेरिदं रूपम्। यद्वा वर्णव्यत्ययः, नदः। अनदः अशब्दयः असुरप्रजाः। अतिभयंकरशब्दमकरोः। निरुक्तरूढ्या तु दनः अदमयः, अशब्दयो वा। अवर्षय इत्यर्थः (सायणः, ऋ॰१.१७४.२)।। अनदः। अत्राद्यन्तवर्णविपर्ययोऽडभावश्च [छान्दसः] (दया॰, तत्रैव) [√नद अव्यक्तशब्दे (१.४४) + शप् + सिप् (लङ्) > नद + स् > नदः > दनः]।
२. शॄवन्द्योरारुः (अष्टा॰३.२.१७३) इति ताच्छील्य आरुप्रत्ययः।
३. सुप आत्मनः क्यच् (अष्टा॰३.१.८)। छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम् (वा॰ तत्रैव)। क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेधो वक्तव्यः (वा॰ तत्रैव) इति प्रतिषेधाद् इदमः क्यच् न भवति।
४. क्याच्छन्दसि (अष्टा॰३.२.१७०)।

२०५. प्रमगन्दः,मगन्दः मगन्दः कुसीदी। माङ्गदः=मामागमिष्यतीति च ददाति। तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः। प्रमदको वा योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः। पण्डको वा। (६.३२)

२०६. माङ्गदः माङ्गदो मामागमिष्यतीति च ददाति। (६.३२)

२०७. पण्डकः पण्डकः पण्डगः, प्रार्दको वा प्रार्दयत्याण्डौ। (६.३२)

---

२०५. मगन्द का अर्थ है— 'कुसीदी' (ब्याज का व्यापारी)।(मेरा धन दुगुनादि के रूप में बढ़कर) मेरे ही पास आयेगा, मुझे ही प्राप्त होगा, ऐसा विचारते हुए (ब्याज पर अन्यों को स्वधन) देता है, इसलिए उसका नाम **'मगन्द'** [मां (मा वा) गमिष्यति (=आगमिष्यति) इति परेषां ददाति > म + √गम् + √दा + क > मगन्द]। उसका अपत्य (सन्तान) अर्थात् उससे भी अत्यधिक ब्याज (ब्याज पर ब्याज) की आशा रखने वाला दुरभिलाषी **'प्रमगन्द'** कहलाता है [मगन्दात् प्रभवतीति प्रमगन्दः[१] वार्धुषिकः। प्र + मगन्द > प्रमगन्द]। यही लोक (जन्म) है, दूसरा लोक (जन्म) नहीं है, ऐसा विचारने वाला प्रेप्सु (नास्तिक, अधार्मिक), धर्मकार्यों में प्रमाद करने वाला (विलासी) भी **'प्रमगन्द'** कहलाता है [विषयेष्वेव प्रकृष्टतया माद्यतीति प्रमदः सन् प्रमगन्दः। प्र + √मदि स्तुतिमोदमद०(१.१२) + अच् > प्रमन्द > प्रमगन्द (मध्ये गादेशश्छान्दसः)]। पण्डक (पण्डग, नपुंसक) भी **'प्रमगन्द'** कहलाता है [स्त्रीरूपत्वात् पण्डं गच्छतीति पण्डगः, पण्डग > मन्दग > मगन्द > प्रमगन्द]।[२]

२०६. मेरा धन वृद्धि (ब्याज) के साथ मुझे प्राप्त होगा, ऐसा विचारता हुआ ब्याज पर दूसरों को धन देने वाला **'माङ्गद'** कहलाता है [माम् + गमिष्यति (इति) + ददाति > माम् + √गम् + √दा + क > मां + ग + द > माङ्गद]।

२०७. पण्डग अर्थात् पण्ड (नपुंसक, हिजडे) के साथ गमन (स्त्रीरूप में व्यभिचार) करने वाला पापी **'पण्डक'** कहलाता है [पण्ड + √गम् + ड > पण्डग > पण्डक]। स्त्रीरूप समझकर पण्ड के साथ मैथुन कर्म करता हुआ अपने अण्डकोषों का अर्दन (पीडन, स्तम्भन) करता है या अपने को क्षीण करता है, इसलिए भी ऐसे व्यभिचारी का नाम **'पण्डक'** है [प्र + √अर्द हिंसायाम् (१०.२५५) + ण्वुल् > प्र + अर्द् + अक > प्रार्दक > पण्डक (आदेशः)]।

---

१. प्रस्कण्वादिवदिह प्रशब्दः प्रभवत्यर्थकः (अपत्यार्थकः)।

२. प्रमगन्दस्य=यः कुलीनो मां गच्छति स, तस्य (दया०, ऋ० ३.५३.१४)। अन्तरिक्षलोको वै प्रमा (शत० ८.३.३.५), तस्मिन् गर्जनशीलः प्रमगन्दः। प्रमा + √गदी देवशब्दे (१०.२८५) + अच् > प्रमा + गद् + अ > प्रम + गन्द् (छान्दसो नुम्) + अ > प्रमगन्दः (=मेघ) इत्यपि व्युत्पत्तिः।

२०८. आण्डौ आण्डौ आणी इव व्रीडयति तस्तम्भे। (६.३२)

२०९. आणिः* आणिररणात्। (६.३२)

२१०. नैचाशाखम् नैचाशाखं नीचाशाखो नीचैःशाखः। (६.३२)

२११. शाखाः* शाखाः शक्नोतेः। (६.३२; १.४)

२१२. बुन्दः* बुन्द इषुर्भवति – भिन्दो वा, भयदो वा, भासमानो द्रवतीति वा। (६.३२)

---

२०८. रथचक्र की धुरी में लगी आणियों (डण्डों) के समान व्रीडित अर्थात् स्तम्भन करने के कारण अण्डकोषों का नाम **'आण्ड'** है [आणि > आण्ड]।

२०९. (धुरी में लगे डण्डों का नाम आणि क्यों है?) अरण (गमन) के कारण उनका नाम 'आणि' है [अरणाद्=अणनाद् आणिः।(√ऋ=) √अण गतौ (नैरुक्त धातुः) / √अण शब्दार्थः (१.३०३)+इण्[१] > आणि]।[२]

२१०. **'नीचैःशाखः'** का अर्थ है – नीचे की ओर शाखाएँ हैं जिसकी अर्थात् निम्न, पापात्मक कर्मों में बहुविध प्रवृत्तयाँ हैं जिसकी, वह **'नीचाशाखः'** कहाता है [नीचाः पापात्मकाः शाखा प्रवृत्तयो यस्य, स तथोक्तः। नीचा + शाखा > नीचाशाखः, तस्येदं धनादिकं नैचाशाखम्। नीचाशाख + अण् > नैचाशाखम्]।[३]

२११. वृक्ष की शाखाओं के समान फैली हुई प्रवृत्तियों का भी नाम **'शाखा'** है [व्याख्या और व्युत्पत्ति को निरु०१.४ पर देखें]।

२१२. **'बुन्दः'** का अर्थ 'इषु' (बाण) होता है, क्योंकि बाण भेदन करने (बींधने) वाला होता है [√भिदिर् विदारणे (७.२) + क > भिद् + अ > भिनुमद् + अ

---

१. जनिघसिभ्यामिण् (उणा० ४.१३१) इति बाहुलकाद् अणतेरपि इण्प्रत्ययः।

२. आणौ संग्रामनाम (निघं० २.१७.३४)।

३. नैचाशाखम्=नीचा शाखा शक्तिर्यस्मिँस्तम् [नास्तिकं म्लेच्छजनम्] (दया०, ऋ० ३.५३.१४)।

[खण्डम् – ५]

२१३. तुविक्षम् तुविक्षं बहुविक्षेपं महाविक्षेपं वा। (६.३३)
२१४. रण्यौ (रण्या) रण्यौ रमणीयौ, साङ्ग्राम्यौ वा। (६.३३)
२१५. ऋदूपे* ऋदूपे अर्दनपातिनौ गमनपातिनौ वा। (६.३३)

> बु न् द् + अ > बुन्द]। बाण शत्रुओं को भय देने वाला होता है, अतः उसका नाम **'बुन्द'** है [भयं ददातीति बुन्दः। भय + √डुदाञ् दाने (३.९) + क > भय + द् + अ > बुन् (आदेशः) + द > बुन्द]। चमकता हुआ लक्ष्य की ओर तेजी से दौड़ता है, इसलिए बाण का नाम **'बुन्द'** है [भासमान + √द्रु गतौ (१.६७७) + क > बुन् + द् + अ > बुन्द]।

२१३. तुवि इति बहुनाम (निघं० ३.१.२)। तुवि बहून् इक्षून् विक्षिपतीति बहुविक्षेपं धनुः तुविक्षम् — बहुत या अनेक प्रकार के बाणों को फेकने वाले धनुष का नाम **'तुविक्षम्'** है [तुवि + √क्षिप प्रेरणे (४.१५) + ड > तुवि + क्ष् + अ > तुविक्ष]। तुविक्षम् का अर्थ महाविक्षेप भी है अर्थात् बहुत दूर तक बाण को फेंकने वाला शक्तिशाली धनुष [तुवि महान् विक्षेपो यस्य तत्, पूर्ववत् व्युत्पत्तिः]।

२१४. **'रण्यौ'** का अर्थ है — रमणीय अर्थात् सुन्दर, सुडौल, मनोहर (दो बाहु) [√रमु क्रीडायाम् (१.५९२) + ण्यत् > रम् + य > रण्य]। रण (संग्राम) के योग्य दो भुजाओं का नाम **'रण्यौ'** है [रणार्हौ। रण + य[1] > रण्य]।

२१५. ऋदूपे का अर्थ है अर्दनपातिनौ अर्थात् गमनपातिनौ, भुजाएँ गमनपूर्वक शत्रुओं को गिराने (मारने) वाली होती हैं, इसलिए उनका नाम **'ऋदूप'** है [√अर्द गतौ (१.४५) + उण् > ऋद् (आदेशः) + उ > ऋदु। ऋदु+ √पत्लृ गतौ (१.५८४, अन्तर्भावितण्यर्थः) + ड > ऋदु + पत् + अ > ऋदू[2] + प् + अ > ऋदूप]।

---

१. दण्डादिभ्यो यः (अष्टा० ५.१.६५) इत्यर्हार्थे यः।
२. अन्येषामपि दृश्यते (अष्टा० ६.३.१३६)।

२१६. ऋदूवृधा (ऋदूवृधा) मर्माण्यर्दनवेधिनौ, गमनवेधिनौ वा। (६.३३)

[खण्डम् – ६]

२१७,२१८. वृन्दम्*, वृन्दारकः वृन्दं बुन्देन (६.३२) व्याख्यातम्, वृन्दारकश्च। (६.३४)

[खण्डम् – ७]

२१९. किः* (किः) कर्ता। (६.३५)

---

२१६. भुजाएँ शत्रुओं की ओर जाकर उनके मर्मों का भेदन (हिंसन) करने वाली होती हैं, इसलिए उनका नाम **'ऋदूवृधौ'** है [ऋदु + √व्यध ताडने (४.७०) + क्विप् > ऋदू + विध् > ऋदू + वृध् > ऋदूवृध् + औ > ऋदूवृध् + आ[1] > ऋदूवृधा]।

२१७,२१८. वृन्द और वृन्दारक ये दोनों ही शब्द 'बुन्द' शब्द के व्याख्यान (व्युत्पादन) से ही व्याख्यात समझना चाहिए। दोनों का अर्थ 'समूह' है। शत्रुओं का भेदन करने वाला होने से समूह का नाम **'वृन्द'** है [√भिदिर् विदारणे (७.२) + क > भिद् + अ > वृन्द् (आदेशः) + अ > वृन्द]। शत्रुओं को भय देने (भयभीत करने) वाला होने से समूह का नाम **'वृन्द'** है [भय + √डुदाञ् दाने (३.९) + क > भय + द् + अ > वृन् (आदेशः) + द् + अ > वृन्द]। तेजस्विता के साथ शत्रुओं की ओर तेजी (उत्साह) से आगे बढ़ने के कारण समूह का नाम **'वृन्द'** है [भासमान + √द्रु गतौ (१.६७७) + क > वृन् + द् + अ > वृन्द]। वृन्द शब्द से स्वार्थ में 'आरक' प्रत्यय होकर **'वृन्दारक'** शब्द निष्पन्न होता है।[2]

२१९. **'किः'** का अर्थ है — कर्ता (करने वाला) [√डुकृञ् (८.१०) + इण् (डित्)[3] > क् + इ > कि]।[4]

---

१. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (अष्टा० ७.१.३९)।
२. वृन्दारकशब्द पूजा व प्रशंसा का भी वाचक है। वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् (अष्टा० २.१.६१) – गोवृन्दारकः, अश्ववृन्दारकः।
३. वेञो डित् (द० उ० १.६२) इति बाहुलकाद् इण्प्रत्ययः ।
४. किः = को भवति? कीदृशो भवति? तस्य को व्यापार इत्यर्थः (सायणः, ऋ० १०.५२.३)।

२२०. उल्बम्* उल्बमूर्णोतेः, वृणोतेर्वा। (६.३५)

२२१. ऋबीसम्* ऋबीसम् अपगतभासम्, अपहृतभासम्, अन्तर्हितभासम्, गतभासं वा (६.३५)। [**खण्डम् – ८**]

ऋबीसे = पृथिव्याम्। (६.३६)

२२२. गणः* गणो गणनाद्। (६.३६)

२२३. गुणः गुणश्च [गणनात्]। (६.३६)

इति षष्ठोऽध्यायः

२२०. उल्बम् (जरायु, गर्भ, आवरण) शब्द ''ऊर्णुञ् आच्छादने'' (२.३२) धातु से व्युत्पन्न होता है। आच्छादित होने के कारण गर्भ का नाम **'उल्बम्'**[१] है [√ऊर्णञ्+ ब[२] > उल् (आदेशः) + ब > उल्ब]। √वृञ् आवरणे (१०.२३७) धातु से भी 'उल्बम्' शब्द व्युत्पन्न होता है (अर्थ पूर्ववत् है) [√वृञ् + ब > उल् + ब > उल्ब]।[३]

२२१. ऋबीसम् का अर्थ पृथिवी है। पृथिवी का प्रकाश समाप्त (नष्ट) हो गया है अथवा सूर्य के द्वारा हरण किया गया है अथवा पृथिवी के अन्दर ही लीन हो गया है अथवा पृथिवी प्रकाशहीन हो गयी है, इसलिए पृथिवी का नाम **'ऋबीसम्'** है [अपगतोऽपहृतोऽन्तर्हितो गतो भासो यस्य, तद् ऋबीसम्। अपगतादिपूर्वपदानां स्थाने ऋभावः, 'भासः' इत्युत्तरपदस्य स्थाने बीसभावः। ऋ + बीस > ऋबीस]।[४]

२२२. समुदाय के अवयव गणना के योग्य होने से समुदाय का नाम **'गणः'** है [√गण संख्याने (१०.२८१) + अच् > गण् + अ > गण]।[५]

२२३. गणना के कारण ही गुण नाम है। जैसे द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण आदि [गुण्यते गण्यत इति गुणः। √गुण आमन्त्रणे (१०.३१६) + अच् > गुण]।[१]

१. गर्भाशयो जरायुः स्याद् उल्बश्च कललोऽस्त्रियाम् (अमर०२.६.३८)।
२. अलिशलोरत उच्च (स० क०२.२.२२) इति बाहुलकाद् बप्रत्ययः।
३. उल्बं घृतम् (शत०६.६.२.१५)। उल्बं वा उषाः (शत०७.३.१.११)। उल्बादयश्च (उणा० ४.९६) बन्प्रत्ययान्ता निपाताः। उच्यति समवैतीति 'उल्बः' गर्भो वा। चकारस्य लत्वं गुणाभावश्च (दया०, तत्रैव)।
४. ऋबीसम् = सरलम् (दया०, ऋ०५.७८.४)। ऋबीसात् = नष्टविद्याप्रकाशाद् अविद्या–रूपात् (दया०, ऋ०१.११७.३)। ऋबीसे = दुर्गतभासे व्यवहारे (दया०, ऋ०१.११६.८)।
५. गणः वाङ्नाम (निघं०१.११.३८)।

अथ सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः पादः [खण्डम् – १]

१. दैवतम् तद् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद् दैवतम् इत्याचक्षते। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। (७.१)

द्वितीयः पादः

तृतीयः पादः [खण्डम् – २]

२. गोपा (भुवनस्य) गोपा इत्येष हि (सर्वेषां भूतानां) गोपायितादित्यः।(७.९)

१. उस निघण्टु में [नैघण्टुक (गौण) देवताओं के वर्णन के पश्चात् अवशिष्ट] जो प्रधानरूप से स्तुति के योग्य अग्न्यादि से देवपत्नी पर्यन्त देवतावाची नामों का संग्रह जिसमें है, उस काण्ड का नाम **'दैवतम्'** है, ऐसा पूर्वाचार्य कहते हैं [देवता + अण् > दैवतम्]। जिसकी कामना करता हुआ अर्थात् इस अर्थ का मनुष्यों को उपदेश करूँ, ऐसे इच्छुक सर्वद्रष्टा ईश्वर जिस देवता (मन्त्र के प्रतिपाद्य) में अभीष्ट अर्थ का स्वामित्व (सामर्थ्य), अर्थपन को देखता हुआ या प्रकट करना चाहता हुआ, स्तुति का उपदेश (वस्तु का स्वरूपकथन, गुणों का कथन) करता हुआ, मन्त्र का उपदेश करता है, वह मन्त्र तद्देवताक होता है।[२]

२. (भुवनस्य) गोपाः का अर्थ (सभी प्राणियों एवं जगत् का) पालक, रक्षक

१. गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये। त्यागशौर्यादिसत्वादिसन्ध्याद्यावृत्तिरज्जुषु ॥ शुक्लादावपि बुद्ध्याम् (मे० को०१४.१०-११)।
२. दैवताय = धनसम्बन्धिने [सवित्रे = ऐश्वर्योत्पादकाय पुरुषाय] (दया०, यजु०२९.६०)।

३. सुविदत्रम् सुविदत्रं धनं भवति – विन्दतेर्वैकोपसर्गात्, ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्। (७.९; ६.१४)

[खण्डम् – ६]

४. मन्त्राः मन्त्रा मननात्। (७.१२)

सूर्य (आदि) है [√गुपू रक्षणे (१.२७९) + अच् > गोप]।[1]

३. सुविदत्रम् शब्द धन (ऐश्वर्य) का वाचक होता है, क्योंकि 'सु' इस एक उपसर्गपूर्वक "विद्लृ लाभे" (६.१४१) धातु से सुविदत्रशब्द निष्पन्न होता है। जो धन धर्मपूर्वक प्राप्त किया जाता है, उसका नाम **'सुविदत्र'** है [सु + √विद् + कत्रन्[2] > सु + विद् + अत्र > सुविदत्र]। सु तथा वि इन दो उपसर्गों से युक्त "डुदाञ् दाने" (३.९) धातु से भी सुविदत्रशब्द निष्पन्न होता है। जो धन (सुष्ठु) प्रसन्नता से और विहित सुपात्रों के लिए दिया जाता है, उसका नाम **'सुविदत्र'** है [सु + वि + √दा + कत्रन् > सु + वि + द् + अत्र > सुविदत्र]।[3]

४. मननक्रिया के कारण 'मन्त्र' नाम है। जिनसे आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आधियाज्ञिक आदि विषयों के अतीन्द्रिय व परोक्षभूत निगूढ (रहस्यमय) ज्ञान प्राप्त किया जाता है, अथवा इन विषयों का चिन्तन-मनन किया जाता है, उनका नाम **'मन्त्र'** है [√मन ज्ञाने (४.६५) / √मनु अवबोधने (८.९) + ष्ट्रन्[4] > मन् + त्र > मन्त्र]।[5]

---

१. गोपाः = गोपायितादित्यः ....इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् ....गोपायितात्मा (निरु॰ ३.१२)। एष वै गोपा य एष (सूर्यः) तपत्येष हीदं सर्वं गोपायति (शत॰ १४.१.४.९)। प्राणो वै गोपाः। स हीदं सर्वमनिपद्यमानो गोपायति (जै॰ उ॰ ३.३७.२)। इन्द्रो वै गोपाः (ऐ॰ ब्रा॰ ६.१०; गो॰ ब्रा॰ २.२.२०)। अग्निर्वै देवानां गोपा (ऐ॰ ब्रा॰ १.२८)। गो + पा रक्षणे (२.४९) + क > गोपः – इत्यपि व्युपत्तिः।
२. सुविदेः कत्रन् (उणा॰ ३.१०८)।
३. सुविदत्रम् = शोभनज्ञानम् अस्मदनुकूलचेतस्कं सुधनं वा (सायणः, ऋ॰ २.१.८)। सुष्ठु दातारम् (दया॰, तत्रैव)। सुविदत्राणि = शोभनानि विदत्राणि विज्ञानानि येभ्यस्तानि (दया॰, ऋ॰ २.२४.१०)।
४. सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (उणा॰ ४.१६०)।
५. मननात् त्राणनात् मन्त्रः (रामपूर्वतापिन्युपनिषत् – १.१२) [√मन् + √त्रैङ् > मन्त्र]। मन्त्रः = ईश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा सः मन्त्रः (दया॰, ऋ॰ भा॰ भू॰, वेदोक्तधर्म॰)। 'मत्रि गुप्त-भाषणे' अस्माद् 'हलश्च' इति सूत्रेण घञ्प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते। गुप्तानां

५. छन्दांसि* छन्दांसि छादनात्। (७.१२)

६. स्तोमः स्तोमः स्तवनात्। (७.१२)

७. यजुः यजुर्यजतेः। (७.१२)

---

५. आच्छादन क्रिया के कारण 'छन्दः' नाम है। मन्त्रगत ज्ञान पाप, मृत्यु आदि से (कवच के समान) रक्षण करता है, इसलिए मन्त्रों का नाम **'छन्दः'** [√छदि संवरणे (१०.४६) + असुन्[1] > छन्दस्]।[2]

६. स्तवन (स्तुति) क्रिया के कारण सामगानविशेष का नाम **'स्तोम'** है [√ष्टुञ् स्तुतौ (२.३६) + मन्[3] > स्तु + मन् > स्तोम]।[4]

७. यजुःशब्द "यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु" (१.७२८) धातु से निष्पन्न होता है। [ऋक् और साम के मन्त्रों से स्तुति (शंसन और स्तोत्र) की जाती है, पर]

पदार्थानां भाषणं यस्मिन् वर्तते स मन्त्रो वेदः। तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति, तेषां तदर्थत्वात्। तथा 'मन ज्ञाने'...मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन् वा स मन्त्रो वेदः। तदवयवाः 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादयो मन्त्रा गृह्यन्ते (दया॰, ऋ॰ भा॰ भू॰ वेदविषय॰, अन्ते)। मन्त्रम् = मन्वते गुप्तान् पदार्थान् परिभाषन्ते येन तम् [श्रुतिसमूहम्] (दया॰, यजु॰ ७.१२)। मन्त्रः = विचारवान् [गुरुः] (दया॰, ऋ॰ १.१४७.४)।
१. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा॰ ४.१९०)।
२. अविद्यादिदुःखानां निवारणात् सुखैराच्छादनात् छन्दो वेदः। तथा 'चन्देरादेश्च छः' इत्यौणादिकं सूत्रम्। 'चदि आह्लादने दीप्तौ च' इत्यस्माद् धातोरसुन्प्रत्यये परे चकारस्य छकारादेशे च कृते छन्दस् इति शब्दो भवति। वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आह्लादीभवति सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः। ...येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति, तस्माच्छन्दांसि वेदा मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ (दया॰, ऋ॰ भा॰ भू॰, वेदविषय॰, अन्ते)। छन्दसा चन्दन्त्यानन्दन्ति येन तेन [कर्मणा] ...सुखकारकेण ...सुखसम्पादकेन [यज्ञेन] (दया॰, यजु॰ ५.२)।
३. अर्तिस्तुसुहु....नीभ्यो मन् (उणा॰ १.१४०)। स्तौति येन स स्तोमः, संघातो वा (दया॰, तत्रैव)। स्तोमाः = प्रशंसनीया विद्वांसोऽध्येतारश्च (दया॰, ऋ॰ ७.१९.१०)।
४. सामगान तीन ऋचाओं पर किया जाता है। इन ऋचाओं की विभिन्न क्रम से तीन बार आवृत्ति की जाती है। जिससे ९ ऋचाएँ बनती हैं। इसे 'त्रिवृत् स्तोम' कहते हैं। ऐसे ही प्रत्येक मन्त्र को तीन से अधिक वार आवृत्ति करके अभीष्ट मन्त्रसंख्या की पूर्ति की जाती है। कुल नौ स्तोम होते हैं – त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३), चतुर्विंश (२४), चतुश्चत्वारिंश (४४), अष्टचत्वारिंश (४८)। स्तोमः = सामगानविशेषः स्तुतिसमूहः (दया॰, ऋ॰ १.८.१०)। स्तोतुमर्हः ऋग्वेदः (दया॰, यजु॰ १२.४)। स्तुवन्ति यस्मिन् सोऽथर्ववेदः (दया॰, यजु॰ १८.२९)। स्तोमम् = अतिप्रशंसनीयम् [प्रमाणादिपदार्थसमूहम्], स्तोतुमर्हम् क्रियाकौशलम्, स्तवनीयम् [अहङ्कारम्] (दया॰, यजु॰ ९.३४)।

८. साम साम सम्मितमृचा, स्यतेर्वा ['अस्यतेर्वा' इत्यपि छेदः], ऋचा समं मेन इति नैदानाः। (७.१२)

यजुर्मन्त्रों से याग (त्याग, आहुति) किया जाता है। इसलिए याग के साधनभूत मन्त्रों का नाम **'यजुः'** है [√यज् + उसि[१] > यजुस्]।

८. ऋङ्मन्त्र के ऊपर ही सामगान किया जाता है, इसलिए साम का परिमाण ऋचा के समान ही होता है, इसलिए गान का नाम **'साम'** है [ऋचा सम्मितमिति साम; ऋचा + सम् + √मा माने (२.५५) + कनिन्[२] > आ + स + म् + अन् > स + आ + म् + अन् > सामन्]। ''षो अन्तकर्मणि'' (४.३८) धातु से भी सामशब्द व्युत्पन्न होता है, क्योंकि मन्त्रों का विभाग (ऋक्, यजु और साम) साम पर ही समाप्त होता है, इसलिए **'साम'** नाम है। अथवा, सोमयागों का समापन (संस्था) अग्निष्टोम, उक्थ्य आदि सामों से ही होता है, इसलिए भी इन गानों का नाम **'साम'** है। अथवा, सामवेद को उपासना परक माना जाता है, अतः ज्ञान, कर्म और उपासना की दृष्टि से भी कर्तव्यता का समापन उपासना (साम) पर ही होता है, अत एव **'साम'** नाम है। अथवा, पहिले ऋचा का पाठ होता है, तत्पश्चात् (अन्त में) गान होता है, इसलिए भी गान का नाम **'साम'** है। अथवा, **'स्यति छिनत्ति दुःखमिति साम'** अर्थात् गान दुःख का अन्त (नाश) करता है, इसलिए भी उसका नाम **'साम'** है [√सो + मनिन्[३] > सा + मन् > सामन्]। 'स्यतेः' के स्थान पर 'अस्यतेः' के रूप में भी पदच्छेद किया जाता है। इसके अनुसार निर्वचनार्थ इसप्रकार है— साम ऋचा के ऊपर फेंककर अर्थात् चढ़ाकर गाया जाता है[४], अत एव **'साम'** नाम है [√असु क्षेपणे (४.९९) + मनिन् > अस् + मन् > स (स्-अ) + मन् > सा (दीर्घश्छान्दसः) + मन् > सामन्]। ऋङ्मन्त्र (शस्त्रपाठ) से और सामगान (स्तोत्रपाठ) से की जानी वाली देवताओं की स्तुति समान ही मानी जाती है[५], इसलिए **'साम'** नाम है, ऐसा निदानग्रन्थकार आचार्यों का मत है [समे भवं साम; सम + अनिण् (भवार्थे) > सामन्]।[६]

---

१. अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् (उणा०२.११९)। यजति येन तद् यजुः, वेदविशेषो वा (दया०, तत्रैव)।
२. कनिन् युवृषितक्षि० (उणा०१.१५६) इति बाहुलकाद् इहापि कनिन्प्रत्ययः।
३. सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उणा०४.१५४)।
४. ऋच्यध्यूढं साम गीयते (छां०उप०१.६.१), ऋचि साम गीयते (शत०ब्रा०८.१.३.३)।
५. साम वै स्तोत्रिय ऋगनुरूपः (जै०ब्रा०३.२१)।
६. सामं=स्यन्ति खण्डयन्ति दुःखानि येन तत्। अत्र 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उणा०४.१४६) इति करणकारके मनिन् (दया०, ऋ०१.६२.२)।

९. गायत्री गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः, त्रिगमना वा विपरीता, ''गायतो मुखादुदपतत्'' इति च ब्राह्मणम्। (७.१२)

[खण्डम् – ७]

१०. उष्णिह् उष्णिग् उत्स्नाता भवति, स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः, उष्णीषिणीवेत्यौपमिकम्। (७.१२)

---

९. गायत्रीशब्द ''गायति अर्चतिकर्मा''[१] (निघं०३.१४.२) धातु से निष्पन्न होता है। जिससे स्तुति की जाती है, उसका नाम **'गायत्री'** है [√गै + अत्रन्[२] > गाय् + अत्र > गायत्र + ङीष् > गायत्री]। त्रीणि गमनानि चरणानि सन्ति यस्याः सा गायत्री, तीन गमन (पाद) हैं जिसके, वह **'गायत्री'** कहाती है। अथवा, त्रिभ्य ऋग्यजुःसामभ्यः पादशः गमनं यस्याः सा गायत्री अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदों से क्रमशः उनके सारभूत तीन पाद जिसके निकले हैं, उसका नाम **'गायत्री'** है[३] [त्रि + गम (विपरीत करने पर) > गम + त्रि > गाय (आदेशः) + त्रि > गायत्रि + ङीष् > गायत्री]। गान (उपदेश) करते हुए परमात्मा के मुख से सर्वप्रथम निकलने (उपदिष्ट होने) के कारण आद्य (अग्निमीळे० आदि के) छन्द का नाम 'गायत्री' है [√गै शब्दे (१.६५३) + √पत्लृ गतौ (१.५८४) > गा + पत् + रक् > गा + यत् + र > गायत्र + ङीष् > गायत्री]।

१०. जिससे उत्कृष्ट शुद्धता (पवित्रता) प्राप्त होती है, उसका नाम **'उष्णिक्'** है [उत् + √ष्णा शौचे (२.५४) + क्विन्[४] > उत् + स्ना > उ + स्नि > उष्णिक्]। अथवा, गायत्री की अपेक्षा से चार अक्षर जिसमें (उत्) अधिक (२४+४ = २८) आवेष्टित होने (जुड़ने) के कारण **'उष्णिक्'** नाम है[५] [उत् + √ष्णै वेष्टने शोभायाञ्च (१.६५७) + क्विन् > उत् + स्ना > उष्णिक् (पूर्ववत्)]। प्रीत्यर्थक ''स्निह'' धातु से भी उष्णिक् शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह देवों का प्रिय छन्द है अथवा प्रिय (अभीष्ट)

---

१. गै शब्दे (१.६५३) इति पाणिनिः।
२. अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् (उणा०३.१०५) इति बाहुलकादिहाप्यत्रन्, स च षित्।
३. त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ (मनु०२.७७)
४. ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च (अष्टा०३.२.५९) इति निपातनम्।
५. सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यर्पितानि (अथर्व०८.९.१९)।

११. उष्णीषम् उष्णीषं स्नायतेः। (७.१२)

१२,१३. ककुब्*,कुब्जः ककुप् ककुभिनी भवति, ककुप् च कुब्जश्च कुजतेर्वा, उब्जतेर्वा। (७.१२)

वस्तुओं या प्रेम का प्रतिपादक होने से **'उष्णिक्'** नाम है [उत् + √स्निह प्रीतौ (४.८९) + क्विन् > उत् + स्निह् > उ + ष्णिह् > उष्णिक्]। उष्णीष (पगड़ी) के समान होने से **'उष्णिक्'** नाम है अर्थात् जैसे उष्णीष के बांधने से शिर बड़ा दीखता है, ऐसे ही चार अक्षर का आवेष्टन (वृद्धि) होने से गायत्री से बड़ा दीखने के कारण इस छन्द का नाम **'उष्णिक्'** [उष्णीष > उष्णिक्]।[1]

११. **'उष्णीष'** शब्द ''ष्णा शौचे'' (२.५४) अथवा ''ष्णै वेष्टने शोभायाञ्च'' (१.६५७) धातु से उपपन्न होता है, क्योंकि पगड़ी शुद्ध एवं शुभप्रद होती है या शिर पर लपेटी जाती है [उत् + √स्ना + ईषन्[2] > उ + ष्ण् + ईष > उष्णीष]।

१२, १३. गौ के पृष्ठभाग पर उठा हुआ भाग ककुब् (कुब्बड़, शिखर) कहाता है। उसके समान जिस छन्द के मध्यस्थ पाद में अक्षर अधिक (८+१२+८ = २८) हों, उसे **'ककुभ्'** कहते हैं। (यह उष्णिक् छन्द का ही एक भेद है) [ककुभ् > ककुभ्]। **'ककुप्'** और **'कुब्ज'** (कुबड़ा) शब्द दोनों ही कुटिलार्थक कुज इस नैरुक्तधातु से उपपन्न होते हैं, क्योंकि इनका मध्यस्थ भाग उठा हुआ होने से टेढ़ा दीखता है [√कुज् + क्विप् (श्लुवच्च) > कुकुज् > ककुभ्; कुज् + क > कुज् + अ > कुब्ज् + अ > कुब्ज]। **'ककुप्'** और **'कुब्ज'** दोनों शब्द ''उब्ज आर्जवे''[3] (६.२०) धातु से भी उपपन्न होते हैं, क्योंकि वे मध्यभाग के दोनों पार्श्व दबे हुए होते हैं [√उब्ज् + क्विप् > उब्ज् > ककुभ् (आदेशः); उब्ज् + क > उब्ज् + अ > क् + उब्ज् + अ > कुब्ज]।[4]

---

१. उष्णिक् = यद् दुःखानि दहति तम् (दया०, यजु०१४.१०)। उष्णिहा = यया उषः स्निह्यति तया [क्रियया] (दया०, यजु०२३.३३)। उष्णिहे = उत्कृष्टतया स्निह्यति यया, तस्यै क्रियायै (दया०, यजु०२४.१२)।

२. शॄपॄभ्यां किच्च (उणा०४.२८) इति बाहुलकादिहापीषन्प्रत्ययः। स च 'स्नायतेः' इति यका निर्देशात् 'कर्मणि' भवति।

३. आर्जवम् = दबाना, दमन करना, सरल, सीधा चलना या बरतना।

४. ककुभः दिङ्नाम (निघं०१.६.७)। बहुवचनरूपमिदम्।

१४. अनुष्टुब्* अनुष्टुब् अनुष्टोभनात्। ''गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेन अनुष्टोभति'' इति च ब्राह्मणम्। (७.१२)

[खण्डम् – ८]

१५. बृहती बृहती परिबर्हणात्। (७.१२)

१६. पंक्तिः पंक्तिः पञ्चपदा। (७.१२)

---

१४. अनुस्तोभन अर्थात् गायत्री का अनुकरण करता हुआ स्तुति करने के कारण **'अनुष्टुब्'** नाम है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी कहा गया है कि आठ-आठ अक्षर के गायत्रीछन्द का अनुकरण करता हुआ अर्थात् आठ-आठ अक्षर के पादों वाला होकर और चौथे एक अतिरिक्त पाद (८×४ = ३२) से युक्त होकर स्तुति करता है, इसलिए इस छन्द का नाम **'अनुष्टुप्'** है [अनु + √स्तोभति अर्चतिकर्मा (निघं० ३.१४.४) + क्विप् > अनु + स्तुभ् > अनुस्तुभ्]।[1]

१५. परिबर्हण से अर्थात् चार अक्षरों की वृद्धि[2] (अनुष्टुप् छन्द के प्रत्येक पाद में एक-एक अक्षर की वृद्धि– ९×४ = ३६) होने से इस छन्द का नाम **'बृहती'** है। अथवा, यह छन्द अपने ३६ अक्षरों से सभी लोकों को व्याप्त करता है[3], इसलिए भी इसका नाम **'बृहती'** है [√बृह वृद्धौ (१.४८८) + अति[4] > बृह् + अत् > बृहत् + ङीष् > बृहती]।

१६. आठ-आठ अक्षर के पांच पादों का समुदाय वाला (८×५ = ४०) होने से इस छन्द का नाम **'पङ्क्ति'** है [पञ्च पादा परिमाणमस्याः सा पंक्तिः। पञ्चन् + ति[5] (परिमाणार्थे समाहारे वा) > पञ्च् + ति > पङक् + ति > पङ्क्ति]।

---

१. अनुष्टुप् = श्रुत्वा पश्चात् स्तुभ्नाति जानाति शास्त्राणि यया मननक्रियया सा (दया०, यजु०१५.५)। यया पठित्वा पुनः सर्वा विद्या अन्येभ्यः स्तुवन्ति सा (दया०, यजु०१०.१३)। अनुष्टोभते स्तभ्नात्यज्ञानं यः [अध्यापकः] (दया०, यजु०८.४७)।

२. बृहती बृंहतेर्वृद्धिकर्मणः (दै०ब्रा०३.११)।

३. बृहत्यु ह वा इमान् सर्वान् लोकान् अक्षरैर्व्याप्नोति। दशभिरक्षरैरिमं लोकं व्याप्नोति, दशभिरन्तरिक्षं, दशभिरमुं, चतुर्भिर्दिशो, द्वाभ्यामहोरात्रे (जै०ब्रा०२.११३; तुलना– ऐ० ब्रा०४.२४, तां०ब्रा०७.४.३)।

४. वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उणा०२.८५)।

५. पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्० (अष्टा०५.१.५८) इति निपातनम्।

१७. त्रिष्टुब् त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा। का तु त्रिता स्यात्? तीर्णतमं छन्दः। त्रिवृद् वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा। ''यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वम्'' इति विज्ञायते। (७.१२)

१८. त्रिता का तु त्रिता स्यात्? तीर्णतमम् (छन्दः)। (७.१२; ४.६; ९.२५)

[खण्डम् – ९]

१९. जगती* जगती गततमं छन्दः, जलचरगतिर्वा, जल्गल्यमानोऽसृजत् इति च ब्राह्मणम् (७.१३)

---

१७. त्रिष्टुप् शब्द कैसे बना है? उसके उत्तरपद में स्तोभति अर्थात् स्तुभ् धातु है। तो पूर्वपद में त्रित्व (त्रि) क्या है? (इस त्रिशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त दो हैं –) १. तीर्णतममिति त्रिः अर्थात् गायत्री आदि छन्दों से पार गया (बढ़ा) हुआ या तेज छन्द है, पंक्ति से भी ४ अक्षर बढ़कर ४४ अक्षर का छन्द है। इसप्रकार तीर्णतम होता हुआ स्तुति करने वाला होने से इस छन्द का नाम **'त्रिष्टुब्'** है [तीर्णतमश्च स्तोभति च। त्रि + √स्तोभति अर्चतिकर्मा (निघं० ३.१४.४) + क्विप् > त्रि + स्तुभ् > त्रिष्टुभ्]। २. त्रिवृद् का अर्थ वज्र है, क्योंकि वह तीन ओर से तीक्ष्ण होता है। उस वज्र (क्षात्रधर्म)[1] की स्तुति करता है, वर्णन करता है, इसलिए भी **'त्रिष्टुब्'** नाम है [त्रिवृतं वज्रं क्षात्रधर्मं स्तोभति स्तौतीति त्रिष्टुप्। त्रि + √स्तुभ् + क्विप् > त्रिष्टुभ्]।[2]

१८. त्रिता का अर्थ क्या है? इसका अर्थ तीर्णतम अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत, व्यापक, बड़ा व प्रशंसित है [त्रि + तल् > त्रिता]।

१९. गायत्री आदि सात छन्दों में सर्वाधिक बड़ा होने से ४८ अक्षर के छन्द

---

१. क्षत्रस्यैवैतच्छन्दो यत्त्रिष्टुप् (कौ०ब्रा०१०.५), त्रिष्टुप्छन्दा वै राजन्यः (तै०सं०१.१.९६), ब्रह्म गायत्री, क्षत्रं त्रिष्टुप् (शत०ब्रा०१.३.५.५)।

२. त्रिष्टुभम् = त्रिषु सवनेषु प्रशस्यां त्रिभिर्देवैः स्तुता यद्वा त्रिष्टुप्छन्दसा सम्बद्धां माध्यन्दिन-सवनिकीम् (सायणः, ऋ०८.७.१)। त्रिष्टुप् = याऽऽध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकानि त्रीणि सुखानि स्तोभते स्तभ्नाति वा (दया०, यजु०२३.३३)। त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि स्तुवन्ति यया सा [छन्दः] (दया०, यजु०१४.१०)। एतच्छन्दोऽभिहितं विज्ञानम् (दया०, यजु०१०.११)। त्रिष्टुभे = त्रयाणां शारीरिकवाचिकमानसानां सुखानां स्तम्भनाय स्थिरी-करणाय (दया०, यजु०२४.१२)।

२०. विराट् विराड् विराजनाद्वा, विराधनाद्वा, विप्रापणाद्वा। विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा, विराधनाद् ऊनाक्षरा, विप्रापणाद् अधिकाक्षरा वा। (७.१३)

२१. पिपीलिका पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः। (७.१३)

का नाम **'जगती'** है।[1] (इसके बाद ५२, ५६ आदि अक्षरों के अतिच्छन्द आरम्भ होते हैं) [√गम्लृ गतौ (१.७०९) + अति[2] > जग (आदेशः) + अत् > जगत् + ङीष् > जगती]। जल में चलने वाली तरङ्गों के समान उच्च-नीच उच्चारणरूपी गति होने से इसका नाम **'जगती'** है [जलचर + गति > ज + गति > जगति + ङीष् > जगती]। बहुधा स्तूयमान परमेश्वर ने इसका उपदेश किया है, इसलिए इसका नाम **'जगती'** है [√गॄ शब्दे (९.२९) / √गल स्रवणे (१०.१६८) + अति > जग + अत् > जगत् + ङीष् > जगती]।[3]

२०. 'विराजनाद् विराट्' अर्थात् अपेक्षित सम्पूर्ण अक्षरवाले के समान अर्थप्रकाशन में समर्थ छन्द का नाम **'विराट्'** है [वि + √राजृ दीप्तौ (१.५६९) + क्विप् > विराज् > विराट्]। 'विराधनाद् विराट्' अर्थात् न्यूनाक्षर (विगत ऋद्धि) वाला होने से भी 'विराट्' नाम है [वि + √राध संसिद्धौ (५.१७) + क्विप् > वि + राध् > वि + राज् > विराट्]। 'विप्रापणाद् विराट्' अर्थात् अधिकाक्षर होने पर भी अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के कारण **'विराट्'** नाम है [वि + प्र + √आप्लृ व्याप्तौ (५.१५) + क्विप् > वि + प्र + आप् > वि + प्राप् > वि + राज् (आदेशः) > विराट्]।[4]

२१. **'पिपीलिका'** शब्द ''पेलृ गतौ''' (१. ३६४) धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि चींटी निरंतर चलती रहती है [√पेल् + क (लिड्वत्) > पिपेल् + अ > पिपील + इकन् (स्वार्थे)[5] > पिपीलिका]।

---

१. जगती गततमं छन्दः (दै०ब्रा०३.१७)।

२. वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उणा०२.८५)।

३. जगती गोनाम (निघं०२.११.८)। जगतीषु = विविधासु पृथिव्यादिषु सृष्टिषु (दया०, ऋ० १.१५७.५)।

४. विराजम् = विविधानां पदार्थानां प्रकाशकम् [छन्दः] (दया०, यजु०२८.३१)। [विशेषेण राध्नोति साधयति पदार्थानिति विराट्]।

५. पिपीलः = पिपीलिका (सायणः, ऋ०१०.१६.६)।

चतुर्थः पादः [खण्डम् – १]

२२. अग्निः* अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः, न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः – इताद् अक्ताद्दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः। (७.१४)

---

२२. अग्नि नाम किस कारण से है? 'अग्रणीर्भवतीत्यग्निः' अर्थात् ईश्वर, गुरु, राजा आदि आगे ले जाने वाले (प्रेरक) होते हैं, भौतिक अग्नि भी वायु आदि में आगे चलने की गति प्रदान करता है, अतः इनका नाम **'अग्नि'** है। अथवा, अग्रणीः का अर्थ प्रधान व मुख्य भी होता है। अग्निर्देवानां मुखम् – अग्नि सब देवों में मुख्य होने से भी उसका नाम **'अग्नि'** है [अग्र + √णीञ् प्रापणे (१.६४२) + इण् (डित्)[1] > अग् + न् + इ > अग्नि]। यज्ञकर्मों में सर्वप्रथम जिसका प्रणयन (मथन एवं आधान) किया जाता है, उसका नाम **'अग्नि'** है [अग्र + √नी + इण् (डित्) > अग् + न् + इ > अग्नि]। 'सन्नममानो ऽङ्गं नयतीत्यग्निः'— अनुकूल होता हुआ अन्य पदार्थों में प्रविष्ट होकर उनका अङ्ग (अवयव) बन जाता है, उन्हें अपना ताप या प्रकाश दे देता है अथवा प्राप्त हुए पदार्थों को अपना अङ्ग बना लेता है, अग्निसात् (भस्मीभूत) कर देता है अथवा प्रकाशित होता हुआ नेत्राङ्ग को रूप प्राप्त (दर्शन) कराता है [अङ्ग + √नी + इण् (डित्) > अग् + न् + इ > अग्नि]। 'अक्नोपनो भवतीत्यग्निः' जो स्नेह (स्निग्ध) रहित, रूखा-सूखा होता है, अथवा शीतल न होकर उग्र व उष्ण होता है या अन्य के रसों को सुखा कर शुष्क करता है, उसका नाम **'अग्नि'** है, ऐसा स्थौलाष्ठीवि आचार्य का मत है [नञ् + √क्नूयी शब्दे उन्दे च (१.३२६) + इण् (डित्) > अ + क्नूय् + इ > अ + क्न् + इ > अ + ग्न् + इ > अग्नि]। (क्नूय्धातु का अर्थ क्या है?) क्नूय्धातु का अर्थ स्निग्ध (गीला) होना है। शाकपूणि आचार्य का मत यह है कि— √अग्निशब्द तीन धातुओं के योग से उपपन्न होता है। (वे तीन धातुएँ कौन-कौन सी हैं?) इण् गतौ (२.३८), ''अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु'' (७.२०) अथवा ''दह भस्मीकरणे''

---

१. वातेर्डिच्च (उणा०४.१३५) इति बाहुलकाद् नयतेरपि इण्प्रत्ययः।

२३. अक्नोपनः अक्नोपनो न क्नोपयति न स्नेहयति। (७.१४)

[खण्डम् – २]

२४. देवः* देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा। (७.१५)

(१.७१७), ''णीञ् प्रापणे'' (१.६४२)। (इन तीन धातुओं से अग्निशब्द कैसे सिद्ध होता है?) इण्धातु से सिद्ध अयः, आयः, अयनम् आदि शब्दों से अकार का ग्रहण करना चाहिए और अञ्जूधातु से निष्पन्न अङ्ग (घञ्), अग् (क्विप्), अङ्ग्यम् (ण्यत्) आदि शब्दों से गकार का ग्रहण करना चाहिए अथवा दहप्रकृतिक दग्ध, दग्ध्वा, दग्धम्, धग् आदि शब्दों से गकार को लेना चाहिए। इन दो धातुओं (इण् + √अञ्जू / √दह्) के उपपद में रहते अन्त में नी धातु है। इसप्रकार भी अग्निशब्द की सिद्धि की जानी चाहिए, ऐसा शाकपूणि निरुक्ताचार्य का मत है [√इण् + √अञ्जू / √दह + √नी + इण् (डित्) > अ + ग् + न् + इ > अग्नि]।[1]

२३. अक्रोपनशब्द नञ् उपपद रहते ''क्नूयी शब्दे उन्दे च'' (१.३२६) धातु से व्युत्पन्न होता है। क्नूयीधातु का अर्थ स्निग्ध (गीला) होना है [√क्नूय् + पुक्[2] + णिच् + युच् > क्नोपि + अन > क्नोपन, नञ् + क्नोपन > अक्रोपन]।

२४. विद्या, सुख, आनन्द, ऐश्वर्य आदियों का प्रदाता व स्तुत्य होने से **'देव'** नाम है [√दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (४.१) + अच् > देव]। दीपन अर्थात् प्रकाशित होने या करने के कारण भी **'देव'** नाम है [√दीपी दीप्तौ (४.४१) + अच् > देव् (आदेशः) + अ > देव]। प्रदीप्त होने या करने के कारण भी **'देव'** नाम है[3] [√द्युत दीप्तौ (१.४९३) + अच् > द्यु[4] + अ > दिव् + अ > देव]। द्युस्थान अर्थात् प्रकाशलोक व ज्ञानलोक वाले होने से सूर्य, नक्षत्र, ईश्वर आदि का नाम **'देव'** है [द्युवासो देवः। द्यु + वास (स्थानार्थे) > दिव् + व > दि + व > देव]।

---

१. अङ्गेर्नलोपश्च (उणा०४.५१)— √अगि गत्यर्थः (१.८८) धातोर्निप्रत्ययः उपधाया नकारस्य च लोपः[अङ्ग् + नि > अग् + नि > अग्नि]। अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स अग्निः, वह्निः प्रसिद्धो वा (दया०, तत्रैव)।
२. अर्त्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग् णौ (अष्टा०७.३.३६)।
३. धातुमात्र का भेद है, अर्थ पूर्व के समान है।
४. तकारलोप आर्षः। द्यु > द्-य्-उ > द्-इ-व् > दिव्।

२५. देवता यो देवः सा देवता। (७.१५)

२६. होता होतारं ह्वातारम्, जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। (७.१५; ४.२६)

२७. रत्नधातमम् रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्। (७.१५)

[खण्डम् – ४]

२८. समना, समनम्* समनं समननाद्वा, सम्माननाद्वा। (७.१७)

---

२५. जो देव हैं, वे ही **'देवता'** कहलाते हैं अर्थात् दोनों समानार्थक हैं [देव + तल् (स्वार्थे)[1] > देवता]।

२६. ऋङ्मन्त्रों (पुरोनुवाक्या आदि मन्त्रों) से यज्ञ में देवताओं का आह्वान करने वाला ऋग्वेदीय ऋत्विक् विशेष का नाम **'होता'** है [√ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च (१.७३३) + तृन् / तृच्[2] > ह्वा + तृ > हु + तृ > होतृ]। और्णवाभ आचार्य का मत है कि– ''हु दानादानयोः'' (३.१) धातु से 'होतृ' शब्द निष्पन्न होता है। जो याग (त्याग) का (याज्या) मन्त्र पढ़ता है, उस ऋत्विक् विशेष का नाम **'होता'** है [√हु + तृन् / तृच् > होतृ]।

२७. 'रत्नधातमम्' का अर्थ रमणीय, सुखप्रद धनाद्यैश्वर्यों को अतिशयरूप से, सर्वाधिक देने वाला है अर्थात् देने के लिए धारण करने वाला या धारण कराने वाला है [अतिशयेन धापयति, दानार्थं दधाति वा रत्नधातमः। रत्न + √डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०) + क्विप् (कर्तरि) > रत्नधा + तमप् > रत्नधातम]।[3]

२८. अच्छे सामर्थ्य (अनन) व शक्तिशालिनी स्त्रियों का नाम **'समना'** है [सम्यक् अननं प्राणनं यासां ताः। सम् + अनन (√अन प्राणने – २.६३) > सम् + अन > समन]। समनन अर्थात् पति के साथ समान मनन (विचार) के कारण पत्नियों (स्त्रियों) का नाम **'समना'** है [समानं मननं यासां ताः स्त्रियः। समान + मनन > स + मन >

---

१. देवात् तल् (अष्टा० ५.४.२७)।
२. नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षतृहोतृ० (उणा० २.९७)।
३. रत्नानि सर्वजनै रमणीयानि प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनि च जीवेभ्यो दानार्थं दधातीति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमः, तम् (दया०, वे०, भा०न०, ऋ० १.१.१)।

२९. नसन्त* नसन्त नसतिराप्नोतिकर्मा वा नमतिकर्मा वा। (७.१७)

[खण्डम् – ५]

३०. दिव्यः दिव्यो दिविजः। (७.१८; ४.१३)

३१. गरुत्मान् गरुत्मान् गरणवान्, गुर्वात्मा महात्मेति वा। (७.१८)

समन (नित्यनपुंसकलिंगः, जसः स्थाने डादेशे[1]) > समना = समनानि स्त्रियः] अथवा एक ही पति में मन है जिनका, वे स्त्रियाँ **'समना'** कहलाती हैं [समाने एकस्मिन् स्वस्मिन् भर्तरि मनो यासां वर्तते, ताः समानमनस्काः समना। समान + मन > स + मन > समन]। अथवा, अच्छे मान को प्राप्त होने वाली स्त्रियों का नाम **'समना'** है [सम्यक् माननं प्रमाणनम् आदरं वास्ति यासां ताः सम्मानाः सत्यः समनाः। सम् + मानन > सम् + मान > स + मन > समन]।

२९. ''नसति (नस्)'' धातु व्याप्नोति (व्याप्त होना) और नमति (झुकना) अर्थ में प्रयुक्त होता है[2]। इसी धातु से वर्तमानकाल में लङ्[3] होकर **'नसन्त'** रूप सिद्ध होता है [√नस् + शप् + झ (लङि) > नस् + अ + अन्त > नसन्त]।

३०. **'दिव्यः'** की व्याख्या को निरु० ४.१३ पर देखें।

३१. **'गरुत्मान्'** का अर्थ है गरणवान् अर्थात् स्तुतिवान् (स्तुति, प्रार्थना वाला, स्तुत्य या उपदेष्टा) अथवा रसों का आहर्ता आदित्य [√गृ शब्दे (९.२९) / √गृ निगरणे (६.११९) + उति[4] > गर् + उत् > गरुत् + मतुप् > गरुत्मत्]। गरुत्मान् का अर्थ गुर्वात्मा = महात्मा भी है। महान् आत्मा अर्थात् परमात्मा का नाम भी **'गरुत्मान्'** है [गुरुश्चासौ आत्मा चेति तथोक्तम्। गुरु + आत्मन् > गरु + त्मन् > गरुत्मन्]।[5]

---

१. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडा० (अष्टा० ७.१.३९)।
२. नसते गतिकर्मा (निघं० २.१४.७६)। नस कौटिल्ये (१.४१७) इति पाणिनिः।
३. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अष्टा० ३.४.६)। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (अष्टा० ६.४.७५) इत्यटोऽभावः।
४. मृग्रोरुतिः (उणा० १.९४)।
५. गरुत्मान् = गरणवान् पक्षवान् वा। एतन्नामको यः पक्ष्यस्ति (सायणः, ऋ० १.१६४.४६)। गरुतः शब्दा विद्यन्ते यस्य सः (दया०, यजु० १२.४)।

पञ्चमः पादः [खण्डम् – १]

३२. जातवेदाः* जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते-जाते विद्यत इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा

---

३२. 'जातवेदस्' नाम किस कारण से है? उत्पन्न हुए सभी पदार्थों को जानने के कारण अर्थात् सर्वज्ञ होने से परमात्मा का नाम **'जातवेदाः'** है [जातानि उत्पन्नानि सर्वाणि वस्तूनि वेदेति। जात + √विद ज्ञाने (२.५७) + असुन् / असि[1] (कर्तरि) > जात + वेद् + अस् > जातवेदस्]। उत्पन्न हुए सभी प्राणी जिसे जानते हैं, ऐसे अग्नि का नाम **'जातवेदस्'** है [जातानि उत्पन्नानि भूतानि प्राणिन एनं विदुरिति। जात + √विद ज्ञाने (२.५७) + असुन् / असि (कर्मणि) > जातवेदस्]। उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान होने के कारण सर्वव्यापक परमात्मा या अग्नि का नाम **'जातवेदस्'** है [जाते जाते प्रत्येकस्मिन्नुत्पन्ने पदार्थे विद्यत इति। जात + √विद सत्तायाम् (४.६०) + असुन् / असि > जात + विद् + अस् > जातवेदस्]। जातवित्त का अर्थ जातधन है अर्थात् जिससे धनादि ऐश्वर्य[2] उत्पन्न होता है, उसका नाम **'जातवेदस्'** है। अथवा, उत्पन्न हविरूप धन है जिसका, उस अग्नि का नाम **'जातवेदस्'** है। अथवा, उत्पन्न वस्तुएँ धन हैं जिसका, वह **'जातवेदस्'** है [जातम् उत्पन्नं वेदो वित्तं धनं यस्मात् यस्य वा सः, जातान्येव वस्तूनि वित्तानि यस्य सः। जात + वेदस् > जातवेदस्]। 'जातविद्यः' का अर्थ है 'जातप्रज्ञानः' अर्थात् जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है। अथवा, जिसे सभी पदार्थों का प्रज्ञान हो गया है, या जो जन्म से ही प्रज्ञाशील[3] (प्रतिभावान्) है, उसका नाम **'जातवेदस्'** है। अथवा, उत्पन्न पदार्थ जिसके लिए विद्या (ज्ञान) अर्थात् ज्ञातव्य हैं, उसका नाम **'जातवेदस्'** है [जातं प्राप्तं वेदो ज्ञानं यस्य सः, जातस्योत्पन्नस्य सर्वस्य

---

१. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४.१९०), गतिकारकयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च (उणा० ४.२२८) इति वा असिप्रत्ययः।

२. वेदः धननाम (निघं०२.१०.४)।

३. जातवेदाः=श्रवणमननादिसाधननिरपेक्षेण स्वभावत एव साक्षात्कृतपरतत्त्वस्वरूपः, यद्वा जन्मना उत्पत्त्या जातवेदा जातप्रज्ञोऽस्मि, उत्पत्तिक्षण एव सर्वज्ञोऽहमस्मि, अथवा जातं सर्वं स्वात्मरूपतया वेत्तीति जातवेदाः, सर्वात्मक इत्यर्थः (सायणः, ऋ०३.२६.७)।

जातप्रज्ञानः "यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्" (मै० सं०१.८.२) इति ब्राह्मणम्। (७.१९)

षष्ठः पादः [खण्डम् – १]

३३,३४. वैश्वानरः*, विश्वानरः* वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति, विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एव स्यात्, प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि। तस्य वैश्वानरः। (७.२१)

वस्तुनः ज्ञानं यस्य वा सः, जातेन जन्मना वेदो ज्ञानं यस्य वा सः, जातानि वस्तूनि वेद्यानि यस्मै, सः। जात + वेदस् (विद्या) > जातवेदस्]। ब्राह्मणकारों का कहना है कि अग्नि प्रकट होते ही पशुओं अर्थात् दर्शनशील मनुष्यों[1] को प्राप्त हो जाता है, यही उस अग्नि का **'जातवेदस्पन'** (जातवेदस् नाम का कारण) है [जातः सन्नेव पशून् मनुष्यान् अविन्दत प्राप्तवान् इति। जात + √विदॢ लाभे (६.१४१) + असुन् / असि > जात + वेद् + अस् > जातवेदस्]।[2]

३३,३४ 'वैश्वानर' शब्द किस प्रवृत्तिनिमित्त से प्रयुक्त होता है? सभी नरों (मनुष्यों) को शुभाशुभकर्मों के आधार पर तद्योग्य योनि में ले जाता है, इसलिए परमात्मा का नाम **'वैश्वानर'** है [विश्वे च ते नराश्चेति विश्वानराः[3] तान् नयतीति कर्तर्यर्थेऽण्[4], विश्वानर + अण् > वैश्वानरः]। अथवा सभी मनुष्यों और मनुष्योपलक्षित सभी प्राणी एवं पदार्थों को परस्पर यथायोग्य संयोग करता है, अपनी अपनी अवस्थाओं को प्राप्त कराता है, इसलिए ईश्वर का नाम **'वैश्वानर'** है [विश्वान् सर्वान् नरान् तदुपलक्षितान् प्राणिनः पदार्थांश्च नयति परस्परं योजयति, स्वस्वावस्थां वा प्रापयतीति वैश्वानरः। पूर्ववद् व्युत्पत्तिः]।

---

१. तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वा पुरुषा अजावयः (अथर्व०११.२.९)।

२. तद्यज्जातं जातं विन्दते तस्माज्जातवेदाः (शत०ब्रा०९.५.१.६८); प्राणो वै जातवेदाः, स हि जातानां वेद (ऐ०ब्रा०२.३९)। अपि च द्र० ऐ०ब्रा०३.३६। जाता वेदा यस्मात् स जातवेदाः (द्र० पं०वि०, सन्ध्या–उदुत्यं०)।

३. नरे संज्ञायाम् (अष्टा०६.३.१२८) इति पूर्वपदस्य दीर्घः।

४. नयत्यर्थे छान्दसोऽण्। तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः (अष्टा० ५.१.४९) इति हरत्यर्थेऽण् यथा लोके भवति।

[खण्डम् – २]

तत् को वैश्वानरः? मध्यम इत्याचार्याः— वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति। (७.२२)

[खण्डम् – ३]

३५. पूरवः* पूरवः पूरयितव्या मनुष्याः। (७.२३)

सभी मनुष्य ईश्वर व उसके कर्मफलव्यवस्था (नियन्त्रण) को या अग्नि को प्राप्त करते हैं, अत एव ईश्वर, अग्नि आदि का नाम **'वैश्वानर'** है [विश्वानरा एनं नयन्ति प्राप्नुवन्तीति कर्मण्यर्थेऽण्, विश्वानर + अण् > वैश्वानर], अथवा सभी मनुष्य जिसे ले जाते हैं, उस अग्नि आदि का नाम **'वैश्वानर'** है [पूर्ववत्]। सब चराचर भूतों का नेता, नियन्ता परमात्मा का नाम **'वैश्वानर'** है [विश्वेषां चराचरभूतानां नेता नियन्ता विश्वानरः, स एवेति स्वार्थेऽण्। विश्वानर + अण् > वैश्वानर], अथवा (वैश्वानर का अर्थ) विश्वानर ही है। (कैसे?) सभी चराचरभूतों को प्राप्त किया हुआ, उनमें पहुंचा हुआ (विद्यमान) होने से परमात्मा का नाम **'वैश्वानर'** है, उसीका (वाचक अर्थात् स्वार्थिक शब्द) 'वैश्वानर' है [विश्वान् अरः[1] अर्थात् सर्वाणि भूतानि प्रत्यृतो विश्वानरः, विश्वान् + अरः > विश्वानरः (विभक्तेरलुक्), स्वार्थेऽणि वैश्वानरः]।

(वैश्वानरशब्द से आत्मा, इन्द्र, आदित्य, वायु, आकाश, उदक, पृथिवी आदि अर्थ जाने जाते हैं) तो उनमें वैश्वानर है कौन? प्राचीन नैरुक्त आचार्य तो कहते हैं कि मध्यम अर्थात् अन्तरिक्षलोक सम्बन्धी देवता विद्युत् (इन्द्र) या वायु का नाम **'वैश्वानर'** है, क्योंकि वृष्टिकर्म के हेतु अन्तरिक्षस्थानीय देवता की स्तुति की जाती है।[2]

३५. वृष्टिजल की अपेक्षा रखने वाले मनुष्य कामनाओं से भरने योग्य हैं,

---

१. 'विश्वानर एव स्याद्' इत्यत्र 'विश्वान् अरः॰' इत्यपि छेदः क्रियते। √ ऋ गतिप्रापणयोः (१.६७०) इत्यस्मात् कर्तर्यचि 'अरः' (प्राप्तः) इति सिध्यति।

२. विश्वश्चायं नरश्चेति, विश्वेषां वायं नरः, विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा, सर्वात्मत्वात् । विश्वानर एव वैश्वानरः, तद्धितोऽनन्यार्थः राक्षसवायसादिवत् (शंकराचार्यः, वेदान्त॰, १.२.२८)। वैश्वानर=ओषधीषु मनुष्येषु भूम्यां संवत्सरे तथा। पचन् यो वर्तते सोऽग्निर्वैश्वानर इति स्मृतः।। (वेंकटः, ऋ॰१.५९.१)। विश्वेषां नराणां जाठररूपेण सम्बन्धिन् अग्ने (सायणः, ऋ॰१.५९.१)। सर्वेषु मनुष्येषु विद्याप्रकाशक! (दया॰, ऋ॰ १.९८.३)। विश्वे चेमे नरा इति विश्वानराः, तेषामयं स्वामी इति वैश्वानरः— तस्येदम्

३६. दस्युः दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात् — उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः, उपदासयति कर्माणि। (७.२३)

सप्तमः पादः [खण्डम् – १]

३७. घृतम्* घृतमिति उदकनाम (निघं॰१.१२.१०) — जिघर्तेः सिञ्चति-कर्मणः। (७.२४)

मनुष्य पालन (रक्षण) के योग्य हैं, अतः मनुष्य का नाम **'पुरु'** है[1] [√पूरी आप्यायने (४.४२) + उ[2] > पूर् + उ > पूरु]।

३६. दस्युशब्द ''दसु उपक्षये'' (४.१०३) धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें (वृष्ट्यभाव काल में) फसल, ओषधि आदियों का रस और सरोवरादि का जल सूख जाता है। इसलिए वृष्ट्यभाव का नाम **'दस्यु'** है [√दस् + युच्[3] > दस्यु]। यज्ञ, दान आदि शुभकर्मों को अकाल नष्ट कर देता है, रोक देता है। अतः शुभकर्मों का विध्वंसक होने से अकालादि का नाम 'दस्यु' है [पूर्ववत्]।

३७. 'घृतम्' शब्द जल का वाचक है, क्योंकि यह क्षरित (गिरना, बहना) अर्थ वाले ''घृ क्षरणदीप्त्योः'' (३.१४) धातु से व्युत्पन्न होता है। बादलों से गिरने वा पहाड़ों

(अष्टा॰४.३.१२०) इत्यण्। वैश्वानर=यो विश्वान् नरान् धर्मकार्येषु नयति, तत्सम्बुद्धौ [राजन्] (दया॰, ऋ॰६.७.४)। वैश्वानरम्=सर्वेषु नरेषु नीतिषु प्राप्तेषु पदार्थेषु व्याप्तम् [अग्निम्] (दया॰, ऋ॰३.३.५)। यो विश्वान् नरान् आनन्दान् नयति तम् [अग्निम्] (दया॰, यजु॰७.२४)। विश्वानरः=विश्वेषां नायकः [उपदेशकः] (दया॰, यजु॰३३.३४)। व्युत्पत्तिरित्थं च भवितुमर्हति— विश्वं सर्वं वस्तु आनृणाति समन्ताद्भावेन व्याप्नोतीति विश्वानरः, स एव वैश्वानर ईश्वरोऽग्निश्च, सर्वेषु विद्यमानत्वात् [विश्व + √नॄ नये (९.२६) + अच् > विश्व + नर > विश्वानर > वैश्वानर]।

१. पुरवः मनुष्यनाम (निघं॰२.३.२०)।

२. भृमृशीङ्...मस्जिभ्य उः (उणा॰ १.७) इति बाहुलकाद् पूरीधातोरपि उप्रत्ययः।

३. यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् (उणा॰ ३.२०) ।

[**खण्डम् – २**]

३८. जमदग्नयः जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा। तैरभिहुतो भवति। (७.२४)

[**खण्डम् – ४**]

३९. महिषाः* (महिषा) महत्यन्तरिक्षलोक आसीनाः, महान्त इति वा। (७.२६; १४.१३)

से प्रवाहित होने के कारण जल का नाम **'घृतम्'** है[१] [√घृ + क्त[२] > घृत]।[३]

३८. **'जमदग्नयः'** का अर्थ है – आहुतियों द्वारा जिमाया गया अर्थात् प्रदीप्त किया गया, तीव्र यज्ञाग्निवाला यजमान [प्रजमिता हविषा भोजिता अग्नयो येषां ते। √जमु अदने (१.३१७) + अति[४] / शतृ (भूते) > जमत् + अग्नि > जमदग्नि]। प्रज्वलित (आहुत) अग्निवाले यजमानों का नाम **'जमदग्नि'** है [जमत् ज्वलतो नामधेयम् (निघं०१.१७.१)। जमद् ज्वलद् यज्ञाग्निर्येषां ते जमदग्नयः। जमत् + अग्नि > जमदग्नि]।[५]

३९. **'महिषाः'** का अर्थ है – महान् अन्तरिक्षलोक में आसीन (मरुद्गण) [√मह पूजायाम् (१.४८५) + क्विप् > मह्; महि (सप्तम्येकवचनम्) सीदन्तीति महिषाः। महि + √सद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (१.५९३) + ड[६] > महि[७] + सद् + अ > महि + स् + अ > महिष[८] + जस् > महिषाः]। मरुद्देव महान् होने से भी 'महिष' कहलाते हैं [√मह् + टिषच्[९] > मह् + इष > महिष]।[१०]

---

१. यज्ञादियों में ओदन, पुरोडाश आदियों पर घी का सिञ्चन (आघार) किया जाता है, अतः घी का भी नाम 'घृतम्' है ।
२. अञ्जिघृसिभ्यः क्तः (उणा० ३.८९) ।
३. घृतम् = प्रदीप्तविज्ञानम् (दया०, ऋ० १.१३५.७) ।
४. वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उणा०२.८५)।
५. चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यति, अथो मनुते, तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः (शत० ८.१.२.३)। जमदग्निः = प्रज्वलिताग्निर्नयनम् (दया०, यजु०१३.५६)
६. अन्येष्वपि दृश्यते (अष्टा०३.२.१०१)।
७. तत्पुरुषे कृति बहुलम् (अष्टा०६.३.१३) इति सप्तम्या अलुक्।
८. सुषामादिषु च (अष्टा०८.३.९८) इति षत्वम्।
९. अविमह्योष्टिषच् (उणा०१.४५)।
१०. महिषः महन्नाम (निघं०३.३.८)।

४०. ऋग्मियम् ऋग्मियम् ऋग्मन्तमिति वा, अर्चनीयम् इति वा, पूजनीयम् इति वा। (७.२६)

४१. विवस्वान् विवस्वान् विवासनवान्। (७.२६)

४२. परावतः* (परावतः) प्रेरितवतः परागताद् वा। (७.२६; ११.४८)

---

४०. **'ऋग्मिय'** का अर्थ ऋचाओं (स्तुतियों) वाला है [ऋग्भिः स्तुतिभिस्तद्वन्तमितिः। ऋक् + मिय (मत्वर्थे छान्दसः प्रत्ययः) > ऋग्मिय / ऋग् + घ[१] > ऋग्-मुक् + इय् अ > ऋग्-म् + इय > ऋग्मिय]। अर्चनीय अर्थात् स्तुति के योग्य का भी नाम 'ऋग्मिय' है [√ऋच स्तुतौ (६.१९) + मिय (अर्हार्थे छान्दसप्रत्ययः) > ऋच् + मिय > ऋग्मिय]। पूजा के योग्य का भी नाम **'ऋग्मिय'** है [√अर्च पूजायाम् (१.१२०) + मिय (अर्हार्थे) > ऋच् + मिय > ऋग्मिय]।[२]

४१. **'विवस्वान्'** का अर्थ है – विवासनवान् अर्थात् अन्धकार को हटाने वाला (सूर्य) [विवासनवान् > विवसवान् > विवस्वान्]।[३]

४२. 'परावत्' का अर्थ है प्रेरितवान् (प्रेषित, अत्यन्त दूरवर्ति), इसका पञ्चम्यन्तरूप **'परावतः'** है [प्रेरितार्थे 'परा' इति उपसर्गः, परा + वति[४] > परावत्]। अथवा **'परावतः'** का अर्थ 'परागताद्' भी है अर्थात् दूर तक गये हुए से [परागतार्थे 'परा' इति उपसर्गः, ततः स्वार्थे वतिः, परा + वति > परावत्]।[५]

---

१. मतौ च (अष्टा०४.४.१३६) इति ऋचोऽपि घश्छन्दसि, मुगागमश्च।
२. ऋग्मियाय = ऋग्भिर्यो मीयते स्तूयते, तस्मै [सभाद्यध्यक्षाय]। अत्र ऋगुपपदान्माधातो– र्बाहुलकाद् औणादिको डियच्प्रत्ययः (दया०, ऋ०१.६२.१)। ऋग्मियम् = ऋचां वेदमन्त्राणां निर्मातारम्। ऋगुपपदात् मीञ्धातोः क्विप्, अमि इयङादेशश्च (दया०, ऋ०१.९.९), ऋचां मातरम् (सायणः, तत्रैव)। ऋग्भिर्विक्रियमाणं स्तूयमानमित्यर्थः। स्तुत्या हि देवता विक्रियते। यद्वा, ऋग्भिर्मीयते शब्द्यते इति ऋग्मी, तम् [ऋग्मियम्] (सायण०, ऋ०१.५१.१)।
३. विवस्वतः = अग्निहोत्राद्यर्थं गृहे विशेषेण वसतो यजमानात् (सायणः, ऋ०५.११.३; अपि च द्र० ऋ०३.५१.३)। विवस्वन् = विविधे स्थाने वसति, तत्सम्बुद्धौ [विद्वन् गृहपते] (दया०, यजु०८.५) [वि + √वस् + क्विप् > विवस् + मतुप् > विवस्वत्]।
४. उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (अष्टा०५.१.११७) इति स्वार्थे वतिप्रत्ययः।
५. परावतः दूरनाम (निघं०३.२६.५)। अन्तो वै परावतः (ऐ०ब्रा०५.२)। परावत् = अत्यन्तं दूरभूता वसतिः स्वर्गाख्यास्ति। यद्वा, लिङ्गव्यत्ययः परमं स्थानमिति (सायणः, ऋ० ४.५०.३), परावतः = परागताद् दूरे वर्तमानाद् द्युलोकात् (सायणः, ऋ०८.६.३६)। परावत् = परा गुणा विद्यन्ते यस्मिन् तत् [कर्म] (दया०, ऋ०४.५०.३)।

४३. मातरिश्वा मातरिश्वा वायुः, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति – मातरि आशु अनितीति वा। (७.२६)

[खण्डम् – ५]

४४. मूर्धा मूर्धा मूर्तमस्मिन् धीयते। (७.२७)

---

४३. मातरिश्वा का अर्थ वायु है। (कैसे?) वायु अन्तरिक्ष (माता)[१] में गमन करता है अथवा मेघों को टकराकर छिन्न-भिन्न कर देता है[२], अतः वायु का नाम **'मातरिश्वा'** है [मातरि + √श्वस प्राणने (=गमने)[३] (२.६२) + कनिन्[४] (डित्) > मातरि (सप्तम्या अलुक्) + श्व् + अन् > मातरिश्वन्]। वायु अन्तरिक्ष में शीघ्र गमन करता है, इसलिए भी वायु का नाम **'मातरिश्वा'** है [मातरि + शु[५] + √अन प्राणने[३] (२.६३) + कनिन्[४] (डित्) > मातरि + शु + अन् + अन् > मातरि + शु + अन् > मातरिश्वन्]।[६]

४४. मूर्त अर्थात् शरीर जिसके आश्रय से (कारण) धारित है, उसका नाम **'मूर्धा'** (शिर) है [मूर्त + √डुधाञ् धारणपोषणयोः (३.१०) + कनिन्[४] > मूर्त + धा + अन् > मूर् + ध् + अन् > मूर्धन्]।[७]

---

१. मेघान् निर्मातीति माता अन्तरिक्षम्।
२. श्वसिति वधकर्मा (निघं०२.१९.९)।
३. अनिति गतिकर्मा (निघं०२.१४.१०७)।
४. श्वन्नुक्षन्पूषन्....मातरिश्वन्मघवन्निति (उणा०१.१५९) इति निपातिताः।
५. शु क्षिप्रनाम (निघं०२.१५.१५)।
६. मातरिश्वने = मातरि फलस्य निर्मातरि यज्ञे श्वसिति चेष्टत इति मातरिश्वा यजमानः, तदर्थम् (सायणः, ऋ०१.१४३.२)। मातरिश्वा=वृष्टेर्निर्मातरि अन्तरिक्षे श्वसन् वर्तमानः सन् (सायणः, ऋ०१०.१०५.६), मातर्यरण्यां श्वसिति निवसतीति मातरिश्वा (सायणः, ऋ०३.५.९)। मातरि मातुरुदरे स्थितः सन् श्वासयति प्राणयतीति मातरिश्वा परमात्मा=माता के गर्भ में विद्यमान होकर शिशु का निर्माण करता है, प्राण भरता है, इसलिए परमात्मा का भी नाम 'मातरिश्वा' है। मीयतेऽनया सा माता यथार्थज्ञानं तया श्वयते प्राप्यत इति ईश्वरो मातरिश्वा अर्थात् यथार्थज्ञान, तत्त्वज्ञान से ईश्वर की प्राप्ति होती है, इसलिए ईश्वर का नाम 'मातरिश्वा' है।
७. मूर्धनि=प्रधानाङ्गे (निरु०९.३१.)। मूर्धानाम्=आकर्षेण बद्धारम् [अग्निम्] (दया०, ऋ० ३.२.१४) [मूर्वति बध्नातीति मूर्द्धा। √मुर्वी बन्धने (१.३८४)+कनिन् > मूर्व् + अन् > मूर्ध् + अन् > मूर्धन्]।

[खण्डम् – ७]

४५. आदितेयम् आदितेयम् अदितेः पुत्रम्। (७.२९)

४६. मिथुनौ मिथुनौ कस्मात्? मिनोतिः श्रयतिकर्मा, 'थु' इति नामकरणः, थकारो वा, नयतिः परः, वनिर्वा। समाश्रितौ अन्योऽन्यं नयतो वनुतो वा। मनुष्यमिथुनावपि एतस्मादेव। मेथन्तौ अन्योऽन्यं वनुत इति वा। (७.२९)

---

४५. अदिति अर्थात् अविनाशी प्रकृति से उत्पन्न सूर्य का नाम **'आदितेयम्'** है [अदिति + ढक्[१] > आदितेय]।

४६. 'मिथुन' शब्द किस निमित्त से प्रयुक्त होता है? (पूर्वपद में) आश्रयार्थक, आसेवनार्थक ''मिञ्धातु''[२] से 'थु' नामकरण (प्रत्यय) हुआ और पर अर्थात् उत्तरपद में णीञ् प्रापणे (१.६४२) धातु (से डप्रत्यय होने) से मिथुनशब्द सिद्ध हुआ है अर्थात् परस्पर आश्रित होकर (मिलकर) सुख को प्राप्त कराते हैं, इसलिए उषा - सूर्य आदि जोड़े का नाम **'मिथुन'** है [√मिञ् + थु > मिथु + औ > मिथू = परस्पराश्रितौ; नी + ड > न् + औ > नौ = प्रापकौ; मिथु + न > मिथुन]। अथवा (पूर्वपद में) ''मिञ्धातु'' से 'थ' नामकरण (प्रत्यय) और पर (उत्तरपद) में ''वन सम्भक्तौ'' (१.३१३) या वनोतिः कान्तिकर्मा (निघं० २.६.८) धातु (से कप्रत्यय होने) से मिथुनशब्द सिद्ध होता है अर्थात् परस्पर संयुक्त होकर सुखभागी होते हैं या एक दूसरे को चाहते हैं, इसलिए उषा-सूर्य आदि युगल का नाम **'मिथुन'** है [√मिञ् + थ > मिथ; वन् + क > उन् + अ > उन; मिथ + उन > मिथ् + उन > मिथुन]। मनुष्य अर्थात् स्त्रीपुरुष का जोड़ी वाचक **'मिथुन'** शब्द भी उक्त दो प्रकार से ही सिद्ध होता है। अथवा एक दूसरे के मनोभावों को जानते हुए परस्पर कामना करने के कारण भी स्त्री-पुरुष के युगल का नाम **'मिथुन'** है [√मिथृ मेधाहिंसनयोः (१.६१०) + क > मिथ् + अ > मिथ, वन् + क > उन; मिथ + उन > मिथुन]।[३]

---

१. स्त्रीभ्यो ढक् (अष्टा०४.१.१२०)।
२. √मिञ् प्रक्षेपणे (५.४) इति पाणिनिः।
३. मिथुना=मिथुनौ। मध्यमं च माध्यमिकां च वाचम् इति नैरुक्ताः, यमं च यमीं च इत्यैतिहासिकाः०(निरु०१२.१०)। विरोधं विहाय मिलितौ [विद्वांसौ] (दया०,ऋ०१.८३.३)।

[खण्डम् – ८]

४७. सखायः (सखायः) समानख्याना ऋत्विजः। (७.३०; १३.१३; १४.१०)

[खण्डम् – ९]

४८. प्रतीकम् (प्रतीकं) प्रत्यक्तं भवति, प्रतिदर्शनमिति वा। (७.३१)

---

४७. समान ख्यान (ज्ञान, भाव, स्वभाव, वृत्ति, आख्यान = नाम आदि) वाले ऋत्विक् (आदि) का नाम **'सखि'** (सखा) है [समान + √ख्या प्रकथने (२.५३) + इण् (डित्)[1] > स + ख्य् + इ > स + ख्[2] + इ > सखि]।[3]

४८. आभिमुख्य से प्रत्यागमन का ही नाम **'प्रतीकम्'** होता है [प्रति + √इण् गतौ (२.३८) + कीकन्[4] > प्रति + इ + ईक > प्रतीक]। पुनः पुनः दर्शन को भी **'प्रतीकम्'** कहते हैं [पूर्ववत्]।[5]

---

१. समाने ख्यः स चोदात्तः (उणा०४.१३८) इति इण् प्रत्ययः। स च 'वातेर्डिच्च' (उणा० ४.१३५) इत्यतो डिदित्यनुवर्तनाद् डित्।
२. नौ व्योः यलोपः. (उणा०४.१३७) इति यलोपस्यानुवृत्तेः यकारस्य लोपः।
३. सखायः=एवमपि समानेन्द्रियाः समानपृष्ठोदरपाणिपादाः सन्तः, अपि च समानख्यानाः सर्वे मनुष्याख्याः। समानेषु शास्त्रेषु कृतश्रमाः। वैयाकरणा वैयाकरणानामेव समानख्यानाः, नैरुक्ता एव नैरुक्तानाम् (दुर्गः, निरु०१.९)। सखा=स एव चादित्यो मम सखा समानख्यानः। यथैवाहमेतस्मिन् यज्ञे जगदनुग्राहके कर्मण्यभिप्रवृत्त एवमसावपि तापप्रकाशपाकरसादान-वर्षादिलक्षणे कर्मणि जगदनुग्राहकेऽभिप्रवृत्त इत्येतस्मादावयोः समानख्यानत्वम् (दुर्गः, निरु०३.१६)। सखायम्=एतस्मिन् यज्ञकर्मणि सखायं सहभूतस्य सोमपानस्य ख्यापयितारम् अमीभिः सह मया सोमः पीत इत्येवं वक्तारम्। न हि पापानाम् अधनानाम् अनाहिताग्नीनां चेन्द्रः सखा भवतीत्यभिप्रायः (दुर्गः, निरु०६.२५)।
४. अलीकादयश्च (उणा०४.२६) इति कीकन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।
५. प्रतीकम्=प्रतीतिकरम्, विजयप्रतीतिकरम्, प्रत्येति येन तत् सैन्यम् (दया०, ऋ०६.५०.८; ७.३.६; ७.१.१)।

४९. सुपर्ण्यः सुपर्ण्यः सुपतना – एता रात्रयः। (७.३१, द्र०३.१२)

इति सप्तमोऽध्यायः



---

४९. रात्रियों का पतन (आगमन) प्राणियों के लिए सुखप्रद होता है, इसलिए रात्रियों का नाम **'सुपर्णी'** है [व्युत्पत्ति ३.१२ (सुपर्णशब्द) पर देखें, उसी का यह स्त्रीलिङ्गरूप है]।

७. परिशिष्ट – ४

नैरुक्त एवं पाणिनीय धातुओं की सूची

नैरुक्ता धातवः		पाणिनीया धातवः
१. मंहतिर्दानकर्मा (१.७)	≠[१]	महि वृद्धौ (१.४.२२,आ०)
२. दक्षतिः समर्धयतिकर्मा (१.७)	–	दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च (१.४०३,आ०)
३. दक्षतिरुत्साहकर्मा (१.७)	≠	दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च (१.४०३,आ०) दक्ष गतिहिंसनयोः (१.५२१,आ०)
४. दाशतिर्दानकर्मा (१.७)	=	दाशृ दाने (१.६२२,उ०)
५. बृंहतिर्वृद्धिकर्मा (१.७)	–	बृहि वृद्धौ शब्दे च (१.४८८,प०)
६. वेतिर्गतिकर्मा (१.७;२.६)	–	वी गतिव्याप्ति० (२.४१,प०)
७. गायतिः[२] स्तुतिकर्मा (१.८; ७.१२)	=	गै शब्दे (१.६५३,प०)
८. ध्वरतिः हिंसाकर्मा[३] (१.८)	=	ध्वृ हूर्छने (१.६७२,प०)
९. दघ्यतिः स्रवतिकर्मा (१.९)	≠	दघ घातने पालने च (५.२८)
१०. ह्रादतिः शब्दकर्मा (१.९)	=	ह्राद अव्यक्ते शब्दे (१.२१,आ०)
११. ह्लादतिः शीतीभावकर्मा (१.९)	≠	ह्लादी सुखे अव्यक्ते शब्दे च (१.२२,आ०)
१२. अवतिर्गत्यर्थः (१.१७; १०.२०)	–	अव रक्षणगतिकान्ति० (१.३९६,प०)
१३. स्यतिर्विमोचने (१.१७)	≠	षो अन्तकर्मणि (४.३८,प०)
१४. त्विषिर्ज्वलितिकर्मा[४] (१.१७)	=	त्विष दीप्तौ (१.७२७,उ०)
१५. मार्ष्टिर्गतिकर्मा (१.२०;१३.३)	≠	मृजूष् शुद्धौ (२.५९,प०)
१६. शवतिर्गतिकर्मा[५] (२.२; ३.१८; ४.१३)	=	शव गतौ (१.४८०,प०)
१७. दातिर्लवनार्थे (२.२)	=	दाप् लवने (२.५२,प०)
१८. ददतिर्धारयतिकर्मा (२.२)	≠	दद दाने (१.१६,आ०)
१९. द्रातिर्गतिकुत्सनायाम् (२.३)	=	द्रा कुत्सायां गतौ (२.४७,प०)
२०. कद्रातिर्द्रातिकुत्सनायाम् (२.३)		
२१. मन्दतिस्तृप्तिकर्मा (२.५)	–	मदि स्तुतिमोदमद० (१.१२,आ०)

---

१. = नैरुक्तपाणिनीयधात्वोरर्थः समानः। ≠ नैरुक्तपाणिनीयधात्वोरर्थोऽसमानः। – कश्चनोऽर्थ समानः, कश्चन न। २. गायति अर्चतिकर्मा (३.१९,निघं०३.१४.२)। ३. ध्वरतिर्वधकर्मा (निघं०३.१७.३)। ४. त्विषिर्दीप्तिकर्मा (८.१३) । ५. शवति गतिकर्मा (निघं०२.१४.१७)।

२२. क्षियतिर्निवासकर्मा (२.६; १०.१४)	–	क्षि निवासगत्योः (६.११६,प०)
२३. मीमयतिः शब्दकर्मा (२.६)	=	मीमृ शब्दे (१.३१६)
२४. वेतिर्गतिकर्मा (२.६;१.७)	–	वी गतिव्याप्ति० (२.४१,प०)
२५. हर्यतिः प्रेप्साकर्मा (२.१०; ७.१७)	–	हर्य गतिकान्त्योः (१.३४४,प०)
२६. वारयतिर्निवृत्तिकर्मा (२.१३)	≠	वृञ् आवरणे (१०.२३७,उ०)
२७. रातिर्दानकर्मा (२.१८; ४.१७; ११.३०)	=	रा दाने (२.५०,प०)
२८. रोचतिर्ज्वलतिकर्मा (२.२०; ६.१३; ११.३९)	–	रुच दीप्तावभिप्रीतौ च (१.४९८,आ०)
२९. ब्रवीतिः शब्दकर्मा (२.२२; ५.१९)	=	ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (२.३७,उ०)
३०. बिस्यतिर्भेदनकर्मा वृद्धिकर्मा च (२.२४)	≠	बिस प्रेरणे (४.१०७,प०)
३१. अर्त्तिर्गतिकर्मा (२.२५)	=	ऋ गतिप्रापणयोः (१.६७०)
३२. कालयतिर्गतिकर्मा (२.२५)	=	कल क्षेपे (१०.७२, उ०)[१]
३३. क्रोशतिः शब्दकर्मा (२.२५)	–	क्रुश आह्वाने रोदने च (१.५६५)
३४. क्रंशतिः प्रकाशयतिकर्मा (२.२५; १२.८)		
३५. रदतिः खनतिकर्मा (२.२६)	=	रद विलेखने (१.४३,प०)
३६. पणायतिः पूजाकर्मा (२.२६)	–	पण व्यवहारे स्तुतौ च (१.२९८,आ०)
३७. भ्राजते ज्वलतिकर्मा (२.२८; निघं०१.१६)	=	भ्राजृ दीप्तौ (१.१०९,आ०)
३८. भ्राशते ज्वलतिकर्मा (२.२८; निघं०१.१६)	=	भ्राशृ दीप्तौ (१.५७०,आ०)
३९. भ्राश्यति ज्वलतिकर्मा (२.२८; निघं०१.१६)	=	भ्राशृ दीप्तौ (१.५७०,आ०)
४०. दीदयति ज्वलतिकर्मा (२.२८; १०.१९; निघं०१.१६)		
४१. शोचतिः ज्वलतिकर्मा (२.२८;६.१; ८.११; निघं०१.१६)	≠	शुच शोके (१.१११,प०)
४२. मन्दते ज्वलतिकर्मा (२.२८; २.५, निघं०१.१६)	≠	मदि स्तुतिमोदमद० (१.१२,आ०)
४३. भन्दते ज्वलतिकर्मा (२.२८; निघं०१.१६)	≠	भदि कल्याणे सुखे च (१.११,आ०)

---

१. कल गतौ ०संख्याने च(१०.२९०,उ०), अस्य रूपं कलयति। काल उपदेशे (१०.३०५,उ०), अस्य रुपं कालयति।

४४. रोचते ज्वलतिकर्मा (२.२८; निघं०१.१६)	–	रुच दीप्तावभिप्रीतौ च (१.४९८,आ०)
४५. ज्योतते ज्वलतिकर्मा (२.२८; निघं०१.१६)		
४६. द्योतते ज्वलतिकर्मा (२.२८; निघं०१.१६)	=	द्युत दीप्तौ (१.४९३,आ०)
४७. द्युमत् ज्वलतिकर्मा (२.२८; निघं०१.१६)	=	द्युत दीप्तौ (१.४९३,आ०)
४८. गृणातिः[1] स्तुतिकर्मा (३.५; ९.५)	=	गॄ शब्दे (९.२९,प०)
४९. जमतिर्गतिकर्मा[2] (३.६)	≠	जमु अदने (१.३१७,प०)
५०. मनस्यतिर्मनस्वीभावे (३.७)	≠	मनस् उपतापे (११.४,प०)
५१. धूर्वतिर्वधकर्मा (३.९)	=	धुर्वी हिंसार्थः (१.३८२,प०)
५२. वश्मि कान्तिकर्मा (३.९; निघं०२.६)	=	वश कान्तौ (२.७२,प०)
५३. उश्मसि कान्तिकर्मा (३.९; निघं०२.६)	=	वश कान्तौ (२.७२,प०)
५४. वेति कान्तिकर्मा (३.९; निघं०२.६)	–	वी गति....कान्त्यसनखादनेषु (२.४१,प०)
५५. वेनति कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)		
५६. वेसति कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)		
५७. वाञ्छति कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)	=	वाछि इच्छायाम् (१.१२३,प०)
५८. वष्टि कान्तिकर्मा (३.९; ६.१०; १२.५; निघं०२.६)	=	वश कान्तौ (२.७२,प०)
५९. वनोति कान्तिकर्मा (३.९,निघं०२.६)	=	वनु याचने (८.८,उ०)
६०. जुषते कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)	≠	जुषी प्रीतिसेवनयोः (६.८,आ०)
६१. हर्यति कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)	–	हर्य गतिकान्त्योः (१.३४४,प०)
६२. आ चके कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)	≠	चक तृप्तौ प्रतिघाते च (१.७३,प०)
६३. उशिक् कान्तिकर्मा (३.९,निघं०२.६)	=	वश कान्तौ (२.७२,प०)
६४. मन्यते कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)	≠	मन ज्ञाने (४.६५,आ०)
६५. छन्त्सत् कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)	≠	छदि संवरणे (१०.४६,उ०)

१. अर्चतिकर्मा (३.१९)। २. जमति गतिकर्मा (निघं०२.१४.१०४)।

६६. चाकनत्[1] कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)	–	कनी दीप्तिकान्ति० (१.३११,प०)
६७. चकमानः (चकते) कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)	≠	चक तृप्तौ प्रतिघाते च (१.७३,प०)
६८. कनति कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)	–	कनी दीप्तिकान्ति० (१.३११,प०)
६९. कानिषत् कान्तिकर्मा (३.९, निघं०२.६)	–	कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (१.३११,प०)
७०. आवयतिअत्तिकर्मा(३.९,निघं०२.८)	–	वी गति....खादनेषु (२.४१,प०)
७१. भर्वति अत्तिकर्मा (३.९; ९.२३, निघं०२.८.२)	≠	भर्व हिंसायाम् (१.३८७,प०)
७२. बभस्ति अत्तिकर्मा (३.९; ५.१२, निघं०२.८.२)	≠	भस भर्त्सनदीप्त्योः[2] (३.१७,प०)
७३. वेति अत्तिकर्मा (३.९, निघं०२.८)	–	वी गति....खादनेषु (२.४१,प०)
७४. वेवेष्टि अत्तिकर्मा (३.९, निघं०२.८)	≠	विष्लृ व्याप्तौ (३.१३,उ०)
७५. अविष्यन् (अवति) अत्तिकर्मा (३.९, निघं०२.८)	–	अव रक्षणगतिकान्ति० (१.३९६,प०)
७६. बप्सति अत्तिकर्मा (३.९, निघं०२.८)	≠	भस भर्त्सनदीप्त्योः (३.१७,प०)
७७. भसथः अत्तिकर्मा (३.९, निघं०२.८)	≠	भस भर्त्सनदीप्त्योः (३.१७,प०)
७८. बब्धाम् अत्तिकर्मा (३.९,निघं०२.८)	≠	भस भर्त्सनदीप्त्योः (३.१७,प०)
७९. ह्वरति अत्तिकर्मा (३.९, निघं०२.८)	≠	ह्वृ कौटिल्ये (१.६६५,प०)
८०. रेडते क्रुध्यतिकर्मा (३.९,निघं०२.१२)		
८१. हेडते क्रुध्यतिकर्मा (३.९, निघं०२.१२)	≠	हेडृ अनादरे (१.१८३,आ०)
८२. भामते क्रुध्यतिकर्मा (३.९, निघं०२.१२)	=	भाम क्रोधे (१.३००,आ०)
८३. हृणीयते क्रुध्यतिकर्मा (३.९, निघं०२.१२)	–	हृणीङ् रोषणे लज्जायाञ्च (११.३१,आ०)
८४. भ्रीणाति क्रुध्यतिकर्मा (३.९, निघं०२.१२)	≠	भ्री भये भरणे च (९.३८,प०)
८५. भ्रेषति क्रुध्यतिकर्मा (३.९, निघं०२.१२)	≠	भ्रेषृ गतौ (१.६२३,उ०)

१. पश्यतिकर्मा (३.१३,निघं०३.११)।
२. भस धातोर्भर्त्सन इत्यर्थो नवीनः, भक्षण इति प्राचीनोऽर्थः (दयानन्दः-ऋ०१.२८.७)।

८६. दोधति क्रुध्यतिकर्मा (३.९, निघं०२.१२)		
८७. वनुष्यति क्रुध्यतिकर्मा[1] (३.९, निघं०२.१२)		
८८. कम्पते क्रुध्यतिकर्मा (३.९, निघं०२.१२)	≠	कपि चलने (१.२६१,आ०)
८९. भोजते क्रुध्यतिकर्मा (३.९, निघं०२.१२)	≠	भुजो कौटिल्ये (६.१२७,प०)
९०. वर्तते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	वृतु वर्तने (१.५०८,आ०)
९१. अयते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	अय गतौ (१.३२०,आ०)
९२. लोटते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	लुट उपघाते (१.५००,आ०)
९३. लोठते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	लुठ संश्लेषणे (६.९०,प०)
९४. स्यन्दते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	–	स्यन्दू प्रस्रवणे (१.५११,आ०)
९५. कसति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	कस गतौ (१.५९९,प०)
९६. सर्पति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	सृप्लृ गतौ (१.७०९,प०)
९७. स्यमति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	स्यमु शब्दे (१.५७१,प०)
९८. स्रवति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	स्रु गतौ (१.६७३,प०)
९९. स्रंसति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	–	स्रंसु अवस्रंसने (१.५०४,आ०)
१००. अवति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४; १०.२०)	≠	अव रक्षणगति० (१.३९६,प०)
१०१. श्चोतति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	–	श्च्युतिर् क्षरणे (१.३४,प०)
१०२. ध्वंसति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	ध्वंसु अवस्रंसने गतौ च (१.५०४,५०५,आ०)
१०३. वेनति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)		
१०४. मार्ष्टि गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	मृजूष् शुद्धौ (२.५९,प०)
१०५. भुरण्यति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	भुरण धारणपोषणयोः (११.२४,प०)

१. **वनुष्यतिः हन्तिकर्मा (निरु०५.२)।**

१०६. शवति गतिकर्मा[1] (३.९, निघं०२.१४)	=	शव गतौ (१.४८०,प०)
१०७. कालयति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	–	कल गतौ संख्याने (१०.२९०,उ०)
१०८. पेलयति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	पेलृ गतौ (१.३६४,प०)
१०९. कण्टति गतिकर्मा (३.९; ९.३२, निघं०२.१४)	=	कटि गतौ (१.२१२,प०)
११०. पिस्यति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	पिसृ गतौ (१.४७६,प०)
१११. बिस्यति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	बिस प्रेरणे (४.१०७,प०)
११२. मिस्यति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	मसी परिणामे (४.१११,प०)
११३. प्रवते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	प्रुङ् गतौ (१.६८४,आ०)
११४. प्लवते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	प्लुङ् गतौ (१.६८४,आ०)
११५. च्यवते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	च्युङ् गतौ (१.६८४,आ०)
११६. कवते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	कुङ् शब्दे (१.६८२,आ०)
११७. गवते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	गुङ् शब्दे (१.६८०,आ०)
११८. नवते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	णु स्तुतौ (२.२७,प०)
११९. क्षोदति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	क्षुदिर् संपेषणे (७.६,उ०)
१२०. नक्षति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	णक्ष गतौ (१.४४२,प०)
१२१. सक्षति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)		
१२२. म्यक्षति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)		
१२३. सचति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	षच समवाये (१.७२३,उ०)

१. **द्र०निरु०२.२; ३.१८; ४.१३।**

१२४ ऋच्छति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	ऋ गतिप्रापणयोः (१.६७०,प०)
१२५. तुरीयति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)		
१२६. चतति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	चते याचने (१.६०७,उ०)
१२७. अतति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	अत सातत्यगमने (१.३१,प०)
१२८. गाति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	गाङ् गतौ (१.६८१,आ०)
१२९. इयक्षति गतिकर्मा (३.९,निघं०२.१४)	≠	यक्ष पूजायाम् (१०.१६१,आ०)
१३०. सश्चति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	षच समवाये (१.७२३,उ०)
१३१. त्सरति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	त्सर छद्मगतौ (१.३७३,प०)
१३२. रंहति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	रहि गतौ (१.४८७,प०)
१३३. यतते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	यती प्रयत्ने (१.२५,आ०)
१३४. भ्रमति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	भ्रमु चलने (१.५८९,प०)
१३५. ध्रजति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	ध्रज ध्रजि गतौ (१.१३२,प०)
१३६. रजति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	रञ्ज रागे (१.७२५,उ०)
१३७. लजति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	लज भर्जने (१.१४७,प०)
१३८. क्षियति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	–	क्षि निवासगत्योः (६.११६,प०)
१३९. धमति गतिकर्मा (३.९; ६.२, निघं०२.१४)	≠	ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (१.६६१.प०)
१४०. मिनाति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	मीञ् हिंसायाम् (९.४,उ०)
१४१. ऋण्वति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	रिवि गतौ (१.३९३,प०)

१४२. ऋणोति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	ऋणु गतौ (८.५,उ०)
१४३. स्वरति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	स्वृ शब्दोपतापयोः (१.६६६,प०)
१४४. सिसर्त्ति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	सृ गतौ (३.१६,प०)
१४५. वेषिष्टि गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	विष्लृ व्याप्तौ (३.१३,उ०)
१४६. योषिष्टि गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	यूष हिंसायाम् (१.४५७,प०)
१४७. रिणाति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	–	री गतिरेषणयोः (९.३२,प०)
१४८. रीयते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	रीङ् स्रवणे (४.२८,आ०)
१४९. रेजति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)		
१५०. दघ्यति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	दघ घातने पालने च (५.२८,प०)
१५१. दभ्नोति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	दम्भु दम्भने (५.२३,प०)
१५२. युध्यति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	युध सम्प्रहारे (४.६२,आ०)
१५३. धन्वति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	धवि गत्यर्थः (१.३९३,प०)
१५४. अरुषति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)		
१५५. आर्यति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)		
१५६. डीयते[1] गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	डीङ् विहायसा गतौ (४.२५,आ०)
१५७. तकति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	तक हसने (१.८२,प०)
१५८. दीयति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	दीङ् क्षये (४.२४,आ०)
१५९. ईषति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	–	ईष गतिहिंसादर्शनेषु (१.४०६,आ०)

१. 'सीयते' इत्यपि पाठः, षिञ् बन्धने (५.२,उ०), व्यत्ययेन श्यन्।

१६०. फणति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = फण गतौ (१.५६७,प०)
१६१. हनति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) – हन हिंसागत्योः (२.२,प०)
१६२. अर्दति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) – अर्द गतौ याचने च (१.४५,प०)
१६३. मर्दति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)
१६४. सर्सृते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = सृ गतौ (३.१६,प०)
१६५. नसते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) ≠ णस कौटिल्ये (१.४१७,आ०)
१६६. हर्यति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) – हर्य गतिकान्त्योः (१.३४४,प०)
१६७. इयर्त्ति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = ऋ गतौ (३.१६,प०)
१६८. इर्ते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) – ईर गतौ कम्पने च (२.८,आ०)
१६९. ईङ्खते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = ईखि गतौ (१.८८,प०)
१७०. ज्रयति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) ≠ ज्रि अभिभवे (१.६७८,प०)
१७१. श्वात्रति गतिकर्मा(३.९, निघं०२.१४)
१७२. गन्ति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)= गम्लृ गतौ (१.७०९,प०)
१७३. आगनीगन्ति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = गम्लृ गतौ (१.७०९,प०)
१७४. जङ्गन्ति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = गम्लृ गतौ (१.७०९,प०)
१७५. जिन्वति[1] गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) ≠ जिवि प्रीणनार्थः (१.३९२,प०)
१७६. जसति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) ≠ जसु मोक्षणे (४.१०१,प०)
१७७. गमति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = गम्लृ गतौ (१.७०९,प०)
१७८. ध्रति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)
१७९. ध्राति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)
१८०. ध्रयति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)
१८१. वहते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = वह प्रापणे (१.७३०,उ०)

१. प्रीतिकर्मा (६.२२)।

१८२. रथर्यति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)
१८३. जेहते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) ≠ जेहृ प्रयत्ने (१.४२८,आ०)
१८४. ष्वःकति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = ष्वष्क गत्यर्थः (१.७४,आ०)
१८५. क्षुम्पति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)
१८६. प्साति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)
१८७. वाति गतिकर्मा (३.९, १०.१, निघं०२.१४)
१८८. याति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)
१८९. इषति गतिकर्मा (३.९; ९.८; ९.१८, निघं०२.१४) = इष गतौ (४.१९,प०)
१९०. द्राति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = द्रा कुत्सायां गतौ (२.४७,प०)
१९१. द्रूडति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)
१९२. एजति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) ≠ एजृ कम्पने (१.१४३,प०)
१९३. जमति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) ≠ जमु अदने (१.३१७,प०)
१९४. जवति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)
१९५. वञ्चति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = वञ्चु गत्यर्थः (१.११६,प०)
१९६. अनिति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) ≠ अन प्राणने (२.६३,प०)
१९७. पवते गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) ≠ पूङ् पवने (१.६९३,आ०)
१९८. हन्ति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = हन हिंसागत्योः (२.२,प०)
१९९. सेधति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = षिधु गत्याम् (१.३७,प०)
२००. अगन् गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = गम्लृ गतौ (१.७०९,प०)
२०१. अजगन् गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = गम्लृ गतौ (१.७०९,प०)
२०२. जिगाति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४) = गा स्तुतौ (३.२३,प०)
२०३. पतति गतिकर्मा = पत्लृ गतौ (१.५८४,प०)

(३.९, निघं०२.१४)		
२०४. इन्वति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	इवि व्याप्तौ (१.३९०,प०)
२०५. द्रमति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	द्रम गतौ (१.३१५,प०)
२०६. द्रवति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	द्रु गतौ (१.६७७,प०)
२०७. वेति गतिकर्मा (३.९, १०.१, निघं०२.१४)	–	वी गतिव्याप्ति० (२.४१,प०)
२०८. हन्तात् गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	–	हन हिंसागत्योः (२.२,प०)
२०९. एति गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	=	इण् गतौ (२.३८,प०)
२१०. जगायात् गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	गा स्तुतौ (३.२३,प०)
२११. अयुथुः गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)	≠	यती प्रयत्ने (१.२५,आ०)
२१२. इन्वति व्याप्तिकर्मा (३.१०, निघं०२,१८)	=	इवि व्याप्तौ (१.३९०,प०)
२१३. नक्षति व्याप्तिकर्मा(३.१०, निघं०२.१८)	=	णक्ष गतौ (१.४४२,प०)
२१४. आक्षाणः व्याप्तिकर्मा (३.१०, निघं०२.१८)	=	अशूङ् व्याप्तौ (५.१८,आ०)
२१५. आनट् व्याप्तिकर्मा (३.१०, निघं०२.१८)	≠	णश अदर्शने (४.८३,प०)
२१६. आष्ट व्याप्तिकर्मा (३.१०, निघं०२.१८)	=	अशूङ् व्याप्तौ (५.१८,आ०)
२१७. आपानः व्याप्तिकर्मा (३.१०, निघं०२.१८)	=	आप्लृ व्याप्तौ (५.१५,प०)
२१८. अशत् व्याप्तिकर्मा (३.१०, निघं०२.१८)	=	अशूङ् व्याप्तौ (५.१८,आ०)
२१९. नशत् व्याप्तिकर्मा (३.१०, निघं०२.१८)	≠	णश अदर्शने (४.८३,प०)
२२०. आनशे व्याप्तिकर्मा (३.१०, निघं०२.१८)	=	अशूङ् व्याप्तौ (५.१८,आ०)
२२१. अश्नुते व्याप्तिकर्मा (३.१०, निघं०२.१८)	=	अशूङ् व्याप्तौ (५.१८,आ०)

२२२. दभ्नोति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	दम्भु दम्भने (५.२३,प०)
२२३. श्नथति वधकर्मा(३.१०,निघं०२.१९)		
२२४. ध्वरति वधकर्मा(३.१०,निघं०२.१९)		
२२५. धूर्वति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	धुर्वी हिंसार्थः (१.३८२,प०)
२२६. वृणक्ति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	वृजी वर्जने (७.२३,प०)
२२७. वृश्चति वधकर्मा (३.१०,निघं०२.१९)	–	ओव्रश्चू छेदने (६.११,प०)
२२८. कृण्वति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	कृवि हिंसाकरणयोश्च (१.३९४,प०)
२२९. कृन्तति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	कृती छेदने (६.१४४,प०)
२३०. श्वसिति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	श्वस प्राणने (२.६२,प०)
२३१. नभते वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	णभ हिंसायाम् (१.५०३,आ०)
२३२. अर्दयति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	अर्द हिंसायाम् (१०.२५५,उ०)
२३३. स्तृणाति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	स्तृञ् आच्छादने (९.१३,उ०)
२३४. स्नेहयति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	ष्णिह स्नेहने (१०.३९,प०)
२३५. यातयति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	यत निकारोपस्कारयोः (१०.२०३,उ०)
२३६. स्फुरति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	स्फुर स्फुरणे (६.९९,प०)
२३७. स्फुलति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	स्फुल संचलने (६.१०१,प०)
२३८. निवपन्तु वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	वप बीजसंताने छेदने च (१.७२९,उ०)
२३९. अवतिरति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१०)	≠	तृ प्लवनसंतरणयोः (१.६९६,प०)
२४०. वियातः वधकर्मा		

(३.१०, निघं०२.१९)		
२४१. आतिरत् वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	तृ प्लवनसंतरणयोः (१.६९६,प०)
२४२. तडित् वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	तड आघाते (१०.४८,उ०)
२४३. आखण्डल वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	खडि भेदने (१०.४९,उ०)
२४४. द्रूणाति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	द्रूञ् हिंसायाम् (९.९,उ०)
२४५. रम्णाति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	रमु क्रीडायाम् (१.५९२,आ०)
२४६. शृणाति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	शृ हिंसायाम् (९.१७,प०)
२४७. शम्नाति वधकर्मा (३.१०, निघ०२.१९)	≠	शमु उपशमे (४.९१,प०)
२४८. तृणेढि वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	तृह हिंसायाम् (७.१८,प०)
२४९. ताढि वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	तड आघाते (१०.४८,उ०)
२५०. नितोशते वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)		
२५१. निबर्हयति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	बर्ह हिंसायाम् (१०.१३२,उ०)
२५२. मिनाति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	=	मीञ् हिंसायाम् (९.४,उ०)
२५३. मिनोति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	मिञ् प्रक्षेपणे (५.४,उ०)
२५४. धमति वधकर्मा (३.१०, निघं०२.१९)	≠	ध्मा शब्दाग्नि० (१.६६१,प०)
२५५. कृन्ततिः वधकर्मा (३.११)	–	कृती छेदने (६.१४४,प०)
२५६. इरज्यति ऐश्वर्यकर्मा (३.११, निघं०२.२१)	≠	इरज ईर्ष्यार्थः (११.८,प०)
२५७. पत्यते ऐश्वर्यकर्मा (३.११, निघं०२.२१)		
२५८. क्षयति ऐश्वर्यकर्मा (३.११, निघं०२.२१)	≠	क्षि निवासगत्योः (६.११६,प०)

२५९. राजति ऐश्वर्यकर्मा (३.११, निघं०२.२१)	≠	राजृ दीप्तौ (१.५६९,उ०)
२६०. इरज्यति परिचरणकर्मा (३.१३, निघं०३.५)	≠	इरज ईर्ष्यार्थः (११.८,प०)
२६१. विधेम परिचरणकर्मा (३.१३, निघं०३.५)	≠	विध विधाने (६.३६,प०)
२६२. सपर्यति परिचरणकर्मा (३.१३, निघं०३.५)	=	सपर पूजायाम् (११.१६,प०)
२६३. नमस्यति परिचरणकर्मा(३.१३, निघं०३.५)	=	नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् (अष्टा०३.१.१९)
२६४. दुवस्यति परिचरणकर्मा (३.१३, निघं०३.५)	=	दुवस् परिचरणयोः (११.३४,प०)
२६५. ऋध्नोति परिचरणकर्मा (३.१३, निघं०३.५)	≠	ऋधु वृद्धौ (५.२४,पं०)
२६६. ऋणद्धि परिचरणकर्मा (३.१३, निघं०३.५)	≠	ऋधु वृद्धौ (५.२४,पं०)
२६७. ऋच्छति परिचरणकर्मा (३.१३, निघं०३.५)	≠	ऋच्छ गतीन्द्रिय० (६.१५,प०)
२६८. सपति[1] परिचरणकर्मा (३.१३, निघं०३.५)	≠	षप समवाये (१.२८४,प०)
२६९. विवासति परिचरणकर्मा (३.१३, ११.२३, निघं०३.५)		
२७०. चिक्यत् पश्यतिकर्मा (३.१३, निघं०३.११)	–	चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि (२.७,आ०)
२७१. चाकनत्[2] पश्यतिकर्मा (३.१३, निघं०३.११)	–	चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि (२.७,आ०)
२७२. आचक्ष्म पश्यतिकर्मा (३.१३, निघं०३.११)	–	चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि (२.७,आ०)
२७३. चष्टे पश्यतिकर्मा (३.१३, निघं०३.११)	–	चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि (२.७,आ०)
२७४. विचष्टे पश्यतिकर्मा (३.१३, निघं०३.११)	–	चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि (२.७,आ०)
२७५. विचर्षणिः पश्यतिकर्मा (३.१३, निघं०३.११)	≠	कृष विलेखने (१.७१६,प०)

१. अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४), स्पृशतिकर्मा (५.१६)।
२. कान्तिकर्मा (३.९,निघं०२.६)।

२७६. विश्वचर्षणिः पश्यतिकर्मा (३.१३, निघं०३.११)	≠	कृष विलेखने (१.७१६,प०)
२७७. अवचाकशत् पश्यतिकर्मा (३.१३, निघं०३.११)	≠	काशृ दीप्तौ (१.४३०,आ०)
२७८. शवतिर्गतिकर्मा[1] (३.१८; २.२; ४.१३)	=	शव गतौ (१.४८०,प०)
२७८. अर्चति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	अर्च पूजायाम् (१.१२०,प०)
२८०. गायति[2] अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	गै शब्दे (१.६५३,प०)
२८१. रेभति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	रेभृ शब्दे (१.२६९,आ०)
२८२. स्तोभति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	ष्टुभु स्तम्भे (१.२७८,आ०)
२८३. गूर्धयति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		
२८४. गृणाति[3] अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	गृ शब्दे (९.२९,प०)
२८५. जरते अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		
२८६. ह्वयते अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	–	ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च (१.७३४,उ०)
२८७. नदति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	णद अव्यक्ते शब्दे (१.४४,प०)
२८८. पृच्छति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (६.१२२,प०)
२८९. रिहति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	रिह कत्थनयुद्ध० (६.२४,प०)
२९०. धमति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	–	ध्मा शब्दाग्नि० (१.६६१,प०)
२९१. कृपायति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		
२९२. कृपण्यति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		

१. शवति गतिकर्मा (निघं०२.१४.१७)। **२. स्तुतिकर्मा (१.८; ७.१२)।**
३. स्तुतिकर्मा (३.५; ९.५)।

२९३. पनस्यति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		
२९४. पनायते अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	पन स्तुतौ (१.२९९,आ०)
२९५. वल्गूयति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	–	वल्गु पूजामाधुर्ययोः (११.३,प०)
२९६. मन्दते[1] अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	–	मदि स्तुतिमोद० (१.१२,आ०)
२९७. भन्दते अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	भदि कल्याणे सुखे च (१.११,आ०)
२९८. छन्दति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	छदि संवरणे (१०.४६,उ०)
२९९. छदयते अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	छद अपवारणे (१०.३६२,उ०)
३००. शशमानः अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	शंसु स्तुतौ (१.४८३,प०)
३०१. रञ्जयति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	रञ्ज रागे (१.७२५,उ०)
३०२. जरयति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	जृष् वयोहानौ (४.२१,प०)
३०३. शंसति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	शंसु स्तुतौ (१.४८३,प०)
३०४. स्तौति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	ष्टुञ् स्तुतौ (२.३६,उ०)
३०५. यौति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	यु मिश्रणे० (२.२६,प०)
३०६. रौति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	रु शब्दे (२.२८,प०)
३०७. नौति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		णु स्तुतौ (२.२७,प०)
३०८. भनति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		
३०९. पणायति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	–	पण व्यवहारे स्तुतौ च (१.२९८,आ०)

१. स्तुतिकर्मा (४.२४)।

३१०. पणते अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	–	पण व्यवहारे स्तुतौ च (१.२९८,आ०)
३११. सपति[1] अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	षप समवाये (१.२८४,प०)
३१२. पपृक्षाः अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		
३१३. महयति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	मह पूजायाम् (१०.२९२,उ०)
३१४. वाजयति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		
३१५. पूजयति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	पूज पूजायाम् (१०.१११,उ०)
३१६. मन्यते अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	मन ज्ञाने (४.६५,आ०)
३१७. मदति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	≠	मदी हर्षग्लेपनयोः (१.५५५,प०)
३१८. रसति[2] अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	रस शब्दे (१.४७२,प०)
३१९. स्वरति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	–	स्वृ शब्दोपतापयोः (१.६६६,प०)
३२०. वेनति[3] अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		
३२१. मन्द्रयते अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)		
३२२. जल्पति अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४)	=	जल्प व्यक्तायां वाचि (१.२८१,प०)
३२३. ईमहे याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)		
३२४. यामि याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	या प्रापणे (२.४२,प०)
३२५. मन्महे याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	मनु अवबोधने (८.९,आ०)
३२६. दद्धि याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	दद दाने (१.१६,आ०)

१. परिचरणकर्मा (३.१३, निघं०३.५), स्पृशतिकर्मा (५.१६)। २. शब्दकर्मा (निरु०११.२५)।
३. कान्तिकर्मा (निघं०२.६.४); गतिकर्मा (निघ०२.१४.१४)।

३२७. शग्धि याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	शक्लृ शक्तौ (५.१६,प०)
३२८. पूर्द्धि याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	पृ पालनपूरणयोः (९.१८,प०)
३२९. मिमिड्ढि याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	मिह सेचने (१.७१८,प०)
३३०. मिमीहि याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	माङ् माने (३.६,आ०)
३३१. रिरिड्ढि याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	रिह कत्थने (६.२४,प०)
३३२. रिरीहि याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	रीङ् स्रवणे (४.२८,आ०)
३३३. पीपरत् याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	पृ प्रीतौ (५.१२,प०)
३३४. यन्तारः याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	यम उपरमे (१.७१०,प०)
३३५. यन्धि याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	यम उपरमे (१.७१०,प०)
३३६. इषुध्यति याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	इषुध शरधारणे (११.२०,प०)
३३७. मदेमहि याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	मदी हर्षग्लेपनयोः (१.५५५,प०)
३३८. मनामहे याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)	≠	म्ना अभ्यासे (१.६६३,प०)
३३९. मायते याञ्चाकर्मा (३.१९, निघं०३.१९)		
३४०. दाति दानकर्मा (३.१९, निघं०३.२०)	≠	दाप् लवने (२.५२,प०)
३४१. दाशति दानकर्मा (३.१९, निघं०३.२०)	=	दाशृ दाने (१.६२२,उ०)
३४२. दासति दानकर्मा (३.१९, निघं०३.२०)	=	दासृ दाने (१.६३५,उ०)
३४३. राति दानकर्मा (३.१९, निघं०३.२०)	=	रा दाने (२.५०,प०)
३४४. रासति दानकर्मा (३.१९, निघं०३.२०)	≠	रासृ शब्दे (१.४१६,आ०)

३४५. पृणक्षि दानकर्मा (३.१९, निघं०३.२०)	≠	पृची सम्पर्के (७.२४,प०)
३४६. पृणाति दानकर्मा (३.१९, निघं०३.२०)	≠	पॄ पालनपूरणयोः (९.१८,प०)
३४७. शिक्षति दानकर्मा (३.१९, निघं०३.२०)	≠	शक्लृ शक्तौ (५.१६,प०)
३४८. तुञ्जति दानकर्मा (३.१९, निघं०३.२०)	≠	तुजि पालने हिंसायां च (१.१५१,प०) तुजि हिंसाबलादाननिकेनतेषु (१०.३५,प०)
३४९. मंहते दानकर्मा (३.१९, निघं०३.२०)	≠	महि वृद्धौ (१.४२२,आ०)
३५०. परिस्रव अध्येषणकर्मा (३.१९, निघं०३.२१)	≠	स्रु गतौ (१.६७३,प०)
३५१. पवस्व अध्येषणकर्मा (३.१९, निघं०३.२१)	≠	पूङ् पवने (१.६९३,आ०)
३५२. अभ्यर्ष अध्येषणकर्मा (३.१९, निघं०३.२१)	≠	ऋषी गतौ (६.७,प०)
३५३. आशिषः अध्येषणकर्मा (३.१९, निघं०३.२१)	≠	अशूङ् व्याप्तौ० (५.१८,आ०)
३५४. स्वपिति स्वपितिकर्मा (३.१९, निघं०३.२२)	=	ञिष्वप शये (२.६१,प०)
३५५. सस्ति स्वपितिकर्मा (३.१९, निघं०३.२२)	=	षस स्वप्ने (२.७१,प०)
३५६. नक्षतिर्गतिकर्मा (३.२०)	=	णक्ष गतौ (१.४४२,प०)
३५७. स्त्यायतिरपत्रपणकर्मा (३.२१)	≠	स्त्यै शब्दसंघातयोः (१.६५०,प०)
३५८. शपतिः स्पृशतिकर्मा (३.२१)	≠	शप आक्रोशे (१.७२६,उ०)
३५९. भ्यसते भयवेपनयोः (३.२१)	–	भ्यस भये (१.४१८,आ०)
३६०. रेजते भयवेपनयोः (३.२१)	≠	रेजृ दीप्तौ (१.१११, आ०)
३६१. मेथतिराक्रोशकर्मा (४.२)	≠	मिथृ,मेथृ मेधाहिंसनयोः (१.६१०,उ०)
३६२. श्रोणतिर्गतिचलाकर्मा (४.३)	≠	श्रोणृ संघाते (१.३०७,प०)
३६३. लषतिः प्रेप्साकर्मा (४.१०)	=	लष कान्तौ (१.६२८,उ०)
३६४. लग्यतिराश्लेषकर्मा (४.१०)	=	लगे संगे (१.५३५,उ०)
३६५. लज्जतिरश्लाघाकर्मा (४.१०)	≠	लस्जी व्रीडायाम् (६.१०,आ०)
३६६. शवतिर्गतिकर्मा[1]	=	शव गतौ (१.४८०,प०)

१. शवति गतिकर्मा (निघं०२.१४.१७)।

(४.१३; २.२; ३.१८)		
३६७. कनतिः कान्तिकर्मा (४.१५)	–	कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (१.३११,प०)
३६८. दयतिरनेककर्मा (४.१७)	=	दय दानगति० (१.३२२, आ०)
दयते उपदयाकर्मा (४.१७)	–	दय दानगति० (१.३२२,आ०)
दयते दानकर्मा (४.१७)	–	दय दानगति० (१.३२२,आ०)
दयते विभागकर्मा (४.१७)	≠	दय दानगति० (१.३२२,आ०)
दयते दहतिकर्मा (४.१७)	≠	दय दानगति० (१.३२२,आ०)
दयते हिंसाकर्मा (४.१७)	≠	दय दानगति० (१.३२२,आ०)
दयते उड्डयनकर्मा (गतिकर्मा) (४.१७)	–	दय दानगति० (१.३२२,आ०)
३६९. रातिर्दानकर्मा (४.१७; २.१८; ११.३०)	=	रा दाने (२.५०,प०)
३७०. तक्षतिः करोतिकर्मा (४.१९)	=	तक्षू तनूकरणे (१.४३८,प०)
३७१. व्यन्त (वी) इत्येषोऽनेककर्मा (४.१९)	–	वी गतिव्याप्ति० (२.४१,प०)
वी पश्यतिकर्मा (४.१९)	≠	वी गतिव्याप्ति० (२.४१,प०)
वी खादतिकर्मा (४.१९)	–	वी गति....खादनेषु (२.४१,प०)
३७२. मन्दतिः[1] स्तुतिकर्मा (४.२४)	–	मदि स्तुतिमोद० (१.१२,आ०)
३७३. पीयतिः हिंसाकर्मा (४.२५)	≠	पीङ् पाने (४.३२,आ०)
३७४. भरतिः हरतिकर्मा (४.२६)	≠	भृञ् भरणे (१.६३९,उ०)
३७५. वनुष्यतिः[2] हन्तिकर्मा (५.२)		
३७६. तरुष्यतिः हन्तिकर्मा (५.२)		
३७७. भन्दते स्तुतिकर्मा (५.२)	≠	भदि कल्याणे सुखे च (१.११,आ०)
३७८. नदतिः स्तुतिकर्मा (५.२)	=	णद अव्यक्ते शब्दे (१.४४,प०)
३७९ बभस्ति अत्तिकर्मा (५.१२; ३.९, निघं०२.८.२)	≠	भस भर्त्सनदीप्त्योः[2] (३.१७,प०)
३८०. गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा (५.१५)	=	गध मिश्रणे (४. क्वाचित्कः, प०)
३८१. ब्रन्दतिर्मृदूभावकर्मा (५.१५)		
३८२. वीडयतिः संस्तम्भकर्मा[3](५.१६)	≠	व्रीड चोदने लज्जायाञ्च (४.१८,प०)
३८३. व्रीडयतिः संस्तम्भकर्मा[3] (५.१६)		
३८४. सपतिः[4] स्पृशतिकर्मा (५.१६)	≠	सप समवाये (१.२८४, प०)
३८५. ब्रवीतिः शब्दकर्मा(५.१९; २.२२)	=	ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (२.३७,उ०)

१. अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४.२)। **२. क्रुध्यतिकर्मा (निघं०२.१२.८)।**
३. संस्तम्भश्च दृढं काठिन्यमुच्यते (स्कन्दः ५.१६)।
४. परिचरणकर्मा (३.१३, निघं०३.५.९), अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४.३३)।

३८६. शिशीतिर्दानकर्मा (५.२३, निघं०४.१)	≠	शो तनूकरणे (४.३६, प०)
३८७. उरुष्यती रक्षाकर्मा (५.२३)		
३८८. कोकूयतिः शब्दकर्मा (५.२६)	=	कुङ् शब्दे(१.६८२,आ०) कूङ् शब्दे(६.११०,आ०)
३८९. लततिर्लम्बकर्मा (५.२६)		
३९०. शोचतिः ज्वलतिकर्मा (६.१; २.२८; ८.११; निघं०१.१६)	≠	शुच शोके (१.१११, प०)
३९१. धमतिर्गतिकर्मा (६.२; ३.९, निघं०२.१४)	≠	ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः(१.६६१,प०)
३९२. ओजतिर्वृद्धिकर्मा (६.८)		
३९३. जिगर्तिर्गिरतिकर्मा (६.८)	=	गृ निगरणे (६.११९,प०)
३९४. जिगर्तिर्गृणातिकर्मा (६.८)	=	गृ शब्दे (९.२९,प०)
३९५. जिगर्तिर्गृह्णातिकर्मा (६.८)		
३९६. वष्टि कान्तिकर्मा (६.१०; ३.९; १२.५; निघं०२.६)	=	वश कान्तौ (२.७२,प०)
३९७. क्रमतिः सरणकर्मा (६.१२)	=	क्रमु पादविक्षेपे (१.३१९,आ०)
३९८. रोचतिर्ज्वलतिकर्मा (६.१३; २.२०; ११.३९)	–	रुच दीप्तावभिप्रीतौ च (१.४९८,आ०)
३९९. तुञ्जतिर्दानकर्मा (६.१७)	≠	तुजि पालने हिंसायां च (१.१५१.प०)
४००. ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा (६.२१)	≠	ऋजि भर्जने (१.१०८,आ०)
४०१. जिन्वतिः[1] प्रीतिकर्मा (६.२२)	=	जिवि प्रीणनार्थः (१.३९२,प०)
४०२. कणतिः अणूभावकर्मा (६.३०)	≠	कण गतौ (१.५३९,प०)
४०३. कणतिः शब्दाणूभावे (६.३०)	≠	कण गतौ (१.५३९,प०)
४०४. कुटतिः विपरीतार्थे (६.३०)	≠	कुट कौटिल्ये (६.७५,प०)
४०५. चातयतिर्नाशने (६.३०)	≠	चते याचने [+णिच्] (१.६०७,उ०)
४०६. रध्यतिर्वशगमने(६.३२,१०.४०)	≠	रध हिंसासंराध्योः (४.८२,प०)
४०७. गायतिः[2] स्तुतिकर्मा (७.१२;१.८)	=	गै शब्दे (१.६५३,प०)
४०८. स्निह्यतिः कान्तिकर्मा (७.१२)	=	ष्णिह प्रीतौ (४.८९,प०)
४०९. पेलतिः गतिकर्मा (७.१३)	=	पेलृ गतौ (१.३६४,प०)
४१०. ईडिः[3] अध्येषणकर्मा, पूजाकर्मा वा (७.१५)	=	ईड स्तुतौ (२.९,आ०)

१. गतिकर्मा (३.९, निघं०२.१४)। २. अर्चतिकर्मा (३.१९,निघं०३.१४.२)।
३. ईडते=याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा (८.१)।

४११. नसतिराप्नोतिकर्मा नमतिकर्मा वा (७.१७)	≠	णस कौटिल्ये (१.४१७,आ०)
४१२. हर्यतिः प्रेप्साकर्मा (७.१७; २.१०)	–	हर्य गतिकान्त्योः (१.३४४,प०)
४१३. दस्यतिः क्षयार्थः (७.२३)	=	दसु उपक्षये (४.१०३,प०)
४१४. जिघर्तिः सिञ्चतिकर्मा (७.२४)	–	घृ क्षरणदीप्त्योः (३.१४,प०)
४१५. मिनोतिः श्रयतिकर्मा (७.२९)	≠	डुमिञ् प्रक्षेपणे (५.४,उ०)
४१६. धिषिः दधात्यर्थे (८.३)	≠	धिष शब्दे (३.२०, प०)
४१७. ईट्टे स्तुतिकर्मा (८.७)	=	ईड स्तुतौ (२.९,आ०)
४१८. शोचतिः ज्वलतिकर्मा (८.११; २.२८; ६.१, निघं०१.१६)	≠	शुच शोके (१.१११,प०)
४१९. त्विषिर्दीप्तिकर्मा[1] (८.१३)	=	त्विष दीप्तौ (१.७२७,उ०)
४२०. त्वक्षतिः करोतिकर्मा (८.१३)	=	त्वक्षू तनूकरणे (१.४३८,प०)
४२१. गिरतिः गृणात्यर्थे (९.४)	=	गृ शब्दे(९.२९,प०)[गृ निगरणे (६.११९,प०)]
४२२. गृणातिः[2] स्तुतिकर्मा (९.५;३.५)	=	गृ शब्दे (९.२९, प०)
४२३. मदतिः मोदतिकर्मा (९.५)	–	मदी हर्षग्लेपनयोः (१.५५५,प०)
४२४. मन्दतिः तृप्तिकर्मा (९.५)	–	मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु(१.१२,आ०)
४२५. इषतिः गतिकर्मा (९.८; ३.९; ९.१८, निघं०२.१४)	=	इष गतौ (४.१९, प०)
४२६. रंहतिः गतिकर्मा (९.११)	=	रहि गतौ (१.४८७,प०)
४२७. दुन्दुभ्यतिः[3] शब्दकर्मा (९.१२)		
४२८. धन्वतिः गतिकर्मा वधकर्मा वा (९.१६)	–	धवि गत्यर्थः (१.३९३,प०)
४२९. ईषतिः गतिकर्मा वधकर्मा वा (९.१८; ३.९; ९.८)	–	इष गतौ (४.१९,प०)
४३०. भर्वतिरत्तिकर्मा (९.२३; ३.९; निघं०२.८.२)	≠	भर्व हिंसायाम् (१.३८७, प०)
४३१. तवतिर्वृद्धिकर्मा (९.२५)		
४३२. कण्टतिर्गतिकर्मा (९.३२; ३.९)	=	कटि गतौ (१.२१२, प०)
४३३. हासतिः स्पर्धायाम् (९.३९)		
४३४. वाति गतिकर्मा (१०.१; ३.९, निघं०२.१४)		
४३५. वेति गतिकर्मा (१०.१; ३.९, निघं०२.१४)	=	वी गतिव्याप्ति०(२.४१, प०)

१. त्विषिर्ज्वलितिकर्मा (१.१७)। २. अर्चतिकर्मा (३.१९, निघं०३.१४.६)।
३. वधकर्मा इति देवराजयज्वा (नि०नि०५.३.८)।

४३६. बन्धिः अनिभृतत्वे[1] (१०.४)	≠	बन्ध बन्धने (९.४१,प०)
४३७. तेजतिरुत्साहकर्मा (१०.६)	≠	तिज निशाने (१.६९८,प०)
४३८. जरतिः स्तुतिकर्मा (१०.८)	≠	जॄ वयोहानौ (१०.२३८,उ०)
४३९. इन्दतेरैश्वर्यकर्मा (१०.८)	=	इदि परमैश्वर्ये (१.५१,प०)
४४०. रम्णातिः[2] संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा (१०.९)	≠	रमु क्रीडायाम् (१.५९२, आ०)
४४१. क्षियतिर्निवासकर्मा(१०.१४;२.६)	–	क्षि निवासगत्योः (६.११६,प०)
४४२. मृडतिर्दानकर्मा पूजाकर्मा वा (१०.१५)	≠	मृड सुखने (६.३९,प०) मृड क्षोदे सुखे च (९.४८,प०)
४४३. मृळयतिरुपदयाकर्मा, पूजाकर्मा वा (१०.१६)	≠	मृड सुखने (६.३९,प०) मृड क्षोदे सुखे च (९.४८,प०)
४४४. वसतिः निवासकर्मा (१०.१६)	=	वस निवासे (१.७३१,प०)
४४५. दीदयति ज्वलतिकर्मा (१०.१९; २.२८; निघं०१.१६)		
४४६. अवतिर्गत्यर्थः(१०.२०;१.१७)	–	अव रक्षणगतिकान्ति० (१.३९६,प०)
४४७. दुवस्यती राध्नोतिकर्मा (१०.२०)	≠	दुवस् परितापपरिचरणयोः (११.३४,प०)
४४८. जुहोतिर्दानकर्मा (१०.२२)	=	हु दानादानयोः आदाने च (३.१,प०)
४४९. गृभिर्गृणात्यर्थे (१०.२३)		
४५०. विधतिर्दानकर्मा (१०.२३)		
४५१. मन्यतिर्दीप्तिकर्मा क्रोधकर्मा वधकर्मा वा (१०.२९)	≠	मन ज्ञाने (४.६५,आ०)
४५२. वेनतिः कान्तिकर्मा (१०.३८)	≠	वेनृ गतिज्ञानचिन्ता० (१.६१७,उ०)
४५३. रिहन्ति=लिहन्ति, स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा (१०.३९)	≠	रिह कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु (६.२४,प०)
४५४. शिशीतिर्दानकर्मा (१०.३९)		
४५५. वध्यतिर्वशगमने (१०.४०; ६.३२)	≠	रध हिंसासंराध्योः(४.८२, प०)
४५६. चन्दतिः कान्तिकर्मा (११.५)	–	चदि आह्लादने दीप्तौ च (१.५६,प०)
४५७. थर्वतिश्चरतिकर्मा (११.१८)		
४५८. साक्षतिराप्नोतिकर्मा (११.२१)		
४५९. विवासतिः परिचर्यायाम् (११.२३; ३.१३; निघं०३.५)		
४६०. रसतिः[3] शब्दकर्मा (११.२५)	=	रस शब्दे (१.४७२,प०)

१. निभृतस्तावद् अचपलः, तद्विपरीतार्थवाची बन्धिः [चपलत्वे, चलत्वे अस्थिरत्वे] (दुर्गः, निरु०१०.४)। 'अनिर्बन्धे' इत्यर्थः। **२. वधकर्मा (निघं०२.१९.२४)।**
३. अर्चतिकर्मा (निघं०३.१४.४०)।

४६१. रातिर्दानकर्मा (११.३०; २.१८; ४.१७)	=	रा दाने (२.५०,प०)
४६२. रोचतिर्ज्वलतिकर्मा (११.३९; २.२०; ६.१३)	–	रुच दीप्तावभिप्रीतौ च (१.४९८,आ०)
४६३. अनितिः जीवनकर्मा (११.४७)	=	अन प्राणने (२.६३,प०)
४६४. वष्टि कान्तिकर्मा (१२.५; ६.१०; ३.९; निघं०२.६)	=	वश कान्तौ (२.७२,प०)
४६५. क्रंशतिः प्रकाशयतिकर्मा (१२.८; २.२५)		
४६६. उक्षतिः वृद्धिकर्मा (१२.९)	≠	उक्ष सेचने (१.४३९,प०)
४६७. स्नातिः शुध्यर्थः (१२.२६)	=	ष्णा शौचे (२.५४)
४६८. मार्ष्टिर्गतिकर्मा (१३.३; १.२०)	≠	मृजूष् शुद्धौ (२.५९,प०)
४६९. श्यायतिः गतिकर्मा, ज्ञानकर्मा (१४.१३)	–	श्यैङ् गतौ (१.६९०,आ०)
४७०. गृध्यतिः स्थानकर्मा, ज्ञानकर्मा (१४.१३)	≠	गृधु अभिकाङ्क्षायाम् (४.१३२,प०)
४६१. निरिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा (१४.२४)	≠	नि+री गतिरेषणयोः (९.३२,प०)



७. परिशिष्ट – ५
व्युत्पत्तियों की विविधता
(यास्क और अन्य आचार्यों की व्युत्पत्तियाँ)

[विवरण के लिए इन शब्दों के व्याख्यान भाग को एवं तत्सम्बन्धी टिप्पणियों को देखें। * इस चिह्न से चिह्नित शब्द विशेषरूप से ध्यातव्य हैं, जहाँ यास्क और पाणिनि की व्युत्पत्तियों में भेद प्रदर्शित है।]

१. **निपाताः** (१.४) नि+√पत्लृ – यास्कः। नि+√पा–दया०।
*२. **हस्तः** (१.७) √हन्–यास्कः। √हस्–पाणिनिः, दया०।
*३. **वीरः** (१.७) वि +√ईर/√वी/√वीर–यास्कः। √अज–पाणिनिः, दया०।
४. **सुरुचः** (१.७) सु √रुच् – यास्कः / सु+रुक् (च्) [बहुव्रीहिः]– दया०।
५. **सीमा** (१.७) षिवु तन्तुसन्ताने (दिवा०२)–यास्कः। √षिञ् बन्धने (स्वादि०२) – दया०।
*६. **अक्षि** (१.९) √चक्षिङ्–यास्कः। √अञ्जू–आग्रायणः। √अशूङ्– पाणिनिः, दया०। नञ् + √क्षि क्षये–सायणवेंकटमाधवाः।
*७. **कर्णः** (१.९) √कृती–यास्कः। ख + √ऋ / √ऋच्छ–आग्रायणः। √कृ – पाणिनिः, दया०। √डुकृञ् – दया०।
८. **शिशिरम्** (१.१०) √शृ /√शम् – यास्कः। √शश–दया०।
९. **मृगः** (१.२०) √मृजूष्–यास्कः। √मृग्–स्कन्दः।
*१०. **पर्वतः** (१.२०) पर्व + तप् – यास्क-कात्यायनौ। √पर्व+अतच्– पाणिनिः, दया०।
११. **बिन्दुः** (२.१) √भिदिर् – यास्कः। √बिदि – दया०।
१२. **दण्डः** (२.२) √दद् – यास्कः। √दमु – औपमन्यवः।
१३. **कल्याण** (२.३) √कमु – यास्कः। √कल – विश्वबन्धुः। कल्ये+ √अण् – भानुजीदीक्षितः।
१४. **पयस्** (२.५) √पा / √ओप्यायी – यास्कः। √पय – दया०।
१५. **अंशुः** (२.५) शम् + √अशूङ् / √अन+ √शम् – यास्कः। – √अम्-दया०।
*१६. **पुत्रः** (२.११) पुरु +√त्रैङ् / पृ+क्त्र / पुत् +√ त्रैङ्–यास्कः। √पूङ् / √पूञ् + क्त्र–पाणिनिः, दया०।
१७. **उत्तरः** (२.११) उद् + हन् + क्त + तरप्–यास्कः। उत्+√तॄ– दया०।
१८. **विष्टप्** (२.१४) √विश्– यास्कः। विष्ट +√पा / विष्–दया०।
*१९. **नभः** (२.१४) √णीञ् / भासन / न +न +√भा– यास्कः। √नभ–पाणिनिः, दया०। √णह – दया०।
*२०. **रश्मिः** (२.१५) √यम्– यास्कः। √अश्–पाणिनिः, दया०।
*२१. **काष्ठाः** (२.१५) क्रान्त्वा +√स्था– यास्कः। √काश्– पाणिनिः, दया०।
*२२. **दासः** (२.१७) √दसु–यास्कः। √दासि–पाणिनिः, दया०। √दासृ / दसु–उवटः। √दासृ– दया०।
*२३. **वणिक्** (२.१७) पण्य+णिजिर्–यास्कः। √पण्–पाणिनिः, दया०।
*२४. **उषाः** (२.१८) √उछी–यास्कः। √उष्– पाणिनिः, दया०। √वश्–देव०।
*२५. **अहर्** (२.२०) आ +√हृञ्–यास्कः। नञ् +√ओहाक्– पाणिनिः।
२६. **उपरः** (२.२१) उप +√रमु–यास्कः। √वप्–वेंकटसायणौ।
*२७. **प्रथमः** (२.२२) प्र + तम–यास्कः। √प्रथ्–पाणिनिः, दया०।
२८. **बृबूकम्** (२.२२) √ब्रूञ् / भ्रंशु–यास्कः। √ब्रूञ् +√ भ्रंशु– देव०।
*२९. **सानु** (२.२४) सम् + उत् + श्रिञ् / सम् + उत् + नुन्न – यास्कः। √षण् (√षणु)– पाणिनिः, दया०।
३०. **उदकम्** (२.२४) √उन्दी – यास्कः। उद् + खनु / उद् +√अञ्चु– देव०।

३१. मुहुर्तः (२.२५) मुहुर् + ऋतुः — यास्कः। √हूर्च्छा — दया०।
३२. कुशिकः (२.२५) √क्रुश् /√क्रंश् /√क्रुश् — यास्कः।√कुष /√कृ + शक् > कृश + इक — दया०।
३३. उर्वी (२.२६) √ऊर्णुञ् — यास्कः। √वृञ् — और्णवाभः।
३४. अरणः (३.२) अप + ऋण / अप + अर्ण — यास्कः। नञ् +√रम्/√ऋ — वेंकटः। नञ् + रणः (बहुव्रीहिः) / नञ् +√रमु — दया०। ऋ + ल्युट्।
३५. जामिः (३.६) √जनी /√जम् — यास्कः। √ज्ञा — दया०।
३६. असुराः (३.८) नञ् + सु +√रमु / √असु / असु + र — यास्कः। नञ् + सुरा (बहुव्रीहिः) — दया०।
३७. पञ्चन् (३.८) √पृच् — यास्कः। √पचि (पञ्च्) — दया०।
***३८. अङ्गुलयः (३.८)** अग्र +√गम् / अग्र +√गल् / अग्र +√कृञ् / अग्र +√सृ /√अकि /√अचि /√अजि √अञ्जू— यास्कः। √अगि (अङ्ग्) — पाणिनिः, दया०।
३९. अभीशवः (३.९) अभि +√अश् — यास्कः। √ईश् — देव०।
***४०. अन्नम् (३.९)** आङ् +√नम् /√अद् — यास्कः।√अन् — पाणिनिः।
४१. बलम् (३.९) √भृञ् — यास्कः। √बल् — पाणिनिप्रक्रिया।
***४२. धनम् (३.९)** √धिवि (धिन्व्) — यास्कः। √डुधाञ् — पाणिनिः।
***४३. चत्वारः (३.१०)** √चल् — यास्कः। √चते — पाणिनिः।
४४. अम्बु (३.१०) √ऋ — यास्कः। √अम् — दया०।
४५. खलः (३.१०) √खल् /√स्खल् — यास्कः। √खज् — देव०।
४६. वज्रः (३.११) √वृजी — यास्कः। √वज — दया०।
४७. सुपर्णाः (३.१२) सु +√पत् — यास्कः। सु +√पृण — स्कन्दः।
***४८. पर्णम् (३.१२)** √पत् — यास्कः।√पृ — पाणिनिः।
***४९. पाकः (३.१२)** √पच् — यास्कः, दया०। √पा पाने — पाणिनिः, दया०।
५०. खम् (३.१३) √खन् — यास्कः। √अश् — हेम०।
५१. रूपम् (३.१३) √रुच् — यास्कः। √रूप् — सायणः।
५२. आत्मा (३.१५) √अत् /√आप्लृ / आप्त — यास्कः। √आप् / आ +√दा /√अद् / √अत् — शाण्डि० उप०।
५३. मेषः (३.१६) √मिष स्पर्धायाम् — यास्कः।√मिषु सेचने — दया०।
***५४. वृषलः (३.१६)** वृष + शील / वृष + अशील — यास्कः। वृष + अलम् — मनुः। √वृष् + कल — पाणिनिः, दया०।
५५. अत्रिः (३.१७) अत्र + त्रि / न + त्रि — यास्कः। √अद् — दया०।
५६. काकः (३.१८) काँ काँ... — यास्कः। √कल् — औपमन्यवः। √कक् — स्कन्दः।
५७. श्वा (३.१८) शु + √या / शु + √अय् /√श्वस् — यास्कः। √टुओश्वि — दया०।
***५८. सिंहः (३.१८)** √षह् /√हिसि / सम् +√हन् — यास्कः। √सिच् — पाणिनिः, दया०।
५९. यज्ञः (३.१९) √यज् /√याचृ / यजुष् +√उन्दी / यजुष् + √णीञ् — यास्कः। अजिन +√युजिर् / अजिन > यज्ञ — औपमन्यवः।
६०. ऋत्विक् (३.१९) ऋतु +√यज् — यास्कः। ऋच् +√यज् — शाकपूणिः।
***६१. कूपः (३.१९)** कु +√पा /√कुप् — यास्कः। √कु — पाणिनिः, देव०, दया०।
***६२. पुराणम् (३.१९)** पुरा + नव — यास्कः। पुरा + ट्यु / ट्युल् — पाणिनिः।
६३. नवम् (३.१९) √णीञ् — यास्कः। √णु — सायणः।
६४. अभीके (३.२०) अभि +√अञ्जू — यास्कः। अभि +√इण् / नञ् + भी + कन् — देव०।
६५. अर्भकम् (३.२०) अव +√ हृञ् — यास्कः। √ऋधु — दया०।
६६. अर्धम् (३.२०) √हृञ् /√धारि /√ऋधु — यास्कः। √अर्ध— सायणः।
६७. ऋक्षाः (३.२०) √ऋषी — यास्कः। ऋ +√क्षिणु — सायणः।
६८. ऊर्दरम् (३.२०) उद् +√दॄ / ऊर्ज् +√दॄ — यास्कः। ऊर्ध्व + √दॄ— सायणः।
६९. कृदरम् (३.२०) कृत+√ दॄ — यास्कः। कृत्स्न +√दॄ — दया०।

√कृती / कृत +√हृङ् — देव०।
७०. **पिनाकम्** (३.२१) √पिष्लृ—यास्कः। √पा रक्षणे—दया०।
*७१. **शेपः** (३.२१) √शप—यास्कः। √शीङ्—पाणिनिः।
*७२. **पार्श्वम्** (४.३) पर्शु + अण्—यास्कः। √स्पृश्+श्वण् — पाणिनिः।
*७३. **पर्शुः** (४.३) √स्पृश्+शुन्—यास्कः। पर +√शृ+कु—पाणिनिः, दया०। परशु > पर्शु—दया०।
७४. **पृष्ठम्** (४.३) √स्पृश्—यास्कः। √पृष् /√प्रच्छ्—दया०।
७५. **अङ्गम्** (४.३) √अगि /√अञ्चु—यास्कः। √अम् /√अगि—दया०।
७६. **श्रोणिः** (४.३) √श्रोणृ—यास्कः। √श्रु — पाणिनिः, दया०।
७७. **शिताम** (४.३) श्रित + म — यास्कः। सित+म — शाकपूणिः। श्याम > शिताम — तैटीकिः। शितिमांस > शिताम — गालवः।
*७८. **दोः** (४.३) √द्रु—यास्कः। √दम् — पाणिनिः, दया०।
*७९. **मांसम्** (४.३) मा +√अन /√मान / मानस > मांस / मनस् + √सद्—यास्कः। √मन—पाणिनिः, दया०।
*८०. **दमूनाः** (४.४) दम / दान / दान्त+मनस्—यास्कः। √दम्+ऊनस् / उनस्—पाणिनिः, सायणः, दया०।
८१. **अतिथिः** (४.५) √अत् / अभि +√इण् + तिथि—यास्कः। न + तिथि—दया०।
*८२. **जठरम्** (४.७) जग्ध +√धृङ् / जग्ध +√धा — यास्कः। जग्ध+ √स्था—सायणः। √जन—पाणिनिः, दया०।
*८३. **वृषभः** (४.८) √वृषु—यास्कः, पाणिनिः। वृष्ट+√भा—दया०।
८४. **मधु** (४.८) √मदी—यास्कः। √मन्—दया०।
*८५. **तितउ** (४.९) तत / तुत+मतुप्—यास्कः। √तनु+डउ—पाणिनिः।
*८६. **धीराः** (४.१०) धी+र—यास्कः। √डुधाञ्—पाणिनिः।
८७. **ईर्मः, ईर्मा** (४.१३) √ईर—यास्कः। √ऋ—सायणः।
*८८. **शूरः** (४.१३) √शव्—यास्कः। √शु—पाणिनिः। √शृ— दया०। √शूर
*८९. **वक्षः** (४.१६) √वह् — यास्कः। √वच् — पाणिनिः, दया०।

*९०. **नोधस्** (४.१६) नवन + √धा + असि — यास्कः। √णु + धुट् + असि—पाणिनिः।
९१. **दुर्वर्तुः** (४.१७) दुर् + √वृञ्—यास्कः। दुर् +√वृतु—दया०।
*९२. **कच्छः** (४.१८) ख +√छद् / क +√छद् — यास्कः। √कच— द० उणा०। क +√छो।
९३. **उस्रा** (४.१९) उत् +√स्रु /√स्रिवु—यास्कः। √वस्—देव०।
*९४. **हरि** (४.१९) हरित > हरि—यास्कः √हृञ्—पाणिनिः।
९५. **शिश्नम्** (४.१९) √श्नथ्—यास्कः। √ष्णा—स्कन्दः।
*९६. **जामि** (४.२०) √जनी /√जम्—यास्कः। √या—दया०।
९७. **तायुः** (४.२४) √स्त्यै /√तस्—यास्कः। √तायृ—देव०।
९८. **भरः** (४.२४) √भृञ् /√हृञ्—यास्कः /√भृ भर्त्सने—देव०।
*९९. **अंहतिः** (४.२५) √हन् + अति > अ न् ह् + अति > अंहतिः— यास्कः। √हन्+अति > अंह् (आदेशः) +अति > अंहतिः—पाणिनिः।
*१००. **अंहस्** (४.२५) √हन्—यास्कः। √अम् — पाणिनिः, दया०।
*१०१. **अन्तः** (४.२५) √अत् — यास्कः । √अम् — पाणिनिः, दया०।
१०२. **वामः** (४.२६) √वन् — यास्कः । √वम् — दया०।
*१०३. **पलितः** (४.४६) √पल् — यास्कः। √फल् — पाणिनिः।
१०४. **विश्पतिः** (४.२६) विश्व + पति—यास्कः। विश् + पति — स्कन्दः, दया०।
१०५. **सस्निम्** (५.१) √ष्णा — यास्कः। √ष्णा /√ष्णै —दया०।
*१०६. **अन्धः** (५.१) आङ् +√ध्यै / न+ध्यान—यास्कः। अद्— पाणिनिः, दया०। √अन्ध्—पाणिनिः।
१०७. **अमत्रम्** (५.१) अमा + √अद् / न +√मा— यास्कः। √अम— पाणिनिः।
१०८. **असश्चन्ती** (५.२) नञ् +√सञ्ज / नञ् +√अस्— यास्कः। √सस्ज / नञ् +√षच—दया०।
१०९. **दूढ्यम्** (५.२) दुर् + धि—यास्कः। दुर् +√ध्यै —दया०।
११०. **पड्भिः** (५.३) √पा /√स्पश् /√स्पृश् —यास्कः। पद् (=पाद) > पट् —दया०।

१११. व्राः (५.३) व्रात्या > व्राः — यास्कः। व्राताः > व्राः — सायणः। √व्रज् — दया०।

११२. वराहः (५.४) वर + आहार / वर +√बृह् — यास्कः। वर + √हन् / वर +√ह्वेञ् — दया०।

११३. स्वसराणि (५.४) स्वयम् +√सृ / स्वर् +√सृ + णिच् — यास्कः। सु +√अस् / सु +√ऋ — सायणः।

११४. धन्वन् (५.५) √धन्व् — यास्कः। √धन — देव०।

११५. द्रप्सः (५.१४) भ्र+प्स — यास्कः। द्रुत+√सृ — सायणः। √दृप् — दया०।

*__११६. वयुनम् (५.१४)__ √वी — यास्कः। अज् — पाणिनिः।

११७. सपः (५.१६) √सप् — यास्कः। पस > सप — स्कन्दः।

११८. निचुम्पुणः (५.१७,१८) निचान्तः+पृण / निचमन+√प्री / निचमन+√पूरी। नीचैः +√क्वण् / नीचैः +√धा — यास्कः। नि +√चुप् — दया०।

११९. मुक्षीजाः (५.१९) √मुच्लृ /√षिञ् /√तनु — यास्कः। मुक्षी + √जनी — दया०।

१२०. बुसम् (५.१९) √ब्रूञ् /√भ्रंशु — यास्कः। वि+√ष्णा /√भ्रंशु / √बुस — देव०।

१२१. वृकः (५.२०,२१) विवृतज्योतिष्कः...यास्कः। √वृक् — सायणः। √ओव्रश्चू — दया०।

१२२. श्वघ्नी (५.२२) स्व+ √हन् — यास्कः। श्वन् +√हन् — दया०।

*__१२३. ऊर्मिः (५.२३)__ √ऊर्णुञ् — यास्कः। √ऋ — पाणिनिः, दया०।

१२४. कुटस्य (५.२४) कृत > कुट — यास्कः। √कुट् — स्कन्दः।

१२५. जिह्वा (५.२६) √हु — यास्कः। √लिह् /√ह्वेञ् /√हु — देव०। √हु /√जि — दया०।

१२६. वाणी (६.२) √वह् /√वद् — यास्कः। √वन — सायणः। √वण् — दया०।

१२७. अग्रम् (६.३) आङ् +√गम् — यास्कः। √अगि — वेंकटः।

१२८. कत्पयम् (६.३) कम् + पयस् — यास्कः। कति + पयस् — दया०।

१२९. अस्कृधोयुः (६.३) न + कृधु + आयु — यास्कः। न +√कृञ् + √धा / न+ √कृञ् +√धेट् — स्कन्दः।

१३०. क्षोणस्य (६.६) √क्षि — यास्कः। √क्षु — स्कन्दः।

१३१. शूर्पम् (६.९) √अश् +√पूङ् / √शृ — यास्कः। √शूर्प — जिनेन्द्रबुद्धिः।

*__१३२. पाजः (६.१२)__ √पाल् — यास्कः। √पा — पाणिनिः।

१३३. अप्वा (६.१२) अप + √वी — यास्कः। √आप्लृ / अप+ √वा — दया०।

१३४. श्रुष्टिः (६.१२) शु + √अशूङ् — यास्कः। √श्रु — दया०।

१३५. पुरन्धिः (६.१३) पुरु + धीः / पुर् + √दॄ — यास्कः। पुर + √ध्यै — दया०।

१३६. रिशादसः (६.१४) रिशात् + √अस् / रिश+आङ् + √दस् — यास्कः। रिश + √अद् — सायणः, दया०। रिश् + √दस् — दया०।

१३७. असूर्ते (६.१५) असु + √ईर — यास्कः। नञ् + √सृ + क्त — दया०।

१३८. अमिनः (६.१६) न + √माङ् / √मिञ् — यास्कः। √अम् — सायणः

१३९. अप्रतिष्कुतः (६.१६) न + प्रति + √कृञ् / √स्खल — यास्कः। न + प्रति + √स्कुञ् — स्कन्दः । न + प्रति + √स्कु — सायणः।

१४०. सुशिप्रम् (६.१७) सु + √सृप्लृ — यास्कः। सु + शिरस् + √पा रक्षणे / सु + √शेवृ — दया०।

१४१. धेना (६.१७) √डुधाञ् — यास्कः। √धेट् — दया०।

*__१४२. जरूथम् (६.१७)__ √गृ — यास्कः। √जृ — पाणिनिः, दया०।

१४३. ऊधः (६.१९) उद्धततरम् / उपोनद्धम् — यास्कः। √वह् — दया०।

१४४. तुरीपम् (६.२१) तूर्ण + √आप्लृ — यास्कः। √तुर् / तुर + √आप्लृ / तुर + √पा रक्षणे — दया०।

*__१४५. ऋजुः (६.२१)__ √ऋञ्ज् (√ऋजि) — यास्कः। √अर्ज् — पाणिनिः, दया०।

१४६. ऋचीषमः (६.२३) ऋची (=ऋक्) + सम — यास्कः। ऋच् + √ईष् + अम — सायणः। √ऋच् + ईषन् > ऋचीषाः। ऋचीष + √मा — दया०।

१४७. सामि (६.२३) √षो — यास्कः। √षै — दया०।
१४८. व्रततिः (६.२८) √वृञ् / √षिञ् / प्र √तनु — यास्कः। व्रत + अति — दया०।
१४९. दनः (६.३१) दान + मनस् — यास्कः। √दम् / नदः > दनः — सायणः। √णद (लङि) — सायणदयानन्दौ।
१५०. उल्बम् (६.३५) √ऊर्णुञ् / √वृञ् — यास्कः। √उच् — दया०।
१५१. मन्त्राः (७.१२) √मन् — यास्कः। √मन् / √मत्रि — दया०।
*** १५२. छन्दांसि (७.१२)** √छदि — यास्कः। √चदि — पाणिनिः।
१५३. उष्णिक् (७.१२) उत् + √ष्णा / उत् + √ष्णै / उत् + √स्निह / उष्णीष — यास्कः। √उष — दया०।
१५४. त्रिष्टुभ् (७.१२) त्रि + √स्तुभ् — यास्कः। त्रि + √स्तुभ् / त्रि + स्तम्भ् — दया०।
१५५. होता (७.१५) √ह्वेञ् — यास्कः। √हु — और्णवाभः, दया०।
१५६. ऋग्मियम् (७.२६) ऋक् + मिय / √ऋच् + मिय / √अर्च् + मिय — यास्कः। ऋक् + √मा — सायणदयानन्दौ। ऋक् + √मीञ् — दया०।
१५७. विवस्वान् (७.२६) विवासनवान् > विवस्वान् — यास्कः। वि + √वस् + क्विप् > विवस् + मतुप् — सायणदयानन्दौ।
१५८. धिष्ण्यः (८.३) धिषणा + यत् — यास्कः। धी + √ष्णै धिष्णः। धिष्णः > धिष्ण्यः — स्कन्दः। √धिष् + कनिन् > धिषण्, धिषण् + यत् — दया०।
*** १५९. धिषणा (८.३)** √धिष् / धी + √सद् / धी + √षण् — यास्कः। √धृष् — पाणिनिः, दया०। धी + √षिञ् — मही०।
१६०. तनूनपात् (८.५) तनू + नपात् — यास्कः। तनू + न + √पत् — सायणदयानन्दौ। तनू + ऊन + √पा — दया०।
१६१. नपात् (८.५) नततम > नपात् — यास्कः। न + √पत् — यास्कः [निरु० ३.१]। न + पादः / न + पातः — दया०।
१६२. यह्वः (८.८) य + ह्व [√या + √ह्वेञ्] — यास्कः। √यज् / √यसु — देव०।

१६३. वितरम् (८.९) वि + तरप् — यास्कः। वि + √तॄ — दया०।
१६४. द्वारः (८.९) जु / √द्रु / √वृञ् — यास्कः। √द्वृ — दया०।
१६५. विश्वमिन्वा (८.१०) विश्वम् + √इवि — यास्कः। विश्वम् + √मिवि / √मिञ् — दया०।
१६६. सुष्वयन्ती (८.११) √ष्मिङ् / सु + √स्वप् — यास्कः। सु + √अय् / √स्वप् — सायणः।
१६७. शुक्रम् (८.११) √शुच् — यास्कः। शु + √कृञ् — दया०।
१६८. गृत्सः (९.५) √गृ — यास्कः। √गृधु — पाणिनिः, दया०।
१६९. मण्डूकाः (९.५) √मस्ज् / √मदी / √मदि / मण्ड + ओक— यास्कः। √मडि — **वैयाकरणाः**; पाणिनिः।
१७०. रथः (९.११) √रहि / स्थिर / √रम् + √स्था / √रप् / √रस् — यास्कः। √रम् — पाणिनिः, दया०। √रय — दया०।
१७१. सङ्गाः (९.१४) √षच / सम् + √कृ — यास्कः। समम् + √कै— सायणः।
*** १७२. पुमान् (९.१५)** पुरु + मनस् / √पुंस् — यास्कः। √पा रक्षणे— पाणिनिः।
*** १७३. धनुः (९.१६)** √धवि — यास्कः। √धन — पाणिनिः, दया०।
*** १७४. सक्थि (९.२०)** √षच् — यास्कः। √सञ्ज् — पाणिनिः।
१७५. वृषभः (९.२२) √वृषु / √वृहू — यास्कः। वृष + √भा— दया०।
*** १७६. आजिः (९.२३)** आङ् + √जि / आङ् + √जुङ् — यास्कः। √अज् — पाणिनिः, दया०।
१७७. त्रितः (९.२५) त्रि + √तनु (स्थ) — यास्कः, दया०। त्रि + तस् — स्कन्दः। √तॄ + कितच् — दया०।
१७८. विषिता (९.३९) वि + √षिञ् । वि + √सद् — यास्कः। √विष् — दया०।
१७९. रुद्रः (१०.५) √रु / √रु + √द्रु / √रुदिर् — यास्कः। रुत् + √द्रु / रुत् + √रा / रुत् + √दॄ — सायणः। रुत् + √रा / √रुत् + √द्रु — दया०।

१८०. तोकम् (१०.७) √तुद्–यास्कः। √स्तु / √तु–देव०।

१८१. उत्सः (१०.९) उत् + √सृ / √सद् / √स्यन्द् / √उन्दी–यास्कः। उत् + √षु–सायणः।

१८२. पर्जन्यः (१०.१०) पर्त् + जन्य / पर + √जि / पर + √जनी / प्र + √अर्ज्–यास्कः। √पृषु–दया०।

१८३. शेवः (१०.१७) √शिष्–यास्कः। √शीङ्–दया०।

*१८४. **मित्रः** (१०.२१) प्रमिति + √त्रैङ् / मिन्वान + √द्रु / √मिद्–यास्कः। √मि–पाणिनिः।

१८५. तार्क्ष्यः (१०.२७) तूर्ण + √अशूङ् / तीर्ण + √क्षि / तूर्ण + √रक्ष् / तीर्ण + √अशूङ्–यास्कः। √तृक्ष–दया०।

*१८६. **मधु** (१०.३१; ४.८) √धम् / √मद्–यास्कः। √मन्–पाणिनिः, दया०।

१८७. स्तूपः (१०.३३) √स्त्यै–यास्कः। √स्तु–दया०।

१८८. जरायुः (१०.३९) जरा + √या / जरा + √यु–यास्कः। जरा + √इण्–दया०।

*१८९. **शिशुः** (१०.३९) √शंसु / √शिशी–यास्कः। √शो–पाणिनिः, दया०।

१९०. इन्दुः (१०.४१) √इन्धी / √उन्दी–यास्कः। √उन्दी–पाणिनिः। √इदि–सायणः।

१९१. बुध्नम् (१०.४४) √बन्ध्–यास्कः, पाणिनिः। √बुध्–दया०।

*१९२. **चारुः** (११.५) √रुच्–यास्कः। √चर्–पाणिनिः, दया०।

१९३. नृम्णम् (११.९) नृ + √नम्–यास्कः। नृ + मन–वेंकटः (बहुव्रीहिः)। नृ + √म्ना–दया०।

*१९४. **मरुत्** (११.१३) मित + √रु / मित + √रुच् / महद् + √द्रु–यास्कः। √मृङ्–पाणिनिः, दया०।

१९५. वाघतः (११.१६) √वह्–यास्कः। वाक् + √हन्–दया०।

१९६. नवग्वाः (११.१९) नव + √गम्। नवनीत + √गम्–यास्कः। नव + गो + व (मत्वर्थप्रत्ययः)–सायणः।

१९७. आप्त्याः (११.२०) √आप्–यास्कः। आप्त + यत् (भवार्थे)–दया०।

१९८. अर्यमा (११.२३) अरि + √यम्–यास्कः। √ऋ–सायणः, दया०। अर्य + √माङ्–दया०।

१९९. सरमा (११.२४) √सृ–यास्कः। सर + √माङ् / समान + रमा–दया०।

२००. जगुरिः (११.२५) √जङ्गम्य–यास्कः। √गृ–सायणः।

२०१. रसा (११.२५) √रस्–यास्कः। रस + अच् (मत्वर्थः)–सायणः।

२०२. गौरी (११.३९) √रुच्–यास्कः। √गुरी / √गुङ्–देव०। गौ + √रम्–दया०।

२०३. अरुषीः (१२.७) आङ् + √रुच्–यास्कः। √ऋ–देव०। आङ् + √रुच् / √अरुष्–स्कन्दः।

२०४. तुरः (१२.१४) √तृ / √त्वर्–यास्कः। तु + √रिष्–स्क०म०।

२०५. सूर्यः (१२.१४) √सृ / √षू / सु + √ईर्–यास्कः, दया०। सूरि + यत्–दया०।

*२०६. **विष्णुः** (१२.१८) √विश् / वि + अश्–यास्कः। √विष्–पाणिनिः, दया०।

२०७. पांसवः (१२.१९) पाद + √षु / पन्न + शीङ् / √पिशि–यास्कः। √पसि–पाणिनिः, दया०।

२०८. केशाः (१२.२५) √काशृ–यास्कः। √क्लिश–पाणिनिः, दया०।

२०९. विषम् (१२.२६) वि + √ष्णा / वि + √षच–यास्कः। √विष्लृ व्याप्तौ–देव०, दया०। √विष विप्रयोगे–दया०।

२१०. विश्पतिः (१२.२९) विश्व + पति–यास्कः। विश् (=प्रजा) + पति–दया०।

२११. दध्यङ् (१२.३३) ध्यान + √अञ्चु–यास्कः। दधि + √अञ्चु–दया०।

२१२. अंशः (१२.३६) शम् + √ अश् / √ अश् + √शम् / √अन् + √ शम्–यास्कः। √अम्–हेम०।

७. परिशिष्ट - ६
कल्पित नवीन प्रत्यय

१. डार्यत्—आचार्य (१.४)।
२. ड्यसुँ—ह्यः (१.६)।
३. सिनन् — दक्षिणो हस्तः (१.७)।
४. डघ्नच्—दघ्नम् (१.९)।
५. डिरच्—शिशिरम् (१.१०)।
६. याण—कल्याणम् (२.३)।
७. डूप—रूपम् (२.३;३.१३)।
८. तपँक्—विष्टप् (२.१४)।
९. डसुँन्—नभः (२.१४)।
१०. तिकड्—अन्तिकम् (३.९)।
११. ड्राम—संग्रामः (३.९)।
१२. डतुर्—चत्वारः (३.१०)।
१३. डुत्स—कुत्सः (३.११)।
१४. डव—विधवा (३.१५)।
१५. डलख्—कपिञ्जलः (३.१८)।
१६. ड्वन्—श्वा (३.१८)।
१७. डनिन्—श्वा (३.१८)।
१८. ड्र—व्याघ्रः (३.१८)।
१९. डव—नवम् (३.१९)।
२०. ड्वप्—त्वः (३.२०)।
२१. डक्ष्मी—लक्ष्मी (४.१०)।
२२. डिय—उस्त्रिया (४.१९)।
२३. डायु—तायुः (४.२४)।
२४. अक्रड्—चक्रः (४.२७)।
२५. डुणक्—निचुम्पुणः (५.१७)।
२६. सीज—मुक्षीजा (५.१९)।
२७. ड्व—स्वम् (५.२२)।
२८. डाणिञ्—वाणी (६.२)।
२९. ड्यालच्—स्यालः (६.९)।
३०. डरु—चरु (६.११)।
३१. डिन्—क्रिमिः (६.१२)।
३२. डिमिन्—क्रिमिः (६.१२)।
३३. डिच्—पुरन्धिः (६.१३)।
३४. डुलच्—कुलम् (६.२२)।
३५. डुरन्—बकुरः (६.२५)।
३६. डुजच्—लिबुजा (६.२८)।
३७. ततिन्—व्रततिः (६.२८)।
३८. क्ति—व्रततिः (६.२८)।
३९. डिनि—ऋभुक्षा (९.३)।
४०. डुनि—शकुनिः (९.३)।
४१. गलच्—मङ्गलम् (९.४)।
४२. डलच्—मङ्गलम् (९.४)।
४३. डण्ड—मण्डः (९.५)।
४४. ड्रिन् — अद्रिः (९.९)।
४५. डथन्—रथः (९.११)।
४६. डङ्क—सङ्का (९.१४)।
४७. कूप—स्तूपः (१०.३३)।
४८. डिलि—किल्बिषम् (११.२४)।
४९. डुकन्—पृथुष्टुके (११.३२)।
५०. डुषट्—अरुषीः (१२.७)।
५१. मलि—शल्मलिः (१२.८)।
५२. डांसुरच्—पांसुरे (१२.१९)।
५३. ड्यु—भुरण्युः (१२.२२)।
५४. ईयक्—तुरीयम् (१३.९)।
५५. डरन्—अक्षरम् (१३.१२)।

७. परिशिष्ट - ७
वेदार्थ और भाषाविज्ञानके शाश्वत नियम *

मनुष्यमात्रके कल्याणकेलिए सृष्टिके आदिमें ईश्वरके द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही वेद है। आरम्भमें वेदका अर्थ साक्षात् वेदसे ही समझलिया करते थे अर्थात् आरम्भिक उन महामानवोंकी मातृभाषा वेदभाषा (देवभाषा) ही थी। मातृभाषामें किसी भी विषयको समझनेमें सरलता, सहजता व स्वाभाविकता रहती है, विशेष व्याख्या वा उपायोंकी आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु जैसे-जैसे आध्यात्मिकतामें न्यूनता और भौतिकतामें आकर्षण बढ़ता गया, सात्विकताकी अपेक्षा रजोगुणादिकी वृद्धि होती गयी तो बौद्धिक सामर्थ्यमें भी न्यूनता आयी और कालप्रवाहवश भाषामें भी स्वाभाविक परिवर्तन होता गया। परिणामतः कालान्तरमें वेदार्थ न समझपानेके कारण वेदार्थकी प्रक्रियाएँ वा उपायोंका सर्जन हुआ। इन्हीं प्रयत्नोंमें पदपाठ, याज्ञिकप्रक्रिया, आख्यान, ब्राह्मणग्रन्थ और वेदाङ्गादिका सर्जन हुआ। परन्तु याज्ञिकप्रक्रिया आदियोंको समझनेमें भी लोगोंने अज्ञानवश व स्वार्थवश अक्षम्य भूलें की हैं। क्योंकि साध्यभूत वेद एवं साधनभूत शास्त्रादि शब्दमय हैं। विना शब्दके कुछ भी सिद्ध नहीं होता[१] –

''तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः'' (वा०प०१.११९)

शब्दोंसे अर्थोंको जाना जाता है[२], यह सत्य है। परन्तु अर्थबोधमें केवल शब्दके स्वरूप-मात्रको साधन समझना भयंकर भूल है– **''रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते''**(वा०प०१.१३५)। शब्दके स्वरूपमात्रसे यदि अर्थ किया जाय तो अर्थ अनर्थ हो जायेगा।[३] यथा– **''पिता दुहितुर्गर्भमाधात्''** (ऋ०

---

* यह लेख वेदवाणी (नवम्बर २०१६), आर्ष-ज्योति (फरवरी २०१७), वैदिक पथ (सितम्बर २०१७) में प्रकाशित है।

१. वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ (वा०प०१.१२४) इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ (काव्या०१.४)

२. अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्। (वा०प०१.१३)

३. अर्थवादाः स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनमलभमाना लक्षणया क्रतोः प्राशस्त्यं प्रतिपादयन्ति, स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात् (मी०न्याय०, खण्ड-५; शाब्दीभावना)।

१.१६४.३३) आदि। 'शब्द, अर्थ एवं इनका परस्पर सम्बन्ध' यह विषय एक सुविशाल क्षेत्रका है।[1] इसे सीमित साधनों वा सामर्थ्योंसे समझ नहीं सकते। शब्दके यथोचित अर्थका बोध लोकव्यवहारसे ही सम्भव है– **''शब्दार्थस्य परिज्ञाने लोक एव हि कारणम्''**[2] (निरु०श्लोक० १.१.७१)। यहाँ लोकशब्दका तात्पर्य अर्थबोधमें मातृभाषाके रूपमें प्रचलित भाषा (शब्दज्ञान) है। जिसप्रकार मातृभाषा अथवा उस जैसी अधिकारवाली भाषासे जो अर्थबोध होता है, वह अन्य उपायोंसे सम्भव नहीं है। इसीलिए अर्थबोधमें लोकव्यवहारकी प्रामाणिकताको सभी आचार्योंने नतमस्तक (मौन) होकर, विना कुछ तर्क किये ही स्वीकारा है।

शब्दस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कारण व साधन भी हैं, जिनसे अर्थबोध होता है। यथा–

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवचन[3], लोक(वृद्ध) व्यवहार, वाक्यशेष (प्रकरण), विवृति (व्याख्या) और प्रसिद्ध पदकी समीपतासे शक्तिग्रह अर्थात् शब्दार्थका बोध होता है।

चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् 'सः' इत्येतद् भवति–तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्याद् इति (म०भा०४.१.४८)। **सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान-धारण-सामीप्य-योग-साधन-आधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गंगा-शाटक-अन्न-पुरुषेष्वतद्भावे तदुपचारः**(न्याय०२.२.६)।

महाभाष्यकार एवं न्यायदर्शनकारने ऊपरके वचनोंमें बताया कि किन परिस्थितियोंमें शब्द अपने अर्थको छोड़कर विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होते हैं । उन परिस्थितियों वा कारणोंको देखें–

१. **''यष्टिकां भोजय, यष्टीः प्रवेशय''** इत्यादि वचनोंमें यष्टिशब्दका अर्थ लाठी अभिप्रेत नहीं है, अपितु लाठीके साथ घूमने वाला ब्राह्मण या ब्रह्मचारी आदि अर्थ अभिप्रेत हैं। इसे साहचर्यनियम कहते हैं– **''तत्साहचर्यात् ताच्छब्द्यम्''**। आजकल हम सुनते हैं– ''ए आटो, ए रिक्शा'' इत्यादि। यहाँ भी आटो आदि शब्दोंका अर्थ 'आटो' आदि न होकर आटोके साथ घूमने वाला व्यक्ति होता है।

१. महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः.....(म०भा०, पस्प०)।
२. शब्दसाधुत्वे हि प्रयोगपरवशा वयं न स्वयमीश्महे (शास्त्र०, पृ०१२२), यथालोकं च शब्दार्थावधारणं न यथेच्छम् (शास्त्र०, पृ०१२७)।
३. आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः (न्याय०२.१.५२)।

२. **''मञ्चाः क्रोशन्ति''** इसका अर्थ 'मञ्च चिल्ला रहें हैं' नहीं है, अपितु 'मञ्चस्थ पुरुष चिल्ला (बोल) रहें हैं' है। यहाँ आधेयमें आधारत्वका आरोप किया गया है। **''अग्निं चिनोति, अग्निमारोहन्ति, अग्निं प्रोक्षति''** इत्यादियोंमें अग्निशब्दसे अग्निका आधारभूत स्थण्डिल अर्थ लिया जाता है। यहाँ आधारमें आधेयत्वका आरोप किया गया है।

इसप्रकार आधाराधेयोंमें अभेदका व्यवहार (पर्यायत्व) ब्राह्मणग्रन्थोंमें बहुत्र देखा जाता है। इस नियमको **''तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्''** जानना चाहिए।

३. **आयुर्वै घृतम्** (तै०सं०२.३.२.२) इसका अर्थ यह नहीं है कि 'घी ही आयु है'। इसका अर्थ है– 'आयु की प्राप्तिकेलिए घीका भक्षण कारण है, निमित्त है।[1] यहाँ कार्यकारणमें अभेद व्यवहार है। इसीप्रकार **''यज्ञो वा आयुः** (ता०ब्रा० ६.४.४), **प्राणो वा आयुः** (ऐ० ब्रा०२.३८), **आयुर्वै गायत्रम्''** (जै०ब्रा०१.२९२), **अन्नमु वाऽआयुः** (शत०ब्रा०९.२.३.१६) आदिमें जानना चाहिए। इस नियमको **''तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्''** कहते हैं । इसका स्पष्टीकरण हमें इन वचनोंसे मिलता है– **अमृतमायुः** (शत०ब्रा०३.८.२.२७)= **अमृतेनैवाऽऽयुरात्मन् धत्ते** (तै०ब्रा०३.३.४.३)। **प्रजापतिर्यज्ञः** (ऐ०ब्रा०२.१७) = **प्रजापतिर्यज्ञमसृजत** (ऐ०ब्रा०७.१९) ।

४. **''गंगायां गावश्चरन्ति''** इसका अर्थ यह नहीं है कि गंगा(नदी)में गौवें चर रहीं हैं, अपितु इसका अर्थ यह है कि गंगाके अतिसपीपस्थ देशमें गौवें चर रहीं हैं। अर्थात् गंगाके अतिनिकट स्थानको भी गंगा ही कहा जाता है। यहां 'गंगायाम्'का प्रयोग न करके 'गंगायाः समीपे' शब्दोंका प्रयोग करने पर उक्त अभीष्ट अर्थ (अतिनिकट) व्यक्त नहीं हो सकता। क्योंकि समीप शब्द सापेक्षिक है। नदीसे २० कि०मी०के दूरस्थ गांवको भी २०० कि०मी०के गांवकी अपेक्षा नदीके समीपस्थ ही कहा जाता है। इसलिए**''तत्सामीप्यात् ताच्छब्द्यम्''** नियम स्वीकृत हो गया है।

५. **''अग्निर्माणवकः, सिंहो बालकः''** इत्यादियोंमें अग्नि, सिंह आदि शब्दोंका अर्थ 'आग', 'शेर' आदि न लेकर 'अग्नि जैसा तेजस्वी, सिंह जैसा पराक्रमी बालक' अर्थ लिया जाता है। इस नियमको **''ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्यम्''**[2]

१. अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते। तद्यथा... आयुर्घृतम्, आयुषो निमित्तमिति गम्यते (म०भा०१.१.५९) ।
२. विष्णुर्वै यज्ञः(ऐ०ब्रा०३.१४)।

अथवा **''तत्सादृश्यात् ताच्छब्द्यम्''**[1] कहते हैं। यहां उपमान एवं उपमेयमें एकार्थता(पर्यायत्व)का आरोप किया गया है।

इन नियमोंके अतिरिक्त औपलक्षण[2] और औपचारिक प्रयोग, अवयवोंमें समुदायका कथन[3], समुदायमें अवयवका कथन[4], अन्यतरव्यपदेश[5], तत्सम्बन्धात् ताच्छब्द्यम्[6], तद्विषयत्वात् ताच्छब्द्यम्, विद्यमानकी अविवक्षा[7], अविद्यमानकी विवक्षा[8], भेदमें अभेद, अभेदमें भेदका व्यवहार इसप्रकारके और भी अनेकों गौण प्रयोग भाषाओंमें देखे जाते हैं। लेखकी मर्यादाको ध्यानमें रखते हुए हम सबका विवरण प्रस्तुत नहीं कर रहें हैं। उदाहरण मात्र प्रस्तुत किये गये हैं। यहां विशेषरूपसे ध्यातव्य विषय यह है कि किसी अभीष्ट विशेष अर्थको अभिव्यक्त करनेमें केवल शब्दका स्वरूपमात्र समर्थ नहीं होता, अर्थबोधमें शब्दस्वरूपके अतिरिक्त और भी बहुतसे अन्य कारण हैं। काव्यशास्त्रकी दृष्टिसे तो रस, अलंकार, ध्वनि आदि भी अर्थविशेषके बोधक हैं।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें तो उक्त प्रकारके गौण(भाक्त)प्रयोग प्रचुरमात्रामें प्रयुक्त हुए हैं। इसीलिए निरुक्तकार यास्कने कहा कि— **''बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि''** (निरु॰७.२४)। हमने ऊपर (संख्या— २,३,५ में) ब्राह्मणग्रन्थोंके कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर चुके हैं। ब्राह्मणोंमें साध्य-साधनोंमें भी अभेदार्थ माना गया ह। यथा— **श्रोत्रेण हि ब्रह्म शृणोति** (ऐ॰ब्रा॰२.४०)= **श्रोत्रं वै ब्रह्म** (ऐ॰ब्रा॰२.४०)। इसके अनुसार ''**शब्दब्रह्म**'' का अर्थ **''शब्देन ब्रह्म ज्ञायते''** जानना चाहिए। परन्तु विद्वज्जनोंने प्रायः शब्दको ही ब्रह्म समझनेकी बड़ी भूल की है।[9] इसीप्रकार

१. इस नियमके अनुसार यास्कने अनेकों शब्दोंकी व्याख्या की है। यथा— ''तत्प्रकृतीतरत् (अपि पर्व), सन्धिसामान्यात्''(निरु॰१.२०)।
२. जैसे— काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्। यहाँ काकशब्द कौवेके साथ बिल्ली, कुत्ता आदि अर्थोंका भी बोधक है।
३. समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। यथा— घृतं भुक्तं ... (म॰भा॰पस्प॰)।
४. आढ्यमिदं नगरम्।
५. देवदत्तस्य पुत्रः, देवदत्तायाः पुत्रः।
६. अवकीर्यते इत्यवकरः= अन्नमलम्। तत्सम्बन्धाद् देशोऽपि तथा (=अवकरः) उच्यते (काशिका—६.१.१४८)।
७. सतोऽप्यविवक्षा भवति। तद्यथा— अनुदरा कन्या(म॰भा॰१.४.२४)।
८. असतश्च विवक्षा भवति— समुद्रः कुण्डिका, विन्ध्यो वर्धितकमिति (म॰भा॰१.४.२४)।
९. 'नेदं यदिदमुपासते' (केनोप॰१.४,७) में कहा गया है कि वाणी एवं श्रोत्रका विषयभूत शब्द ब्रह्म (परमात्मा) नहीं हो सकता। शब्द आकाश का गुण है, गुण गुणी (ब्रह्म) कैसे हो सकता है? कदापि नहीं। पुनरपि भ्रमित लोंगोंने भ्रमको फैलाया है। अर्थबोधमें शब्दके स्वरूपमात्रको ग्रहण करनेका यह दुष्परिणाम है।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें विशेषणविशेष्यभाव आदिमें भी पर्यायत्व (समानार्थता) प्रदर्शित है। उन सन्दर्भोंको समझनेमें अत्यन्त सावधानताकी आवश्यकता है। अन्यथा अनर्थ ही अनर्थ दृग्गोचर होगा और अनर्थ ही फैलेगा। एतदर्थ एक सन्दर्भ प्रस्तुत करता हूँ— **''अहं ब्रह्मास्मि''** (बृ॰उप॰१.४.१०) का अर्थ ऊपरके विवरण (संख्या— १,२,४,५)के अनुसार मुक्त जीवात्मा ब्रह्मके सहचारी होनेसे, ब्रह्मस्थ होनेसे, ब्रह्मके अत्यन्तसमीपस्थ होनेसे और ब्रह्मके धर्मसे संयुक्त होनेसे अपनेको कह रहा है कि ''मैं ब्रह्म हूँ''। इस गौण कथनके अभिप्रायको न समझकर लोगोंने अद्वैतका महल खड़ा कर दिया। कोई व्यक्ति यह कहें कि 'हम दोनों मित्र एक ही हैं,' इससे वे दोनों अभिन्न नहीं हो सकते। भाषाके नियमों(शैलियों)को न समझकर केवल शब्दस्वरूपसे अर्थ निकालकर बहुत व्यापक भ्रमजाल फैलाया गया है। भाषातत्त्वके नियमोंको सर्वाङ्गीणतया विचार किये विना शाब्दिक अर्थ करनेके दुष्परिणामकेलिए यह एक ज्वलन्त उदाहरण है, अस्तु।

प्रसंगानुकूल विवेकके विना अर्थ कैसे अनर्थ हो जाता है, देखें—

केशवं पतितं दृष्ट्वा द्रोणो हर्षमुपागतः।
रुदन्ति कौरवाः सर्वे केशव त्वं कथं गतः॥

शब्दोंको देखनेसे प्रतीत होता है कि यह श्लोक महाभारतका है। क्योंकि इसमें केशव, द्रोण और कौरव शब्द आये हैं। परन्तु इसका महाभारतकी कहानीसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस श्लोकका सामान्य शाब्दिक अर्थ इसप्रकार है— 'गिरे (मरे) हुए केशव(कृष्ण)को देखकर द्रोण प्रसन्न हुआ और सभी कौरव रोने लगे कि हे केशव! आप कैसे चले (मर) गये हैं?' इस शाब्दिक अर्थ पर विचार करने पर बहुत कुछ विसंगतियाँ हैं। क्योंकि कृष्णकी मृत्यु द्रोणके बाद हुई, न कि द्रोणसे पूर्व और कृष्णकी मृत्यु तो कौरवोंकेलिए प्रसन्नताका विषय है, न कि शोकका, वैसे ही द्रोणकेलिए शोकका विषय है, न कि प्रसन्नताका। पर यहाँ तो विपरीत कथन दीखता है, जो कि सम्भव नहीं है। अतः विवेकी पुरुष विचारकर सामान्य अर्थ(अनर्थ)को त्याग यथार्थको जाननेका प्रयास करता है। इसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

(के शवं पतितं) पानी में गिरे हुए शव को देखकर **(द्रोणः)** मगरमच्छ प्रसन्न हुआ और **(कौरवाः)** कौवें चिल्लाने लगे कि **(के शव)** हे शव! तुम पानी में क्यों चला (गिर) गया है।

इस अर्थको जानकर सभी लोग कविकी कुशलताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करेंगे और वाह-वाह करने लगेंगे। इसप्रकारकी कविताओं (कूटकाव्यों) में शाब्दिक

अर्थ महान् अनर्थकारी होता है और उससे कविका रस (भाव) लुप्त हो जाता है। कहा भी गया है–

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि वाच्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
अर्थेषु वाच्येष्वभिधैव दोषः सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्।।

जिन वचनों (पद्यों) में वक्रोक्तियां विद्यमान हों, वहाँ शाब्दिक अर्थका बाध (अर्थात् लक्षितार्थ=यथार्थ) परमानन्दकारी होता है और शाब्दिक अर्थ दोषकारी (दुःखकरी, नीरस) हो जाता है। क्योंकि वहाँ कवियोंकी भावना शाब्दिक अर्थसे अन्य ही होती है।

ऐसी ही शैली वेदके मन्त्रोंमें एवं ब्राह्मणके वचनोंमें भी बहुत्र दीखती है। ऐसी शैलीको लक्षितकर कहा गया है कि – **''परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः''**।[1] ये नियम व इसप्रकारकी शैलियाँ केवल संस्कृतभाषामें या शास्त्रोंमें ही होती हैं, ऐसी बात नहीं है। प्रचलित सभी भाषाओंमें ये नियम प्राप्त होते हैं। हमने ऊपर लौकिक दृष्टान्त भी दिये हैं। एक अन्य प्रकारके नियमको ज्ञापित करनेकेलिए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक गैर हिन्दी भाषी अभी-अभी हिन्दी सीख रहा है और उसे सिखाया गया है कि 'खाना' शब्दका अर्थ होता है 'किसी खाद्य वस्तुकी भक्षणक्रिया'। जब वह बाजारमें गया तो भिन्न-भिन्न प्रसंगोंमें सुना है कि– 'धोखा खाया, ठोकर खाया, चख्मा खाया, चक्कर खाया, डांट खाया, दिमाग खाया, पिटाई खायी, पूरे समय को खा लिया' इत्यादि शब्दोंको सुना तो वह चक्कर खा गया। 'खाना' शब्दका जो अर्थ उसने सीखा वह उन प्रसंगोंमें एक जगह भी नहीं लगता और उन प्रसंगोंमें 'खाना' शब्दके जो अर्थ हैं, वे न किन्हीं कोषग्रन्थोंमें मिलेंगे, न ही किसी व्याकरणशास्त्रादिसे निरूपित हो सकते हैं। वे तो केवल लोक व्यवहारसे ही प्रसंगतः जानने योग्य हैं। इसीलिए नियम बना– **''अनेकार्था धातवः''**। कुछ लोग इस नियमको केवल संस्कृत भाषाकेलिए ही मानते हुए इसका मजाक उड़ाते हैं। वस्तुतः वे स्वयं ही उपहासके योग्य हैं। क्योंकि यह नियम सार्वत्रिक है अर्थात् सभी भाषाओंमें देखनेको मिलता है।

इस चर्चाका निष्कर्ष यह है कि शब्दार्थका बोध केवल शब्दस्वरूपसे नहीं होसकता, यथार्थबोधकेलिए शब्दस्वरूपसे भिन्न बहुतसे अर्थबोधकोंको जानना होता है। प्रसंग भेदसे अर्थभेद हो जाता है। वह तो भाषा पर मातृभाषाके समान पूर्ण अधिकार प्राप्त होने पर ही हो सकता है– नान्यः पन्था विद्यते अयनाय (बोधनाय)। 'भाई और बहन' इसका अर्थ घरमें एवं सभामें अलग-अलग है।

---

१. तुलना – ''ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता'' (निरु॰१०.१०,४६)।

'सिस्टर'का अर्थ घरमें, हास्पतालमें और चर्चमें भिन्न-भिन्न होता है। इसलिए वक्ताके पूर्ण आशयको जाननेकेलिए वक्ताकी भाषा पर पूर्ण अधिकार होना अनिवार्य है।

इस विस्तृत भूमिकाके पश्चात् वेदार्थकी ओर प्रस्थान करते हैं। वेदोंको भी समझनेकेलिए वेदकी भाषा पर मातृभाषाके समान परिपूर्ण अधिकार होना चाहिए, वक्ता(परमात्मा)के अन्तःस्थित अभिप्रायको हृदयंगम करनेकेलिए परमात्माका सान्निध्य भी होना अनिवार्य है[1] अर्थात् वेदार्थके जिज्ञासुको देश, काल आदिकी परिस्थितियोंसे ऊपर उठकर, लोककी भाषा व व्यवहारोंसे अतीत होकर सर्गारम्भके ऋषियोंके युग में पहुँचना होगा, ऋषि बनना होगा।[2] तभी वेदोंका वास्तविक अर्थ स्वाभाविकतया स्वतः प्रत्यक्ष होगा।[3] इसकेलिए पाणिनीय व्याकरण, निरुक्त आदि वेदाङ्ग एवं अन्य ऋषिकृत वैदिक वाङ्मय मार्गमात्र प्रशस्त करते हैं। कोई भी शास्त्र भाषाके नियमोंको पूर्णतः बान्ध नहीं सकता। प्रत्येक शास्त्रकी एक सीमा होती है।[4] अतः वे केवल मार्गदर्शक हो सकते हैं। उनसे वेदोंका अर्थ सम्पूर्णतया समझ नहीं सकते।

शब्दशास्त्रके पारंगत कुछ विद्वानोंने केवल शब्दस्वरूपके आधार पर वेदभाष्य किये हैं। उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि वेद केवल यज्ञोंकेलिए ही प्रवृत्त हुए हैं[5], वेद केवल याज्ञिकों(ब्राह्मणों)की पोथियां मात्र हैं, अन्योंकेलिए निरुपयोगी हैं। वेदोंमें पशुबलि, मांसभक्षण, सुरापान, पवित्र यज्ञमण्डपमें व्यभिचार, यन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना, इतिहास, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, भूत-प्रेत आदि-आदि विषय वर्णित व विहित हैं, ऐसा समझने लगे। वेदार्थकी इस दुर्गतिको छिन्न-भिन्न कर महर्षि दयानन्दने वेदोंको वेदोंसे समझा, समाधिस्थ होकर ईश्वरसे समझा और वेदोंसे सभी शास्त्रों को परखा, वेदानुकूल शास्त्रोंको स्वीकारा और वेदविरुद्ध शास्त्रों वा शास्त्रांशोंका खण्डन किया। महर्षि दयानन्दके अतिरिक्त सभी भाष्यकारोंने शास्त्रोंसे वेदोंको समझा वा परखा। महर्षि कृत भाष्य और अन्योंके भाष्योंमें यही भेद है।

---

१. ब्रह्मणः सायुज्यमृषयोऽगच्छन् (तै॰आ॰२.९.२)। किसी भी अर्थको समझनेकेलिए भाषाका सामानाधिकरण्य, बौध्दिक योग्यताका सामानाधिकरण्य, भावात्मक सामानाधिकरण्य आदि अत्यन्त आवश्यक हैं।

२. न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा (निरु॰१३.१२)। न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम् (बृ॰दे॰ ८.१२९)।

३. तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु(=अपौरुषेयो नित्यो वेदार्थः)अभ्यानर्षत्, त ऋषयोऽभवन्। तदृषीणामृषित्वमिति (ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो निर्वचनम्) विज्ञायते (निरु॰२.११)।

४. वाच्यवाचकसम्बन्धो नाचार्यैरुपदिश्यते (त॰वा॰मीमांसा॰३.४.४)।

५. दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् (मनु॰१.२३) इत्यादि वचनोंमें यज्ञशब्दका अर्थ शाब्दिक व स्थूल अर्थका ग्रहण कर लोगों ने बड़ा अनर्थ फैलाया है।

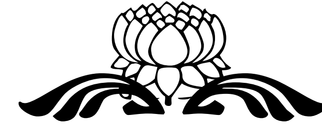
प्रत्येक चीजको जानने वा मापने का पैमाना एक ही नहीं होता, अपितु भिन्न-भिन्न होता है। टेबुल आदिको फीटसे मापते हैं तो कपड़ेको मीटरसे मापते। सड़कोंको कि॰मी॰में मापते हैं। परिमाण जितना-जितना बढ़ता जाता है, पैमाना भी बढ़ता जाता है। अतिदूरमें विद्यमान ग्रहनक्षत्रोंकी दूरी कि॰मी॰ आदिमें माप नहीं सकते। उसकेलिए प्रकाशवर्ष है। यदि कोई ग्रहनक्षत्रोंकी दूरीको भी फीट आदिमें मापने लगे तो उसे बालबुद्धि ही कहा जाएगा। वह तो केवल खेल मात्र होगा। उसी प्रकार सामन्य लौकिक संस्कृत साहित्यको समझनेकेलिए सामान्य लौकिक कोष निर्मित हैं। उनसे वेदोंको समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि कोई ऐसा प्रयास करता है तो, वह बालकोंका खेल सदृश होगा अर्थात् मूर्खतापूर्ण प्रयास होगा। वेदोंको समझनेकेलिए ब्राह्मणकार एवं यास्क आदि ऋषियोंने कुछ मार्गदर्शन (विशिष्ट पैमानोंका निर्देश) किया है। पर आश्चर्य है कि उन बड़े पैमानोंको भी कुछ विद्वान् लौकिक कोषोंसे मापते हैं, परखते हैं, जिनका मूल्य ब्राह्मण एवं निरुक्तके सामने नगण्य है। जैसे कि–

''(यास्ककृत) गौ शब्दके गव्य अर्थका समर्थन शब्दकल्पद्रुम तथा वाचस्पत्यम् कोषोंसे नहीं होता, परन्तु डॉ. सूर्यकान्तके वैदिक कोषसे उपर्युक्त अर्थकी अवश्य पुष्टि होजाती है।'' यास्कने 'निर्ऋति' शब्दके दो निर्वचन प्रस्तुत (निरु॰ २.७) किये हैं, एक पृथिवी-परक दूसरा पाप-परक है। इस सन्दर्भकी व्याख्या करते हुए एक निरुक्तके भाष्यकार लिखते हैं कि– ''(यास्ककृत) निर्ऋतिःके उपर्युक्त दोनों अर्थोंमेंसे प्रथम अर्थका समर्थन कोशों (वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुम, हलायुधकोश, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी)से नहीं हो पाता है। सभी कोशोंमें विघटन, विनाश, विपत्ति, पाप, दुर्भाग्य, अलक्ष्मी, अधर्मभार्या, अधर्मकन्या, मूलानक्षत्र आदि अर्थोंका वाचक निर्ऋतिको बताया है।'' अर्थात् इन कोषोंमें निऋतिको पृथिवी वाचक नहीं बताया है। यह व्याख्या वा सोच कितनी निम्नस्तरकी है, इस झलकसे स्वतः अनुमान हो जाता है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे व्याख्याता अपनेको बड़े अनुसन्धाता मानते हैं और यास्कके दोषों (दोषाभासों)को उद्भासित कर गौरवान्वित होना चाहते हैं, अस्तु। तप, त्यागादिके विना केवल नकलकी प्रवृत्तिसे वेदों पर लेखनी चलानेका दुष्परिणाम यही होता है।

ब्राह्मणकार, निरुक्तकार आदि ऋषि एवं आधुनिक कालमें महर्षि दयानन्दने वेदको समझनेकेलिए बहुतसे सूत्र व मार्गदर्शन प्रस्तुत किये हैं। उसी शैलीमें चिन्तन-मनन करनेकी आवश्यकता है। उसकेलिए इस लेखमें केवल संकेतमात्र प्रदर्शित किया गया है।

''वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्''(वा॰प॰१.१३५)

श्रुतिमात्रसे वेदार्थको जाननेमें असमर्थ लोगोंकेलिए वेद और शास्त्रोंसे अविरुद्ध तर्क ही वेदार्थका बोधक (दर्शक) होने से चक्षु (मार्गदर्शक) है। यास्कमुनिने भी इस तर्करूपी चक्षु (ऋषि) का उल्लेख किया है।[1] इसी वेदशास्त्राविरोधी ऋषित्व को प्राप्त करके महर्षि दयानन्दने वेदोपदेशकालिक आर्षभाष्यको सर्वजन हितकेलिए कठोर तप एवं साधनासे प्रस्तुत किया है।



१. मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्– को न ऋषिर्भविष्यतीति? तेभ्य एतं तर्कम् ऋषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् (निरु॰१३.१२)।